१

ब्रह्मचर्य विज्ञान

जीवन में ब्रह्मचर्य की उपयोगिता, अनिवार्यता, सार्थकता तथा उपलब्धियाँ आदि की सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक पृष्ठभूमि :

१

ब्रह्मचर्य की सर्वतोमुखी उपयोगिता

जैसे भवन का आधार नींव है, उसी प्रकार जीवन का आधार है प्राण-शक्ति ! प्राण-शक्ति को स्थिर, सम्पुष्ट और कार्यक्षम रखने का मूल आधार है—ब्रह्मचर्य !

ब्रह्मचर्य के स्वरूप आदि के सम्बन्ध में विचार करने से पूर्व हमें इसकी उपयोगिता, आवश्यकता और जीवन में इसके प्रभाव के विषय में कुछ आवश्यक परिज्ञान होना चाहिए, ताकि हम इस विषय की महत्ता को समझ सकें और जिज्ञासापूर्वक इस विषय को हृदयंगम कर सकें !

ब्रह्मचर्य की उपयोगिता का सन्देश

आज से लाखों वर्षों पहले प्रागैतिहासिक युग में युगादि तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव ने ब्रह्मचर्य को स्वयं अपनाकर, अनुभव करके, उसकी महत्ता, उपयोगिता और उपलब्धियों को समझकर उस युग की जनता के समक्ष उसकी उपयोगिता प्रस्तुत की। जब से विश्व में अहिंसामूलक शुद्ध धर्म का प्रवर्त्तन हुआ, तभी से ब्रह्मचर्य का श्रीगणेश हुआ। युगादि तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव ने अपने ज्ञान और अनुभव के प्रकाश में गृहस्थ-जीवन और साधु-जीवन दोनों की साधना में ब्रह्मचर्य की उपयोगिता और महत्ता को समझा, और जनता ने उनके द्वारा उपदिष्ट ब्रह्मचर्य के विचार और आचार का यथाशक्ति पालन किया। उसके पश्चात् युग-युग में तीर्थंकर, ऋषि-मुनि, योगी और यति हुए, जिन्होंने अखण्ड एवं पूर्ण ब्रह्मचारी रहकर अपना जीवन ध्यान, मौन, तप, संयम, योगाभ्यास आदि में आनन्दपूर्वक व्यतीत किया। साथ ही युग-युग में कई गृहस्थ भी हुए, जिन्होंने उनके उपदेशों से स्थूल (मर्यादित) ब्रह्मचर्य की महत्ता और उपयोगिता को समझकर उसका पालन किया।

प्रश्नव्याकरण सूत्र में स्पष्ट उल्लेख है कि उत्तम साधुजनों ने इसकी सुरक्षा-पालना की, इसका सम्यक् आचरण किया, इसकी साधना भलीभाँति की, तथा वीतराग मुनिवरों ने इसकी सरहस्य प्ररूपणा की है।[1] इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि

---

१ अतिवरसारक्खितं सुचरियं सुसाहियं नवरि मुणिवरेहिं....."
—प्रश्नव्याकरण सूत्र, संवरद्वार ४, सू० १

भगवान ऋषभदेव और उनके पश्चात्कालीन तीर्थंकरों एवं ऋषि-मुनियों ने शुद्ध धर्म साधना में ब्रह्मचर्य को अग्रस्थान दिया था। अत्यन्त प्राचीन साहित्य आचारांग सूत्र, ऋग्वेद, अथर्ववेद आदि में ब्रह्मचर्य का विधान तथा उसकी स्पष्ट व्याख्या उपलब्ध है। इस प्रकार आर्य प्रजा को अत्यन्त प्राचीन काल से ब्रह्मचर्य की उपयोगिता और महत्ता का ज्ञान मिलता रहा है।

भगवान महावीर द्वारा ब्रह्मचर्य का पृथक् निर्देश

जैन-परम्परा के इतिहास के अनुसार यह ज्ञात होता है कि भगवान् महावीर से पूर्व, ऋषभदेव (युगादि तीर्थंकर) को छोड़कर शेष बाईस तीर्थंकरों के शासनकाल में चातुर्याम (अहिंसा, सत्य, अस्तेय और अपरिग्रह इन चार महाव्रतों) का प्रचार था। भगवान् महावीर ने उनमें एक याम (ब्रह्मचर्य महाव्रत) बढ़ाकर पंचमहाव्रतरूप[1] धर्म का उपदेश दिया।

प्रश्न है, ऐसा क्यों? क्या ब्रह्मचर्य का पालन चातुर्यामिक युग में नहीं होता था? इसका समाधान आगमकार एवं व्याख्याकार इस प्रकार करते हैं कि आचारांग सूत्र में उल्लिखित धर्म के तीन याम[2] (अहिंसा, सत्य, अपरिग्रह) की परम्परा हो, चाहे चार याम की, पालन तो उन युगों के साधकों द्वारा पांच याम (व्रत) का होता था। इसका कारण यह है कि उन युगों के साधक सरल और प्राज्ञ (विचक्षण) होते थे, वे परिग्रह के त्याग (अपरिग्रह-व्रत) में चौर्य और स्त्री (कामाचार) के त्याग को समझ लेते थे। यानी अपरिग्रह महाव्रत में ही ब्रह्मचर्य महाव्रत का समावेश कर लेते थे।[3]

भगवान् पार्श्वनाथ की परम्परा तक तो कामाचार का त्याग परिग्रहत्याग में आ जाता था। फलतः उसका अलग से विधान नहीं हुआ था। किन्तु कामाचार-त्याग (ब्रह्मचर्य महाव्रत) का पृथक् निर्देश न होने से श्रमण-संघ में ब्रह्मचर्य में शैथिल्य आने की सम्भावना बढ़ने लगी और कई श्रमण तथाकथित अनिष्ट में भी फँसने लगे। कुतर्क और कुयुक्तियों के सहारे अपने उस असदाचार का समर्थन भी करने लगे। सूत्रकृतांग तथा आचारांग में इस प्रकार के शिथिलाचार के संकेत मिलते हैं।[4] सम्भव है, इसी दृष्टि से, एवं सामान्य मनुष्यों, विशेषतः साधकों में आने वाली वक्रता एवं जड़ता की दृष्टि से, तथा आने वाले युगों में स्वच्छन्द काम-प्रवाह का प्रभाव साधकों पर पड़ने की सम्भावना से भगवान् महावीर ने ब्रह्मचर्य महाव्रत (सर्वथा मैथुनविरमणव्रत) का एक विशिष्ट महाव्रत के रूप में पृथक् उपदेश-निर्देश किया।

---

१ (क) उत्तराध्ययन-अ० २३, गा० २३-२४; (ख) स्थानांगसूत्र, स्थान ४, पृ० २०१

२ आचारांगसूत्र श्रु० १, अ० ८, उ० १। ३ उत्तरा० २३/८७।

४ (क) सूत्रकृतांग श्रु० १, अ० ३, उ० ४, गा० ६ से १३,
(ख) आचारांग अ० ६-१३,५

श्रमणोपासक गृहस्थ के जीवन में भी मर्यादित ब्रह्मचर्य व्रत का अनिवार्य रूप से विधान किया और ब्रह्मचर्य धर्म को ध्रुव, नित्य, शाश्वत एवं सर्वजिनोपदिष्ट[1] बताया।

वर्तमान युग में ब्रह्मचर्य की सर्वाधिक उपयोगिता

भगवान महावीर ने दीर्घदृष्टि से केवलज्ञान के प्रकाश में ज्ञान और अनुभव करके ब्रह्मचर्य-व्रत का पृथक् निर्देश किया था, उसका कारण आज हमें स्पष्टतः ज्ञात हो रहा है कि अधिकांश लोग अपने कुतर्क एवं कुयुक्तियों के सहारे ब्रह्मचर्य-पालन को अनुपयोगी और अनावश्यक समझने लगे हैं। परन्तु ब्रह्मचर्य की उपेक्षा करने से परिवार, समाज और राष्ट्र की कितनी अधिक हानि हुई है? विश्व में कितना भ्रष्टाचार और अनाचार, रोग-शोक और दुःख फैल रहा है? यह हम देख ही रहे हैं। इससे वर्तमान युग में ब्रह्मचर्य की सर्वाधिक उपयोगिता को हम समझ सकते हैं।

वर्तमान युग और स्वच्छन्द काम-प्रवाह

वर्तमान युग में ज्ञान-विज्ञान की विविध शाखाओं में धड़ल्ले के साथ प्रगति हो रही है। एक से एक बढ़कर नित्य नये आविष्कार हो रहे हैं। मनुष्य मानो जल, स्थल और नभ पर अपना आधिपत्य जमाए हुए हो, ऐसा प्रतीत होता है। दूर-भाषण, दूरश्रवण एवं दूरदर्शन की बातें आज तक केवल उच्च योगियों या लब्धिधारियों के लिए सम्भव थीं, सामान्य मानव इनसे अछूता था, ये बातें वर्तमान युग में वैज्ञानिकों के प्रयत्नों से सम्भव हो गई हैं। परन्तु इतना सब कुछ होते हुए भी वर्तमान युग का मानव दुःखी है, अशान्त है, निश्चिन्तता से जीवनयापन नहीं कर रहा है, ऐसा क्यों? इसका कारण है—सभ्यता और संस्कृति के बदलते हुए मानदण्डों के कारण आज का मानव तीव्रता से अपने खान-पान और रहन-सहन के स्तर को ऊँचा उठा हुआ मानने लगा है। बढ़ती हुई उच्छृंखलता, तथाकथित प्रगतिवादिता, यान्त्रिकता और भौतिकता ने मनुष्य को इतना अधिक विलासी और सुखप्रिय बना दिया है कि उसे यौन-सुख के अतिरिक्त संसार में कोई सुख, कर्तव्य या उत्तरदायित्व ही नहीं सूझता। वर्तमान युग का मानव प्रायः दिग्भ्रान्त, मूढ़ और अज्ञानान्ध होकर अनियन्त्रित भोगवासना के पीछे हाथ धोकर पड़ा है। विलासिता और क्षणिक आनन्द की प्राप्ति के लिए पहले से ही मनुष्य अपनी दुर्बलताओं से प्रेरित होकर न जाने क्या-क्या करता रहा है, सन्तति-निरोधक कृत्रिम साधनों ने तो मनुष्य की उच्छृंखलता में बाढ़ ही ला दी है। इन्हीं की बदौलत कामुक विलासिता और भी बढ़ने लगी है।

पश्चिम के निरंकुश भोगवाद ने इस आग में घी होमने का काम किया। वहाँ विलासिता के विविध साधन-प्रसाधनों और तुरन्त प्रसन्नता प्राप्त करने के लिए नशेबाजी की आदतों के कारण लोगों में काम-भोग की लालसा ने उग्र रूप धारण कर

---

१. उत्तराध्ययन सूत्र १६/१७

लिया है। अमेरिका, जर्मनी एवं यूरोप के विनोदगृहों (क्लबों) में लाखों-करोड़ों नर-नारी स्वच्छन्द यौनाचार की प्रवृत्ति में रत हैं। इसका परिणाम यह हुआ है कि वहाँ काम-सुख पर प्रायः प्रतिबन्ध हटते जा रहे हैं। हिप्पीवाद इसका एक नमूना है, जो भूत की तरह अपना विकराल रूप फैलाता जा रहा है। ऐसी कुछ पाठ्य पुस्तकें वहाँ तैयार की गई है, जिनमें कामोपभोग का सुविस्तृत शिक्षण और प्रोत्साहन है। पश्चिम के इस स्वच्छन्द भोगवाद का प्रवाह आज ऋषि-मुनियों एवं पूर्ण ब्रह्मचारियों के देश भारतवर्ष में भी तीव्रता से बढ़ता जा रहा है। पश्चिम के स्वच्छन्द भोगवाद के प्रवाह में बहकर बहुत-से लोग भारतीय संस्कृति की मर्यादामूलक सभ्यता को भूल कर ब्रह्मचर्य का स्वीकार करने में लज्जा अनुभव करने लगते हैं। कई व्यक्ति तो इस स्वच्छन्द भोगवाद के पुजारी बनकर यह आक्षेप करने लगते हैं कि इस युग में ब्रह्मचर्य की आवश्यकता ही क्या है? फ्रायड आदि कुछ पाश्चात्य काम-मनोविज्ञानशास्त्रियों (Sex-psychologists) का ऐसा अभिमत है कि "ब्रह्मचर्य इच्छाओं का दमन है और इच्छाओं के दमन से मनुष्य विक्षिप्त हो जाता है। बलपूर्वक रोकी हुई मन और इन्द्रियों की वासना द्विगुणित वेग से उछलती है।" इन्हीं का अनुसरण करते हुए कुछ भारतीय और अधिकांश पाश्चात्य लोग भ्रान्तिवश यह कह बैठते हैं कि "ब्रह्मचर्य तो इन्द्रियों और मन की स्वतन्त्रता पर ताला लगाना है। मन, बुद्धि और इन्द्रियों को उन्मुक्त रूप से प्रवृत्ति करने से रोकना, उनके विकास को रोकना है।"

उन्हें भी ब्रह्मचर्य का लोहा मानना पड़ता है

आज हम देख रहे हैं कि वासना में अन्धे बने हुए लोगों को सत्य-असत्य की पहचान तक नहीं है। न उन्हें अपने हित-अहित, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य एवं मर्यादा का भान है। जो लोग ब्रह्मचर्य को अनावश्यक बतलाते हैं, वे ही लोग जब क्षणिक वैषयिक सुख के लिए अतिपरिश्रम से उपार्जित की हुई अमूल्य निधि के रूप में संचित अपनी जीवनी-शक्ति को कुछ ही क्षणों में खो बैठते हैं, काम-वासना के जाल में जकड़े हुए उन्मत्त युवक-युवती जब अपना अमूल्य खजाना खाली कर बैठते हैं, उनका शरीर जड़ और सुस्त मालूम पड़ता है और दिमाग काम करने से इन्कार कर देता है, आँखें कमजोर हो जाती हैं, गाल पिचक जाते हैं, चेहरा मुर्झा जाता है, असमय में ही बुढ़ापा आ घेरता है, क्षय, दमा, अशक्ति, धातुक्षय आदि किसी न किसी संघातक रोग के वे शिकार बन जाते हैं, कमर झुक जाती है, भोजन हजम नहीं होता, गैस की शिकायत हो जाती है, तब उनकी आँखें खुलती हैं और उन्हें साफ-साफ समझ में आ जाता है कि ये सब दुष्परिणाम इन्द्रियों और मन पर असंयम के—अब्रह्मचर्य के कारण हुए हैं फिर उन्हें ब्रह्मचर्य एवं इन्द्रियसंयम की महत्ता एवं उपयोगिता समझ में आती है और तब उन्हें ब्रह्मचर्य-पालन की आवश्यकता अनुभव होती है।

कई लोग ऐसी दुःस्थिति में सदा इस तलाश में रहते हैं कि इस स्वच्छन्द भोग-

वृत्ति के कारण नष्ट की हुई शक्ति पुनः प्राप्त कर लें । वे या तो विज्ञापनबाजों के चंगुल में फँसकर हजारों रुपये बर्बाद कर देते हैं, या फिर वैद्यों और हकीमों के दरवाजे खटखटाते हैं कि कहीं से ताकत की दवा मिल जाए; किन्तु ब्रह्मचर्य के अभाव में कोई भी दवा, उपचार या चिकित्सा काम नहीं करती, न ही उन्हें ताकत दे सकती है । एक ओर तो वे ब्रह्मचर्य भंग करते जाएँ, और दूसरी ओर वे इन दवाइयों से शक्ति-प्राप्ति और रोग-मुक्ति चाहें तो कैसे मिल सकती है ? यह तो फूटी आँख में सुरमा डालकर रोशनी पाने की सी असंभव बात है ।

बीकानेर रियासत के एक गाँव का युवक इसी प्रकार की स्वच्छन्द भोगवृत्ति के कारण क्षयरोग का शिकार हो गया । डाक्टरों और वैद्यों को दिखाया गया । अतिकामुकता के कारण उसका क्षयरोग तीसरी स्टेज में पहुँच गया था । डॉक्टरों और वैद्यों ने उसे स्त्रीप्रसंग से तथा अश्लील साहित्य पढ़ने, सिनेमा देखने आदि अब्रह्मचर्य के कारणों से दूर रहने और निष्ठापूर्वक ब्रह्मचर्य-पालन करने का परामर्श दिया । परन्तु ब्रह्मचर्य की महत्ता और उपयोगिता समझ में आजाने के बावजूद भी वह युवक अब्रह्मचर्य से दूर न रह सका, कामोन्मादवश अधिकाधिक रूप में ब्रह्मचर्य खण्डित करता गया । ऐसे क्षतवीर्य, अशक्त एवं जीर्ण-शीर्ण बने हुए शरीर में दवाइयाँ क्या काम करतीं । पैसा पानी की तरह बहाया गया, किन्तु उसका क्षयरोग मिट न सका और उस अब्रह्मचर्य के फलस्वरूप एक दिन उसने सदा के लिए आँखें मूँद लीं ।

इस उदाहरण से प्रत्येक व्यक्ति समझ सकता है कि जीवन में ब्रह्मचर्य की कितनी उपयोगिता है ?

पश्चिम में भी, जहाँ कि निरंकुश भोगवाद का बोल-बाला है, ब्रह्मचर्य और पवित्रता के कुछ झरने विद्यमान हैं, जो ब्रह्मचर्य की सर्वतोमुखी उपयोगिता समझकर उसका पालन करते हैं । उन झरनों से कोई चाहे तो जीवन का पवित्र जल पीकर सन्तुष्ट हो सकता है । वहाँ के बहुत से मनुष्य ब्रह्मचर्य एवं स्वेच्छा से गरीबी का व्रत लेते हैं, किन्तु न तो उसका ढिंढोरा पीटते हैं और न ही उसके लिए गर्व करते हैं । वे अपने किसी आत्मीय की, स्वदेश की या स्वधर्म की सेवा के लिए नम्रता के साथ ब्रह्मचर्य एवं स्वेच्छा से निर्धनता का पालन करते हैं ।

ब्रह्मचर्य-पालन प्रत्येक व्यक्ति के लिए आवश्यक

आज जबकि पाश्चात्य विचारक ब्रह्मचर्य के रंग में रंगते जा रहे हैं तब भारतवासियों के लिए क्या यह चुनौती नहीं है कि जिस देश के महान् ऋषि-मुनियों एवं तीर्थंकरों-अवतारों तथा पवित्र श्रमणों ने स्वयं अखण्ड ब्रह्मचर्य का भली-भाँति निष्ठापूर्वक आचरण, पालन एवं पूर्ण अनुभव प्राप्त कर असीम आनन्द का अनुभव किया[1] तथा जगत् के समक्ष ब्रह्मचर्य का आदर्श प्रस्तुत किया और जगत् को यह सन्देश दिया

---

१. समणमणाइल साहु सुचिन्नं ।" —प्रश्नव्याकरण, संवरद्वार ४, गा० १

कि प्रत्येक व्यक्ति ब्रह्मचर्य का पालन कर सकता है, इसी से वास्तविक सुख-शान्ति पा सकता है; उनके अनुयायी ब्रह्मचर्य-पालन में पिछड़े रहें, तथा यह कहते रहें कि "इस युग में ब्रह्मचर्य केवल हिमालयवासी योगियों के लिए है, हमारे लिए तो विवाह करना आवश्यक है", यह लज्जा की बात है। जिस ब्रह्मचर्य-धर्म का हम अत्यधिक बखान करते रहें, यदि वह धर्म हमारे जीवन में कुछ भी न उतरे, हमारे दैनिक जीवन में उसका किंचित् भी प्रभाव न पड़े, उस विचार का मूल्य भी शून्यवत् है।

कदाचित् यह मान भी लिया जाए कि गृहस्थ के लिए विवाह करना आवश्यक है, तो भी सभी गृहस्थ न तो विवाह कर सकते हैं और न सबके लिए यह उचित एवं आवश्यक है। कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं, जिनके लिए ब्रह्मचर्य-पालन के सिवाय कोई मार्ग ही नहीं रह जाता। उदाहरणार्थ—(१) कुछ लोग ऐसे होते हैं, जिन्हें अपनी निर्धनता या व्यापारादि के कारण विवाह से वंचित रहना पड़ता है। (२) कितने ही व्यक्तियों को योग्य कन्या या योग्य वर नहीं मिलते। (३) कितने ही लोग ऐसे होते हैं, जो कुष्ट, कैंसर आदि संक्रामक रोगों से पीड़ित होते हैं, विवाहित होने से उनकी सन्तान में भी उन रोगों के आजाने का भय रहता है, (४) तथा और भी कई कारणों से कुछ लोगों को विवाह का विचार बिलकुल ही छोड़ देना पड़ता है।

एक भाई इधर विवाह करके अपनी नववधू को लेकर आया था, उधर दुर्भाग्य से उसकी बहन विधवा होकर रोती-रोती भाई के यहाँ आई। भाभी ने अपनी ननन्द को देखा तो विचार कर लिया—'आज हम अपनी सुहागरात ब्रह्मचर्य-पूर्वक मनाएँगे।' रात को भाई ने सुहागरात मनाने के लिए ज्यों ही दबे पाँव कमरे में प्रवेश किया दुल्हन, सिहर उठी, सकुचाई और फिर साहस बटोरकर बोली—"बहन आँखों में आँसू लिये फिरे और आपकी आँखों में काम छलके! तुम्हें सती के तेज की सौगन्ध है, मेरे से हाथ मत लगाना।" पति-पत्नी दोनों ने विधवा बहन के जीवित रहने तक ब्रह्मचर्य का संकल्प कर लिया। भाभी ने अपने प्यार से ननन्द का वैधव्य-दुःख भुला दिया। २५ वर्ष तक ननद-भाभी एक साथ सोईं, बैठीं-उठीं-हंसीं और रहीं, किन्तु भाई ने अपनी पत्नी का मुँह भी न देखा। बहन वैधव्य को याद करके एक दिन भी न रोई। ४५ वर्ष की आयु में बहन चल बसी, तब दो वर्ष बाद भाभी ने एक पुत्र को जन्म दिया, जिसने युवा होकर सिंह से भिड़कर उसे दबोच दिया था। शायद वह युवक या उसकी सन्तान अम्बाला या हिसार जिले के किसी गाँव में अभी तक जीवित है।

निष्कर्ष यह है कि ये और इस प्रकार के कई कारणों से व्यक्ति को बाध्य होकर ब्रह्मचर्य-पालन करना पड़ता है। इसी प्रकार किसी उत्तम कार्य या उद्देश्य के लिए, सशक्त और सम्पन्न स्त्री-पुरुषों के द्वारा ब्रह्मचर्य-पालन से उन लोगों को भी अपने व्रत पालन में प्रोत्साहन मिलता है, जो विवश होकर ब्रह्मचारी बने रहते हैं। जिसने स्वेच्छापूर्वक ब्रह्मचर्य-व्रत ग्रहण किया है उसे तो अपना ब्रह्मचर्यमय जीवन

सहज उच्च, आनन्दमय और पूर्ण मालूम होता है। बल्कि स्वेच्छा से ब्रह्मचर्य-पालन से उसके प्रति लोगों की पूज्य-बुद्धि बढ़ जाती है।

दो भाई थे। उनके माता-पिता चल बसे थे। उस समय छोटा भाई बहुत ही छोटा था। इसलिए बड़े भाई की पत्नी ने उसे पाला-पोसा और बड़ा किया। इस कारण छोटा भाई अपनी भाभी को ही माँ समझता था। बड़े भाई ने एक पिता की भूमिका अदा की। छोटे भाई को एम. ए. तक पढ़ाया-लिखाया। छोटा भाई अब पूर्ण युवक हो गया था, किन्तु भाभी और भाई के चरणों में प्रतिदिन प्रणाम करना नहीं भूलता था। छोटा भाई जब विवाह-योग्य हो गया तो बड़े भाई ने उसकी सगाई एक कुलीन परिवार की सुशील लड़की के साथ कर दी। किन्तु अभी विवाह नहीं हुआ था, उससे पहले ही बड़े भाई की अकस्मात् दो दिन की बीमारी के बाद मृत्यु हो गई। सारे परिवार में कोहराम मच गया। बड़े भाई के चार लड़के और भाभी को निराधार देखकर छोटे भाई ने सहसा मनोमन्थन करके अपना कर्त्तव्य निर्धारित कर लिया—"अगर मैं विवाह करूँगा, तो अपनी कमाई से बड़े भाई के परिवार का पालन नहीं कर सकूँगा। अतः मैं आजीवन ब्रह्मचारी रहूँगा, विवाह नहीं करूँगा।" उसने अपनी भाभी के चरण छूकर आश्वासन देते हुए कहा—"भाभी जी! आप किसी प्रकार न घबराएँ। बच्चों को मैं पढ़ाऊँगा और सारे परिवार का खर्च मैं उठाऊँगा। आपने मुझे अपने पुत्र की तरह पाला-पोसा है। इसलिए, यद्यपि मैं आपके ऋण से उऋण नहीं हो सकता, फिर भी आजीवन ब्रह्मचारी रहकर आपकी और परिवार की सेवा करूँगा।" इसका परिणाम यह हुआ कि बड़े भाई के बच्चे और भाभी उसे देवतुल्य समझते थे, उसका आदर करते थे। बच्चे उसे पूज्य पिता तुल्य समझते थे।

इस प्रकार प्रत्येक स्थिति में ब्रह्मचर्य उपयोगी और विशेष परिस्थितियों में अनिवार्य है।

कई लोग कहते हैं कि 'विवाह होने पर तो कोई ब्रह्मचारी रह ही नहीं सकता।' किन्तु महात्मा गांधी जैसे महान् विचारक कहते हैं "विवाहित हो जाने से किसी को अब्रह्मचर्य की या स्वच्छन्द विषय-भोग की छूट नहीं मिल सकती। विवाह ब्रह्मचर्यव्रत का बड़ा भारी सहायक बनता है। यह विषयेच्छा और विकारों से मनुष्य की मुक्ति का चिह्न स्वरूप है। विवाहित स्त्री-पुरुष इससे प्रेरणा ले सकते हैं कि वे परस्पर एक-दूसरे की विषयेच्छा की पूर्ति के ही साधन नहीं हैं, अपितु वे एक-दूसरे के ब्रह्मचर्य-पालन में सहायक हैं। विवाह को विषयेच्छापूर्ति का साधन समझने वाले व्यक्ति यह भूल जाते हैं कि रोगवश या किसी और कारण से दम्पति में से किसी एक की अशक्ति के कारण दूसरे के लिए आजीवन ब्रह्मचर्य का पालन करना अनिवार्य हो जाता है।"[1]

---

१. आत्मसंयम, पृ. ७५

ब्रह्मचर्य विज्ञान

लेखक :

अध्यात्मयोगी
श्री पुष्कर मुनि जी महाराज

सम्पादक :

श्री देवेन्द्र मुनि शास्त्री

श्रीचन्द सुराना 'सरस'

प्रकाशक :

श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय

शास्त्री सर्कल, उदयपुर

श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय का २२६ वां पुष्प

ब्रह्मचर्य - विज्ञान

☐ लेखक :
अध्यात्मयोगी उपाध्याय श्री पुष्कर मुनि जी महाराज

☐ सम्पादक :
श्री देवेन्द्र मुनि शास्त्री
श्रीचन्द सुराना 'सरस'

☐ प्रथम प्रवेश :
वीर निर्वाण संवत् २५०९
वि० सं० २०४० विजय दशमी
ईस्वी सन १९८३, अक्टूबर

☐ मूल्य :
तीस रुपये मात्र

☐ प्रकाशक :
श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय
शास्त्री सर्कल, उदयपुर (राजस्थान)

☐ मुद्रण :
श्रीचन्द सुराना के लिए
जैन इलैक्ट्रिक प्रेस, आगरा

प्रकाशकीय प्रकाश

सुधी पाठकों के कर-कमलों में ब्रह्मचर्य-विज्ञान ग्रन्थ रत्न समर्पित करते हुए हृदय आनन्द से झूम रहा है। यह एक ऐसा ग्रन्थ है जिसकी आवश्यकता आधुनिक युग में अत्यधिक है। भौतिकवाद की आंधी में मानव बहिर्मुखी बनता जा रहा है। वह अध्यात्म को भुलाकर भौतिकता में उलझ रहा है। उसकी यह प्रगति आरोहण की ओर नहीं, अवरोहण की ओर है; उत्थान की ओर नहीं, पतन की ओर है। पाइथागोरस ने लिखा है—'No man is free, who cannot command himself' अर्थात् जो व्यक्ति अपने आप पर नियन्त्रण नहीं कर सकता वह स्वतन्त्र नहीं हो सकता। अपने आप पर शासन करने की शक्ति ब्रह्मचर्य के बिना नहीं आ सकती।

ब्रह्मचर्य का अर्थ स्त्री-पुरुष के संयोग और संस्पर्श से बचने तक ही सीमित नहीं है। वस्तुतः आत्मा को शुद्ध करने वाली, समस्त विषय-विकारों-वासनाओं से मुक्त करने वाली प्रक्रिया ब्रह्मचर्य है। आत्मा की विशुद्ध परिणति ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्य आत्मा की निर्धूम ज्योति है।

ब्रह्मचर्य शब्द का निर्माण 'ब्रह्म' और 'चर्य' इन दो शब्दों के संयोग से हुआ है। राष्ट्रपिता महात्मा गांधी ने ब्रह्मचर्य का अर्थ किया है—ब्रह्म की, सत्य की शोध में चर्या अर्थात् तत्सम्बन्धी आचार। ब्रह्म का अर्थ है आत्मा का शुद्ध भाव और चर्या का अर्थ है चलना, गति करना, आचरण करना। शुद्ध-भाव या परमात्म-भाव या सत्य-साधना में अपने आपको केन्द्रित करना। ब्रह्मचर्य की साधना—सत्य की साधना है, परमात्मस्वरूप की साधना है। वासना के निबिड़ अन्धकार को नष्ट करने की साधना है।

ब्रह्मचर्य जैसे गम्भीर विषय पर श्रद्धेय सद्गुरुवर्य उपाध्याय श्री पुष्कर मुनि जी महाराज ने गहन चिन्तन प्रस्तुत किया है। वह सभी प्रबुद्ध पाठकों के लिये अत्यन्त उपयोगी है। वे ब्रह्मचर्य को धारण कर अपने जीवन को ओजस्वी/तेजस्वी वर्चस्वी बना सकते हैं। गुरुदेवश्री के पावन प्रवचनों को संपादित किया है—श्री देवेन्द्र मुनि शास्त्री ने जो गुरुदेवश्री के एक सुयोग्य शिष्य हैं। गुरुदेव के विचारों को जो मूर्त रूप एक शिष्य दे सकता है, वह दूसरा सामान्य व्यक्ति नहीं दे सकता। देवेन्द्र मुनि जी का स्वाध्याय शिथिल हो जाने से संपादन कार्य में उन्हें सहयोग प्राप्त हुआ

है स्नेह-सौजन्यमूर्ति साहित्यकार श्रीचंद जी सुराना 'सरस' का। श्री 'सरस' जी का सहयोग मुद्रण कला में भी प्राप्त हुआ है। हम देवेन्द्र मुनि जी और श्री 'सरस' जी के आभारी हैं।

प्रसिद्ध गांधीवादी विचारक, सस्ता साहित्य मंडल के मंत्री एवं प्रबुद्ध लेखक-चिन्तक श्री यशपाल जी जैन ने हमारा आग्रह स्वीकार कर प्रस्तावना लिखी है, तदर्थ हम उनके आभारी हैं।

पूज्य गुरुवर्य का हार्दिक आशीर्वाद और दानी महानुभावों का सहयोग संस्था को समय-समय पर मिलता रहा है जिसके फलस्वरूप संस्था नित्य-नूतन प्रकाशन पाठक वर्ग को प्रदान करती रही है। कागज और मुद्रण कार्य इतना अधिक महँगा होता जा रहा है जिससे चाहते हुए भी सस्ता साहित्य देना कठिन हो रहा है तथापि हम प्रचारार्थ लागत मूल्य पर या उससे भी कम मूल्य में सहयोगियों के सहयोग से साहित्य दे पा रहे हैं। आज आवश्यकता है सत्साहित्य के प्रचार की। जिस समाज में सत्साहित्य की परम्परा अक्षुण्ण रूप से चलती है वह समाज जीवित समाज है। जैन समाज अन्यान्य कार्यों में जितना खर्च करता है यदि उसका शतांश भी साहित्य के कार्य में खर्च करे तो धर्म की प्रबल प्रभावना हो सकती है। समाज का सहयोग हमें निरंतर मिलता रहा तो हम साहित्य की प्रत्येक विधा में उत्कृष्ट साहित्य पाठकों के कर-कमलों में समर्पित करते रहेंगे, ऐसा हमारा संकल्प है।

मंत्री
श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय,
उदयपुर (राजस्थान)

●●

अध्यात्मयोगी श्री पुष्कर मुनि जी महाराज

[एक परिचय]

सन्त एक व्यक्ति नहीं; धर्म का, सदाचार का, सत्य, अहिंसा, विश्व प्रेम और विश्व मानवता का एक पावन प्रतिष्ठान है। अति निगूढ़ मानवीय शक्तियों का उद्घाटक सन्त है।

सूर्य का धर्म है—प्रकाश देना। जल का धर्म है— जीव मात्र को शीतलता से अनुप्रीणित करना। धरती का धर्म है—धारण करना और आकाश का धर्म है—आश्रय देना। इसी तरह सन्त का धर्म है—जीव मात्र को उसके स्वरूप का बोध कराना, अन्तश्चेतना में सुप्त शक्तियों को जागृत करना, आत्मा को परमात्मा, जीव को शिव के स्वरूप में प्रतिष्ठित होने का मार्ग दिखाना। सन्त का असीम उपकार है मानव संस्कृति पर।

अध्यात्मयोगी राजस्थानकेसरी उपाध्याय श्रद्धेय सद्गुरुदेव श्री पुष्कर मुनि जी महाराज का व्यक्तित्व फूलों के गुलदस्ते की भाँति विभिन्न गुणों की सौरभ से सुरभित है। वे एक ओर उच्चकोटि के विद्वान् हैं तो दूसरी ओर पहुँचे हुए साधक भी है। ज्ञान की गरिमा और साधना की महिमा से व्यक्तित्व के दोनों छोर कसे हुए से हैं। उनकी अद्भुत प्रभावशाली वक्तृत्वकला हजारों-हजार श्रोताओं का हृदय क्षण मात्र में आन्दोलित/परिवर्तित कर सकती है तो उनका ध्यान-मौन साधना युक्त एक विरल संकेत अपार श्रद्धालु वर्ग को सर्वस्व न्यौछावर करने को आतुर भी कर सकता है। उनमें एक साथ अनेक विरोधी गुण देखकर आश्चर्य भी होता है। विनम्रता के साथ सिद्धान्तनिष्ठा और आचार-दृढ़ता; मधुरता के साथ अनुशासन की कठोरता, सरलता और कोमलता के साथ उत्कृष्ट तपःसाधना, जपयोग एवं ध्यानयोग की अन्तःस्रावित अमृत-साधना, वास्तव में ही बड़ी विचित्र, आश्चर्यजनक तथा मन को सहसा प्रभावित करती है।

योगी अन्तर्ज्ञानी तो होते हैं किन्तु शास्त्रज्ञानी होना एक विरलता है। साधक कठोर आत्मनिग्रही तो होते हैं पर कुशल प्रशासक होना एक दुर्लभ विशेषता हैं। तपस्वी तथा ध्यानी वचनसिद्ध तो होते हैं, पर कलमसिद्ध होना एक अद्भुतता है। श्रद्धेय गुरुदेवश्री एक ओर जहाँ जगत प्रपंच से विरत निस्पृह श्रमण हैं, तो दूसरी ओर ललित-काव्य-कला के सर्जक कवि व लेखक भी हैं। गुरुदेव श्री की वक्तृता में श्रोताओं के हृदयों को आन्दोलित/उत्प्रेरित करने की अपार क्षमता है

तो लेखनी में विचारों की गहनता को शब्दों का सुरम्य परिधान देकर हृदयस्पर्शिता प्रदान करने की विलक्षण शक्ति है।

पूज्य गुरुदेवश्री का जागतिक व्यक्तित्व किसी परमपरित् धातु से निर्मित नहीं है; पर जिस धातु से निर्मित है—वह खरी है, और काल-सह्य है। वे किसी समाज और परम्परा तक ही सीमित नहीं हैं अपितु खुले मन-मस्तिष्क के श्रमण हैं। मानवता के प्रति उन्हें प्यार है और उसी के उत्थान के लिए वे सतत प्रयत्नशील हैं। भारत के विविध अंचलों में आपने पदयात्राएँ की हैं; मजदूरों से मिले, किसानों से मिले, सामान्य व्यक्ति से लेकर विशिष्ट राजनीतिज्ञ भी आपके सम्पर्क में आये हैं और आपके व्यक्तित्व से प्रभावित हुए हैं।

एक पहुँचे हुए साधक के साथ साथ आप श्री संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी राजस्थानी, गुजराती एवं मराठी आदि भाषाओं के विज्ञ हैं। संस्कृत एवं हिन्दी, राजस्थानी के तो आप रससिद्ध कवि भी है।

इस विरल तेजस्वी व्यक्तित्व के धनी गुरुदेवश्री पुष्कर मुनिजी महाराज का जन्म राजस्थान के उदयपुर जिलान्तर्गत नांदेशमा ग्राम के ब्राह्मण कुल में वि० सं० १९६७ आश्विन शुक्ला १४ को हुआ। १४ वर्ष की सुकुमार वय में, वि० सं० १९८१ में राजस्थान के प्रसिद्धसन्त महास्थविर श्री ताराचन्द जी महाराज के पास जैन भागवती दीक्षा स्वीकार की। साठ वर्ष का यह सुदीर्घ साधना काल सिद्धि के कदम दर कदम बढ़ाता हुआ आज चमत्कारिक सफलता को स्पर्श कर रहा है।

□□□

अपनी बात

संसार के समस्त धर्म-प्रवंतकों एवं मनीषियों के उपदेशों का सार एक वाक्य में बताना हो तो वह है—**जीवन की पवित्रता।**

मनुष्य की वृत्तियाँ जब सन्तुलित होंगी, उद्वेग रहित होगी तब उसके संकल्प, विचार और व्यवहार भी शान्त और पवित्र होंगे। इस पवित्रता से उसे एक अपूर्व शान्ति, सुख और तृप्ति की अनुभूति होगी जिसे धर्म एवं दर्शन की भाषा में निजानन्द, आत्मानन्द या अनिर्वचनीय आनन्द कह सकते हैं। व्यावहारिक भाषा में इसे ही 'परमानन्द' या 'परमसुख' कह सकते हैं।

तो इस परमानन्द या आत्मानन्द की प्राप्ति का स्रोत है—जीवन की पवित्रता; और जीवन की पवित्रता का मार्ग है—विकार एवं विकल्प रहितता।

विचार चाहें मन के हों, या तन के, वे दूषितता के द्योतक हैं। दूषण—गन्दगी या अपवित्रता को जन्म देते हैं। इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि पवित्र जीवन की साधना के लिए विकारों से मुक्त होना या दूर रहना आवश्यक/परमावश्यक है।

जीवन की पवित्रता या श्रेष्ठता के साधनों पर विचार करेंगे तो सबसे पहला और प्रमुख साधन है—ब्रह्मचर्य।

चाहे भगवान् महावीर हों या तथागत बुद्ध, महर्षि मनु हों या गौतम, चाहे हजरत ईसा हो या हजरत मुहम्मद, चाहे कन्फ्यूसियस हो या टालस्टाय, चाहे महात्मा गांधी हों या सन्त विनोबा—जीवन की पवित्रता के लिए ब्रह्मचर्य-साधना और विकार-वर्जना को सबने महत्व दिया है, आवश्यक बताया है।

ब्रह्मचर्य के आधारभूत तीन सिद्धान्त हैं—

अध्यात्मशास्त्र—मन एवं इन्द्रियों का संयम, संशोधन, शक्ति का ऊर्ध्वीकरण।

नीतिशास्त्र—सामाजिक मर्यादा, सभ्यता, सदाचार आदि का पालन।

मनोविज्ञान—कामवृत्तियों को मार्गान्तरित करके, व्यापक प्रेम, सेवा और समर्पण की भावना।

काम-मनोविज्ञान के आचार्य फ्रायड ने कामवृत्ति को मनुष्य की सहज वृत्ति मानी है। जहाँ तक नीति, धर्म एवं दर्शन शास्त्र का चिन्तन है—वे इसे अस्वीकार नहीं करते। भगवान महावीर ने प्राणी मात्र में चार प्रकार की मूलभूत वृत्तियों की चर्चा की है—

१. क्षुधावृत्ति (आहार संज्ञा)
२. भय की वृत्ति (भय संज्ञा)
३. स्वार्थवृत्ति (लोभ संज्ञा)
४. कामवृत्ति (मैथुन संज्ञा)

संसार के प्रायः सभी चिन्तकों ने इस सत्य को स्वीकार किया है कि क्षुधा-वृत्ति की तरह कामवृत्ति भी मनुष्य/पशु तथा अन्य प्राणियों में जन्मजात होती है। किन्तु प्रश्न तो यह है कि कोई भी वृत्ति जन्मजात होने से ही तो स्वीकार्य नहीं होती, उसकी उचितता/अनुचितता की कसौटी कुछ और है। जिस प्रकार भय एवं स्वार्थ (लोभ वृत्ति) वृत्ति भी जन्मजात हैं, किन्तु मनुष्य उन पर नियन्त्रण करने का प्रयत्न करता है, उन वृत्तियों को जो जितना नियमन/संयमन व परिष्कृत कर सकेगा वह उतना ही उच्चता व श्रेष्ठता के, साहसिकता और महानता के शिखर पर चढ़ सकेगा। क्षुधावृत्ति पर भी मनुष्य नियन्त्रण करने का प्रयत्न करता है, और यह जीवन में आवश्यक भी है, फिर कामवृत्ति को सहज मान लेने भर से यह तो नहीं माना जा सकता कि उसे खुली छोड़ देना चाहिए। उस पर नियन्त्रण, संयम करना मानव स्वभाव के विपरीत है ?

मनुष्य पशु नहीं है, संकल्प और बुद्धि का धनी है। उसके समक्ष जीवन की सहजता या गतानुगतिकता का महत्व नहीं, महत्व है—श्रेष्ठता और पवित्रता का। जीवन को मोड़ देने या परिष्कृत कर उच्च ध्येय के लिए समर्पित करने की क्षमता सिर्फ मनुष्य में ही है, यही उसकी महानता का रहस्य है। अतः मनुष्य को पशु की तरह खुला चरने की छूट समाज में नहीं मिल सकती। समाज में सभ्यता, मर्यादा, सदाचार के नियम, और पारस्परिक सम्बन्धों की मधुरता/विश्वसनीयता अनिवार्य है। इसीलिए ब्रह्मचर्य का चिन्तन समाज की सुरक्षा और सुसंस्कृतता के लिए अनिवार्य है।

मनोविज्ञान मनुष्य की वृत्तियों का विश्लेषण करता है, नीतिशास्त्र उनका नियमन करता है और अध्यात्मशास्त्र उसका परिशोधन करता है।

मनुष्य के शरीर में जो हारमोन्स (अन्तःस्राव) हैं, जो जीवन-रस हैं, वही उसकी शक्ति का स्रोत है। अन्तःस्राव—जीवन-रस का भीतर ही भीतर खप जाना, उसकी शारीरिक सुन्दरता, तेजस्विता और शक्ति का कारण है, और वही उसके मानसिक विकास, बौद्धिक विकास और हृदय के दिव्य गुण—करुणा, स्नेह, सहिष्णुता बलिदानी भावना, सर्वस्व समर्पण करने की क्षमता आदि का विकास करता है।

मनोविज्ञान और नीतिशास्त्र—उस अन्तःस्राव को शरीर के भीतर-भीतर खपाने की बात कहते हैं, वहाँ अध्यात्मशास्त्र अन्तःस्राव को ऊर्ध्वमुखी बनाकर प्राण-शक्ति (जीवन-ऊर्जा) को विराट और उदात्त बनाने की शिक्षा देता है। प्रस्तुत पुस्तक

में गुरुदेवश्री ने तीनों दृष्टियों से, विभिन्न उदाहरणों व तर्क-वितर्क के आधार पर चिन्तन किया है। विद्वानों के विचार, साधकों के अनुभव और मनोविश्लेषकों के विवेचन देकर फिर अपनी समीक्षा भी प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है।

'ब्रह्मचर्य' एक ऐसा शब्द है, जिससे आज का युवा वर्ग या स्वयं को बुद्धिवादी प्रगतिशील कहने वाला वर्ग चौंकता है, इसे 'पौंगा-पंथी' शब्द कहकर उसकी उपेक्षा करता है, किन्तु यह एक खतरनाक भ्रान्ति है, विनाश की चिनगारी है। ब्रह्मचर्य सिर्फ धर्म का ही नहीं, किन्तु नीति, स्वास्थ्य और मानसिक वृत्तियों का प्रतीक है, केन्द्रबिन्दु है। इसे समझने की गलती हो रही है, एक बँधी-बँधाई धारणा से ग्रस्त युवा-मानस 'ब्रह्मचर्य' की न केवल उपेक्षा करता है, किन्तु उपहास भी करता है, पर मेरे विचार में यह उपेक्षा उसके अपने ही जीवन की उपेक्षा है, अपनी शक्तियों की उपेक्षा और उपहास है। चाहे साधक हो, चाहे चिकित्सक हो, चाहे भारतीय चिन्तक हो या भारतीयेतर विचारक—जीवन में 'ब्रह्मचर्य' की उपयोगिता/अनिवार्यता/महत्ता से कोई भी इन्कार नहीं हो सकता, यदि उसमें स्वयं की बुद्धि है।

ब्रह्मचर्य के सम्बन्ध में अनेक लेखकों ने विभिन्न शैलियों में लिखा है। अध्यात्म दृष्टि से भी, नीति एवं समाजशास्त्र की दृष्टि से भी, और मनोविज्ञान की दृष्टि से भी। एक तथ्य निर्भ्रान्ति है—कि ब्रह्मचर्य के बिना जीवन निस्तेज, व्यक्तित्व प्रभाव-शून्य और शरीर शक्तिहीन हो जाता है। इसलिए चाहे जिस दृष्टि से सोचें, चाहे जिस रूप से विचार करें—ब्रह्मचर्य जीवन की अनिवार्यता है। जिस प्रकार जीवन जीने के लिए हवा और धूप अनिवार्य है, उसी प्रकार जीवन को पवित्र, सुखमय, नीरोग और प्रतिष्ठापूर्ण रखने के लिए ब्रह्मचर्य एक अनिवार्यता है, आवश्यकता है।

यह नहीं कहा जा सकता कि सबके लिए सम्पूर्ण ब्रह्मचर्य ही अनिवार्य है। जिस प्रकार भोजन व श्रम अपनी शक्ति के अनुसार किया जाता है, उसी प्रकार ब्रह्मचर्य में भी अलग-अलग स्तर हैं, सीमाएँ हैं, साध्यता की श्रेणियाँ हैं जिससे जितना सधे या साध सके; किन्तु यह निश्चित है कि किसी-न-किसी रूप में यह जीवन की अनिवार्य साधना है।

आज की सामाजिक व्यवस्थाओं में, रहन-सहन में, भोजन-व्यवहार में और फैशन एवं सभ्यता के बदलते/बिगड़ते परिवेश में—ब्रह्मचर्य को समझना, डूबती नौका को बचाने के लिए, पवन और पानी के वेग/प्रवाह को पहचानने के समान है।

यदि समय रहते ब्रह्मचर्य का महत्व, उसकी मर्यादा और उपयोगिता नहीं समझी गई तो फिर यह मानव जाति अणु-परमाणु बम विस्फोट से नहीं, किन्तु ब्रह्मचर्य-विनाश से पतन के गहन गर्त में डूब जायेगी—यह निःसंदेह है।

श्रद्धेय गुरुदेव अध्यात्मयोगी उपाध्याय श्री पुष्कर मुनि जी म. स्वयं एक महान साधक हैं, ध्यानयोगी, जपयोगी होने के साथ ही ऊर्ध्वरेता ऋषि हैं। उनकी तेजस्वी मुखमुद्रा और उदात्त आत्म-बल—ब्रह्मचर्य-साधना का जीवन्त उदाहरण है।

गुरुदेवश्री ब्रह्मचर्य विषय पर जब प्रवचन करते हैं तो घन्टों, दिनों, और महीनों तक बोलते जाते हैं, इस प्रसंग पर इतनी अनुभवपूर्ण और जीवन-स्पर्शी चिन्तन-सामग्री उनके प्रवचनों में उपलब्ध होती है कि उसे वर्षों तक संग्रह करते रहने पर भी बासीपन नहीं आया, आज भी उसमें ताजगी है, जीवन्त प्रेरणा है।

बहुत वर्ष पूर्व मैंने गुरुदेवश्री के प्रवचनों को लिपिबद्ध किया था। तब दान, शील आदि विषयों में से वर्गीकरण कर उनको अलग-अलग प्रारूप दे दिया था। दान सम्बन्धी विशाल चिन्तन सामग्री सन् १९७७ में 'जैन धर्म में दान : एक समीक्षात्मक अध्ययन' शीर्षक से प्रकाशित हुई थी। विद्वानों और जिज्ञासु पाठकों ने उसे बहुत सराहा, स्वीकारा। तभी से ब्रह्मचर्य (शील) सम्बन्धी प्रवचन सामग्री को एकत्र व संपादित करने में लग गया था जो अब पुस्तकाकार रूप में पाठकों के समक्ष प्रस्तुत हो रही है।

गुरुदेवश्री के मार्गदर्शन और आशीर्वचन का तो यह सुफल है ही, साथ ही स्व० मातेश्वरी, प्रतिभामूर्ति महासती श्री प्रभावती जी म. का पुण्य-स्मरण भी हो आता है जिन्होंने मुझे जीवन में ज्ञानाराधना और गुरु समुपासना की कला सिखाई। उनके अनन्त उपकार आज स्मृति पर आकर मुझे विभोर कर रहे हैं। ज्येष्ठ भगिनी परम विदुषी महासती पुष्पवती जी की प्रबल प्रेरणा मेरी साहित्य यात्रा का सम्बल है। माँ के अभाव में वे माँ की तरह सतत प्रेरणा देती रहती हैं जिससे कि मैं साहित्य के क्षेत्र में आगे बढ़ सकूँ।

श्री रमेश मुनि जी, राजेन्द्र मुनि जी, दिनेश मुनि जी, नरेश मुनि जी प्रभृति मुनिमण्डल का सेवा, साहचर्य एवं सहयोग भुलाया नहीं जा सकता। उनका स्मरण मेरे मन को प्रमुदित और प्रफुल्लित कर रहा है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के सम्पादन में स्नेह-सौजन्यमूर्ति पण्डित मुनि श्री नेमीचन्द जी, तथा साहित्य शिल्पी श्रीचन्दजी सुराना 'सरस' का सहयोग चिरस्मरणीय रहेगा। मैं उनके प्रति हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करना अपना कर्तव्य समझता हूँ। साथ ही उन समस्त लेखकों और विचारकों के प्रति भी अपना सादर आभार प्रकट करना चाहूँगा जिनके विमल विचारों की प्रकाश किरणें मुझे प्राप्त हुई हैं और प्रस्तुत पुस्तक के पृष्ठों पर चमक रही है। सुप्रसिद्ध विचारक और लेखक श्री यशपालजी जैन ने प्रस्तावना लिखकर अपनी श्रद्धा/सद्भावना के रूप में पुस्तक की उपयोगिता पर प्रकाश डाला है, मैं उनका भी हार्दिक आभार मानता हूँ। परम गुरुभक्त उदार दानी महानुभावों

का अर्थ सहयोग भी ग्रन्थ के शीघ्र प्रकाशन में सहयोगी रहा है। यदि उनका सहयोग प्राप्त नहीं होता तो ग्रन्थ इतना शीघ्र प्रकाश में नहीं आ सकता था।

मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि ब्रह्मचर्य केवल एक दर्शन या धर्म ही नहीं, यह एक विज्ञान भी है। ब्रह्मचर्य का सिद्धान्त शरीरविज्ञान और मनोविज्ञान के पूर्णतः अनुकूल है, अतः प्रस्तुत ग्रन्थ का नाम मैंने 'ब्रह्मचर्य विज्ञान' रखा है। आशा ही नहीं अपितु दृढ़ विश्वास है कि ब्रह्मचर्य के सम्बन्ध में धर्म, दर्शन, नीति, विज्ञान प्रभृति सभी दृष्टियों से किया गया यह मौलिक चिन्तन प्रबुद्ध पाठकों को जीवनोपयोगी सामग्री प्रदान करेगा।

१५ अक्टूबर, १९८३
जैन स्थानक, मदनगंज—किशनगढ़

—देवेन्द्र मुनि

□□

प्रस्तावना

उपाध्याय श्री पुष्कर मुनिजी तथा श्री देवेन्द्र मुनि शास्त्री ने विपुल साहित्य की रचना की है। उनकी जो भी पुस्तकें मेरे सामने आई हैं, उन्हें मैंने पढ़ा है। मुझे वे पुस्तकें अच्छी लगी हैं। उनमें नैतिकता का स्वर मुखरित हुआ है। उनके पीछे जनमंगल की भावना परिलक्षित हुई है। विभिन्न विधाओं में उनकी लेखनी से जो साहित्य प्रसूत हुआ है, वह, निश्चय ही, जीवन को ऊर्ध्वगामी बनाने की प्रेरणा प्रदान करता है।

इस धरा पर सर्वश्रेष्ठ प्राणी मनुष्य माना गया है। उससे बढ़कर अन्य कुछ नहीं है। यह भी सब जानते हैं कि इस धरती पर मानव-जन्म दुर्लभ है। लेकिन आज कितने हैं, जो जीवन के वास्तविक धर्म और मर्म को जानते हैं?

वर्तमान युग भोग का युग है। भौतिकता ने मानव के भीतर पदार्थ के प्रति आसक्ति उत्पन्न कर दी है। अधिकांश व्यक्ति भौतिक उपलब्धियों को जीवन की सफलता का मानदण्ड मानते हैं। जो आदमी जितना कमाता है, वह उतना ही सफल माना जाता है, भले ही कमाई के साधन कैसे भी क्यों न हों।

वस्तुतः पदार्थ के प्रति आसक्ति ने व्यक्ति को भ्रम में डाल दिया है। वह सुविधा को सुख मानने लगा है। वह यह भूल गया है कि पदार्थ नाशवान है और जो नाशवान है, उससे शाश्वत सुख किस प्रकार मिल सकता है? उसकी समझ में नहीं आता कि इहलोक के परे और कोई लोक है। आत्मा-परमात्मा को भी वह भ्रामक मानता है। उसकी धारणा है कि प्रत्येक व्यक्ति के लिए मृत्यु अवश्यंभावी है। जो जन्मा है, उसे एक-न-एक दिन मरना ही होगा। आदमी संयमी हो या भोगी, उसे मृत्यु की गोद में जाना ही होगा। इसलिए भोग के स्वाद को कड़वा क्यों करो—खाओ, पीओ, मौज करो। क्या किसी ने आत्मा को देखा है, परमात्मा से साक्षात्कार किया है? मरकर क्या कोई लौटा है? आत्मा-परमात्मा और लोक-परलोक—ये सब कपोलकल्पित बातें हैं। इतना ही नहीं, वे और न जाने क्या-क्या कहते हैं।

कुछ लोग ऐसे भी हैं, जिन्होंने अनेक कारणों से संयम का जामा धारण कर लिया है। जिस प्रकार व्यक्ति के लिए श्वास सहज होता है, उनके लिए संयम वैसा नहीं है। इसका कभी-कभी बड़ा भयंकर परिणाम निकलता है। एक लड़की छोटी उम्र में ही विधवा हो गई। उस काल में विधवा-विवाह की अनुमति नहीं थी।

उस बहन ने संयम का जीवन अपनाया। वह एक साधु के आश्रम में जाकर जप-तप में लीन रहने लगी। एक दिन साधु कहीं जा रहे थे। उन्होंने उस बहन से पूछा, "तुम्हारे लिए क्या लाऊँ ?" उस बहन ने उत्तर दिया, "जो आपका मन हो, ले आइये।" साधु लौटे तो अपने साथ उस बहन के लिए मृतक की खोपड़ी लाये। उसे देते हुए उन्होंने कहा, "देखो, आदमी की अंतिम परिणति यह होती है।"

उस बहन ने खोपड़ी ले ली। अचानक एक विचार का उदय हुआ, 'यदि मनुष्य की अंतिम परिणति यही होती है तो संयम का लाभ क्या ? भोगों का आनंद लो।' उस बहन का संयम खंडित हो गया। जो संयम की महिमा को नहीं जानते हैं, उनके साथ ऐसा ही होता है।

आज ब्रह्मचर्य को लेकर कुछ ऐसी ही स्थिति उत्पन्न हो गई है। अधिकांश व्यक्ति उसे जीवन की सहज प्रक्रिया नहीं मानते। उनकी समझ में नहीं आता कि प्राचीनकाल से अब तक हमारे धर्म-ग्रन्थों तथा मनीषियों ने ब्रह्मचर्य-पालन पर इतना जोर क्यों दिया है। उनका तर्क है कि मनुष्य को प्यास लगती है तो पानी पी लेता है, भूख लगती है तो खाना खा लेता है। इसी भाँति उसके शरीर को भूख या प्यास लगती है तो उसे शान्त कर लेने में हर्ज क्या है ? भोगवादियों के मन में और भी बहुत-से तर्क उठते हैं, जो ब्रह्मचर्य की अवगणना करते हैं।

उपाध्याय श्री पुष्कर मुनिजी की प्रस्तुत पुस्तक **'ब्रह्मचर्य-विज्ञान'** अत्यन्त उपयोगी तथा प्रेरणादायक है। वह भोगवादियों की शंकाओं और तर्कों का उत्तर ही नहीं देती, ब्रह्मचर्य का जीवन में क्या स्थान है, उसकी उपादेयता क्या है, मानव-जीवन को वह किस प्रकार ऊर्ध्वगामी बनाता है, मानव शरीर की दृष्टि से भी इसके क्या लाभ हैं आदि-आदि इन सबका प्रतिपादन भी बड़ी सरल-सुबोध भाषा में, बहुत ही सुन्दर ढंग से करती है।

महात्मा गांधी ने ब्रह्मचर्य की परिभाषा इन शब्दों में दी है, "ब्रह्मचर्य का अर्थ है ब्रह्म की—सत्य की—खोज में चर्या, अर्थात् उससे संबंध रखने वाला आचार। इस मूल अर्थ में से सर्वेन्द्रिय-संयम का विशेष अर्थ निकलता है। केवल जननेन्द्रिय-संयम के अधूरे अर्थ को तो हमें भूल जाना चाहिए।

उन्होंने ब्रह्मचर्य को अपने आश्रम के एकादश व्रतों में ही सम्मिलित नहीं किया था, बल्कि उसकी महिमा पर विशद रूप से अपने लेखों में प्रकाश डालते हुए बताया था कि जीवन में उसकी आवश्यकता क्यों है और उसका पालन किस प्रकार किया जा सकता है। उनकी 'ब्रह्मचर्य' पुस्तक प्रत्येक व्यक्ति को पढ़नी चाहिए।

भगवान महावीर ने ब्रह्मचर्य को प्रत्यक्ष रूप से पंच महाव्रतों में शामिल किया था। उससे पहले भगवान् पार्श्वनाथ के 'चातुर्याम' में ब्रह्मचर्य अपरिग्रह में ही अन्तर्निहित था। भ० महावीर ने उसकी पृथक् महाव्रत के रूप में स्थापना करके 'पंचयाम' धर्म की प्ररूपणा की। उन्होंने कहा—

पसत्थं सोमं सुभं सिवं सया विसुद्धं ।
सव्व भव्वजणाणु चिन्नं निस्संकियं निब्भयं ॥

अर्थात्—ब्रह्मचर्यव्रत सदा प्रशस्त, सौम्य, शुभ और शिव है। वह परम विशुद्धि, आत्मा की महान निर्मलता है। वह मुमुक्षु पुरुषों का जीवन है। वह प्राणी को विश्वसनीय बनाता है, उससे किसी को भय नहीं रहता।

आगे वह यह भी कहते हैं :

सद्दे रूवे य गंधे य रसे फासे तहेव य ।
पंचविहे कामगुणे निच्चसो परिवज्जए ॥

अर्थात् ब्रह्मचारी शब्द, रूप, गंध, रस और स्पर्श—इन्द्रियों के इन पाँच प्रकार के विषयों का सदा वर्जन करें।

संत विनोबा ने ब्रह्मचर्य के लाभों का वर्णन करते हुए लिखा है :—

"ब्रह्मचर्य के पालन से मन में निर्विकारता आती है, निर्विकारता के कारण अनासक्ति पैदा होती है। यह एक (आध्यात्मिक) स्वरूप है। दूसरा स्वरूप यह है कि आसक्ति से चित्तशुद्धि होती है और उससे प्रेम व्यापक (विश्वव्यापी) होता है। निर्विकारता और अनासक्ति निषेधक पक्ष है। चित्तशुद्धि और व्यापक प्रेम विधायक पक्ष है। ब्रह्मचर्य से इस प्रकार चार बातें सिद्ध हो गईं।"

आगे वह पुनः कहते हैं :—

"निर्विकारता का गौण लाभ शरीर में वीर्य संग्रह होगा। यह शारीरिक लाभ माना जायगा। वीर्य-संग्रह से स्मरण-शक्ति तेज होती है, विचार-शक्ति प्रबल होती है, भीतर की विकार-वासनाएँ छूटती हैं, कौटुम्बिक संबंधों में अनासक्ति पैदा होती है और प्रेम का उत्कर्ष होता है, यह मुख्य लाभ है।"

प्रस्तुत पुस्तक के विभिन्न खण्डों में विद्वान लेखक ने ब्रह्मचर्य के माहात्म्य को समझाया है, उसकी उपयोगिता दर्शायी है, उसके स्वरूप का दर्शन कराया है और उसकी साधना किस प्रकार की जा सकती है, उसका मार्ग बताया है। वैदिक, जैन और बौद्ध परम्पराओं में ब्रह्मचर्य का अर्थ स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा है :—

"ब्रह्मचर्य का पूर्ण अर्थ हुआ—आत्मा में रमण करना, अथवा परमात्मा (परमात्म-भाव) में विचरण करना, अथवा विद्याध्ययन या वेदाध्ययन में विचरण करना अथवा वेदाध्ययन का आचरणीय कर्म ब्रह्मचर्य है, अथवा बृहत् या महान् में विचरण करना, विराट में रमण करना भी ब्रह्मचर्य है।"

कुछ धर्मों में ब्रह्मचर्य का बड़ा ही स्थूल रूप दिया गया है। वे मानते हैं कि जननेन्द्रिय का संयम ही ब्रह्मचर्य है। यह मान्यता एकांगी और संकीर्ण है। ब्रह्मचर्य

का वास्तविक अर्थ है मन, वचन और कर्म से पूर्ण संयम का पालन करना। महात्मा गांधी ने तो यहाँ तक कहा है कि "जो व्यक्ति एक की जगह दो शब्द बोलता है, वह संयम को भंग करता है।"

मुख्य बात मन को निर्विकार बनाना है। मन के निर्मल होते ही वाणी और शरीर स्वतः ही निर्मल हो जाते हैं।

एक बार बुद्ध के दो शिष्य जा रहे थे। रास्ते में एक नदी पड़ी। उसमें एक स्त्री डूब रही थी। एक भिक्षु ने कहा, "हमारे धर्म में स्त्री का स्पर्श त्याज्य है। हम कुछ नहीं कर सकते।" दूसरे भिक्षु ने पानी में छलांग लगाई और उस स्त्री को निकालकर बाहर ले आया। फिर क्या था, पहला भिक्षु आग-बबूला हो गया। बोला, "तुमने धर्म की मर्यादा का उल्लंघन किया है। मैं जाते ही भन्ते से यह बात कहूँगा।" चार-पाँच घंटे का रास्ता था। पहला भिक्षु रास्ते भर दूसरे भिक्षु को प्रताड़ित करता गया। बुद्ध के पास पहुँचते ही पहले भिक्षु ने सारी बात उनसे कह दी। बुद्ध ने कहा, "इसने स्त्री का स्पर्श किया। तुम रास्तेभर इसे समझाते आये। अच्छा, यह तो बताओ कि इसके पानी में कूदने और स्त्री को निकालकर लाने में कितना समय लगा होगा?" भिक्षु ने सोचकर जवाब दिया, "यही कोई पन्द्रह मिनट लगे होंगे।" तब बुद्ध ने कहा, भले आदमी, इसने तो स्त्री का स्पर्श पन्द्रह मिनट ही किया, पर तुम तो उसका स्पर्श घंटों करते रहे।"

इससे साफ है कि ब्रह्मचर्य के लिए प्रमुख बात मन का संयम है।

लेखक ने सब धर्मों, दर्शनों आदि का सार इस पुस्तक में देते हुए ठीक ही लिखा है—

"ब्रह्मचर्य-साधना के पीछे धर्म और दर्शन का एक सुस्थिर तथा परिपक्व चिन्तन है। जीवन की पवित्रता, मन-वचन-कर्म की शुचिता और आत्मिक आनंद की अनुभूति के लिए ब्रह्मचर्य की साधना अनिवार्य मानी गई है।"

आज जब कि चारों ओर भोग ही भोग है और अधिकांश दुनिया उसी के पीछे आँख मूँद कर दौड़ रही है, इस पुस्तक का प्रणयन अपना विशेष महत्व रखता है। मैं विद्वान लेखक, तथा सम्पादक-द्वय श्री देवेन्द्र मुनि एवं श्रीचन्द सुराना और प्रकाशक को इस लोकोपयोगी कृति के लिए बधाई देता हूँ और आशा करता हूँ कि जीवन के अमृत-स्वरूप उपादान ब्रह्मचर्य की महिमा पर रचित इस पुस्तक को पाठक मनोयोगपूर्वक पढ़ेंगे और इसका भरपूर लाभ लेंगे।

७/८, दरियागंज, नई दिल्ली
१० जनवरी १९८४।

—यशपाल जैन

अनुक्रमणिका

प्रथम खण्ड : सैद्धान्तिक पृष्ठभूमि १—१३४

१. **ब्रह्मचर्य की सर्वतोमुखी उपयोगिता** ३—२६

ब्रह्मचर्य की उपयोगिता का सन्देश ३, भगवान महावीर द्वारा ब्रह्मचर्य का पृथक निर्देश ४, वर्तमान युग में ब्रह्मचर्य की सर्वाधिक उपयोगिता ५, वर्तमान युग और स्वच्छन्द काम-प्रवाह ५, उन्हें भी ब्रह्मचर्य का लोहा मानना पड़ता है ६, ब्रह्मचर्य-पालन प्रत्येक व्यक्ति के लिए आवश्यक ७, ब्रह्मचर्य : गृहस्थ श्रावक के लिए आवश्यक १०, भोगी लोगों द्वारा भी ब्रह्मचर्य की अपेक्षा १०, क्या ब्रह्मचर्य कोरा आदर्श है ? १२, पूर्ण ब्रह्मचर्य दुष्कर और विरल क्यों ? १४, दुष्कर अवश्य है, असाध्य नहीं १५, गृहस्थ जीवन में भी पूर्ण ब्रह्मचर्य शक्य है १६, अखण्ड ब्रह्मचारी : शंका समाधान १९, आदर्श दृष्टिगत रखना आवश्यक है २०, ब्रह्मचर्य हानिकारक या अस्वाभाविक नहीं २१, पश्चिमी एवं पौर्वात्य वैज्ञानिकों के मत २२-२४, ये सब ब्रह्मचर्य की देन हैं २४, काम-वासना प्राकृतिक आवेग नहीं २५, ब्रह्मचर्य बन्धन नहीं, स्वैच्छिक नियमन है १५, योगी हो या भोगी : सब के लिए उपयोगी २६ ।

२. **ब्रह्मचर्य की सार्वभौम अनिवार्यता** २७—४७

परमात्म-दर्शन के लिए ब्रह्मचर्य अनिवार्य २७, आत्म-दर्शन भी ब्रह्मचर्य से ही सम्भव है १८, आध्यात्मिक परिपूर्णता के लिए ब्रह्मचर्य अनिवार्य ३०, सभी व्रतों आदि की आराधना के लिए ब्रह्मचर्य आवश्यक ३१, अहिंसा और ब्रह्मचर्य ३१, ब्रह्मचर्य ही सत्य है ३३, ब्रह्मचर्य-भंग प्रभु की चोरी है ३३, ब्रह्मचर्य-भंग ही परिग्रह-सेवन ३३, उच्च साधना में ब्रह्मचर्य अनिवार्य ३५, वानप्रस्थ साधना के लिए ब्रह्मचर्य अनिवार्य ३६, भ्रातृ-सेवा के लिए ब्रह्मचर्य ३७, गायत्री उपासना की उच्चस्तरीय साधना के

लिए ३८, आध्यात्मिक साधना के लिए ब्रह्मचर्य अनिवार्य ३९, सर्व गुणों की प्राप्ति के लिए ३९, मोक्ष-प्राप्ति के लिए अनिवार्य ४०, लौकिक-पारलौकिक अभ्युदय के लिए अपेक्षित ४२, जीवन को तेजस्वी बनाने हेतु ब्रह्मचर्य आवश्यक ४३, ब्रह्मचर्य के बिना....आन्तरिक शक्तियाँ केन्द्रित नहीं हो सकतीं ४४, आत्मानुशासन सम्भव नहीं ४४, किसी भी साधना में प्रगति नहीं ४४, शाश्वत सुख-शांति के लिए ब्रह्मचर्य आवश्यक ४५, विद्यार्थी जीवन में अनिवार्य ४६, निष्कर्ष ४७।

३. ब्रह्मचर्य की प्रधानता ४८—५७

ब्रह्मचर्य : आध्यात्मिक साधना का शिरोमणि ४८, सभी व्रतों में प्रथम स्थान ४८, ब्रह्मचर्य : समस्त व्रतों का मूलाधार ४९, ब्रह्मचर्य का पलड़ा वेदों से भी भारी ४९, ब्रह्मचर्य ही इस परिवार का मुखिया ४९, ब्रह्मचर्य : लोकोत्तम व्रत ५०, गुणों का नायक : ब्रह्मचर्य ५०, व्रतों में प्रधान : ब्रह्मचर्य व्रत ५१, विभिन्न पदार्थों से उपमा ५१-५३, ब्रह्मचर्य : सर्वव्रतों का गुरु ५४, ब्रह्मचर्य : सभी उत्तम कार्यों का विनायक ५४, सभी आश्रमों में प्रधान : ब्रह्मचर्य ५४, ब्रह्मचर्य व्रत : उग्र और घोर ५६।

४. ब्रह्मचर्य का अमोघ प्रभाव ५८—७५

ब्रह्मचर्य की अद्भुत परिवर्तन क्षमता ५८, देवों पर ब्रह्मचर्य का प्रभाव ५८, सुभद्रा का दृष्टान्त ५९-६०, ब्रह्मचर्य की सुगन्ध देवों के लिए भी चित्ताकर्षक ६०, ब्रह्मचर्य से प्रभावित और परास्त ६१, ब्रह्मचर्य से प्रभावित होकर देव सहायक बने ६१, मनुष्यों पर ब्रह्मचर्य का प्रभाव ६२, स्थूल ब्रह्मचर्य का प्रभाव ६३, ब्रह्मचारिणी का पुरुषों पर प्रभाव ६३, स्त्री की कामवासना शांत हो गई ६४, तिर्यंचों तथा प्राकृतिक पदार्थों पर प्रभाव ६५, अग्निकुण्ड सरोवर बन गया ६५, सर्प पुष्पमाला में परिवर्तित ६६, सिंह-व्याघ्र आदि के क्रूर स्वभाव में परिवर्तन ६७, बाह्यजगत पर ब्रह्मचर्य का प्रभाव ६८, प्रकृति पर ब्रह्मचर्य का प्रबल प्रभाव ६९, विष भी अमृत के रूप में परिणत ७०, ब्रह्मचर्य के विशिष्ट चमत्कार ७१, ब्रह्मचारी के तेजोवलय का अद्भुत प्रभाव ७२, अखण्ड ब्रह्मचर्य का शरीर, मन, बुद्धि आदि पर प्रभाव ७२, अखण्ड ब्रह्मचारी के लिए कुछ भी अप्राप्य नहीं ७३, अखण्ड ब्रह्मचर्य का मृत्यु पर भी प्रभाव ७३, शरीर और मन पर अनुकूल प्रभाव ७४, ब्रह्मचर्य से आत्मविजय ७४, ब्रह्मचर्य से जगत वश में ७४, ब्रह्मचर्यनिष्ठ की दृष्टि और वाणी का प्रभाव ७५, अखण्ड ब्रह्मचर्य का सार्वभौम प्रभाव ७५।

५. ब्रह्मचर्य का माहात्म्य ७६—११२

ब्रह्मचर्य को सर्वाधिक महत्व ७६, ब्रह्मचर्य ही जीवन है ७६, ब्रह्मचर्य : जीवन की खाद ७७, जीवन रूपी भवन की आधार शिला : ब्रह्मचर्य ७७, ब्रह्मचर्य : अमरत्व की साधना ७८, स्वर्ग एवं मुक्ति का द्वार : ब्रह्मचर्य ७८, अंतरंग से शुद्ध साधना की कसौटी : ब्रह्मचर्य ८०, ब्रह्मचर्य : उदारता, धीरता और गम्भीरता का स्रोत ८०, विचारों की पवित्रता का स्रोत : ब्रह्मचर्य ८१, शुद्ध साधना का सिंहद्वार ८४, चारित्र का प्राण : ब्रह्मचर्य ८७, आनन्द का अक्षय कोष : ब्रह्मचर्य ८७, ब्रह्मचर्य : संयम का मेरु-दण्ड ८८, ब्रह्मचर्य : सर्वोत्तम तप ८९, रत्नत्रय का मूल : ब्रह्मचर्य ९०, ब्रह्मचर्य : सर्वोत्तम यज्ञ ९०, मौन (मुनिधर्म) ब्रह्मचर्य ही है ९१, मोक्ष प्राप्ति के सभी गुणों का समावेश : ब्रह्मचर्य में ९१, आरोग्य की कुञ्जी और जड़ी-बूटी : ब्रह्मचर्य ९२, सौन्दर्य का मूल स्रोत : ब्रह्मचर्य ९३, ब्रह्मचर्य ही परम आभूषण ९५, महिमा : कुल की नहीं शील की ९६, समस्त श्रेयस्कार्यों का जनक : ब्रह्मचर्य ९७, समस्त सुधारों का मूलाधार : ब्रह्मचर्य ९८, ब्रह्मचर्य : महान् बनने का राजमार्ग ९९, नैतिकता का आधार : ब्रह्मचर्य ९९, सर्व-शक्तियों का मूल स्रोत : ब्रह्मचर्य १०१, प्रो० राममूर्ति का दृष्टान्त १०५, ब्रह्मचर्य : आध्यात्मिक शक्ति का केन्द्र १०६, सिद्धिचन्द्र मुनि का दृष्टान्त १०७-११०, ब्रह्मचर्य का महिमा गान ११०।

६. ब्रह्मचर्य से विविध लाभ ११३—१२८

ब्रह्मचर्य से अगणित लाभ ११३, ब्रह्मचर्य से आरोग्य आदि का लाभ ११३, पाश्चात्य और पौर्वात्य विद्वानों के मत ११४, ब्रह्मचर्य से दीर्घ जीवन की प्राप्ति ११५, ब्रह्मचर्य से सुदृढ़ बलिष्ठ शरीर ११७, ब्रह्मचर्य से सर्वशक्तियों की प्राप्ति ११७, ब्रह्मचर्य से महान पराक्रम करने की शक्ति ११८, ब्रह्मचर्य से अतुल मनोबल ११९, हृदय-बल का विकास : ब्रह्मचर्य से ११९, बौद्धिक शक्तियों का विकास : ब्रह्मचर्य से १२०, ब्रह्मचर्य से पारिवारिक लाभ १२३, ब्रह्मचर्य से सामाजिक लाभ १२४, ब्रह्मचर्य से राष्ट्रीय लाभ १२६, ब्रह्मचर्य से आध्यात्मिक लाभ १२६, ब्रह्मचर्य से इहलौकिक-पारलौकिक लाभ १२७।

७. ब्रह्मचर्य की उपलब्धियाँ १२९—१३३

मानव जन्म : एक महती उपलब्धि १२९, ब्रह्मचर्य : चिन्तामणि रत्न १२९, स्वर्ग की ऋद्धि १३०, लौकिक सिद्धियाँ १३०, लब्धियाँ १३०, ब्रह्मचर्य से पदानुसारिणी लब्धि १३१, मनोवांछित कार्य सिद्धि १३२, ब्रह्मचर्यवास : सर्वकर्मक्षय समर्थ १३३।

द्वितीय खण्ड : स्वरूप-दर्शन १३५—२२६

१. ब्रह्मचर्य : एक शब्द : अनेक अर्थ १३७—१४६

ब्रह्मचर्य : शब्द एक—अर्थ अनेक १३७, ब्रह्मचर्य के व्युत्पत्तिजन्य अर्थ १३७, ब्रह्मचर्य : आत्मा में विचरण १३८, ब्रह्मचर्य : परमात्मभाव में रमण १४१, ब्रह्मचर्य : बृहत् में विचरण १४३, ब्रह्मचर्य : विद्याऽध्ययन, गुरुकुलवास १४५, ब्रह्मचर्य के विलक्षण अर्थ १४६।

२. इन्द्रिय-संयम : ब्रह्मचर्य का प्रथम प्रवेश द्वार १४७—१७२

जननेन्द्रियसंयम : ब्रह्मचर्य का एकांगी लक्षण १४७, पूर्ण ब्रह्मचर्य : सर्वेन्द्रियसंयम १४६, एक साथ नियंत्रित करने का प्रयत्न आवश्यक १४८, समस्त इन्द्रियसंयम की आवश्यकता १५२, इन्द्रियनिग्रह : राग-द्वेष के रूप में १५३, इन्द्रियों का सदुपयोग ही सर्वेन्द्रियसंयम का सर्वोत्तम उपाय १५४, इन्द्रियविषयासक्ति से सर्वनाश १५५, इन्द्रियनिग्रह कामनाश के लिए आवश्यक १५६, जिह्वेन्द्रिय-ब्रह्मचर्य : रसना-संयम १५६, वाणी का नियन्त्रण : जिह्वेन्द्रियसंयम १६०, नेत्रेन्द्रिय-ब्रह्मचर्य : चक्षुरिन्द्रिय-संयम १६१, नेत्र-संयम-ह्रास के कारण सिनेमा आदि १६४, नेत्र संयमी अत्यन्त तेजस्वी १६५, श्रवणेन्द्रिय-ब्रह्मचर्य : श्रोत्र संयम १६५, घ्राणेन्द्रिय-ब्रह्मचर्य : नासिका संयम १६७, स्पर्शेन्द्रिय-ब्रह्मचर्य : त्वचा संयम १६८, स्त्रीस्पर्श परित्याग : ब्रह्मचर्य का अपूर्ण लक्षण १६६, स्त्री-स्पर्श ब्रह्मचारी के लिए कब बाधक, कब साधक ? १७१।

३. ब्रह्मचर्य-साधना का मन्त्र : मनोनिग्रह १७३—१७८

मनोनिग्रह : ब्रह्मचर्य-लक्षण का मूल १७३, मनोनिरोध प्रयत्न-मूलक सर्वेन्द्रिय-संयम ब्रह्मचर्य का यथार्थ लक्षण १७४, मनोविजय के दो उपाय—अभ्यास और वैराग्य १७५।

४. वीर्य-रक्षा और ब्रह्मचर्य १७६—१६४

वीर्योत्पत्ति का क्रम १८०, पौर्वात्य और पाश्चात्य मत १८०, वीर्य का स्थान और अत्यन्त महत्व १८१, पाश्चात्य चिकित्सा विज्ञान की दृष्टि से १८२, एक तीसरा विचार १८५, आयुर्वेद ग्रंथ का मिलता-जुलता मत १८६, तीन मुख्य विचारों में वीर्यरक्षा का महत्व १८६, वीर्य और

उसका उपयोग १८७, वीर्य के संचय और विचय के परिणाम १८७, वीर्य का क्षय : जीवन का क्षय १८९, वीर्यनाश से होने वाली भयंकर हानियाँ १९०, गर्भाधान के लिए भी वीर्यस्राव हानिकारक १९२, वीर्यस्राव : आवश्यक या अनावश्यक? १९२, ब्रह्मचर्य : वीर्य का ऊर्ध्वीकरण १९४।

५. ब्रह्मचर्य और शील १९५—१९८

ब्रह्मचर्य : संर्वांगीण शील १९५, ब्रह्मचर्य का एक लक्षण : कुशल-कर्म १९६, ब्रह्मचर्य : जीवनस्पर्शी सम्पूर्ण संयम १९७।

६. ब्रह्मचर्य बनाम मैथुनविरमण १९९—२२९

ब्रह्मचर्य : सर्वमैथुन विरमण १९९, मैथुन शब्द का अर्थ एवं भावार्थ २०१, मन-वचन काया से सदा सर्वत्र मैथुन त्याग : ब्रह्मचर्य २०२, त्रिविध ब्रह्मचर्य के लिए अष्टांग मैथुन त्याग अनिवार्य २०५, मैथुन के आठ अंग २०५, (१) स्मरण २०५, (२) कीर्तन २०६, (३) केलि-क्रीड़ा २०७ (४) प्रेक्षण २०७, (५) गुह्य भाषण २०८, (६) संकल्प २०९, (७) (८) क्रियानिष्पत्ति २१०, आठों अंगों से बचना आवश्यक २११, अष्टविध मैथुनांगों से विरति : ब्रह्मचर्य २११, त्रिविध मैथुन त्याग : एक विश्लेषण २११, मानसिक मैथुन २११, काम की दस दशाएँ २१२, मानसिक व्यभिचार के दो प्रमुख कारण २१३, विकृत मानसिक मैथुन : स्वप्नदोष २१४, स्वप्नदोष के कारण २१६, मानसिक कारण २१६ (१) कामुकता के स्वप्न २१६, (२) चिन्ताजनक स्वप्न २१६ (३) कामभाव के विचार २१६, (४) अश्लील साहित्य आदि से २१७, भौतिक कारण २१७ (१) भोजन २१७, (२) मूत्राशय तथा मलाशय का भरा रहना २१७, (३) हस्तमैथुन तथा अति मैथुन २१८, (४) गंदगी, खुजली, जलन २१८, (५) अतृप्त कामेच्छा २१८, (६) शारीरिक निर्बलता २१८, (७) अतिशय जागरण, अत्यधिक शयन आदि २१८ (८) विजातीय व्यक्ति का विकारपूर्वक प्रेक्षण २१९, (९) कामुकता से पूर्ण बातों में २१९, कायिक मैथुन और उसके प्रकार २१९, कायिक मैथुन २१९, (१) आत्म-व्यभिचार २१९, (२) स्वपत्नी-व्यभिचार २२०, (३) गुप्त-व्यभिचार २२३, (४) परस्त्री-व्यभिचार २२४, परस्त्रीगमन के कारण २२४, घनी बस्तियाँ, तंग मकान २२४, बहकाहट और प्रलोभन २२४, (५) धार्मिक-व्यभिचार २२५, (६) वेश्या-व्यभिचार २२६, वेश्याएँ क्यों बनती हैं? २२७, वाचिक मैथुन २२९।

तृतीय खण्ड : साधना दर्शन २३१—४३०

१. ब्रह्मचर्य साधना : उद्देश्य और मार्ग २३३—२५४

ब्रह्मचर्य-साधना : जीवन-निर्माण-कला २३३, ब्रह्मचर्य : उग्र, दुष्कर एवं सर्वोत्कृष्ट अध्यात्म-साधना २३४, ब्रह्मचर्य-साधना : अकेले या समूह के साथ २३८, ब्रह्मचर्य-साधना की पूर्णता कब और कब नहीं ? २३८, ब्रह्मचर्य-साधना का ध्येय, उद्देश्य और लक्ष्य २३९, ब्रह्मचर्य-साधना का उद्देश्य : अध्यात्म उपलब्धि २४२, ब्रह्मचर्य-साधना को सरलतम बनाने के उपाय २४४, (१) विशाल उदात्त विकल्प २४४, (२) विराट भावना २४५, ब्रह्मचर्य-साधना में पवित्र सद्दृष्टि आवश्यक २४८, ब्रह्मचर्य-साधना में विवेक २५१ ।

२. ब्रह्मचर्य-साधना : दृढ़ता के छह सूत्र २५५-२६८

प्रतिज्ञा : ब्रह्मचर्य-साधना की रीढ़ २५५, प्रतिज्ञा से संकल्प शक्ति की वृद्धि २५६, प्रतिज्ञा संकल्प है २५७, संकल्प टूटने के तीन कारण २५८, (१) इन्द्रियों की अनियन्त्रित वृत्ति २५८, (२) कठिनाइयों को झेलने की अक्षमता २५९, (३) चित्त की चंचलता २६०, ब्रह्मचर्य-भावना से भावित होना आवश्यक २६१, ब्रह्मचर्य-साधना की आधारशिला : षट्सूत्री २६२, (१) श्रद्धा २६२, (२) प्रतीति २६३, (३) रुचि २६३, (४) स्पर्शना २६४, (५) पालना २६५, (६) अनुपालना २६६, ब्रह्मचर्य-साधना की जड़ को मजबूत बनाओ २६८ ।

३. ब्रह्मचर्य-साधना का आध्यात्मिक पक्ष २६९—२७४

आत्मभाव में रमणता की साधना २६९, भेदविज्ञान से ब्रह्मचर्य-साधना २६९, अहंता-ममता-निवारण से आत्मभावरमणता २७०, 'ममकार' के निवारण का एक प्रयोग २७१, सब में आत्मभाव के दर्शन से आत्मभावरमणता २७१, आत्मरमणता की एक प्रक्रिया २७२, मोहक्षय के लिए मृत्यु की स्मृति २७३, अशुचि अनुप्रेक्षा भी मोह-निवारक २७३ ।

४. ब्रह्मचर्य-साधना : विभिन्न दृष्टियों से २७५—२८०

विभिन्न धर्मों की दृष्टि से २७५, कर्तव्य रूप में ब्रह्मचर्य धर्म २७५, समाजहित और ब्रह्मचर्य-साधना २७६, व्यभिचारी की दृष्टि में भी ब्रह्मचर्य-साधना : धर्म २७६, वैदिक परम्परा में ब्रह्मचर्य-साधना २७६, जैन परम्परा में ब्रह्मचर्य साधना २७६, बौद्ध-परम्परा में ब्रह्मचर्य-साधना २७७, ईसाई धर्म में ब्रह्मचर्य-साधना २७७, इस्लाम धर्म में ब्रह्मचर्य-साधना २७७, दर्शनशास्त्र की दृष्टि में ब्रह्मचर्य-साधना २७८, बौद्ध दर्शन में ब्रह्मचर्य-साधना २८०, योग दर्शन में ब्रह्मचर्य-साधना २८० ।

५. यौगिक प्रक्रियाओं से ब्रह्मचर्य की सहज साधना २८१—२८८

बहिर्मुखी वृत्ति का अन्तर्मुखीकरण : सुषुम्नाजागरण द्वारा २८१, वृत्ति अन्तर्मुखी बनाने की एक प्रक्रिया : रासायनिक परिवर्तन २८१, वृत्तियों का ऊर्ध्वीकरण : आत्मभावों में रमण २८१, आत्मशक्तियों को जगाने के लिए पुरुषार्थ २८२, तात्विक ब्रह्मचर्य साधना में सहायक पाँच तत्व २८४, (१) तप २८४, (२) ध्यान २८४, (i) कायोत्सर्ग २८४, (ii) व्युत्सर्ग २८५, (iii) धर्मध्यान २८५, (iv) शुक्लध्यान २८६, (३) स्वाध्याय २८६, (४) संयम २८६, (५) मन्त्र २८६, परमात्म-भाव में रमणतारूप ब्रह्मचर्य-साधना २८७।

६. मनोविज्ञान एवं शरीरविज्ञान के अनुसार ब्रह्मचर्य-साधना २८९—२९७

मनोविज्ञान की दृष्टि से ब्रह्मचर्य-साधना २८९, मन के तीन प्रकार २९०, कामवृत्ति के मूल के सम्बन्ध में मतभेद २९१, कामवासना की तीन श्रेणियाँ २९१, कामवासना का दमन उचित या अनुचित ? २९२, शरीरविज्ञान की दृष्टि से ब्रह्मचर्य-साधना २९४, जैन शरीर-विज्ञान और ब्रह्मचर्य-साधना २९७, आयुर्वेद में पंचप्राण और ब्रह्मचर्य-साधना २९७।

७. इन्द्रियसंयम के अनुभूत नुस्खे २९८—३१०

परिणाम का विचार २९८, सभी इन्द्रियों पर युगपत संयम ३००, संयम-साधना में सहायक ३०१, इन्द्रियों को पवित्रता के वातावरण में रखें ३०१, इन्द्रिय-प्रतिसंलीनता : सर्वेन्द्रिय विषय-उपरति का उपाय ३०१, योगमुद्रा ३०३, विषयानन्द के बदले आत्मानन्द की अनुभूति करें ३०४, पदार्थों में सुख-बुद्धि की समाप्ति : संवेदन जागरण द्वारा ३०४, मनोनिरोध : ब्रह्मचर्य साधना का मेरुदण्ड ३०५, प्रलोभनों से दूर रहने वाला ही मनोविजयी ३०८, मनोविजय की एक मांत्रिक साधना ३०९।

८. कामविजय के अनुभूत उपाय ३११—३३२

कामविजय दुष्करतर ३११, कामवितर्कों के नानारूप ३११, काम-तृप्ति कामविजय का उपाय नहीं ३१२, कामचिन्तन प्रत्यक्ष कामोपभोग से अधिक हानिकर ३१२, कामजन्य अधःपतन ३१३, विवेकशीलता से काम-वासना पर विजय ३१३, कामविजय कैसे सम्भव है ? ३१५, काम-विकार के साथ असहकार ३१५, काम-वासना का दमन या शमन ? ३१६, कामशमन का अर्थ ३१८, कामशमन के उपाय ३१८-३२३, धर्म से अविरुद्ध काम : अमृतमय ३२३, काम के ही दो रूप : विकार और

वात्सल्य ३२४, काम-विकार से मुक्ति दिलाने वाली : मातृभावना ३२५, कामशक्ति का उदात्तीकरण ३२६, 'काम' की दवा : काम ३२८, काम-वासना का ऊर्ध्वीकरण ३२९, कामचक्र का ऊर्ध्वीकरण ३२९, कामशक्ति का रूपान्तरण ३३०, काम-भावना का स्वस्थ रूप ३३१, कामकला का ब्रह्म विद्या के रूप में परिवर्तन ३३१, विकारोन्मूलन के लिए सामूहिक जन-मानस परिवर्तन ३३२, काम-विजय दुष्करतम है, किन्तु दुःसाध्य नहीं ३३२।

९. ब्रह्मचर्य-साधना एवं योगाभ्यास ३३३—३५९

आसन : ब्रह्मचर्य-साधना का मेरुदण्ड ३३३, आसनों के अभ्यास के सामान्य नियम ३३४, आसन से लाभ ३३५, कुछ विशेष आसनों की विधि ३३५, शीर्षासन ३३५, सिद्धासन ३३७, अर्द्धसिद्धासन ३३८, पद्मासन ३३८, स्वस्तिकासन ३३८, सर्वांगासन ३३९, वज्रासन ३३९, कुक्कुटासन ३४०, आसनों के साथ वीर्यस्राव को रोकने के दो प्रयोग ३४०, प्राणायाम : प्राणशुद्धि की साधना ३४१, प्राणायाम के तीन अंग ३४१, लाभ ३४१, सामान्य प्राणायाम ३४२, द्वादश साप्ताहिक प्राणायाम क्रियाएँ ३४३, प्रथम सप्ताह के लिए प्रारम्भिक क्रिया ३४३, दूसरे सप्ताह के लिए दूसरी प्राणायाम क्रिया ३४४, तीसरी क्रिया : तीसरे, चौथे और पाँचवें सप्ताह के लिए ३४४, चौथी प्राणायाम क्रिया : छठे से बारहवें सप्ताह तक के लिए ३४५, पूर्णश्वास पद्धति ३४५, ब्रह्मचर्य-रक्षक प्राणायाम विधि ३४६, लाभ ३४६, उत्पादक शक्ति को सौर्यकेन्द्र में संचित करने की प्राणायाम क्रिया ३४६, ऊर्ध्वाकर्षण प्राणायाम : वीर्य स्तम्भन प्राणायाम ३४६, कुम्भक प्राणायाम का महत्व और प्रकार ३४७, हठयोग प्रदीपिका के अनुसार आठ प्रकार के कुम्भक प्राणायाम ३४८, (१) सूर्यभेदन ३४८, (२) उज्जायी ३४८, (३) सीतकारी ३४८, (४) शीतली ३४८, (५) भस्त्रिका ३४८, (६) भ्रामरी ३४९, (७) मूर्च्छा ३४९, (८) प्लाविनी ३४९, ब्रह्मचर्य-साधना के मुख्य साधन : नियम ३५०, (१) परमात्म-प्रार्थना ३५०, (२) दृढ़संकल्प ३५१, (३) पवित्र मातृभाव दृष्टि ३५२, (४) कुदृश्य त्याग ३५२ (५) पवित्र सादा रहन-सहन ३५२, (६) सत्संगति ३५३, (७) पवित्र ग्रंथ स्वाध्याय ३५३, (८) दुर्व्यसन-त्याग ३५४, (९) आहार-संयम ३५५, (१०) मल-मूत्रादि-विसर्जन-विवेक ३५६, (११) नियमितता ३५७, (१२) हवादार पवित्र स्थान में निवास ३५८, (१३) सतत उद्योगशीलता ३५९, (१४) नित्य-दिनचर्यावलोकन ३५९।

१०. ब्रह्मचर्य-साधना के चार स्तर ३६०—३७५

चार मुख्य स्तर ३६०, सम्पूर्ण ब्रह्मचर्य : प्रथम स्तर ३६०, द्वितीय स्तर : गृहस्थ श्रावक (अथवा प्रतिमाधारी) का पूर्ण ब्रह्मचर्य ३६०, तृतीय स्तर : देशविरति ब्रह्मचर्याणुव्रत ३१२, व्रत की छह कोटि ३६३, एक प्रश्न—विवाह : ब्रह्मचर्य-भंग या ब्रह्मचर्य की ओर प्रगति ? ३६३, विवाह : बन्धन या दायित्व वहन ? ३६४, स्वपत्नीसन्तोषव्रत की आवश्यकता ३६७, क्या विवाह अनिवार्य है ? ३६८, स्वदारसंतोष-परदार-विरमणव्रत की व्याख्या ३७०, स्वपत्नीसन्तोष व्रत की निष्ठा ३७०, स्वदार-सन्तोषव्रत की मर्यादा ३७१, सन्तानोत्पत्ति, सन्ततिनिरोध और मर्यादित ब्रह्मचर्य ३७३, चतुर्थ स्तर—नैतिक दृष्टि और ब्रह्मचर्य ३७४।

११. ब्रह्मचर्य-सुरक्षा के मूल मन्त्र : नवबाड़ ३७६—४१०

सुरक्षा : प्रधान कर्तव्य ३७६, सुरक्षा के दो मार्ग ३७६, ब्रह्मचर्य-सुरक्षा के लिए 'बाड़' आवश्यक ३७७, ब्रह्मचर्य-सुरक्षा के लिए निर्दिष्ट समाधिस्थान ३७८, (१) स्थान संयम : विविक्तशयनासन-सेवन ३७६, 'विविक्त' शब्द के तीन अर्थ ३७६, शयन का अर्थ ३८०, (२) कथा-संयम : स्त्री कथा-परिहार ३८३, (३) संस्पर्श-संयम : निषद्यानुपसेवन ३८५, (४) दृष्टि-संयम : स्त्री-अंगोपांग-अदर्शन ३८६, (५) श्रुति-संयम : कुड्यान्तर शब्द श्रवणादिवर्जन ३६२, (६) स्मृति-संयम : पूर्वभुक्तभोग-स्मरण-वर्जन ३६३, विषयुक्त छाछ का दृष्टान्त ३६४, (७) रस-संयम : प्रणीत आहार-त्याग ३६५, स्निग्ध आहार द्वारा होने वाली विकृति का विश्लेषण ३६६, (८) अति भोजन-संयम : अतिमात्रा में आहार-त्याग ३६७, अतिभोजन का शरीर पर दुष्प्रभाव ३६८, अतिभोजी युवक का मनो-वैज्ञानिक विश्लेषण ३६६, (६) विभूषा-संयम : विभूषाविवर्जन ४००, आचार्य पूज्यपाद द्वारा देहाध्यास से मुक्त होने की विधि ४०१, विवेक और व्युत्सर्ग का अभ्यास, देहाध्यास से छूटने का उपाय ४०१, विभूषावृत्ति कुशीलता का द्योतक ४०२, (१०) विषय-संयम : पंचविधमनोज्ञविषय-राग वर्जन ४०३, नौ गुप्तियों के सम्बन्ध में समवायांग में उल्लिखित क्रम भेद ४०५, ब्रह्मचर्य व्रत : कब सुरक्षित और कब नहीं ? ४०५, कुछ अनुभवपूर्ण मूलमन्त्र ४०६, बौद्धधर्म में ब्रह्मचर्य-सुरक्षा के मुख्य उपदेश ४०७, तथागत बुद्ध द्वारा प्रतिपादित मैथुन-दोषों से बचने के उपाय ४०७, देशविरति ब्रह्मचर्यव्रत की सुरक्षा के उपाय ४०६।

१२. **वीर्य-रक्षा के ठोस उपाय** ४११—४१९

वीर्य रोकने का अनूठा उपाय ४११, बहिःस्राव निष्कासन के तीन प्रकार ४११, वीर्यस्खलन रोकने के अन्य ठोस उपाय ४१२, स्वप्नदोष-निवारणोपाय ४१३, **मानसिक उपाय** ४१३, (१) दृढ़ संकल्प ४१३, (२) अन्तर्मन को सूचना ४१४, (३) मनःशुद्धि ४१५, (४) इष्टदेव का जाप ४१५, (५) अनित्य एवं अशुचि भावना का चिन्तन ४१५, **भौतिक उपाय** ४१५, (१) दृढ़संकल्पपूर्वक बुरी आदतों को छोड़ें ४१५, (२) प्रजनन-अंगों की स्वच्छता ४१६, (३) सायंकाल हल्का एवं सुपाच्य भोजन करें ४१६, (४) अतिभोजन न करें ४१६, (५) पवित्र वातावरण ४१७, (६) हितकर एवं उपयोगी कार्य में व्यस्त रहें ४१७, (७) बड़ों का कर्तव्य ४१७, (८) उपवास आदि यथाशक्ति करें ४१७, अप्राकृतिक विकृत मैथुनों से बचने के उपाय ४१७, प्रथम नियम ४१७, द्वितीय नियम ४१८, तृतीय नियम ४१८, चतुर्थ नियम ४१८, संकल्पशक्ति की सक्रियता-निष्क्रियता-परीक्षण ४१९, अन्य सहायक उपाय ४१९।

१३. **नारी जाति और ब्रह्मचर्य** ४२०—४२४

ब्रह्मचर्य के क्षेत्र में नारी का अधिकार कहाँ, कितना ? ४२०, वैदिक परम्परा में नारी के स्वाश्रयी, स्वतन्त्र-जीवन की कल्पना नहीं ४२१, ईसाई और मुस्लिम धर्मों का नारी-ब्रह्मचर्य के प्रति दृष्टिकोण ४२२, जैन धर्म में ब्रह्मचर्य के दृष्टिकोण से नारी को स्वतन्त्रता ४२२, बौद्धधर्म का नारी-ब्रह्मचर्य के प्रति दृष्टिकोण ४२३, तथागत की नारी के प्रति शंका ४२३, नारी द्वारा पूर्ण ब्रह्मचर्य-पालन संभव ४२४, पूर्ण ब्रह्मचर्य-व्रती स्त्रियों के लिए नियम ४२४, स्वपति-संतोषव्रती नारी के लिए ब्रह्मचर्य-रक्षा सूत्र ४२४।

१४. **ब्रह्मचर्य-साधना : विशुद्धि और जागृति** ४२५-४३०

ब्रह्मचर्य के अतिचार ४२५, (१) अतिक्रम ४२५, (२) व्यतिक्रम ४२५, (३) अतिचार ४२५, धर्मसंग्रह और आवश्यक सूत्र में अतिचार की चर्चा ४२६, (४) अनाचार ४२६, स्वदारसन्तोषव्रत के पाँच अतिचार ४२६, (१) इत्वर परिगृहीतागमन ४१५, (२) अपरिग्रहीतागमन ४२७, (३) अनंगक्रीड़ा ४२७, (४) परविवाहकरण ४२७, आचार्य हरिभद्र सूरि की व्याख्या ४२८ (५) कामभोगों की तीव्र अभिलाषा ४२८, ब्रह्मचर्य-पालन में जागृति ४२८।

उपसंहार ४२९, पुस्तक का नाम 'ब्रह्मचर्य विज्ञान' रखने का कारण ४३०।

प्रयुक्त ग्रन्थों की सूची ४३१-४३८



धर्मप्रेमी, समाजसेवी,

दानवीर श्री पुखराजमल लुंकड़

युवक राष्ट्र का मेरुदन्ड है और युवक वह है जिसके जीवन के कण-कण में और मन के अणु-अणु में उत्साह होता है। समाज, धर्म और राष्ट्र के उत्थान के लिए अपना तन-मन धन न्यौछावर करता है उन्हीं युवकों की तेजस्वी परम्परा के कर्णधार हैं श्रीमान पुखराजमल जी सा. लुंकड़।

श्रीमान पुखराजमल जी सा. लुंकड़ स्थानकवासी जैन समाज के एक कर्मठ कार्यकर्ता हैं। आपमें युवाकोचित जोश है, साथ हो होश भी है; आप समाज में अभिनव क्रान्ति करना चाहते हैं। संगठन को सुरीली स्वरलहरियां चारों ओर झनझनायें इसके लिए 'भारत जैन महामण्डल' के द्वारा आप सक्रिय कार्य कर रहे हैं। आपसे समाज को बहुत ही आशा है। आपने जिस तरह औद्योगिक क्षेत्र में एक कीर्तिमान स्थापित किया है, वैसे ही कीर्तिमान समाज और धर्म के क्षेत्र में स्थापित करेंगे; ऐसा पूर्ण विश्वास है।

आप श्री ने पी. एस. लुंकड़ एण्ड सन्स, चेरिटेबल ट्रस्ट ६६, औल्ड प्रभादेवी रोड, बम्बई-४०००२५ की संस्थापना की है। आपके अतिरिक्त श्री देवकुमार पी. लुंकड़ और राजेन्द्र कुमार पी. लुंकड़ भी इस ट्रस्ट के ट्रस्टी हैं।

आप स्वभाव से बड़े सरल व मधुर प्रकृति के धनी हैं। आपने प्रकृति की मधुरता से समाज में आस्था का वातावरण निर्मित किया है। श्रद्धेय गुरुदेव उपाध्याय श्री पुष्कर मुनि जी म. एवं साहित्य वाचस्पति श्री देवेन्द्र मुनिजी म. के प्रति आपके हृदय में अपार श्रद्धा है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रकाशन में आपने ट्रस्ट के द्वारा उदारता पूर्वक एक विशिष्ट अर्थ राशि दान के रूप में प्रदान की है। अतः संस्था आपके प्रति कृतज्ञ है। साथ हो भविष्य में इसी प्रकार सतत सहयोग मिलता रहेगा ऐसा दृढ़ विश्वास है।

सौराष्ट्र में बालम्भा गांव की एक घटना है। एक बाई का पति विवाह करने के बाद ही पक्षाघात-रोग से ग्रस्त हो गया। उसकी नवोढ़ा पत्नी ने विवाह से पहले कितने ही मनोरथ किये थे। परन्तु पति को लकवा हो जाने के कारण आर्यनारी के संस्कार उसमें जागृत हुए और उसने आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत ग्रहण कर लिया। पति-सेवा ही उसका नियम-धर्म हो गया। आजीविका के लिए उसने एक भैंस पाल ली। उसी का दूध बेचकर अपना और पति का निर्वाह करती थी। कहते हैं, उसका पति १६ वर्ष तक जीया, तब तक अम्लानभाव से उसने पति की सेवा की। पति की रुग्णावस्था के निमित्त से उसका ब्रह्मचर्य सिद्ध हो गया।

वस्तुतः दुर्विषय-भोगलालसा को विवाह किये बिना ही विवेक से दबाने की शक्ति हो तो विवाह करना आवश्यक नहीं है। विवाह हो जाने के बाद भी मनुष्य को कई प्रसंगों पर ब्रह्मचर्य पालन करना अनिवार्य हो जाता है; जैसे कि पत्नी रुग्ण हो, गर्भवती हो, प्रसव के बाद अत्यन्त दुर्बल हो गई हो या किसी कारण से स्त्री-पुरुष दोनों में कोई अशक्त हो। महात्मा गांधी तो यहाँ तक लिखते हैं कि "मनुष्यत्व इसी में है कि वह स्वेच्छा से अपने को अंकुश में रखे। मनुष्य पशु नहीं है। पशु स्वभावतः निरंकुश होता है। परन्तु मनुष्य का निरंकुश एवं ब्रह्मचर्य-हीन जीवन मुझे शुष्क पशुवत् मालूम होता है।"

बहुत-से लोग विवाह करने के बाद हृदयहीन एवं पशुवत् बनकर स्वस्त्री पर अत्याचार करने लगते हैं। इसे वे अपना अधिकार समझते हैं। वे पशुओं एवं दानवों को भी मात कर देते हैं।

ब्रह्मचर्य : गृहस्थ श्रावक के लिए आवश्यक

जैनाचार्यों ने श्रावकों को कई पर्वतिथियों में ब्रह्मचर्य-पालन आवश्यक बताया है। जैसे कि—विशेष धर्माराधन के लिए छह अठाइयाँ (आठ-आठ दिनों के छह पर्व) नियत की गई हैं। यथा—चौमासों की तीन अठाइयाँ—आषाढ़ी (बैठती) चौमासी, कार्तिकी (उठती) चौमासी और फाल्गुनी (होली) चौमासी। नवपद आराधना के लिए दो आयम्बिल की ओली (एक चैत्र में एवं एक आसोज में), तथा एक पर्यूषण पर्व की अठाई। इस प्रकार सालभर में छह अठाइयाँ आती हैं। इनमें श्रमणोपासक गृहस्थ को ब्रह्मचर्य पालन आवश्यक है। इसी प्रकार प्रत्येक महीने के दो पक्षों में १२ पर्वतिथियाँ आती हैं—दूज, पंचमी, आठम, एकादशी, चतुर्दशी और पूर्णिमा तथा अमावस्या इस प्रकार ४८ और १४४ यों कुल १९२ दिन, यानी वर्ष में लगभग साढ़े छह महीने श्रमणोपासक के ब्रह्मचर्य-पालन में बीतने चाहिए।

भोगी लोगों द्वारा भी ब्रह्मचर्य की अपेक्षा

कई लोग कहते हैं, विषय-भोगों में आसक्त लोग अब्रह्मचर्य को ही चाहते हैं, ब्रह्मचर्य को नहीं; परन्तु यह कथन यथार्थ नहीं है। भोगियों के व्यवहार में भी यत्र-तत्र ब्रह्मचर्य का सम्मान और आदर देखा जाता है। उदाहरण रूप में—

(१) दुराचारी, अधम एवं अशिष्ट व्यक्ति भी अपनी कन्या के लिए ब्रह्मचर्य के द्वारा शक्ति-सम्पन्न वर को चुनता है। **ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्**—अर्थात् वह कन्या ब्रह्मचर्य-पालन से युवावस्था को प्राप्त पति का वरण करती है।

(२) विश्व में यशस्वी बननेवाले पहलवान भी ब्रह्मचर्य के उपासक होते हैं।

(३) असुर और राक्षस भी बलिष्ठ बनने के लिए ब्रह्मचर्य का अनुष्ठान करते हैं।

(४) नास्तिक और उच्छृंखल भी ब्रह्मचर्य-पालन से चरित्रवान् एवं सदाचारी बनने का उपदेश देते हैं।

(५) राजा, धनाढ्य एवं वेश्याएँ आदि ब्रह्मचर्य के कारण वीर्यवान् वीरों का सम्मान करते हैं।

(६) युद्ध में लड़ने वाले वीर भी ब्रह्मचर्य के प्रभाव से ही विजय पाते हैं।

(७) यज्ञ में दीक्षित पुरुष भी ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं।

(८) भोगी व्यक्ति भी किसी मन्त्र-तन्त्र की साधना करते समय ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं।

(९) चिकित्सक रोगी से कहता है—यदि तुम ब्रह्मचर्यपूर्वक नहीं रहोगे तो क्षय, दमा आदि रोग तुम्हें घेर लेंगे।

(१०) अपनी पत्नी भी अब्रह्मचर्य के कारण निर्वीर्य पति की उपेक्षा कर देती है।

(११) जैनधर्म के अतिरिक्त बौद्ध, वैदिक, इस्लाम, ईसाई एवं पारसी आदि सभी धर्मों में यत्र-तत्र शुभ प्रसंगों पर ब्रह्मचर्यपूर्वक रहने का विधान है। जैन धर्म में तो ब्रह्मचर्य की शिक्षा कूट-कूटकर भरी ही है।

(१२) देव, दानव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और किन्नर आदि दिव्य शक्ति-सम्पन्न देवगण यद्यपि स्वयं ब्रह्मचर्य-पालन नहीं कर सकते, किन्तु उच्च जाति के देवगण ब्रह्मचर्यनिष्ठ होते हैं। इतना होने पर भी विषयवासना में लिप्त देवगण ब्रह्मचर्य को तथा ब्रह्मचारी को सिंहासन पर बैठने से पूर्व नमस्कार करते हैं। देव-राज इन्द्र भी ब्रह्मचारियों को नमस्कार करते हैं। वे अपनी सुधर्मा सभा में किसी भी प्रकार से अब्रह्मचर्य की बात नहीं करते। भगवती सूत्र के इस कथन का निष्कर्ष यही है कि विषय-भोगों में रत देवगण और देवेन्द्र भी ब्रह्मचर्य और ब्रह्मचारी के प्रति पूर्ण आदर रखते हैं।[१]

---

१. (क) भगवती श. १०, उ. ५-६, सू. १ से २९ तक

(ख) देवदाणवगंधव्वा जक्खरक्खसकिन्नरा।
बंभयारिं नमंसंति, दुक्करं जे करेंति तं॥ —उत्तरा० १६।१७

क्या ब्रह्मचर्य कोरा आदर्श है ?

महात्मा गांधी ने लिखा है—"..... ब्रह्मचर्य के मानी है—सम्पूर्ण इन्द्रियों पर पूर्ण अधिकार। पूर्ण ब्रह्मचारी के लिए कुछ भी अशक्य नहीं।" पर यह आदर्श स्थिति है, जिस तक विरले ही पहुँच पाते हैं। निष्कर्ष यह है कि महात्मा गांधीजी आदर्श ब्रह्मचर्य को प्राप्य और उसका अखण्ड पालन शक्य मानते थे। उन्होंने किसी के प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा था—"....ऐसा ब्रह्मचर्य काय-मनो-वाक् से अखण्ड पालन हो सकने वाली बात है। इस विषय में मुझे तिल भर भी शंका नहीं। इस सम्पूर्ण ब्रह्मचर्य की स्थिति को मैं अभी नहीं पहुँच सका हूँ। और इस देह में ही वह स्थिति प्राप्त करने की आशा भी मैंने नहीं छोड़ी है।...."[1]

जैन धर्म की दृष्टि से पूर्ण ब्रह्मचर्य केवल काल्पनिक आदर्श नहीं, यह सम्पूर्ण साध्य है। अतीत में लोगों ने इसका पालन किया, वर्तमान में करते हैं और भविष्य में भी करेंगे।

प्रश्नव्याकरण सूत्र में स्पष्ट कहा है—"ब्रह्मचर्य सरल साधुजनों द्वारा आचरित है,.....श्रेष्ठ यतियों द्वारा सुरक्षित तथा सु-आचरित है।..... मुनिवरों तथा महापुरुष, धीर, वीर, धार्मिक और धृतिमान पुरुषों ने इसका विशुद्धरूप से सेवन किया है।.....भव्य जनों द्वारा अनुचीर्ण है।..... अतः इस महाव्रत को इसकी भावना सहित सर्वथा विशुद्ध ब्रह्मचर्य का यावज्जीवन तक पालन करना चाहिए।"[2]

कोई व्यक्तिविशेष पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करने में असमर्थ रहे, इसके आधार पर यह कहना कि ब्रह्मचर्य का पूर्णरूप से पालन करना सम्भव नहीं है, अयुक्त है। किसी व्यक्ति की असमर्थता के आधार पर किसी गलत सिद्धान्त का निर्माण कर बैठना, सत्य के साथ अन्याय है। यह तो अपनी कमजोरी से मेल बिठाने के लिए आदर्श को शिथिल करना है।

टॉलस्टॉय ने इस पर अच्छे ढंग से विचार किया है—"यदि एक जहाज का कप्तान यह कहे कि मैं कम्पास (दिशादर्शक यंत्र) द्वारा बताई जाने वाली दिशा में नहीं जा सकता, इसलिए मैं उसे उठाकर समुद्र में फेंक दूँगा अथवा उसकी ओर देखना भी बन्द कर दूँगा या मैं कम्पास की सुई पकड़कर उस दिशा में बाँध दूँगा, जिधर मेरा जहाज जा रहा है, (यानी अपनी दुर्बलता तक आदर्श को नीचा ले आऊँगा) तो निःसन्देह वह मूर्ख समझा जाएगा।"

"नाविक को अपने कम्पास में विश्वास करना जितना आवश्यक है, उतना ही

---

१. अनीति की राह पर, पृ. ५०, ५६

२. **अज्जव-साहुजणाचरितं.....जतिवरसारक्खितं सुचरियं, महापुरिस-धीर-सूर-धम्मियधितिमंताण य.....भव्वजणाणुचिन्नं .....।"**

—प्रश्नव्याकरण, संवरद्वार, संवर ४

आवश्यक है, मनुष्य का (पूर्ण ब्रह्मचर्य के आदर्श के) उपदेशों में विश्वास करना।.... बतलाए हुए (पूर्ण ब्रह्मचर्य के) आदर्श से वह कितना दूर है, इसे जानने से मनुष्य को डरना नहीं चाहिए। आदर्श का उपदेश, उसे यह बताने के लिए सदा उपयोगी होगा कि उसे क्या-क्या बातें नहीं करनी चाहिए। उसे आदर्श के उपदेश में उसी प्रकार पूर्ण विश्वास एवं अनन्य श्रद्धा रखनी चाहिए, जिस प्रकार जहाज का कप्तान कम्पास को छोड़कर दांये-बांये आने वाली और किसी चीज का ख्याल नहीं करता। मनुष्य किसी भी सतह पर या किसी भी परिस्थिति में क्यों न हो, वहाँ से वह बराबर आदर्श की ओर बढ़ सकता है।"[1]

यह कहना यथार्थ नहीं है कि "मनुष्य स्वभावतः अपूर्ण है, इसलिए उसे वही आदर्श रखना चाहिए, जहाँ तक वह पहुँच सकता हो।" इसका मतलब तो यह हुआ कि यदि किसी का हाथ कमजोर होने से वह सीधी रेखा खींच नहीं सकता, इसलिए सीधी रेखा खींचने के लिए उसके समक्ष टेढ़ी या टूटी रेखा का ही नमूना प्रस्तुत किया जाए। किन्तु ऐसा करना असत्य बात को प्रोत्साहन देना है। होना यह चाहिए कि उसका हाथ कितना ही कमजोर हो, उसके समक्ष शुद्ध और पूर्ण नमूना ही प्रस्तुत किया जाना चाहिए।

भारतवर्ष में प्राचीनकाल के और वर्तमान काल के ऐसे उदाहरणों की कमी नहीं है, जिन्होंने प्रारम्भ से लेकर जीवन के अन्त तक पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन किया। प्राचीनकाल के उदाहरणों में बाईसवें तीर्थंकर भगवान अरिष्टनेमि का ज्वलन्त उदाहरण हमारे समक्ष है। भगवान् अरिष्टनेमि की विवाह करने की कतई इच्छा नहीं थी; किन्तु राजीमती के साथ ९ भवों का स्नेहानुबन्ध होने से तथा इसी निमित्त से राजीमती को संयम की प्रबल प्रेरणा मिलेगी, इस कारण से एवं श्रीकृष्ण एवं उनकी पटरानियों के अनुरोध से उन्होंने मौन रहकर विवाह का प्रस्ताव स्वीकार किया। किन्तु बारात जब तोरण के निकट आई, तभी बरातियों को प्रीतिभोज देने हेतु बाड़े में बन्द पशु-पक्षियों को देखकर वे इस विवाह कार्य से विरत हो गए, पशु-पक्षियों को मुक्त कराकर वे वापस लौट गये और स्वयं पूर्ण ब्रह्मचर्यनिष्ठ बनकर मुनि-दीक्षा ग्रहण कर ली। नेमिनाथ की इस प्रवृत्ति से प्रतिबुद्ध होकर सती राजीमती ने भी पूर्ण ब्रह्मचर्यनिष्ठ होकर उसी मार्ग का अनुसरण किया।[2]

राजगृहनिवासी ऋषभदत्त श्रेष्ठी के पुत्र जम्बूकुमार ने भी पूर्ण ब्रह्मचर्य का पथ अपनाया। यद्यपि माता-पिता को अत्यन्त दुःखित एवं विलाप करते देख, जम्बूकुमार ने विवाह की स्वीकृति दे दी, तथापि मन तो पूर्ण ब्रह्मचर्य के रंग में रंगा हुआ था। जम्बूकुमार ने अपने आठों ससुरालों में पूर्ण ब्रह्मचर्यपूर्वक रहने की सूचना

---

१ स्त्री और पुरुष, पृ० २० से २८ तक का सारांश

२ (क) भगवान अरिष्टनेमि और कर्मयोगी श्रीकृष्ण : एक अनुशीलन
(ख) नेमिनाथ चरित (पद्यमय) जैन दिवाकर श्री चौथमलजी महाराज

दूत द्वारा भेज दी थी। आठों भावी पत्नियों ने भी यह सुनकर दृढ़ निश्चय कर लिया कि यदि जम्बूकुमार घर में रहते हुए ब्रह्मचर्य पालन करेंगे, अथवा मुनिदीक्षा लेंगे तो हम भी उनका अनुसरण करेंगी। परन्तु जम्बूकुमार के सिवाय अन्य किसी के साथ विवाह नहीं करेंगी।[1]

आठों कन्याओं के साथ पाणिग्रहण करके जम्बूकुमार घर आए। वे अपने महल में पहुँचे। जम्बूकुमार ने सोचा—मैं पूर्ण ब्रह्मचर्यनिष्ठ हूँ, इसलिए मेरे लिए ये माता-बहन-तुल्य हैं। फिर भी ये मेरे साथ विवाह करके मेरी पत्नियाँ बनकर आई हैं, इसलिए मैं अपने ब्रह्मचर्य व्रत में दृढ़ रहूँ और इन्हें भी समझा-बुझाकर इसी पथ पर लाऊँ।

जम्बूकुमार और उनकी आठों पत्नियों का संवाद काफी रोचक और रसप्रद है। आठों पत्नियों ने उन्हें अपने रंग में रंगना चाहा, परन्तु जम्बूकुमार की वैराग्य-प्रेरक अकाट्य युक्तियों और तर्कों के आगे वे पराजित हो गईं। आठों ही पत्नियाँ संयम ग्रहण करने के लिए तैयार हो गईं।

प्रभव चोर, जो कि अपने पाँच-सौ साथियों के साथ जम्बूकुमार के यहाँ चोरी करने आया था, वह भी जम्बूकुमार और उनकी नवोढ़ा पत्नियों के संवाद को सुनकर विरक्त हो गया। प्रातःकाल जम्बूकुमार, उनकी आठों पत्नियाँ, प्रभव आदि ५०० चोर, जम्बूकुमार के माता-पिता, तथा आठों पत्नियों के माता-पिता, यों कुल ५२७ व्यक्ति एक साथ पूर्ण ब्रह्मचर्य के महापथ पर चल पड़े।

ये और ऐसे अनेकों महापुरुषों के प्राचीन उदाहरण प्रस्तुत हैं जिन्होंने गृहस्थाश्रम से ही सीधे संन्यास आश्रम में प्रविष्ट होकर पूर्ण ब्रह्मचर्य का पथ अपनाया। इसलिए पूर्ण ब्रह्मचर्य के आदर्श को कोरा काल्पनिक मानना मिथ्या है। पूर्ण ब्रह्मचर्य साध्य है।

पूर्ण ब्रह्मचर्य दुष्कर और विरल क्यों ?

यह ठीक है कि पूर्ण, अखण्ड और शुद्ध ब्रह्मचर्य का पालन प्रत्येक व्यक्ति के लिए तो शक्य नहीं है। कर्मशास्त्र के अनुसार इसका कारण यह है कि संसारी जीव विभिन्न कर्म-प्रकृतियों से बँधे हुए हैं। इनमें सबसे प्रबल कर्म है—मोहनीय। जैसे—मद्यपान से मनुष्य मत्त होकर अपना भान भूल जाता है उसी प्रकार मोहनीय कर्म के कारण वह मतवाला (मूढ़) हो जाता है। मोहनीय कर्म दो प्रकार का है—दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय। दर्शनमोहनीय कर्म का उदय जीव की शुद्धदृष्टि (सम्यग्दर्शन) को आवृत करता है; उसे प्रकट नहीं होने देता। इसके कारण ब्रह्मचर्य आदि धर्म के अंगों पर श्रद्धा-रुचि उत्पन्न नहीं होती। और चारित्रमोहनीय का उदय चारित्र (महाव्रतादि) को जीवन में प्रकट नहीं होने देता, वह श्रुत-चारित्र-रूप धर्म को जीवन

---

१ जम्बूचरित्र (लि० जैन दिवाकर श्री चौथमलजी महाराज)

में नहीं उतरने देता। इसके उदय से १६ कषाय, तथा ९ नोकषाय (हास्य, रति-अरति, स्त्री-पुरुष-नपुंसकवेद, शोक, भय, जुगुप्सा) उत्पन्न होते है। किन्तु १०वें गुणस्थान पर आरूढ़ होने पर आत्मा के ये सब कर्म क्षय हो जाते हैं। १०वें से या तो वह सीधा बारहवें गुणस्थान में जाता है, जहाँ मोहनीय कर्म का सर्वथा क्षय हो जाता है, यदि ११वें में जाता है तो मोहनीय कर्म उपशान्त हो जाता है। इसका फलितार्थ यह है कि जब तक जीव के साथ मोहनीय कर्म न्यूनाधिकरूप में विद्यमान है तब तक उसके लिए निर्मोह रूप ब्रह्मचर्य का पालन कठिन है, किन्तु मोहनीय कर्म के क्षय होते ही सम्यग्दर्शन एवं सम्यक्चारित्र पूर्ण एवं शुद्ध रूप में प्रकट हो जाता है, ऐसी स्थिति में ब्रह्मचर्य आदि चारित्र के गुण वीतरागदशा रूप में स्वतः प्रकट हो जाते हैं। इस प्रकार जैन कर्मशास्त्र यह मानता है कि ब्रह्मचर्य का उसके सम्पूर्ण रूप में पालन सम्भव है। प्रारम्भ में साधना के रूप में, फिर सहज हो जाता है।

दुष्कर अवश्य है, असाध्य नहीं

आजकल भारतीय जनजीवन की बड़ी दयनीय दशा है। यहाँ का खान-पान, रहन-सहन, वातावरण, आसपास का वायुमण्डल, आदि सभी प्रायः कामवासना को जगाने वाले हो रहे हैं। कामलिप्सा अधिकांश लोगों के जीवन में विष की तरह प्रविष्ट हो चुकी है। इन्हीं लोगों को लक्ष्य करके शास्त्रकार कहते हैं—

"कामभोग के रसज्ञों के लिए अब्रह्मचर्य से विरति और उग्र ब्रह्मचर्य-व्रत धारण करना अत्यन्त दुष्कर है।"[1]

जो वक्र या कुटिल साधक होते है वे ही प्रायः ऐसे कुतर्क किया करते हैं कि ब्रह्मचर्य-पालन में क्या आनन्द है? इसे भंग कर दिया जाए तो क्या हानि है? ऐसे कुटिल साधक ब्रह्मचर्य-पालन भी करते है तो लोक-लज्जा से, मन से नहीं। इसीलिए प्रश्नव्याकरण सूत्र में कहा गया है—"**अज्जवसाहुजणाचरितं**—सरलता से सम्पन्न साधु जनों द्वारा ब्रह्मचर्य का पूर्णतया आचरण किया जाता है।"[2]

आचार्य शुभचन्द्र ने 'ज्ञानार्णव' में भी इसी बात को स्वीकार किया है—

"जो अल्पशक्तिमान् व्यक्ति हैं, शीलरहित हैं, दीनता-हीनता के शिकार हैं, इन्द्रियों पर विजय नहीं पा सके हैं, उन मनुष्यों के द्वारा स्वप्न में भी इस ब्रह्मचर्य व्रत का आचरण करना शक्य नहीं है।"[3]

---

१. विरइ अबंभचेरस्स कामभोगरसन्नुणा।
उग्गं महव्वयं बंभं, धारेयव्वं सुदुक्करं॥ —उत्तरा० अ, १९, गा. २९

२. प्रश्नव्याकरण, संवरद्वार सं० ४, सू० १

३. नाल्पसत्त्वैर्न निःशीलैर्न दीनैर्नाक्षनिर्जितैः।
स्वप्नेऽपि चरितुं शक्यं ब्रह्मचर्यमिदं नरैः॥ —ज्ञानार्णव ११।५

तात्पर्य यह है कि जो सत्त्ववान्, सदाचारी और दीनता-हीनताग्रस्त नहीं हैं, उनके लिए इन्द्रियविजेता बनना और ब्रह्मचर्य पालन करना दुःशक्य नहीं है।

गृहस्थ जीवन में भी पूर्ण ब्रह्मचर्य शक्य है

भारतवर्ष को भीष्म पितामह, अरिष्टनेमि तीर्थंकर, आदि पवित्र महापुरुषों का पूर्ण ब्रह्मचर्यनिष्ठ आदर्श विरासत में मिला है, फिर भी यहाँ शाक्तसम्प्रदाय के वाममार्गीय तांत्रिक प्रचार के कारण अथवा चार्वाकमत के कारण कामवासना एवं इन्द्रियजन्य विषयभोगों का खुले आम प्रचार-प्रसार होने से कतिपय लोगों की यह भ्रान्त धारणा बन गई है कि गृहस्थ जीवन में विवाहित अवस्था में रहते हुए ब्रह्मचर्य का शुद्ध अनुष्ठान अशक्य है। साधु-संन्यासी बनकर ही शुद्ध एवं पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन हो सकता है। परन्तु यह धारणा प्रत्यक्ष अनुभव के आधार पर गलत सिद्ध हो चुकी है। एक ऐतिहासिक उदाहरण देखिए—

वत्सदेश के अन्तर्गत कौशाम्बी नगरी के धनावह श्रेष्ठी के पुत्र विजयकुमार ने मुनि से शीलव्रत का माहात्म्य सुनकर परस्त्री-सेवन का सर्वथा त्याग तथा स्वस्त्री-सेवन का यावज्जीवन कृष्णपक्ष में त्याग किया। उसी नगरी में धनसार सेठ की पुत्री विजयाकुमारी ने भी मुनिराज से ब्रह्मचर्य का उपदेश सुनकर शुक्लपक्ष में यावज्जीवन अब्रह्मचर्यसेवन का त्याग कर लिया।

संयोगवश यौवनावस्था में दोनों का पाणिग्रहण हुआ। प्रथम रात्रि में विजया कुमारी जब पति के आवासभवन में आई। विजयकुमार ने उसे कहा—"प्रिये! तीन दिन तक तुम्हें मेरे पास नहीं आना है, क्योंकि मैंने कृष्णपक्ष में अब्रह्मचर्य-सेवन का त्याग किया है।" विजया कुछ चिन्तित होकर बोली—"मैंने शुक्ल पक्ष में अब्रह्मचर्य-सेवन का त्याग लिया है। इसलिए मेरी राय है कि आप दूसरा विवाह करें।"

इस पर विजयकुमार ने शांत भाव से कहा—"प्रिये! अब्रह्मचर्य अधर्म का मूल है। हम दोनों को अनायास ही इस पाप से बचने का स्वर्ण अवसर मिला है। इसलिए हम दोनों आजीवन ब्रह्मचर्य का पालन करेंगे।

विजयाकुमारी—"परन्तु यह बात कब तक छिपी रहेगी? जब बात प्रकट होगी, तब तो आपको दूसरा विवाह करना ही पड़ेगा।"

विजयकुमार—"बात प्रकट होते ही हम दोनों भागवती दीक्षा ग्रहण करके अपने जीवन को आध्यात्मिक उच्चता की ओर ले जाएंगे। कामभोग तो अनन्त बार भोग चुके हैं, उनसे कभी तृप्ति नहीं हुई।"

पति-पत्नी दोनों अब एक दूसरे को भाई-बहन की दृष्टि से देखते, एक ही कक्ष में सोते, किन्तु ब्रह्मचर्यरूप असिधाराव्रत का पालन करते, साथ-साथ ही सामायिक पौषध करते थे। एक-एक करके बारह वर्ष व्यतीत हो गये।

चम्पानगरी में पधारे हुए विमल केवली मुनि से जिनदास श्रावक ने विजय कुमार और विजयाकुमारी की ब्रह्मचर्यनिष्ठा की प्रशंसा सुनी तो उसने कौशाम्बी

आकर विजयकुमार के पिता से यह बात कही। पिता ने विजयकुमार को बुलाकर उसकी इच्छा जानी। उसने कहा "मेरा यह प्रण है कि बात प्रकट होते ही मैं प्रव्रज्या ग्रहण कर लूँगा।" बहुत समझाने पर भी वह अपने निश्चय से विचलित न हुआ तो पिता ने दीक्षा की अनुमति दे दी। दोनों प्रव्रजित हुए और केवलज्ञान प्राप्त कर मुक्त हुए।[1]

ऐसा ही एक वृत्तान्त आयरानी सोनबाई का है।

भादरनदी के किनारे एक छोटे से गाँव में वृद्ध-पति-पत्नी—वाजसी और राजीबाई अपने युवा पुत्र विकमसी का सोनबाई के साथ विवाह करने को उत्सुक थे। विकमसी ने अपनी बहन के द्वारा पिताजी को विवाह न करने का सन्देश भेजा, किन्तु पिता-माता के आग्रहवश होकर विकमसी को विवाह करना पड़ा।

सुहागरात के दिन ज्योंही विकमसी ने शयनकक्ष में प्रवेश किया। उसके म्लानमुख को देखकर सोनबाई ने पूछा—"क्यों आयर! क्या हो गया तुम्हें?"

विकमसी कुछ देर तक चुपचाप खड़ा रहा, फिर बोला—"आयरानी! तू मेरा स्पर्श मत करना। मैं पुरुषत्वहीन हूँ। अपने माता-पिता से मैंने विवाह के लिए साफ इन्कार कर दिया था, लेकिन कोई मेरे मन की बात समझा ही नहीं।"

सोनबाई—"तो इसमें क्या हो गया?"

विकमसी—"और तो मैं क्या कहूँ। आणा आए, वहाँ तक तो तुझे रुकना होगा। उसके बाद तू अपने मैके जाकर खुशी से दूसरा वर ढूँढ़ लेना। मैंने तुझे बहुत दुःखी किया है। परन्तु होनहार को कौन टाल सकता है?"

सोनबाई—"अरे आयर! ऐसा क्यों कहते हो? इसमें क्या हो गया? हम दोनों एक साथ रहकर भगवद् भजन करेंगे।"

विकमसी—"परन्तु मैं तुम्हारा जीवन नहीं बिगाड़ना चाहता।"

सोनबाई—"मेरा जीवन बिगड़ेगा नहीं, परन्तु सुधरेगा। तुम्हारे साथ मैं सुख से रहूँगी। और सब बातें रहने दें।"

इस प्रकार आजीवन ब्रह्मचर्य-पालन का दृढ़ निश्चय करके पति-पत्नी अलग-अलग शय्या पर सो गये।

एक-एक करके नौ रात्रियाँ बीत गईं। दसवें दिन मैके से बैलगाड़ी लेकर सोनबाई का भाई उसे ले जाने के लिए आया। अतः दसवीं रात को विकमसी ने सोनबाई को छुट्टी देते हुए कहा—"तू सुखपूर्वक मैके जा। मैं राजी-खुशी से तुझे छुट्टी दे रहा हूँ। हठ मत कर।"

सोनबाई—"आयर! धक्का देकर क्यों निकाल रहे हो? मुझे नहीं जाना है और न ही दूसरा विवाह करना है। मुझे तुम्हारे साथ ही रहना है।"

---

१. वैराग्यमंजरी : विजय सेठ विजया सेठानी को चौढालियो, पृ० २७ से ३४

इस प्रकार कहकर सोनबाई ने पति के पैर पकड़ लिए और फफक-फफक रोने लगी। प्रातःकाल उसने भाई से कहलाया—"मुझे ले जाओगे तो मेरे लिये अच्छा नहीं होगा। मुझे पीहर कतई नहीं जाना है। तुम शीघ्र ही यहाँ से वापस लौट जाओ।"

बहन को जिद् करके पीहर ले जाने में भाई को गृहक्लेश की आशंका लगी। अतः उसके ससुर से माफी मांगकर पुनः शुभमुहूर्त्त में आने का कहकर भाई विदा हुआ।

पुत्रवधू को दैनिक गृहकार्य में ओतप्रोत देखकर सास-ससुर को उसके जीवन में कोई भी अस्वाभाविकता या गलती मालूम नहीं होती थी। विक्रमसी के मन में सोनबाई के रूप और गुण की उपेक्षा करने का पश्चात्ताप होता था, किन्तु आकर्षक यौवन, रूप एवं लावण्य होते हुए भी तथा पति के साथ रहते हुए भी सोनबाई के मन में कामविकार रंचमात्र भी प्रवेश नहीं पा सका। उसके चेहरे पर अखण्ड ब्रह्मचर्य का तेज अठखेलियाँ कर रहा था।

सोनबाई आयरानी का विवाहित जीवन भी अखण्ड ब्रह्मचर्य से ओत-प्रोत रहा। इस वृत्तान्त में सोनबाई की ब्रह्मचर्य पालन की दृढ़ता प्रतीत होती है।[1]

ऐसे आदर्श ब्रह्मचर्यनिष्ठ दम्पत्ति के विवाहित जीवन में भी शुद्ध ब्रह्मचर्य-पालन कुछ भी असंभव या अस्वाभाविक नहीं है। टॉलस्टॉय ने इस सम्बन्ध में काफी सुन्दर चिन्तन प्रस्तुत किया है—"मनुष्य को चाहिए कि वह संयम (ब्रह्मचर्य) के महत्त्व को समझे। जो संयम अविवाहित अवस्था में मनुष्य के गौरव की अनिवार्य शर्त है, वह विवाहित जीवन में इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण है। विवाहित स्त्री-पुरुष वैषयिक प्रेम को शुद्ध भाई-बहन के प्रेम में परिणत कर दें।"[2]

महात्मा गांधी ने भी इसी विचार का समर्थन किया है—"विवाहित अविवाहित-सा हो जाए। मुझसे कहा जाता है कि यह आदर्श अशक्य है और 'तुम स्त्री-पुरुष में जो एक-दूसरे के प्रति आकर्षण है, उसका खयाल नहीं करते।' पर जिस कामप्रेरित आकर्षण की ओर संकेत है, उसे मैं स्वाभाविक नहीं मानता। वह प्रकृति-प्रेरित हो तो समझ लेना चाहिए कि प्रलय होने में अधिक देर नहीं है। स्त्री और पुरुष के बीच का सहज आकर्षण यह है जो भाई-बहन, माता-पुत्र, पिता-पुत्री के बीच होता है। संसार इसी स्वाभाविक आकर्षण पर टिका है।" मुझे अपनी सम्पूर्ण शक्ति के साथ कहना होगा कि पति-पत्नी के बीच भी कामरहित प्रेम होना असंभव नहीं। मैं सारी नारी जाति को अपनी बहन-बेटी और माँ न मानूँ तो काम करना तो दूर रहा, मेरे लिए जीना भी कठिन हो जाएगा। मैं उन्हें वासना भरी दृष्टि से देखूँ तो वह नरक का सीधा रास्ता होगा।"

१ ब्रह्मचर्य मार्गोपदेशिका पृ० १५२ से १५७
२ स्त्री और पुरुष, पृष्ठ ७, २६, ७६

इस प्रकार के अनेक उदाहरण हैं, जिन्होंने विवाहित होकर गृहस्थाश्रम में रहते हुए पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन किया है।

अखण्ड ब्रह्मचारी : शंका-समाधान

कई लोग यों कह देते हैं कि आजकल अखण्ड ब्रह्मचारी के कहाँ दर्शन होते हैं। यदि सब लोग अखण्ड ब्रह्मचारी बन जाएँगे तो संसार का सर्वनाश नहीं हो जाएगा? क्योंकि सन्तानोत्पत्ति रुक जाने से कालान्तर में सृष्टि का अन्त आ जाएगा। ब्रह्मचर्य-पालन करके मनुष्य प्रजापति (सृष्टिकर्ता) के संसार चलाने के हेतु से विरुद्ध चलता है।

मेरी समझ में ऐसे कुतर्कों की तह में दुर्बलता और कायरता छिपी हुई है। जब किसी मनुष्य का मन अपने कर्त्तव्य का—ब्रह्मचर्य के रूप में, पालन नहीं करना चाहता, तब उससे बचने के लिए ऐसे ही बहाने ढूँढ़ा करता है। ब्रह्मचर्य के विरुद्ध ऐसी कुयुक्तियाँ किसी व्यक्ति के मन में उठती हों तो उसे अपने हृदय पर हाथ रखकर पूछना चाहिए कि 'क्या मैं जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में ऐसा विचार करता हूँ?' उदाहरणार्थ—आयकर की यथार्थ राशि छिपाकर जो व्यक्ति कम कर भरता है, क्या वह उस समय यह विचार करता है कि यदि सब इसी प्रकार करेंगे तो सरकार कैसे शासन चलाएगी? इसी तरह लाइन तोड़कर बस में घुसते समय क्या ऐसा विचार आता है कि यदि सब ऐसा करने लगेंगे तो नागरिक अनुशासन का क्या होगा? तात्पर्य यह है कि जब मनुष्य का स्वार्थ होता है, तब वह दूसरों का विचार करना भूल जाता है और जब स्वयं को कुछ त्याग करना होता है, तब वह संसार की चिन्ता के बहाने से कर्त्तव्य से विमुख हो जाता है। कोरा बुद्धिवादी मनुष्य कुतर्क जाल में फँसकर इस प्रकार कर्तव्यविमुख होकर आत्मवंचना करता रहता है। जो सर्वभूतहित में रत हैं, उनके हृदय में ऐसी ब्रह्मचर्यविरुद्ध युक्ति उत्पन्न नहीं होती। सभी ब्रह्मचर्य पालन करने लगेंगे तो जगत् कैसे चलेगा? इसकी चिन्ता उन्हें नहीं होती। ऐसे बुद्धिवादी लोग व्यापार, वकालत या डाक्टरी आदि पेशों का कार्य प्रारम्भ करते समय तो कभी विचार नहीं करते कि यदि सभी मनुष्य व्यापारी, वकील या डाक्टर बन जाएँगे तो क्या परिणाम होगा?

भीष्म पितामह आजीवन ब्रह्मचारी रहे। उससे जगत् को कितना लाभ हुआ? उन्होंने ब्रह्मचर्य-पालन करके जगत् के कानों में ब्रह्मचर्य का मंत्र फूँका था। उन दिनों ब्रह्मचर्य के प्रताप से भीष्म महाबली गिने जाते थे। उनके समान जगत् में कोई बलिष्ठ नहीं था। लोगों ने उनसे हाथ जोड़कर प्रार्थना की—"महाराज! आजीवन ब्रह्मचर्य-पालन करके संसार को क्यों हानि पहुँचा रहे हैं?"

इस पर उन्होंने कहा—"कैसे?"

लोगों ने निवेदन किया—"महाराज! वीर पुरुषों की सन्तान भी वीर होती है।

आप संसार में अद्वितीय वीर्यशाली वीर हैं। आप विवाह नहीं करेंगे तो आपके पश्चात् कहलाने योग्य कौन होगा ?"

भीष्म पितामह ने हँसकर कहा—"भाइयो ! यदि मैं विवाह कर लेता तो मेरी एक-दो सन्तान वीर होती। परन्तु मेरे आजीवन ब्रह्मचर्य को देखकर कितनी सन्तानें वीर बनेंगी ? क्या कभी इसका हिसाब लगाया ?"

वास्तव में ऐसे आजीवन अखण्ड ब्रह्मचारी की उपदेश व वाणी से समाज में प्रचलित हिंसा, रक्तपात, बलात्कार आदि और कई बार तो महायुद्ध होने से रुक जाता है। इस प्रकार मरण शरण होने वाले हजारों नागरिक उक्त ब्रह्मचारी के निमित्त से बच जाते हैं। अतः ब्रह्मचर्य-पालन करके भी वह हजारों नागरिकों का पिता बना, ऐसा कहा जा सकता है। उसके सदुपदेश से जनता का चरित्र उच्च हो जाता है, उसमें संयम और आरोग्य की वृद्धि हो जाती है, इस प्रकार विचार करें तो भी उसका ब्रह्मचर्य जनसंख्या की वृद्धि करने वाला बनता है।

जो लोग यह कहते हैं कि अखण्ड ब्रह्मचारी के दर्शन नहीं होते, उनसे यही यही कहना है कि संसार में ब्रह्मचर्य-पालन करने वाले तो बहुत से नर-नारी हैं, परन्तु वे यों ही आसानी से मिल जाएँ तो उनका मूल्य ही क्या रहेगा ? खान में हीरे तो कई होते हैं, किन्तु एक हीरा भी निकालने के लिए हजारों खनिकों को खान के भीतर घुसना पड़ता है, तब कहीं पर्वताकार चट्टानों के ढेर में से मुट्ठीभर हीरे निकलते हैं। अतः इन हीरों से कहीं अधिक मूल्यवान ब्रह्मचारी-हीरों को ढूँढ़ निकालने के लिए कितना अधिक परिश्रम करना होगा यह सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है।

आदर्श दृष्टिगत रखना आवश्यक

कुछ भी हो मनुष्य को अपने समक्ष पूर्ण ब्रह्मचर्य का आदर्श रखना चाहिए। भले ही इस आदर्श तक वह आज का आज न पहुँच सके, परन्तु उस आदर्श को अपनी दृष्टि के समक्ष रखने से व्यक्ति अधिकाधिक पूर्णता की ओर प्रगति कर सकता है। और आदर्श तो ऐसी ही वस्तु है, जिसे प्राप्त करने के लिए एक जन्म नहीं, कई जन्मों तक पुरुषार्थ करना पड़ता है। प्रेस में छपे हुए श्रेष्ठ अक्षर के समान अक्षर तो हर व्यक्ति नहीं लिख सकता, परन्तु अक्षर अच्छे से अच्छे बन सकें, इसके लिए प्रेस में छपे हुए अक्षरों का नमूना सामने रखना पड़ता है। अगर छपे हुए अक्षरों से कम अच्छे अक्षरों का नमूना सामने रखा जाएगा तो अच्छे से अच्छे अक्षर नहीं बन सकेंगे।

छोटे बच्चों को भी जब अक्षर लिखना सिखाया जाता है, तब उनके सामने अक्षर का उत्तम से उत्तम नमूना रखा जाता है और वे हूबहू या उनसे मिलते-जुलते अक्षर की नकल करने का प्रयत्न करते हैं। इसी प्रकार यदि प्रत्येक व्यक्ति अखण्ड ब्रह्मचर्य का आदर्श सामने रखे और उस आदर्श तक पहुँचने का प्रयत्न करता रहे तो, एक न एक दिन वहाँ तक पहुँचने में उसे सफलता मिल ही जाती है।

ऐसा करने से सारा विश्व ब्रह्मचारी नहीं बन जाएगा, परन्तु अधिक से अधिक लोग इस दिशा में मर्यादित प्रगति करेंगे तथा कितने ही साधक पूर्ण प्रगति, अर्थात्—पूर्ण ब्रह्मचर्य सिद्ध कर सकेंगे। इस दृष्टि से 'सभी ब्रह्मचर्य पालन करने लगेंगे तो जगत् जनसंख्या शून्य हो जाएगा' ऐसी शंका निराधार है।

ब्रह्मचर्य हानिकारक या अस्वाभाविक नहीं

वर्तमान युग के कामवासनाप्रेरक वातावरण एवं पाश्चात्य प्रवाह के कारण कई लोगों ने इस प्रकार का ब्रह्मचर्यविरोधी मत-प्रचार करना प्रारम्भ कर दिया है कि, 'ब्रह्मचर्य-पालन स्वास्थ्य के लिए हानिकारक है, तथा यह मनुष्य के लिए अस्वाभाविक है। उनका कहना है कि आहार, भय, मैथुन और परिग्रह, ये चार संज्ञाएँ मानवों और पशुओं में जन्मजात दिखाई देती हैं, इसलिए इनका निग्रह करना अस्वाभाविक और हानिकारक है।'

युक्ति और अनुभव के आधार पर निष्पक्ष दृष्टि से विचार करें तो यह मत गलत ठहरता है। वर्तमान युग में विषयेच्छा स्वाभाविक इच्छा (मैथुन संज्ञा) कही जाती है, उसका कारण यह है कि आजकल की सभ्यता में कितनी ही ऐसी उत्तेजक बातें भरी हुई हैं, जिनसे हमारे युवक और युवतियों में यह इच्छा समय से पहले ही जाग्रत हो जाती है। आज का नागरिक जीवन और उसका दूषित वातावरण प्रौढ़ स्त्री-पुरुषों पर ही नहीं, बल्कि अधखिले कोमल बालक-बालिकाओं के मन पर भी बुरा प्रभाव डालता है। वे जिधर भी नजर उठाकर देखते हैं चारों ओर हठात खींच ले जाने वाले काम-वासनामय प्रलोभन श्रवणगोचर एवं दृष्टिगोचर होते हैं। उस प्रलोभनकारी दृश्य और श्रव्य को देख-सुनकर वे अपने आपको रोक नहीं पाते। इस लिए ऐसा कह देते हैं कि ब्रह्मचर्य अस्वाभाविक एवं हानिकारक है। उनके माता-पिता एवं भाई-बहन एवं अन्य कुटुम्बीजनों को भी उसी प्रवाह में प्रवाहित होते देख कर उनकी धारणा ऐसी बन जाती है कि विषयेच्छा स्वाभाविक है, उस पर नियंत्रण करना अपने स्वास्थ्य को बिगाड़ना है।

कामवासना या विषयेच्छा नींद या भूख जैसी कोई वस्तु नहीं है, जिसके बिना मनुष्य जीवित ही नहीं रह सके। आहार शरीर को पोषण देता है, लम्बे समय तक आहार न लेने से मनुष्य निर्बल हो जाएगा, उसके बिना जीना अशक्य बन जाएगा; यदि निद्रा नहीं ली जाएगी तो मनुष्य बीमार पड़ जाएगा और शौच क्रिया को रोका जाएगा तो अनेक रोग उत्पन्न हो जाएँगे; जबकि विषयेच्छा के पोषण के बिना मनुष्य जी नहीं सकता, ऐसी कोई बात तो नहीं है। विषयेच्छा को तो मनुष्य प्रसन्नता से रोक सकता है। बल्कि विषयेच्छा को रोकने—कामवासना न रखने से अर्थात् ब्रह्मचर्य-पालन से, प्राणशक्ति में अत्यन्त वृद्धि होती है। ब्रह्मचर्य से सर्वांगीण आरोग्य लाभ प्राप्त करने वाले अनेक लोगों के भूतकालिक और वर्तमानकालिक उदाहरण मिलते हैं।

ब्रह्मचर्य से हानि के सम्बन्ध में जो युक्ति दी गई है, उसके प्रत्युत्तर के संदर्भ में हमें ब्रह्मचर्य का देहलक्षी अर्थ सर्वप्रथम समझ लेना चाहिए। ब्रह्मचर्य का देहलक्षी एक अर्थ है—अपने शरीर में रहे हुए या उत्पन्न होने वाले वीर्य की रक्षा करना। ब्रह्मचर्य का दूसरा मनोलक्षी अर्थ है—मन की वासनारहित पवित्र स्थिति। वीर्य-रक्षा के अगणित लाभ, धर्म, शरीरविज्ञान एवं आरोग्यशास्त्र आदि की दृष्टि से सुप्रसिद्ध होते हुए भी ब्रह्मचर्य अर्थात् वीर्यरक्षा से स्वास्थ्य आदि की हानि होती है, ऐसा कहना मूर्खता की पराकाष्ठा है।

कुश्ती की प्रतियोगिताओं में भाग लेने वाले विख्यात पहलवानों को स्वास्थ्य-रक्षण एवं शक्ति के संचय के लिए कामावेग उत्पन्न करने वाली सभी बातों से दूर रहने के नियम का विशेष रूप से पालन करना अनिवार्य होता है। इससे सिद्ध होता है कि वीर्यरक्षा स्वास्थ्य के लिए पोषक है, जबकि वीर्यनाश घातक है। कुछ विदेशी विचारकों के मत भी इस सम्बन्ध में मनन करने योग्य है।

'सर जेम्स मैगट' का मत है कि "जिस प्रकार पवित्रता से आत्मा को कोई हानि नहीं पहुँचती, उसी प्रकार शरीर को भी कोई क्षति नहीं होती। इन्द्रियसंयम सबसे उत्तम आचरण है।"

'डाक्टर मौण्टेगजा' ने अपनी पुस्तक में लिखा है—"ब्रह्मचर्य से होने वाले रोग मैंने नहीं देखे। साधारणतया सभी लोग और विशेष रूप से नवयुवक ब्रह्मचर्य से होने वाले लाभों का तुरन्त ही अनुभव कर सकते हैं।"

'डा० पेरियर' कहते हैं—"नवयुवकों के लिए ब्रह्मचर्य—शारीरिक, मानसिक तथा नैतिक, तीनों दृष्टियों से उनकी रक्षा करने वाली वस्तु है।"

'सर एण्डरू क्लार्क' कहते हैं—"संयम (ब्रह्मचर्य) से कोई हानि नहीं पहुँचती और न वह मनुष्य के स्वाभाविक विकास को ही रोकता है। वह तो बल को बढ़ाता और बुद्धि को तीव्र करता है। असंयम से आत्मशासन जाता रहता है, आलस्य बढ़ता है और शरीर ऐसे रोगों का घर बन जाता है, जो भविष्य में सन्तानों पर भी प्रभाव डालते चले जाते हैं। यह कहना कि विषयभोग नवयुवकों के लिए जरूरी है केवल भूल ही नहीं, वरन् उनके प्रति निर्दयता भी है।"

"कुछ लोगों ने युवकों के आत्मसंयम के खतरों के विषय में अनुचित और निराधार बातें कही हैं," यह लिखने के बाद प्रो० एल्फ्रेड फोर्नियर ब्रूशेल्स नगर में १९०२ ई० में हुई संसारभर के बड़े-बड़े डाक्टरों की सभा में स्वीकृत हुए इस प्रस्ताव को उद्धृत करते हैं—"नवयुवकों को यह शिक्षा देनी चाहिए कि ब्रह्मचर्य के पालन से उनके स्वास्थ्य को कोई हानि नहीं पहुँच सकती, वरन् वैद्यक और शरीरशास्त्र की दृष्टि से तो ब्रह्मचर्य एक ऐसी वस्तु है, जिसका बड़ी प्रबलता से समर्थन किया जाना चाहिए।"[1]

---

१ आत्मसंयम, पृ० ९४ से ९७

नूतन जीवशास्त्र के प्रसिद्ध लेखक डॉ० काउएन एम० डी० कहते हैं—"ब्रह्मचारी को कभी ज्ञात ही नहीं होता कि व्याधिग्रस्त दिवस कैसा होता है। उसकी पाचन शक्ति सदैव नियमित होती है। उसकी वृद्धावस्था बाल्यावस्था जैसी ही आनन्दमयी होती है।"

'डॉ० लोरेंजो' का कहना है कि "यदि प्राण और आरोग्यदायक तत्त्व को विषयवासनात्मक विचारों और कृत्यों से भ्रष्ट न किया जाए तो उस मनुष्य के शरीर पर आक्रमण करने वाले समस्त रोगों के खिलाफ वह (ब्रह्मचर्य) बख्तर बन जाता है। इतना ही नहीं, वह मोक्षदायक भी होता है।"

स्वामी शिवानन्द सरस्वती कहते हैं—"जो मनुष्य वीर्य-रक्षा करता है, यदि वह रोगग्रस्त होता है, तो भी उसकी जीवनी शक्ति वीर्य संचय के कारण प्रबल होने से उसका रोग गम्भीर रूप धारण नहीं कर सकता। इस कारण वह शीघ्र ही स्वस्थ हो जाता है। उसे रोग के कारण आई हुई कमजोरी भी अधिक समय तक टिक नहीं सकती। यदि अब्रह्मचारी एक महीने में रोगमुक्त हो जाता है, तो ब्रह्मचारी सप्ताह भर में स्वस्थ हो जाता है।

डॉ० जटाशंकर नान्दी स्वानुभव के आधार पर कहते हैं—"जिन रोगियों ने चिकित्सा के दौरान ब्रह्मचर्य-पालन किया था, वे शीघ्र ही रोगमुक्त हो गये थे, तथा उनके रोगजनित कष्टदायक चिह्न अल्पकष्टदायक हो गये थे।"[1]

कुछ वर्षों पूर्व किसी ईसाई विश्वविद्यालय के चिकित्सा विभाग के सभी अध्यापकों ने सर्वसम्मति से घोषणा की थी कि "यह कहना बिलकुल निराधार है कि ब्रह्मचर्य स्वास्थ्य के लिए कभी हानिकारक हो सकता है। यह बात हम अपने अनुभव और ज्ञान के बल पर कहते हैं। हमारे विचार में इस प्रकार के (ब्रह्मचर्यमय) जीवन से कभी कोई हानि होती नहीं पाई गई।"

डॉ० 'वीरी' का यह कथन नितान्त सत्य है कि "....कोई लेखक यह नहीं लिखता कि अस्थायी या स्थायी किसी भी प्रकार के संयम (ब्रह्मचर्य) के फलस्वरूप अमुक छोटा या बड़ा, किसी भी प्रकार का कोई रोग हो सकता है।... जो (काम) वृत्ति इस प्रकार सरलता से रोकी जा सकती है, वह न तो आवश्यक है और न स्वाभाविक ही।...."

प्रोफेसर 'लायनेल विली' कहते हैं—"श्रेष्ठ और सभ्य मनुष्यों के उदाहरणों ने अनेक बार सिद्ध कर दिया है कि बड़े से बड़े विकार भी सच्चे और पुष्ट हृदय से तथा रहन-सहन के विषय में उचित सावधानी रखने से रोके जा सकते हैं।"

स्विट्जरलैण्ड का मनोवैज्ञानिक 'फोरल' कहता है—"विषय सम्बन्धी सभी उत्तेजक बातों से बचे रहने से उनका प्रभाव मन्द हो जाता है और विषय-वासना

---

१ ब्रह्मचर्य मार्गोपदेशिका, पृ० ३१।

धीरे-धीरे कम हो जाती है। प्रायः युवक यह समझते हैं कि विषयनिग्रह करना एक असाधारण एवं असम्भव कार्य है, किन्तु जो संयम से रहते हैं, वे लोग सिद्ध करते हैं कि बिना स्वास्थ्य बिगाड़े भी पवित्र जीवन व्यतीत किया जा सकता है।"

इन उद्धरणों से यह भलीभाँति समझा जा सकता है कि संसार के समाज-शास्त्री, आरोग्यशास्त्री और नीतिशास्त्री सभी एकमत से स्वीकार करते हैं कि विषयेच्छा भी नींद और भूख के समान कोई ऐसी वस्तु नहीं, जिसकी तृप्ति अनिवार्य हो। सामान्यतः सभी नर-नारियों के लिए, बिना किसी बड़ी कठिनाई या दुःख के ब्रह्मचर्य-पालन सरल है। सामान्यतया ब्रह्मचर्य से कभी कोई रोग नहीं होता; इसके विपरीत बहुत-से भयंकर रोगों की उत्पत्ति असंयम से होती है।

ये सब अब्रह्मचर्य की देन हैं

कई लोग कुंआरे लड़के-लड़कियों, या विधुर-विधवाओं के निस्तेज एवं निर्बल तथा क्षय आदि रोगों से ग्रस्त शरीर को देखकर यह कह बैठते हैं कि "इन सबका शरीर ब्रह्मचर्य-पालन करने के कारण ही ऐसा है। इसलिए ब्रह्मचर्य स्वास्थ्य के लिए हानिकारक है।"

किन्तु दीर्घ दृष्टि एवं गहन अनुभव के आधार पर विचार किया जाए तो इन सबके निस्तेज, निर्बल एवं रोगग्रस्त शरीर का कारण ब्रह्मचर्य नहीं, अपितु गुप्त रूप से ब्रह्मचर्य-भंग है। ऐसे लोग या तो कामवासनामय वातावरण में रहते हैं, अथवा गुप्त रूप से जाने-अनजाने वीर्यनाश करते हैं, अथवा सिनेमा, अश्लील कामोत्तेजक साहित्य आदि दर्शन, श्रवण, पठन आदि के कारण मानसिक दृष्टि से ब्रह्मचर्य का पालन नहीं कर पाते, अन्दर ही अन्दर शरीर घुल जाता है, वीर्य नष्ट होता जाता है, इस कारण शरीर निर्बल और रोगी बन जाता है। जो लोग ऊपर से ब्रह्मचारी कहलाते हैं, किन्तु उनके मन में कामवासना घुड़दौड़ मचाती रहती है। ऐसे लोग अनिच्छा से या बाध्य होकर वीर्य रक्षा करने में सफल नहीं होते, फलतः स्वप्नदोष या हस्तमैथुन आदि से शरीर से अस्वाभाविक वीर्यपात होने के कारण रुग्णता, दुर्बलता अथवा स्वास्थ्य हानि होती है, यह सब ब्रह्मचर्य की नहीं, अब्रह्मचर्य की देन है।

कई लोग उपर्युक्त स्थिति देखकर झटपट कह बैठते हैं, माना कि यह नुकसान ब्रह्मचर्य से नहीं, ब्रह्मचर्य के लिए किये जाने वाले निष्फल प्रयत्नों से होता है। परन्तु इस कथन में सचाई कम है। ब्रह्मचर्य के लिए जाने वाले प्रयत्नों से मिलने वाली निष्फलता में उपर्युक्त हानि प्रतीत होती लगे, परन्तु अगर ब्रह्मचर्य के प्रति पूर्ण श्रद्धा हो, उसका स्वरूप समझकर जागृतिपूर्वक पालन किया जाए तो भले ही प्रथम प्रयत्न में निष्फलता दिखाई दे, परन्तु सघन पुरुषार्थ से अन्त में ब्रह्मचर्य में सफलता मिलती ही है। योगी अरविन्द के अनुसार Failures are the pillars of success. निष्फलताएँ सफलता के स्तम्भ हैं। अर्थात् —दृढ़तापूर्वक प्रयत्न करने से अन्त में इष्ट की

प्राप्ति होती है। निष्कर्ष यह है कि सम्पूर्ण सफलता की श्रद्धा के साथ ब्रह्मचर्य-साधना करने से अवश्य विजय प्राप्त होती है। साहस में विवेक तो होना चाहिए, किन्तु निष्कारण भयभीत होकर साहस से दूर रहने वाला कभी ब्रह्मचर्य में सफलता प्राप्त नहीं कर सकता।

यों तो संसार व्यवहार के प्रत्येक कार्य में कष्ट होता है। कई कार्यों में अनिच्छा से भी कष्ट सहना होता है। इसकी अपेक्षा मोक्ष सुख के लिए काम-वासना का दमन करके ब्रह्मचर्य-पालन करने हेतु थोड़ा-सा कष्ट सहना पड़े तो उससे पीछे नहीं हटना चाहिए। 'प्रोफेसर अस्टलनं' के मतानुसार—"काम-वासना इतनी प्रबल नहीं होती, जिसका नैतिकबल से पूर्णतया दमन न किया जा सके।"

कई डॉक्टर, ब्रह्मचारी की निर्बलता या बीमारी का कारण उसके ब्रह्मचर्य को मानते हैं, जबकि अब्रह्मचारी लोगों को वैसी ही निर्बलता या बीमारी होती है, तो उसके दूसरे अनेक कारण बताते हैं, तो फिर ब्रह्मचारी की बीमारी या निर्बलता का कारण ब्रह्मचर्य-पालन को मानना कहां तक उचित है? उसके भी बीमारी या निर्बलता के कारण ब्रह्मचर्य के सिवाय अन्य हो सकते हैं।

काम-वासना प्राकृतिक आवेग भी नहीं

जैनधर्म या हिन्दूधर्म अपनी धार्मिक क्रियाओं के बीच बड़ी नीति, लघुनीति (पेशाब), छींक, जंभाई, खांसी जैसी प्राकृतिक हाजतों का निवारण करने की छूट देता है। वह इसलिए कि शरीर—स्वास्थ्य सुरक्षित रहे, किन्तु किसी भी धार्मिक क्रिया में अब्रह्मचर्य-सेवन की छूट नहीं दी जाती। यदि कामवासना प्राकृतिक हाजत होती कि जिसका निवारण किये (भोगे) बिना शरीर को कुछ नुकसान होता तो धर्म-चिन्तकों ने अवश्य ही उसकी छूट दी होती। इससे यह सिद्ध होता कि कामवासना (अब्रह्मचर्य) को कोई भी धर्म प्राकृतिक आवेग नहीं मानता।

यों तो क्रोध भी जीवशास्त्र की दृष्टि से एक प्राकृतिक आवेग है, परन्तु कोई भी शास्त्र या नीति, क्रोधावेग के क्षणों में किसी की हत्या कर डालने को उचित या स्वाभाविक नहीं मानती। इसी प्रकार काम के आवेग के वश होकर वीर्यनाश कर डालने को भी उचित या स्वाभाविक नहीं कहा जा सकता।

ब्रह्मचर्य बन्धन नहीं, स्वैच्छिक नियमन है

कई अज्ञानी या नास्तिक लोग ब्रह्मचर्य को बन्धन या बलात् नियंत्रण कह देते हैं, किन्तु ब्रह्मचर्य किसी प्रकार का किसी के द्वारा लादा हुआ नियंत्रण नहीं है, अपितु स्वैच्छिक नियमन है जिससे शारीरिक, पारिवारिक, सामाजिक और राष्ट्रीय व्यवस्था सुचारु रूप से चल सकती है। गुजरात के प्रसिद्ध सर्वोदय-सेवक ब्रह्मचर्यनिष्ठ श्री बबलभाई मेहता के इस प्रकार के स्वैच्छिक नियमन (बन्धन) के सम्बन्ध में निम्न-लिखित स्वर्ण-सूत्र मननीय है—

१. सितार बन्धनों से बंधी हुई है, इसलिए इसमें से मधुर स्वर निकलता है।

२. कुटुम्ब बन्धनों (मर्यादाओं) से बंधा हुआ है, इसीलिए इसमें से वात्सल्य छन-छनकर आता है।

३. नौका बंधनों से बंधी हुई है, इसी कारण निर्धारित दिशा में दौड़ती है।

४. प्रकृति बन्धनों से बंधी हुई है, इसी कारण वह ऋतुएँ नियमित रूप से देती है।

५. चन्द्र-सूर्य बन्धनों से बद्ध हैं, इसीलिए वे दिन और रात के खेल, दिखाते हैं।

६. तुम्हारा जीवन भी संयम (ब्रह्मचर्य) के बन्धन से बंधा हुआ होना चाहिए।

योगी हो या भोगी : सबके लिए उपयोगी

इस प्रसंग में मैंने विभिन्न पहलुओं से, विभिन्न दृष्टियों से और विभिन्न विचार-धाराओं से ब्रह्मचर्य की सार्वभौम उपयोगिता के विषय में विचार प्रस्तुत किये हैं। उनके अनुसार यह कहा जा सकता है, कि साधु हो या संसारी, योगी हो या भोगी, सबके लिए ब्रह्मचर्य उपयोगी है। जीवन में उसका बहिष्कार करके चलना अपने आप के लिए कब्र खोदना है।

अंग्रेजी में एक कहावत है—A sound mind in a sound body '—अर्थात् स्वस्थ या सशक्त शरीर में, स्वस्थ मन का निवास होता है। साधु या योगी को स्वस्थ मन के लिए आरोग्य की और आरोग्य के लिए ब्रह्मचर्य की आवश्यकता पड़ेगी; जबकि संसारी या भोगी को सांसारिक पदार्थों या विषयों के उपभोग के लिए भी स्वस्थ तन की जरूरत होती है, और स्वस्थ तन के लिए ब्रह्मचर्य—वीर्य-रक्षा की आवश्यकता रहेगी।

सारांश यह है कि क्या त्यागी, क्या योगी, और क्या भोगी, सबके लिए, विशेषत: विद्यार्थी और सुखार्थी दोनों के लिए ब्रह्मचर्य की उपयोगिता निर्विवाद है, अनिवार्य है।

□

२

ब्रह्मचर्य की सार्वभौम अनिवार्यता

परमात्म-दर्शन के लिए ब्रह्मचर्य अनिवार्य

मानव जीवन का चरम लक्ष्य—परमात्मा का—शुद्ध आत्मा का दर्शन है। इसका लक्षणावृत्ति से यह अर्थ हुआ कि परमात्म-स्वरूप का साक्षात्कार करना मानव जीवन का अन्तिम ध्येय है। मनुष्य यह लक्ष्य या ध्येय तभी प्राप्त कर सकता है, जब वह स्वयं विकारों से मुक्त हो।

कामविकार एक प्रबल विकार है, उसे जैन शास्त्रों में 'वेद' कहा गया है, क्योंकि 'काम' अपने आप में नहीं दिखाई देता, वह मनसिज या मनोज (मन में उत्पन्न होने वाला) है। उसका वेदन-संवेदन या अनुभव होता है, इसलिए 'वेद' संज्ञा रखी गई है और उसके तीन भेद किये हैं—स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद। जब तक मनुष्य क्रोधादि चार कषाय, तथा हास्यादि नौ नोकषायों का सर्वथा क्षय नहीं कर लेता, तब तक वह परमात्मस्वरूप (वीतराग) की भूमिका प्राप्त नहीं कर पाता। वीतराग परमात्मा की भूमिका प्राप्त करने के लिए ब्रह्मचर्य का शुद्ध रूप में पालन करना अनिवार्य है।

अखण्ड ब्रह्मचर्य पालने वाला ही ब्रह्म का—ईश्वर का साक्षात्कार कर सकता है। अखण्ड ब्रह्मचारी के कामादि समस्त विकार नष्ट हो जाते हैं। वह समस्त इन्द्रियों और मन के विषय विकारों पर पूर्णतया विजय प्राप्त कर लेता है। इन्द्रियाँ उसे अपने मार्ग से विचलित नहीं कर सकतीं, मन उसे ध्येय मार्ग से भटका नहीं सकता। ऐसी उच्च स्थिति प्राप्त करने के लिए अखण्ड एवं विशुद्ध रूप से ब्रह्मचर्य पालन करना अनिवार्य है। अखण्ड ब्रह्मचर्यनिष्ठ का मन एवं इन्द्रियाँ आत्मा या परमात्मा की सेवा में सतत संलग्न रहती हैं। जिसके मन-मस्तिष्क में काम-वासना या विकारों का एक कण भी प्रविष्ट नहीं हो सकता, वीर्य की एक बूँद भी वह विषयभोग के कुपथ में व्यय नहीं करता, ऐसा अखण्ड ब्रह्मचारी देहाध्यास एवं शरीर से सम्बन्धित परभावों से सर्वथा दूर रहता है। रोग, शोक, चिन्ता, दुःख, भय आदि तो उसके पास सहसा नहीं फटकते। बल्कि वह अपने संकल्पबल से रोगों या अन्य दुःखों को या तो निर्मूल कर देता है, अथवा समभाव से रोगादि जनित

वेदना एवं दुःख को सहकर रोगादि के मूल उत्पादक कर्मों को ही नष्ट कर देता है। आत्मा की समस्त शक्तियाँ उसमें आकर बस जाती हैं। उसका ज्ञान, दर्शन और चारित्र शुद्ध एवं उज्ज्वलतर हो जाता है। यह सब ब्रह्मचर्य की ही देन है। पूर्ण ब्रह्मचर्य के बिना परमात्म-साक्षात्कार कदापि सम्भव नहीं। अथर्ववेद के एक सूक्त में इसी बात का समर्थन किया गया है—

"ब्रह्मचर्यव्रत को धारण करने वाला प्रकाशमान ब्रह्म (परम-आत्मा) को धारण कर लेता है, फिर उसमें समस्त देवता (दिव्य शक्तियाँ) ओत-प्रोत होते हैं, अर्थात् वह समस्त दैवी शक्तियों का भण्डार बन जाता है।"[1]

इसी प्रकार भारद्वाज ऋषि कहते हैं—"ब्रह्मचर्य से ही ब्रह्मस्वरूप के दर्शन होते हैं। हे प्रभो! निष्कामता प्रदान करके इस दास पर कृपा कीजिए।"

महाभारत में वेदव्यास का कथन है—"ब्रह्मचर्य के प्रभाव से ही जीवात्मा परमात्मा में लीन हो जाता है।"

नारदभक्ति सूत्र भी इस बात का साक्षी है कि—"ब्रह्मपद प्राप्त करने का आधार ब्रह्मचर्य ही है। जिसे अक्षय पुण्य प्राप्त करना हो उसे ब्रह्मचर्यनिष्ठ जीवन बिताना चाहिए।"

ये सब प्रमाण एकस्वर से यह सिद्ध कर रहे हैं कि परमात्म-दर्शन या परमात्मलीनता के लिए ब्रह्मचर्य अनिवार्य है।

आत्मदर्शन भी ब्रह्मचर्य से ही सम्भव है

ब्रह्मचर्य के लक्षण को देखने पर यह कथमपि नहीं कहा जा सकता कि आत्मा का दर्शन ब्रह्मचर्य के बिना संभव है।

'पद्मनन्दिपंचविंशतिका' में ब्रह्मचर्य का लक्षण यह किया गया है—ब्रह्म शब्द का अर्थ निर्मल ज्ञानस्वरूप आत्मा है। उस आत्मा में लीन होना ब्रह्मचर्य है।"[2]

भगवती आराधना में भी इसी प्रकार की व्याख्या मिलती है। ब्रह्मचर्य के इस तात्त्विक स्वरूप के अनुसार ब्रह्म में अर्थात् आत्मस्वरूप में चर्य—रमणता करनी हो तो मानव के मन, बुद्धि, शरीर और इन्द्रियों में किंचित् भी विकार वृत्ति नहीं होनी चाहिए। अतः यह स्पष्ट है कि आत्मस्वरूप में रमण—चर्या करने के लिए स्वाभाविक रूप से कामविकार का अभाव अर्थात्—वीर्यरक्षा रूप स्थूल ब्रह्मचर्य फलित होता है। शुद्ध आत्मभाव में चर्या—गति करने पर यह स्वाभाविक है कि वह समस्त परभावों से रहित होगा। जैसे—पूर्व दिशा की ओर दृष्टि लगी हुई हो, तब पश्चिम दिशा की ओर देखने की क्रिया का स्वतः अभाव हो जाता है। ऐसी स्थिति

---

१. 'ब्रह्मचारी ब्रह्म भ्राजद् बिभर्ति, तस्मिन् देवा अधिविश्वे समोताः।
—अथर्व ११।५।२

२. 'आत्मा ब्रह्म विविक्त बोधनिलयो यत्तत्र चर्या परः।
—पद्मनन्दि पंचविंशतिका १२।८

में आत्मा के शुद्ध स्वरूप का दर्शन स्वतः हो जाता है। निष्कर्ष यह निकला कि शुद्धात्मभाव में रमणता, गति या दर्शन के लिए ब्रह्मचर्य अनिवार्य है।

ब्रह्मचर्य के बिना शुद्ध आत्मभाव की ज्योति जीवन में नहीं झलकती। कारण यह है कि साधक जब शुद्ध आत्मभाव में रमण या विचरण करता है, विकार के रूप में जो परभाव हैं, अब्रह्मचर्य हैं, उनका दमन करना आवश्यक हो जाता है। इसे थोड़ा सा और स्पष्ट कर दें। देखा यह जाता है कि साधक बड़ी आसानी से बाह्य क्रियाकाण्ड कर लेता है। तिलक-छापे लगाकर, माला हाथ में लेकर, जटाएँ बढ़ाकर या सिर मुड़ाकर बाह्य दृष्टि से पूरा धार्मिक बन जाता है, लोगों की प्रतीति के लिए पूर्ण ब्रह्मचर्य की प्रतिज्ञा भी ले लेता है, किन्तु क्या वास्तव में उसका ब्रह्मचर्य पूर्ण हो गया है? विकारों के साथ उसका अन्तर्द्वन्द्व क्या समाप्त हो गया है? यह देखना चाहिए। विकारों के साथ उसका अन्तःसंघर्ष बार-बार होता है। उस समय तात्त्विक ब्रह्मचर्य ही एक ऐसा सम्बल है, जो साधक को ब्रह्मचर्य में स्थिर रख सकता है। अन्यथा, इस कठोर ब्रह्मचर्य के मार्ग पर विरला ही टिक पाता है। जब साधक तात्त्विक ब्रह्मचर्य द्वारा मन की धारा को अपने अधिकार में रखता है, वह जिधर चाहता है, उधर ही मन, इन्द्रियां और शरीर दौड़ते हैं, समग्र तन, मन, वचन उसके वश में हैं, उसकी आज्ञा के बिना वे एक क्षण के लिए भी इधर-उधर नहीं हो सकते। सेना में जैसे सेनापति के जरा से आदेश पर हजारों तलवारें एक साथ म्यान से बाहर निकल जाती हैं, और तत्काल उसके दूसरे आदेश पर वे तलवारें म्यान में रख दी जाती हैं। युद्ध के मोर्चे पर ऐसा अनुशासन होता है। इसी प्रकार का अनुशासन या नियन्त्रण जिस आत्मा का अपने अधीनस्थ शरीर, मन आदि पर होता है या अपने विचारों या इच्छाओं पर होता है; अर्थात् जब साधक अपने इन्द्रिय, तन, मन और वचन को आत्मा के केन्द्र पर ले आता है, अपने समस्त व्यापारों को आत्मा में केन्द्रित कर देता है, आत्मा की सारी शक्तियाँ स्वयं में केन्द्रित हो जाती हैं, तभी कहा जाता है कि ब्रह्मचर्य सिद्ध हो गया। इसे ही आध्यात्मिक भाषा में आत्मस्वरूप-दर्शन कहते हैं। एक तरह से ब्रह्मचर्य का सिद्ध होना ही आत्मदर्शन है। ऐसी स्थिति में साधक अपने तन, मन, वचन, जीवन और इन्द्रियों पर तथा आत्मा के वैभाविक परिणामों—राग-द्वेष, कषायादि पर ठीक रूप से अधिकार कर लेता है। यही आत्मदर्शन की स्थिति है, ब्रह्म में स्थिरता की—स्थितप्रज्ञता की स्थिति है।

गीता की भाषा में कहें तो—

"एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ ! नैनां प्राप्य विमुह्यति।"[1]

—हे अर्जुन ! यही ब्राह्मी स्थिति है, इसे पाकर साधक विमूढ़ नहीं होता।

आत्मदर्शन के लिए ब्रह्मचर्य को मुण्डकोपनिषद् में अनिवार्य बताया है—

---

१. भगवद्गीता अ. २, श्लो. ७२

"यह (शुद्ध) आत्मा सत्य, तप, सम्यग्ज्ञान और **ब्रह्मचर्य** से ही प्राप्त किया जा सकता है। दोषहीन यति (संयमी जीवन व्यतीत करने वाले) उस आत्मा के दर्शन कर पाते हैं। यह ज्योतिर्मय शुभ्र आत्मा इसी शरीर के अन्दर विद्यमान है।'[1]

गीता की भाषा में कहूं तो—

"यदि आत्मा चाहिए तो ब्रह्मचर्य का आचरण करो।'[2]

निष्कर्ष यह है कि ब्राह्मी स्थिति, आत्मदर्शन या आत्म-प्राप्ति के लिए ब्रह्मचर्य का पालन करना अनिवार्य है।

आध्यात्मिक परिपूर्णता के लिए ब्रह्मचर्य अनिवार्य

आत्मा में ज्ञान, दर्शन, चारित्र, सुख और वीर्य आदि निजगुणों तथा इनके अन्तर्गत क्षमा, मैत्री, संयम, करुणा, प्रमोद, माध्यस्थ्य, वीतरागता, समता, सत्य, अहिंसा आदि आत्मिक गुणों का पूर्ण विकास हो जाना ही आध्यात्मिक परिपूर्णता है। आध्यात्मिक परिपूर्णता आजाने पर साधक विषयों के प्रति राग-द्वेष से तथा कषायों, नोकषायों आदि समस्त विकारों से सर्वथा दूर हो जाता है। ऐसी आध्यात्मिक पूर्णता ब्रह्मचर्य के बिना असम्भव है।

ब्रह्मचर्य की साधना अपने आप में अध्यात्म साधना है। यह केवल मन पर संयम करने की या समस्त इन्द्रियों पर संयम करने की ही साधना नहीं है, अपितु आत्मा जहाँ-जहाँ वैभाविक गुणों में भटकती है, वहाँ-वहाँ से उसे हटाकर स्वाभाविक आत्म-गुणों में लाना, ब्रह्मचर्य की ही विराट् साधना है।

संसारी आत्मा में मलिनता भी है, निर्मलता भी। ये दोनों आत्मा में रहती हैं अवश्य; किन्तु उसमें एक रूप से नहीं हैं। दोनों में से एक स्वभाव है, दूसरा विभाव। दोनों में से जो विभाव है वह हट सकता है स्वभाव नहीं; क्योंकि मलिनता बाहर से आई है, निर्मलता बाहर से नहीं आई। जैन दृष्टि से आत्मा विभाव के कारण अशुद्ध दशा में है पर उसे शुद्ध किया जा सकता है। किसके द्वारा? ब्रह्मचर्य विज्ञान के द्वारा। स्वभाव और विभाव का या जड़ या चेतन का अथवा आत्मा एवं आत्मगुण तथा शरीर एवं शरीर सम्बन्धित वस्तुओं का भेदविज्ञान ही ब्रह्मचर्य विज्ञान है। आत्मगुणों की परिपूर्णता के लिए इसी ब्रह्मचर्य विज्ञान की आवश्यकता है। क्रोधादि कषाय, विषय-वासना आदि विकार आत्मा में मालूम होते हैं, वे आत्मा के स्वभाव नहीं है, विभाव हैं। 'ये मेरे नहीं है, और न ही मैं इनका हूँ।' इस प्रकार की अध्यात्मनिष्ठा ब्रह्मचर्य विज्ञान से ही प्राप्त हो सकती है।

---

१. सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्।
अन्तःशरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो, यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः॥
—मुण्डकोपनिषद् ३ १।५

२. यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति। —भगवद्गीता अ. ८ श्लो. ११

भगवान महावीर ने शरीर और शरीर से सम्बन्धित परभावों को आत्मा एवं आत्मगुणों से पृथक् समझकर ब्रह्मचर्य विज्ञान की सहायता से भेदविज्ञान प्राप्त कर लिया था। इसीलिए उन्होंने भगवान् पार्श्वनाथ के चातुर्याम रूप धर्म के बदले पंचमहाव्रतरूप धर्म का विधान किया। 'ब्रह्मचर्य' को उन्होंने अपरिग्रह में समाविष्ट न करके एक स्वतन्त्र व्रत के रूप में स्थान दिया। उसके पीछे उनका उद्देश्य ब्रह्मचर्य से केवल वीर्य-रक्षा ही नहीं था, अपितु आध्यात्मिक गुणों की परिपूर्णता पर पहुँचना था। यही कारण है कि उन्होंने शील (ब्रह्मचर्य) के १८००० रूप (अंग) बताये; जो अध्यात्म-परिपूर्णता के परिचायक हैं। इस अठारह हजार शीलांगरथ में क्रोधादि कषाय विजय, चार संज्ञाओं, पंचेन्द्रिय विषयों पर अनासक्ति, दशविध श्रमण धर्म, तीन शुभयोग, एवं तीन करण आदि समस्त अध्यात्म गुण मिलकर ब्रह्मचर्य के १८००० प्रकार हो जाते हैं। ब्रह्मचर्य के सम्बन्ध में यह बहुत विराट चिन्तन है जिसकी सीमाएँ समस्त आत्म-गुणों को परिवेष्टित करती हैं।

सभी व्रतों आदि की आराधना के लिए ब्रह्मचर्य आवश्यक

जैनधर्म-शास्त्रों में मुख्य ५ व्रत बताये हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। योगदर्शन आदि अन्यान्य दर्शनों ने भी व्रतों का यही क्रम माना है। इनमें ब्रह्मचर्य का स्थान चौथा है।

स्थानांग आदि सूत्रों में तथा जैनाचार्यों ने इन पांचों में मुख्यता अहिंसा को दी है। अहिंसा के ग्रहण से सभी व्रतों का ग्रहण हो जाता है, सत्य आदि व्रत उसी की रक्षा के लिए है। जैनाचार्यों ने भी कहा—"व्रत तो एक ही है—प्राणातिपात-विरमणव्रत (अहिंसाव्रत) सभी जिनवरों ने इस एक ही व्रत का मुख्यतया निर्देश किया है। अन्य सब व्रत उसकी रक्षा के लिए हैं।"[2]

अहिंसा और ब्रह्मचर्य

इसी तरह महात्मा गांधी ने भी लिखा है "पतंजलि भगवान् के द्वारा निर्दिष्ट पांच महाव्रतों में से " चार तो सत्य में छिपे हुए हैं। सब व्रत सत्य के पालन में से निकाले जा सकते हैं।"··· ···फिर उन्होंने कहा—"अहिंसा को हम साधन मानें, सत्य को साध्य।···· आगे उन्होंने कहा—"(ब्रह्मचर्य आदि) दूसरे सब व्रत सत्य से उत्पन्न होते हैं और उसी के लिए उनका अस्तित्व रहा है।[3] जो मनुष्य सत्य का प्रण किये

---

१ 'अट्ठारससहस्स सीलंग रहधारा····। —आवश्यक सूत्र—श्रमणसूत्रपाठ

२ (क) अहिंसाग्गहणे पंचमहव्वयाणि गहियाणि भवंति,···· ····।—दशवै.अ.१ चूर्णि
(ख) एक्कंचिय एक्कवयं निद्दिट्ठं जिणवरेहि सव्वेहिं।
पाणाइवाइयविरमण सव्वतस्स रक्खट्ठा ॥

३ (क) सप्त महाव्रत, पृ. ८
(ख) आत्मसंयम, पृ. २६.

हुए है, वह उसी की उपासना करता है। और यदि वह किसी भी दूसरी चीज की आराधना करता है, तो (वह) व्यभिचारी (अब्रह्मचारी) ठहरता है। इस दशा में (कामादि) विकार की आराधना क्योंकर की जा सकती है ?....भोग-विलास के द्वारा किसी को सत्य की प्राप्ति हुई हो ऐसी एक भी मिसाल हमारे पास नहीं है।"

"अहिंसा-पालन को लें तो उसका सम्पूर्ण पालन भी ब्रह्मचर्य के बिना अशक्य है। अहिंसा के मानी हैं—सर्वव्यापी प्रेम। पुरुष के द्वारा एक स्त्री को, या स्त्री के द्वारा एक पुरुष को अपना प्रेम अर्पण कर चुकने पर उसके पास दूसरे के लिए क्या रहा ?.....उससे सर्वव्यापी प्रेम का पालन हो ही नहीं सकता। वह सारी सृष्टि को अपना कुटुम्ब बना ही नहीं सकता, क्योंकि उसके पास उसका अपना माना माना हुआ कुटुम्ब है।"[1]

इसका निष्कर्ष यह है कि सत्य और अहिंसा के पालन के लिए ब्रह्मचर्य का पालन अनिवार्य है। अहिंसा और सत्य के पालन में ब्रह्मचर्य प्रबल साधन है।

इसीलिए प्रश्नव्याकरण सूत्र में स्पष्ट कहा गया है—"जिस ब्रह्मचर्य की आराधना से सभी व्रत आराधित होते हैं। ब्रह्मचर्य की आराधना के साथ-साथ शील, तप, विनय, संयम, क्षमा, निर्लोभता तथा गुप्ति, इन सभी की आराधना हो जाती है।.....अतः निपुण साधक को ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए।"[2] इसका फलितार्थ यह है कि जिसने एक ब्रह्मचर्य-व्रत की आराधना कर ली, उसने सभी उत्कृष्ट व्रतों, नियमों एवं गुणों की आराधना कर ली है, यह समझना चाहिए। यदि ब्रह्मचर्य-व्रत भंग हो गया तो प्रायः अन्य सभी व्रतों का भंग हो जाता है।[3]

जैसे कि ब्रह्मचर्य खण्डित होने पर भावहिंसा और द्रव्य-हिंसा दोनों होती हैं। कषाय और नोकषाय का उत्पन्न होना भावहिंसा है। विषय-भोगों का चिन्तन, उनमें आसक्ति, आसक्ति से काम की उत्पत्ति, काम से क्रोधोत्पत्ति, क्रोध से सम्मोह, सम्मोह से स्मृति-भ्रष्टता, स्मृतिभ्रंश से बुद्धिनाश और बुद्धिनाश से विनाश हो जाता है।[3] अब्रह्मचर्य की इस प्रक्रिया में विषय-चिन्तन से लेकर आसक्ति; काम, क्रोध, मोह, मूर्च्छा आदि विकार भाव हिंसा हैं, जो कि ब्रह्मचर्य-भंग के कारण होती है।

---

१ आत्मसंयम (गांधीजी), पृ. २६.

२ **"जम्मि य आराहियम्मि आराहियं वयमिणं सव्वं। सीलं तवो य विणओ य संजमो य खंती मुत्ती गुत्ती तहेव.....।' '.. तम्हा निउणेन बंभचेरं चरियव्वं।"**

—प्रश्नव्याकरण, संवर. ४ सू० १

३ ध्यायतो विषयान् पुंसः, संगस्तेषूपजायते।
संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते॥
क्रोधाद् भवति सम्मोहः सम्मोहात् स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥

—गीता अ.२, श्लोक ६२-६३

भगवती सूत्र, योगशास्त्र आदि के अनुसार अब्रह्मचर्य से द्रव्यहिंसा भी होती है, क्योंकि मैथुन-सेवन से स्त्री-योनि में नौ लाख जन्तुओं की उत्पत्ति होती है, उनमें प्रायः एक-दो के सिवाय शेष सभी जीव मर जाते हैं। इसीलिए ब्रह्मचर्य-भंग से द्रव्य हिंसा भी होती है। कामोद्रेक के कारण अनंगरमण आदि में जो राग आदि उत्पन्न होते हैं, वहाँ भाव हिंसा होती है।[1]

निष्कर्ष यह है कि ब्रह्मचर्य की आराधना होने पर द्रव्य और भाव से अहिंसा की मन-वचन-काया से आराधना होती है, किन्तु ब्रह्मचर्य-भंग होने से द्रव्य-भाव-अहिंसा का भी भंग हो जाता है।

ब्रह्मचर्य ही सत्य है

ब्रह्मचर्य का अर्थ है—विषयादि विभाव को छोड़कर आत्मभाव में रमण करना। असत्य यह है कि आत्मभाव को छोड़कर विषय-कषायादि विभाव में रमण करना, और यही भाव-ब्रह्मचर्य का भंग है। अर्थात् भाव-ब्रह्मचर्य का भंग होने से भाव-सत्य का भंग हो जाता है। अब्रह्मचर्य-सेवन से द्रव्य-सत्य भी भंग होता है। क्योंकि ब्रह्मचर्यव्रती ने जो प्रतिज्ञा समाज या गुरु की साक्षी से ली है, उस वचन का भंग होने से सत्य का भंग हुआ। इस प्रकार ब्रह्मचर्य-भंग से सत्यव्रत का भी भंग हो गया।

ब्रह्मचर्य-भंग प्रभु की चोरी है

ब्रह्मचर्य-भंग करने वाला तीसरे अदत्तादानविरमण (अचौर्य) व्रत का भंग करता है क्योंकि वह जीव-अदत्त, स्वामी-अदत्त, तीर्थंकर-अदत्त, और गुरु-अदत्त, इन चारों अदत्तादानों (चोरियों) में से वह तीर्थंकर-अदत्त एवं गुरु-अदत्त का ग्रहण करता है। अर्थात्—तीर्थंकर और गुरु की आज्ञा के विरुद्ध किया हुआ कुशीलसेवन वास्तव में उनकी चोरी है। अतः ब्रह्मचर्य-भंग से अचौर्यव्रत का भी भंग हो जाता है। कुशील-सेवन करने से ब्रह्मचर्य-भंग होना तो स्वतःसिद्ध है।

ब्रह्मचर्य-भंग हो परिग्रह-सेवन

अपरिग्रह व्रत का भंग भी मैथुन-सेवन (ब्रह्मचर्य-भंग) से होता है। दशवैकालिक सूत्र में कहा है—

---

१ (क) भगवती सूत्र श.२,उ.५

(ख) हिंस्यन्ते तिलनाल्यां तप्तायसि विनिहते तिला यद्वत्।
बहवो जीवा योनौ हिंस्यन्ते मैथुने तद्वत् ॥
यदपि क्रियते किञ्चिन्मदनोद्रेकादनंगरमणादि।
तत्रापि भवति हिंसा-रागाद्युत्पत्ति-तंत्रत्वात् ॥

—पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय १०८-१०९

मुच्छा परिग्गहो[1] **वुत्तो** अर्थात्—मूर्च्छा को भगवान् ने परिग्रह कहा है। और मैथुन-सेवन मूर्च्छा (मोह, ममता या आसक्ति) के बिना हो नहीं सकता। ऐसी स्थिति में भाव-परिग्रह का सेवन भी अपरिग्रहव्रत और ब्रह्मचर्य व्रत दोनों के भंग का कारण बना।

इससे यह सिद्ध हो जाता है कि ब्रह्मचर्य व्रत के खण्डित हो जाने से दूसरे व्रत, नियम, शील (उपव्रत) आदि भी खण्डित हो जाते हैं।

प्राचीन काल में जो मकान बनते थे, उनकी छत प्रायः शहतीर और कड़ियों पर टिकी होती थी। उसमें से कड़ियाँ टूट जातीं तो मकान की इतनी क्षति नहीं होती थी, किन्तु शहतीर के टूट जाने पर तो सारा मकान ही धराशायी हो जाता था। इसी प्रकार यहाँ भी शहतीर के समान ब्रह्मचर्य व्रत भी टूट जाएगा तो अन्य व्रतरूपी कड़ियाँ भी गिर पड़ेंगी और जीवनरूपी महल की साधनारूपी सारी छत ही ढह जाएगी।

आचार्य पूज्यपाद भी इसी कथन का समर्थन करते हैं—"अहिंसादि गुण जिसके पालन से सुरक्षित रहते या बढ़ते हैं, वह ब्रह्म है, और जिसके होने से अहिंसादि गुण सुरक्षित नहीं रहते, वह अब्रह्म है। अब्रह्म क्या है? वह मैथुन है, जिससे हिंसादि दोषों का पोषण होता है, क्योंकि मैथुन-सेवन में प्रवृत्त जीव स्थावर-चर प्राणियों की हिंसा करता है, मृषावाद का आचरण करता है, अदत्तादान (चोरी) करता है तथा चेतन और अचेतन, दोनों प्रकार के परिग्रह को ग्रहण करता है।"[2]

महात्मा गांधी ने एक बार कहा था—"पांच मुख्य व्रत मेरी आध्यात्मिक साधना के पाँच मुख्य स्तम्भ हैं। ब्रह्मचर्य उनमें से एक है। परन्तु पांचों अविभक्त और सम्बद्ध हैं। वे एक दूसरे से सम्बन्धित और एक दूसरे पर आधारित हैं। यदि उनमें से एक का भी भंग होता है तो सबका भंग होता है।"[3]

"....जब ब्रह्मचर्य को हम अलग कर देते हैं, तो उसका स्थूल पालन भी असम्भव नहीं, तो कठिन अवश्य हो जाता है। अतः यह आवश्यक है कि सब यमों को समान समझकर अपनाया जाए।" एक टूटा कि सब टूटे।....इससे ब्रह्मचर्य के सम्पूर्ण अर्थ और मर्म को हृदयंगम करने में सफलता मिलेगी।"[4]

---

१ दशवैकालिक ६/२०

२ अहिंसादयो गुणा यस्मिन् परिपाल्यमाने बृंहन्ति-वृद्धिमुपयान्ति तद् ब्रह्म। न ब्रह्म अब्रह्म। किं तत्? मैथुनम्। तत्र हिंसादयो दोषाः पुष्यन्ति, यस्मान्मैथुनसेवनप्रवणः स्यात्तांश्चारिष्णून् प्राणिनो हिनस्ति, मृषावादमाचरे, अदत्तमादत्ते, अचेतनमितरं च परिग्रहं गृह्णाति। —तत्वार्थ० ७/१६ सर्वार्थसिद्धि

३ Mahatma Gandhi—The Last Phase, Vol. I, P. 585.

४ 'Harijan' ८ जून १९४७, पृ० १८० के लेख का सारांश।

इसी तथ्य को 'प्रश्नव्याकरणसूत्र' में इस प्रकार समझाया गया है—"एक ब्रह्मचर्य व्रत के भंग होने से सहसा सब गुण या व्रत भंग हो जाते हैं, मर्दित हो जाते हैं, मथित, चूर्णित (चूर-चूर) और कंटकित हो जाते हैं, पर्वत से गिरी हुई वस्तु की तरह टुकड़े-टुकड़े हो जाते हैं, सड़ जाते हैं, विनष्ट हो जाते हैं।"[1]

एक प्राचीन आचार्य ने काल्पनिक दृष्टान्त द्वारा इसे समझाया है—

एक भिखारी को भीख में पाँच रोटी का आटा मिला। वह उससे रोटी बनाने लगा। एक रोटी सेककर उसने चूल्हे के पीछे रख दी। दूसरी रोटी तवे पर सिक रही थी, तीसरी अंगारों पर थी, चौथी रोटी का आटा उसके हाथ में था और पाँचवीं रोटी का गूँधा हुआ आटा कठौती में था। सहसा कहीं से एक कुत्ता आ गया। वह कठौती के आटे को उठाकर भागने लगा। भिखारी उसके पीछे-पीछे दौड़ा। रास्ते में किसी पत्थर की ठोकर खाकर वह गिर पड़ा। उसके हाथ में जो एक रोटी का आटा था, वह नीचे गिर जाने से धूल में मिल गया। वह किसी तरह उठकर घर आया। देखा तो चूल्हे के पीछे रखी हुई रोटी बिल्ली ले गई है। तवे पर रखी रोटी जल गई और अंगारों पर रखी हुई रोटी जलकर खाक हो गई। यों एक रोटी का आटा जाने से बाकी की चार रोटियाँ भी चली गईं। कदाचित् ऐसा न हो, किन्तु यह निश्चित है कि इसी प्रकार एक ब्रह्मचर्य महाव्रत के भंग हो जाने से, शेष चारों महाव्रत भी भंग हो जाते हैं।[2]

इन सबका निष्कर्ष यह है कि शेष चार महाव्रतों के पालन एवं संरक्षण के लिए ब्रह्मचर्य महाव्रत अनिवार्य है।

उच्च साधना में ब्रह्मचर्य अनिवार्य

जो व्यक्ति राष्ट्र-सेवा, समाजसेवा या धर्मसेवा दत्तचित्त होकर करना चाहता है, उसके लिए पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करना अनिवार्य है। महात्मा गांधी इस सम्बन्ध में अधिक स्पष्ट थे। उन्होंने एक जगह लिखा है—"ब्रह्मचर्य विषयक मेरे विचार 'जुलू' में परिपक्व हुए।....यह मैं अच्छी तरह जान गया था कि सेवा के लिए उसकी (पूर्ण ब्रह्मचर्य की) बहुत आवश्यकता है। मैं जानता था कि इस प्रकार की सेवाएँ मुझे दिन-दिन अधिकाधिक करनी पड़ेंगी और मैं यदि भोगविलास में, प्रजोत्पत्ति में और सन्ततिपालन में लगा रहा तो मैं पूरी तरह सेवा न कर सकूँगा। मैं दो घोड़े पर सवारी नहीं कर सकता।... यदि ब्रह्मचर्य का पालन नहीं किया जाएगा तो कुटुम्ब-वृद्धि मनुष्य के उस प्रयत्न की विरोधक हो जाएगी, जो उसे समाज के अभ्युदय के लिए करना चाहिए। परन्तु यदि विवाहित होकर भी (पति-पत्नी दोनों) ब्रह्मचर्य

---

१ "**जंमि य भग्गंमि होइ सहसा सव्वं संभग्ग-मथिय-चुन्निय-कुसल्लिय-पव्वय-पडिय-खंडिय-परिसडिय-विणासियं।**" —प्रश्नव्याकरण, संवर द्वार ४, सू० १

२ 'भिक्षुदृष्टान्त' पृ० ४१ में से।

का पालन करें तो (उनके लिए) कुटुम्ब-सेवा, समाज-सेवा की विरोधक नहीं हो सकती।....इन (ब्रह्मचर्य व्रत लेने के) विचारों से मुझे एक प्रकार का आनन्द हुआ, मेरा उत्साह बढ़ा। इस (पूर्ण ब्रह्मचर्य पालन के) संकल्प ने सेवा का क्षेत्र बहुत विशाल कर दिया।"

महात्मा गांधी ने जब देशसेवा का व्रत लेने का विचार किया, तब उसके साथ-साथ उन्होंने अपनी धर्मपत्नी कस्तूरबा को सम्मत करके पूर्ण ब्रह्मचर्य व्रत भी अंगीकार कर लिया।

वानप्रस्थ साधना के लिए ब्रह्मचर्य अनिवार्य

इसी प्रकार किसी व्यक्ति को वन में रहकर वानप्रस्थ जीवन की साधना करनी हो तो उसके लिए भी ब्रह्मचर्य-पालन अनिवार्य है। श्री रामचन्द्रजी जब वनवास के लिए जाने लगे तो सारी अयोध्या नगरी उनकी विदाई के लिए उमड़ी थी। माता कौशल्या राम के वनगमन से व्यथित थी। नई नवेली वधू सीताजी ने जब यह सुना कि राम वन को जा रहे हैं, तब वह भी वन जाने के लिए अधीर हो उठी। माता कौशल्या ने सीता को राम के साथ वन जाने के लिए रोका, परन्तु वह न मानी। श्रीराम ने सीताजी के समक्ष वनवास के कष्टों और असुविधाओं का भयावह चित्र खींचा और उन्हें अयोध्या में रहने के लिए बहुत समझाया, किन्तु वह किसी तरह न मानी। आखिर, हार कर श्रीराम को, सीताजी को वन में अपने साथ ले जाना पड़ा। परन्तु वनवास काल में १४ वर्षों तक राम और सीता, दोनों साथ-साथ रहते हुए भी पूर्ण ब्रह्मचारी रहे। उन्होंने निश्चित कर लिया कि अगर हमें वानप्रस्थ और तपस्वी जीवन बिताना है, आध्यात्मिक साधना के साथ-साथ वनवासियों की सेवा करनी है तो पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करना अनिवार्य है।

वनवासकालीन साधना के समय श्रीराम यदि ब्रह्मचर्य-पालन न करते और भोगविलास में फंस कर संतानोत्पत्ति में लगे रहते तो वनवासियों और तापसों पर होने वाले राक्षसी तत्वों के उपद्रवों को मिटाने में, तापस और ऋषि-मुनियों की सेवा करने में तथा जनता की समस्या को हल करने में सफल नहीं हो पाते।

श्रीराम के वनवास काल में ब्रह्मचर्य-पालन का पता तो उस समय लगता है, जब रावण द्वारा सीता के अपहरण के बाद सीता की खोज में भटकते हुए श्रीराम को एक जगह सीता के गहने मिले। परन्तु श्रीराम उन गहनों को पहचान नहीं सके कि वास्तव में वे गहने सीता के ही हैं या किसी और के? अतः लक्ष्मण से उन्होंने पूछा कि भैया! यह बताओ कि ये कुण्डल और केयूर (बाजूबंद) जानकी के ही हैं या और किसी के? प्रश्न होता है—जब श्रीराम और सीताजी साथ-साथ रहते थे, तो क्या सीता के गहनों को वे नहीं पहचान सकते थे? इस तथ्य पीछे रहस्य यह है कि सीता और राम साथ-साथ अवश्य रहते थे, परन्तु वे एक दूसरे को ब्रह्मभाव से देखते थे, पति-पत्नी के सम्बन्ध को भूलकर रहते थे। उनकी दृष्टि कामभाव से सीता पर

पड़ती ही नहीं थी। यह है वनवास काल में श्रीराम और सीता द्वारा ब्रह्मचर्य-पालन का प्रमाण!

यह घटना भी जनसेवा साधना के लिए ब्रह्मचर्य की अनिवार्यता सिद्ध करती है।

भ्रातृसेवा के लिए ब्रह्मचर्य

इससे भी आगे बढ़कर था—लक्ष्मण और उर्मिला का भ्रातृसेवा के लिए १४ वर्ष तक ब्रह्मचर्य-पालन का दृढ़ संकल्प!

जिस समय श्रीराम वनगमन के लिए तैयार हो रहे थे, उस समय लक्ष्मण ने सोचा—'बड़ा भाई वन-वन भटकता फिरे और छोटा भाई राजकीय महलों में रहकर भोग विलास का जीवन व्यतीत करे, यह नितान्त अनुचित है। मैं भी राम की सेवा के लिए उनके साथ वन में जाऊंगा।' राम ने लक्ष्मण को बहुत समझाया, परन्तु वह अयोध्या में रहने को तैयार न हुए। कहने लगे—"मैं तो आपके स्नेह में पला हुआ छोटा बच्चा हूँ। मैं आपको छोड़कर अन्यत्र रह नहीं सकता।"

लक्ष्मण ने माता सुमित्रा को भी समझाकर उनसे भी बड़े भाई के साथ वन-गमन की अनुमति प्राप्त कर ली थी। अतः अन्त में राम को भी विवश होकर लक्ष्मण को अपने साथ ले जाने के लिए सम्मत होना पड़ा। तत्पश्चात् लक्ष्मण अपनी नवोढा षोडशी धर्मपत्नी उर्मिला पास अपना निश्चय सुनाने आए और बोले—"मैं अपने बड़े भाई की सेवा के लिए चौदह वर्षों के लिए वनगमन कर रहा हूँ। यह मैंने अन्तिम रूप से निश्चय कर लिया है।"

मृदुल प्रेम और शृंगार भावनाओं से भरी हुई उर्मिला यह सुनकर स्तब्ध हो गई। वह सोचती रही कि पति को क्या उत्तर दे? फिर उर्मिला ने एक सुझाव प्रस्तुत किया—"आप १४ साल के लिए मुझ अकेली को यहीं छोड़ कर जा रहे हैं? आपके बड़े भाई तो अपने साथ वन में भी अपनी धर्मपत्नी को साथ लेकर जारहे हैं तब क्यों न आप भी उनका ही अनुसरण करें? आप भी मुझे अपने साथ ले चलिए।"

सुझाव तर्कपूर्ण और युक्तिसंगत था। लक्ष्मण जी सहसा इसका कोई जवाब न दे सके। कुछ देर तक चुप रहे फिर बोले—"तुम ठीक कहती हो, उर्मिला! पर मैं तो वन में सेवाकार्य के लिए जा रहा हूँ। सेवा में सफलता के लिए संयम, इन्द्रियनिग्रह और ब्रह्मचर्य की बहुत आवश्यकता है। इन्हीं तत्त्वों से सेवा-साधना सफल होती है।"

उर्मिला ने कहा—"मैं आपका वियोग कैसे सह सकूंगी? मुझे क्या करना होगा? मेरे लिए क्या आदेश है?"

लक्ष्मण—"प्रिये! मैं तुम्हारी वियोग व्यथा को समझता हूँ। वियोग-व्यथा के निवारण के लिए मेरे कुछ उपयोगी सुझाव हैं। मेरा आदेश नहीं, सप्रेम अनुरोध है। तुम स्वयं सोचकर देखो कि इस वक्त हमारा क्या कर्त्तव्य है?"

"वह क्या है, नाथ!" उर्मिला ने पूछा।

लक्ष्मण—"उर्मिला! तुम युवती हो। नई-नई उमंगों से भरी हुई हो। यौवन के उद्यान में विचरण कर रही हो। मेरी बातें सम्भव है, तुम्हें अटपटी लगें।"

उर्मिला—"प्रियतम ! आप निःसंकोच कहिये न ! मुझे क्या करना चाहिए ?"

लक्ष्मण—आध्यात्मिक प्रगति एवं उन्नति के लिए, आत्मा को परमात्मा से मिलन की साधना के लिए मनुष्य को ब्रह्मचर्य-पालन करना आवश्यक है। किन्तु ब्रह्मचर्य तभी सिद्ध हो सकता है, जब हमारे समक्ष उच्चतम उद्देश्य हो, निर्विकार विचार और तदनुकूल वातावरण हो, सदाचारी-सत्संग हो।"

उर्मिला—"प्राणनाथ ! क्या आपका संकेत वासनानिग्रह की ओर है ?"

लक्ष्मण—"हाँ-हाँ ! मैं यही कहना चाहता हूँ कि हम दोनों इन १४ वर्षों तक ब्रह्मचर्यपूर्वक रहें, कामसेवन से दूर रहें। पूर्ण ब्रह्मचर्य को सिद्ध करने के लिए मैं बड़े भाई की सेवा में रहकर वन में भोजन-वस्त्र-व्यवस्था, शान्ति, संयम, भाई-भाभी की सेवा आदि कार्यों में संलग्न रहूं और तुम यहाँ माताजी तथा अन्य बड़ों की सेवा में रहो, स्वाध्याय करो, धर्मग्रन्थों का अध्ययन-मनन करो, इन्द्रियनिग्रह करके उच्चकार्यों को करो।"

उर्मिला—"मैंने आपका अभिप्राय समझ लिया है। अब मैंने निश्चय कर लिया है कि जब आप ब्रह्मचारी रहेंगे तो मैं इन महलों में रहकर भी पूर्ण ब्रह्मचारिणी रहूँगी, कदापि कामचिन्तन नहीं करूँगी।"

लक्ष्मण—"उर्मिला ! इतिहास हमें बतलाता है कि जिन व्यक्तियों ने अपने जीवन में ब्रह्मचर्यव्रत का पालन किया है, वे विश्व के महान् व्यक्ति हुए हैं। हमें अपने धर्म, समाज, देश और साहित्य की सेवा करनी हो तो कामसेवन से शक्ति बचा-कर ऐसे ही उत्तम कार्यों में लगानी चाहिए। हमें अपने कुल, धर्म, राष्ट्र और समाज की प्रतिष्ठा के लिए ब्रह्मचर्य का पूर्ण रूप से पालन करना चाहिए। वासनापूर्ति तो जानवरों के लिए है, विवेकशील मनुष्यों के लिए नहीं।"

उर्मिला ने दृढ़तापूर्वक कहा—"प्राणनाथ ! मैं मन, वचन, कर्म से कामसेवन से बचूंगी। स्वप्न में भी वासना का विचार मेरे मन में नहीं आएगा। आप इस क्षत्राणी के संयम पर विश्वास करें।"[1]

पति-पत्नी दोनों के द्वारा लिया हुआ १४ वर्ष तक ब्रह्मचर्य-पालन का संकल्प ध्रुवसंकल्प बन गया। दोनों अपने संकल्प से न डिगे, न तिलभर हटे।

सचमुच, सेवाकार्य के लिए ब्रह्मचर्यपालन अनिवार्य है।

गायत्री-उपासना की उच्चस्तरीय साधना के लिए

गायत्री के छोटे-बड़े अनुष्ठानों के लिए पूर्ण ब्रह्मचर्य-पालन आवश्यक है। आचार्य श्रीराम शर्मा का कहना है कि 'ब्रह्मचर्य का पूर्णरूप से पालन करना अनिवार्य है।' अन्नमय, प्राणमय एवं मनोमय साधना से उत्तरोत्तर बढ़ते-बढ़ते ब्रह्मचर्य का दृढ़ता से पालन करना पड़ता है।

---

१ विनोद और उल्लास की प्रवृत्तियाँ, पृ० ४ (डा० रामचरण महेन्द्र)

मंत्र-तंत्रादि की सिद्धि के लिए भी ब्रह्मचर्य-पालन अनिवार्य है। कई मंत्र ऐसे होते हैं, जिन्हें सिद्ध करने के लिए जपानुष्ठानकाल तक ब्रह्मचर्य का पालन करना पड़ता है, अन्यथा वह मंत्र-तंत्र आदि सिद्ध ही नहीं होगा। वह मंत्र कोई भी निर्धारित कार्य नहीं करेगा। विद्या की देवी सरस्वती का मंत्र सिद्ध करने के लिए ब्रह्मचर्य का पालन करना आवश्यक है।

आध्यात्मिक साधना के लिए ब्रह्मचर्य अनिवार्य

क्षमा, दया, समता, शील, सन्तोष, शान्ति, निर्लोभता आदि की साधना के लिए भी ब्रह्मचर्य पालन आवश्यक है। कई लोग कह देते हैं, इन गुणों के साथ ब्रह्मचर्य का क्या मेल है? परन्तु गहराई से देखा जाए तो जो ब्रह्मचर्य-पालन करता है उसी के विचार उच्च होंगे और वह दूसरों के प्रति निःस्वार्थ भाव से उदारता, मैत्री, क्षमा एवं निर्लोभता का व्यवहार करेगा। यह प्रायः देखा गया है कि जो कामवासनाग्रस्त होता है, कामान्ध होता है, उसमें उदारता, क्षमा, समता, दया, निर्लोभता, निःस्वार्थता आदि गुण प्रायः नहीं पाये जाते। ऐसे लोग अहंकारी, क्रोधी, अनुदार, बात-बात में अपनी शेखी बघारने वाले, लोभी, अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए दूसरों का गला घोंट देने वाले, अशान्त, बेचैन, असन्तुष्ट एवं विषम प्रकृति के होते हैं। इसी-लिए आध्यात्मिक साधना करने वाले निर्ग्रन्थों के लिए अब्रह्मचर्य (मैथुन) से दूर रहने और ब्रह्मचर्य में रत रहने का निर्देश है—

"यह (मैथुन) अधर्म का मूल है, महान् दोषों की उत्पत्ति और वृद्धि का स्थान है। इसीलिए मैथुन संसर्ग को निर्ग्रन्थ मुनि छोड़ते हैं।"[1]

श्रीमद् राजचन्द्र कहते हैं—"सर्वचारित्रसम्पन्नता पर आधिपत्य जमाने के लिए, प्रमाद-निवारण के लिए, आत्मा में अखण्ड वृत्ति (स्वभाव में रमणता) के लिए, मोक्ष सम्बन्धी सर्व प्रकार की साधना में सफलता के लिए ब्रह्मचर्य अद्भुत है, अनुपम सहायक है अथवा इन सब का मूल ब्रह्मचर्य है।"[2]

सर्वगुणों की प्राप्ति के लिए

ब्रह्मचर्य एक ऐसा महाव्रत है तो सूर्य के समान सभी गुणरूपी ग्रहों-उपग्रहों का केन्द्र है। अगर ब्रह्मचर्य है तो उसके इर्दगिर्द धैर्य, गाम्भीर्य, शौच (मानसिक पवित्रता), मानसिक विकास, बौद्धिक प्रतिभा आदि गुण अवश्य ही पनपते हैं। इसीलिए प्रश्नव्याकरण सूत्र में कहा गया है—

अणेगा गुणा अहीणा भवंति, एक्कंमि बंभचेरे।[3]

---

१ मूलमेयमहम्मस्स महादोससमुस्सयं।
तम्हा मेहुणसंसग्गं निग्गंथा वज्जयंति णं॥ —दशवैकालिक अ० ६ गा० १६

२ श्रीमद् राजचन्द्र : मोक्षमाला

३ प्रश्नव्याकरण श्रु० २, सं० ४

अर्थात्—एक ब्रह्मचर्य का पालन करने से अनेक गुण प्राप्त (अधीन) हो जाते हैं।

इसका फलितार्थ यह हुआ कि अनेक गुणों को प्राप्त करने के लिए ब्रह्मचर्य का पालन करना आवश्यक है।

श्री धन्वन्तरि कहते हैं—"ब्रह्मचर्य के पालन से समस्त दुर्गुणों का नाश होता है। जिसे उत्तम धर्म पालना हो, उसे ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए।"

ब्रह्मचर्य की व्याख्या करते हुए आचार्य शीलांक कहते हैं—जिसमें सत्य, तप, भूतदया और इन्द्रियनिरोधरूप ब्रह्म की चर्या—अनुष्ठान हो, उस मौनीन्द्र (जिन) प्रवचन को ब्रह्मचर्य कहते हैं।[1] इसका तात्पर्य यह हुआ कि सत्य, तप, भूतदया एवं इन्द्रियनिरोध के लिए ब्रह्मचर्य (भाव-ब्रह्मचर्य सहित द्रव्य-ब्रह्मचर्य) अनिवार्य है।

मोक्ष-प्राप्ति के लिए अनिवार्य

मोक्ष की साधना के लिए कर्मों का क्षय करना अनिवार्य है। समस्त कर्मों में प्रबल मोहनीय कर्म है। बारहवाँ गुणस्थान प्राप्त करने पर साधक का मोहकर्म सर्वथा क्षय हो जाता है। परन्तु मोहक्षय करने का एक प्रबल कारण ब्रह्मचर्य है।

ब्रह्मचर्य के संस्कार जब बद्धमूल हो जाते हैं, जीवन में ओत-प्रोत हो जाते हैं, कोई कितना ही ललचाए या डराए-धमकाए तब भी ब्रह्मचर्य छोड़ने की तैयारी नहीं होती, कैसी भी विपत्ति आए, वह अपने ब्रह्मचर्य पर अडोल रहता है। इतनी दृढ़ ब्रह्मचर्यनिष्ठा वाला साधक ब्रह्मचर्य को अखण्डित रखने के लिए मृत्यु तक का आलिंगन करने को तैयार रहता है। एक भी बुरा विचार, बुरा स्वप्न, अश्लील कार्य, विकारी प्रवृत्ति या दुश्चेष्टा उसके मन-वचन-काय से नहीं होती। उसका ब्रह्मचर्य का अभ्यास जब इतना सुदृढ़ हो जाता है, तब कामवासनाएँ मूल से नष्ट हो जाती हैं। और कामवासना (मोहकर्म) का क्षय हुए बिना मोक्ष प्राप्त होना असम्भव है।

इसीलिए जैनदर्शन में बताया गया है कि जब ब्रह्मचर्य-निष्ठ साधक की उपर्युक्त दृढ़ भूमिका हो जाती है, तब वह नवम गुणस्थान का अधिकारी बनता है। जिसमें उसके स्त्रीवेद (पुरुष से कामवासना तृप्ति की भावना), पुरुषवेद (स्त्री से कामवासना तृप्ति की भावना) और नपुंसकवेद (स्त्री-पुरुष दोनों से कामवासना तृप्ति की भावना) क्षीण (आमूलचूल नष्ट) हो जाते हैं। जो थोड़ा-सा हल्के रंग का सूक्ष्म (संज्वलन) लोभ रहता है, वह भी दसवें गुणस्थान में बिलकुल क्षीण हो जाता है। ऐसा उच्च ब्रह्मनिष्ठ साधक बारहवाँ गुणस्थान प्राप्त करके मोहकर्म का सर्वथा क्षय कर देता है। जिससे उसे सयोगी (सदेह) केवली (जीवन्मुक्त) अवस्था प्राप्त हो जाती है। शरीर के निमित्त से आयुष्य आदि जो थोड़े-से अघाती कर्म शेष रहते हैं, उनके

---

१ "ब्रह्मचर्यं—सत्य-तपो-भूतदयेन्द्रियनिरोधलक्षणं तच्चर्यतेऽनुष्ठीयते यस्मिन् तन्मौनीन्द्रं प्रवचनं ब्रह्मचर्यमित्युच्यते।" —सूत्र० २।५।१ की टीका

सर्वथा क्षय होते ही समस्त कर्मरहित अयोगी केवली (देहमुक्त,निर्विकार,सिद्ध-बुद्ध-मुक्त) अवस्था प्राप्त होती है।

एक अन्य दृष्टि से विचार करिये—तत्त्वार्थसूत्र में मोक्ष का लक्षण बताया है—"**सम्पूर्ण कर्मों का क्षय हो जाना ही मोक्ष है।**"[1] उक्त मोक्ष-प्राप्ति के लिए आत्मा पर लगे हुए चार घाती कर्मों के बन्धन को और फिर चार अघाती कर्मों के बन्धन को तोड़ने और समस्त कर्मों से रहित होने की बात आई, वहाँ कितनी ही आध्यात्मिक अनिवार्यताएँ बताई हैं, साथ ही भौतिक अनिवार्यता के रूप में वज्रऋषभनाराच संहनन से युक्त शरीर भी आवश्यक बताया है। मोक्षसाधक का शरीर चाहे कितना ही सुन्दर, सुडौल और स्वस्थ क्यों न हो, आकृति या कद चाहे जितना भव्य और ऊँचा हो, किन्तु यदि उस शरीर में वज्रऋषभनाराच संहनन नहीं है तो उसमें मोक्ष के अनुरूप साधना करने की शक्ति नहीं आएगी। दुर्भेद्य कर्मबन्धनों को तोड़ने के लिए ऐसे सुदृढ़ संहनन की आवश्यकता है। यद्यपि मोक्ष प्राप्त होने से पूर्व ही इस भौतिक शरीर को सदा-सदा के लिए छोड़ना होगा, ऐसी स्थिति में उससे सम्बद्ध वज्रऋषभनाराच संहनन भी यहीं छूट जाएगा, किन्तु आत्मा पर लगे हुए घनघाती कर्मों को तोड़ने के लिए घोर परीषहों और उपसर्गों को समभावपूर्वक सहकर पूर्वबद्ध कर्मों के क्षय करने के लिए साधनाकाल में वज्रऋषभनाराच संहननमय सुदृढ़ शरीर होगा, तभी शरीरादि का व्युत्सर्ग करना और मोक्ष प्राप्त करना सम्भव होगा।

तात्पर्य यह है कि मोक्ष के लिए जितनी भी कठोर आध्यात्मिक साधनाएँ की जाएँगी, उनके लिए सुदृढ़, सशक्त, वज्रमय एवं स्वस्थ शरीर का होना आवश्यक है। इसकी पूर्ति ब्रह्मचर्य के अलावा और कोई साधन नहीं कर सकता। आचार्य हेमचन्द्र ने इसी तथ्य को योगशास्त्र में अभिव्यक्त किया है—

"**चिरायुषः सुसंस्थाना दृढसंहनना नराः।**
तेजस्विनो महावीर्या भवेयुर्ब्रह्मचर्यतः॥"[2]

ब्रह्मचर्य से मनुष्य चिरायु होते हैं, उनके शरीर का संस्थान (ढाँचा या आकृति) सुन्दर एवं सुडौल हो जाता है, उनके शारीरिक संहनन सुदृढ़ हो जाते हैं, वे तेजस्वी और महावीर्यवान (प्रबल शक्तिशाली) होते हैं।

कहते हैं—परमाणु शक्ति को धारण करने वाला बम इतनी शक्तिशाली धातु का बना होता है कि उस पर बाहरी आघात का कोई प्रभाव नहीं होता। इतनी कड़ी और मजबूत धातु का आवरण उस पर न चढ़ाया जाए तो किसी भी क्षण उस बम के विस्फोट होने का खतरा बना रहता है। इसी प्रकार आध्यात्मिक साधनाओं से प्राप्त होने वाली विराट चैतन्य शक्ति को धारण एवं रक्षण करने के लिए आवरण के रूप में पुष्टिमान वज्रमय वज्रऋषभनाराच संहननमय शरीर की

---

१ कृत्स्नकर्मक्षयो मोक्षः। —तत्त्वार्थ० अ० १०, सू० ३

२ योगशास्त्र, प्रकाश २, श्लोक १०५

आवश्यकता रहती है। विराट चैतन्य शक्ति के द्वारा समस्त कर्मों को क्षय करने, घोर उपसर्गों और परीषहों की चोटें सहन करने की क्षमता अन्य शरीर में नहीं होती। वह जरा से आघातों से नष्ट-भ्रष्ट हो जाएगा। वज्रमय वज्रऋषभ नाराचमय शरीर प्राप्त करने के लिए ब्रह्मचर्य का होना अत्यन्त अनिवार्य है।

सारांश यह है कि मुक्ति की प्रक्रिया में ब्रह्मचर्य एक प्रबल कारण है। उसकी आराधना मुक्ति के लिए अनिवार्य है। इसीलिए सूत्रकृतांग सूत्र में कहा गया है—

"इत्थियो जे न सेवंति, आइमोक्खा हु ते जणा ?"[1]

"जो पुरुष स्त्रियों का सेवन नहीं करते, अर्थात्—पूर्ण ब्रह्मचारी हैं, वे पुरुष आदि-मोक्ष हैं, अर्थात् उनका मोक्ष सर्वप्रथम होता है।"

दक्षस्मृति में भी कहा गया है—"मोक्ष का दृढ़ आधार ब्रह्मचर्य है।"

मोक्ष का फलितार्थ है—जन्म-मरण रूप संसार से—अर्थात्–भवभ्रमण से मुक्ति। जन्म-मरण रूप संसार एक समुद्र के समान है। उस समुद्र को पार करने के लिए 'ब्रह्मचर्य' एक प्रबल उपाय है। एक स्मृति में बताया गया है जिस प्रकार समुद्र को पार करने के लिए नौका श्रेष्ठ साधन (उपाय) कहा गया है, उसी प्रकार संसार समुद्र को पार करने (तरने) के लिए ब्रह्मचर्य उत्कृष्ट साधन कहा गया है।"[2]

निष्कर्ष यह है कि पूर्ण ब्रह्मचर्य-पालन के बिना मोक्ष प्राप्ति दूरातिदूर होती चली जाती है। ब्रह्मचर्यव्रत के बिना अन्य व्रत मोक्ष के लिए पूर्णतया सफल नहीं हो पाते, और न ही ब्रह्मचर्य व्रत के अभाव में अन्य व्रतों की सम्यक् आराधना ही की जा सकती है।

लौकिक पारलौकिक अभ्युदय के लिए अपेक्षित

शारीरिक वर्चस्व, बौद्धिक प्रतिभा, प्रभावशाली वक्तृत्व ,लेखन आदि कला-कौशल, विद्या, वीरता, स्मरणशक्ति, निर्णय-शक्ति, निरीक्षण-परीक्षण शक्ति, आदि विषयों में उत्कृष्ट सफलता इत्यादि लौकिक अभ्युदय के लिए ब्रह्मचर्य अपेक्षित है, उसी प्रकार त्याग, तप, नियम, निर्भयता, व्रतपालन, प्रत्याख्यान, दया, क्षमा आदि पारलौकिक अभ्युदय के लिए भी ब्रह्मचर्य उतना ही अपेक्षित है। ब्रह्मचर्य के बिना पारलौकिक अभ्युदय तो दूर रहा, लौकिक अभ्युदय भी प्राप्त नहीं हो सकता। दोनों के लिए ब्रह्मचर्य-पालन अनिवार्य है।

यदि कोई व्यक्ति शक्तिसम्पन्न, विजयी, सफल एवं महान् जीवन बिताना

---

१ सूत्रकृतांग १५।६

२ "समुद्रतरणे यद्वत् उपायो नौः प्रकीर्तिता।
संसारतरणे तद्वत् ब्रह्मचर्यं प्रकीर्तितम् ॥"

चाहता है, अपना व्यक्तित्व उत्कृष्ट बनाना चाहता है, तो उसके लिए एक ही मार्ग है—ब्रह्मचर्य की साधना। ब्रह्मचर्य-पथ को अपनाये बिना कोई भी व्यक्ति अपने उत्कर्ष, जीवन की महत्ता एवं सुख-शान्ति को प्राप्त नहीं कर सकता। यदि कोई व्यक्ति अपनी शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक क्षमता बढ़ाना चाहे तो उसे ब्रह्मचर्य का पथ अपनाने के अतिरिक्त और कोई चारा नहीं है।

जीवन को तेजस्वी बनाने हेतु ब्रह्मचर्य आवश्यक

मनुष्य का जीवन यदि दुःख, अशान्ति, रोग-शोक, भय, चिन्ता, विपत्ति आदि से आक्रान्त है तो वह दीन-हीन एवं नीरस है, उस जीवन में कोई भी प्रगति या उन्नति नहीं हो सकती। वह जीवन सदा पिछड़ा हुआ, पीड़ित, पददलित, शोषित, भ्रान्ति और वहमों का शिकार, कुरूढ़ियों और कुप्रथाओं का दास तथा अन्ध-विश्वास का भण्डार होता है। ऐसे जीवन का कभी भाग्योदय नहीं हो पाता। परन्तु जिसका जीवन तेजस्वी है, दबंग है, निर्भय है, पुरुषार्थी है, वह दुःख, अशान्ति, भय, चिन्ता आदि से दूर रहता है, वह पीड़ित, पददलित एवं कुरूढ़िग्रस्त नहीं होता। ऐसे जीवन में अन्ध-विश्वास और वहम के कीटाणु नहीं पनप सकते। परन्तु ऐसा तेजस्वी जीवन तभी होता है, जब जीवन में ब्रह्मचर्य हो। ब्रह्मचर्य के बिना ऐसा तेजस्वी जीवन नहीं बनता।

निष्कर्ष यह है कि तेजस्वी जीवन बनाने के लिए ब्रह्मचर्य-रूपी तपश्चरण की आवश्यकता है।

लालटेन में तेल भरा हो, बत्ती ठीक हो, और जब उसको बत्ती के जरिये ऊपर ले जाया जाता है, तभी लालटेन का प्रकाश ऊपर फैलता है। इसके विपरीत यदि लालटेन के पेंदे में छेद हो तो उसमें भरा हुआ तेल ऊपर जाने के बदले नीचे जमीन में चला जाएगा। ऐसी स्थिति में वह न तो स्वयं प्रकाशित हो सकेगा और न दूसरों का ही अन्धकार दूर करने में समर्थ हो सकेगा। यही हाल मनुष्य का भी है। यदि वह ब्रह्मचर्यनिष्ठ है तो उसका वीर्य ऊपर चढ़ेगा और वह स्वयं प्रकाशमान एवं तेजस्वी होगा और दूसरों को भी प्रकाशित करेगा, तेजस्वी बनाएगा। जैसा कि अथर्ववेद में बताया गया है—"ब्रह्मचर्य के तप से ही राजा राष्ट्र की रक्षा करने में समर्थ होता है। आचार्य ब्रह्मचर्य के द्वारा ही ब्रह्मचारी शिष्य को अपने शिक्षण एवं निरीक्षण में लेने की योग्यता सम्पादन करता है।"[1]

किन्तु यदि वह ब्रह्मचर्य का पालन नहीं करता, उसके जीवन में दुश्चरण-रूपी छिद्र हो गया है तो उसकी वीर्य-शक्ति नीचे उतरकर उसे प्रकाशमान करने के

---

१ ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं विरक्षति।
आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते॥

—अथर्ववेद ११/५/१७

बदले अन्धकारमय बना देगी, उसके जीवन को तेजोहीन और विनष्ट कर देगी। वीर्य का ऊर्ध्वीकरण होने पर ही नर नारायण बन सकता है, वीर्य का अधःकरण होने पर अर्थात् ब्रह्मचर्य भंग होने पर तो देव भी दानव, तथा नर भी वानर बन जाता है। निष्कर्ष यह है कि स्वयं तेजस्वी और प्रकाशमान बनने और दूसरों को तेजस्वी एवं प्रकाशमान बनाने के लिए दृढ़ ब्रह्मचर्य द्वारा वीर्य का ऊर्ध्वीकरण अनिवार्य है।

ब्रह्मचर्य के बिना ..... आन्तरिक शक्तियाँ केन्द्रित नहीं हो सकती

आज विश्व में बड़े-बड़े यंत्र, रेलगाड़ियाँ और स्टीमर आदि वाष्प की शक्ति से चल रहे हैं। परन्तु यदि इस भाप को वाष्पयंत्र में एकत्रित न किया जाए, उसे हवा में बिखरने दिया जाए तो वे यन्त्र, रेलगाड़ी या स्टीमर आदि नहीं चल सकते। यही बात हमारी आन्तरिक शक्तियों के सम्बन्ध में है। यदि हम मन, बुद्धि, चित्त और हृदय की तथा मन के आदेश से चलने वाली इन्द्रियों की शक्ति को केन्द्रित नहीं करते, उन्हें विविध विषयों में भटकाते रहते हैं, तो उनकी शक्ति भी इधर-उधर बिखरकर व्यर्थ ही नष्ट हो जाएगी। यदि उन्हीं आन्तरिक शक्तियों को नियंत्रित किया जाए तो उनसे बड़े-बड़े अद्भुत और उपयोगी स्व-पर-कल्याणकारी कार्य हो सकते हैं। परन्तु इन आन्तरिक शक्तियों को बिखरने से बचाकर केन्द्रित करने का कार्य ब्रह्मचर्य द्वारा ही हो सकता है। ब्रह्मचर्य के बिना मन और इन्द्रियों की आन्तरिक शक्तियों को केन्द्रित नहीं किया जा सकता।

आत्मनुशासन सम्भव नहीं

ब्रह्मचर्य के बिना अपने आप पर शासन करने की शक्ति नहीं आ सकती। जो व्यक्ति अपने आप पर नियंत्रण नहीं कर सकता, वह स्वतंत्र नहीं, विषयवासनाओं का गुलाम है। अपने आप पर नियन्त्रण करने की शक्ति ब्रह्मचर्य से ही आती है। ब्रह्मचर्य के बिना अपनी धारणा के विरुद्ध एक भी विचार आने की स्वतंत्रता प्राप्त नहीं हो सकती। अतः आत्मानुशासन के लिए ब्रह्मचर्य अनिवार्य है।

किसी भी साधना में प्रगति नहीं

ब्रह्मचर्य के बिना मंत्र-तंत्रसाधना, विद्याध्ययन, शास्त्रपठन, महाव्रतपालन, क्षमा, दया, सन्तोष आदि गुणों की साधनाओं में प्रगति नहीं हो सकती। एक तरह से यह कहें तो कोई अत्युक्ति न होगी कि ब्रह्मचर्य से सभी साधनाओं में शक्ति का संचार होता है। जैसे पावरहाउस से सर्वत्र बिजली का संचरण होता किन्तु यदि कोई व्यक्ति पावरहाउस (बिजलीघर) से सम्बन्ध (कनेक्शन) तोड़ कर फिर अपने घर में लगे बल्बों या पंखों से प्रकाश या हवा आदि पाना चाहे तो उसे नहीं मिलती, क्यों कि पावरहाउस से उसे विद्युत् शक्ति प्राप्त नहीं है। इसी तरह मंत्र-तंत्र आदि सभी साधनाओं में ब्रह्मचर्य से सम्बन्ध तोड़कर प्रगति करना चाहे तो वह आशा भी दुराशामात्र सिद्ध होगी। अतः प्रत्येक नैतिक, आध्यात्मिक या धार्मिक साधना में प्रगति के लिए ब्रह्मचर्य-साधना से सदैव सम्बन्ध रखना आवश्यक है।

शाश्वत सुख-शान्ति के लिए ब्रह्मचर्य आवश्यक

वास्तव में देखा जाए तो भौतिक पदार्थों, इन्द्रिय विषय-भोगों और काम-वासनापूर्ति से सम्बन्धित सुख, सुख नहीं सुखाभास हैं। आध्यात्मिक दृष्टि वाले महा-पुरुष आत्मसुख में ही वास्तविक एवं शाश्वत सुख मानते हैं, जो कि ब्रह्मचर्य से प्राप्त होता है। भौतिक पदार्थों या इन्द्रिय विषयों से जनित सुखों का अन्त दुःख में ही होता है। जिसे सामान्य लोग सुख समझते हैं, उसके बदले बड़े दुःख के रूप में मूल्य चुकाना पड़ता है। जब तक वह सुख नहीं मिलता, उसे प्राप्त करने की बेचैनी, फिर भोगते ही वह समाप्त हो जाता है। फिर नये सिरे से उसकी प्राप्ति के लिए मन, बुद्धि और इन्द्रियों को संचालित करना पड़ता है। और कोल्हू के बैल की तरह काम-सुख की अन्धी दौड़ में मनुष्य को दुःख, पश्चात्ताप, क्लेश, आत्मग्लानि, विषमता आदि से न जाने कितनी हानियाँ, परेशानियाँ उठानी पड़ती हैं। निःसन्देह विषयभोगों में सुख मान कर लिप्त होने वाले व्यक्ति मृत्यु और विनाश की ओर अग्रसर होते हैं। सच्चा सुख अब्रह्मचर्य (काम-भोग) से नहीं, ब्रह्मचर्य से ही मिल सकता है। भक्त वामन ने इसी का समर्थन किया है—

"सर्वथा दुःखनाशाय ब्रह्मचर्यं समाचरेत।
ब्रह्मचर्य-विहीनानां दुःखानि स्युः पदे पदे॥"

अर्थात् दुःख के सर्वथा नाश के लिए ब्रह्मचर्य का आचरण करो। जो लोग ब्रह्मचर्य-हीन हैं, उन्हें पद-पद पर दुःख उठने पड़ते हैं।

इस विषय में एक बौद्ध कथा विचारणीय है—

श्रावस्ती नगरी के कोषाध्यक्ष की अनुपम सुन्दरी कन्या उत्पलवर्णा सोलह वर्ष पार कर चुकी थी।

यौवन का निखार और अद्वितीय सौन्दर्य देख-सुनकर अनेक श्रेष्ठी, सामन्तों और राजकुमारों की ओर से उत्पलवर्णा के साथ विवाह के लिए प्रार्थनाएँ आ रही थीं। कोषाध्यक्ष के समक्ष उत्पलवर्णा का सौन्दर्य एक समस्या बन गया था, कि उसका हाथ किसे दे और किसे न दे। निर्णय अत्यन्त कठिन हो रहा था।

उत्पलवर्णा प्रतिदिन सद्ग्रन्थों का स्वाध्याय और सत्संग करती थी, इस कारण उसके मस्तिष्क में सम्यग्ज्ञान का प्रकाश हो गया था कि काम (वैषयिक) सुख क्षणभंगुर और परिणाम में दुःखकारक है, तथा उनके साथ बार-बार उनकी प्राप्ति, रक्षा आदि में चिन्ता, परेशानी-हैरानी आदि हैं। इसलिए उसने मन ही मन निश्चय कर लिया कि "मैं विवाह करके कामसुख के नानादुःखोत्पादक जाल में नहीं फँसूँगी किन्तु अविवाहित रहकर पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करती हुई अपनी शक्ति को आत्मकल्याण, समाज-सेवा एवं धर्म-सेवा में लगाऊँगी।"

उसने अपने पिता के समक्ष अपना निर्णय प्रस्तुत करते हुए कहा—"पिताजी! मैं स्वाध्याय एवं सत्संग के बल पर यह जान चुकी हूँ कि काम-सुख पद-पद पर दुःखावह

हैं। आपने नहीं सुना कि गंगातट वासी ने पहले विवाह किया। अपनी वासना शान्त करने के लिए उसने भार्या का जीवनसत्व निचोड़ा। फिर उसने एक अन्य स्त्री को रख लिया। उसके गर्भ से कन्या उत्पन्न हुई। उसको भी उस कामुक ने सहगामिनी बना लिया। अतिकामुकता के फलस्वरूप वह अकाल में ही मौत का मेहमान बना। पिताजी ! विवाह का प्रस्ताव लेकर आने वाले किसी कुमार में मुझे आदर्श जीवन का स्थायित्व नहीं दीखता। ये सब तो रूप के प्यासे कीट-पतंगे हैं। कामसुख के पीछे हाथ धोकर पड़े हैं। इसलिए मैंने यह निश्चय कर लिया है कि मैं आजीवन अविवाहित एवं ब्रह्मचर्य निष्ठ रहकर अपने आत्म-कल्याण के साथ-साथ समाज और धर्म के उद्धार में लगूँ; और ब्रह्मचर्य से प्राप्त होने वाले अक्षय एवं अनुपम आत्मसुख में मग्न हो जाऊँ।"

आर्य पिता ने अपनी कन्या के संस्कार एवं स्वाभिमान से दमकते मुखमण्डल की ओर देखा। उसमें पूर्ण निश्चय एवं दृढ़ता झलक रही थी। वात्सल्यवश पिता ने उसके सिर पर हाथ फिराते हुए कहा—"उत्पल ! तुम धन्य हो ! तुम्हारे विचार बहुत सुन्दर हैं। कामसुख को तिलांजलि देकर तुमने आत्मसुख को प्राप्त करने के लिए जिस आदर्श ब्रह्मचर्य को अंगीकार करने का निश्चय किया है, वह अभिनन्दनीय है। मेरा तुम्हें आशीर्वाद है, तुम उसी मंगलमय पथ पर आगे बढ़ो।"

उत्पलवर्णा ने तथागत बुद्ध से प्रव्रज्या ग्रहण करली। तथागत बुद्ध ने आगम ज्ञान देकर एवं ब्रह्मचर्य सहित उच्च साधना करवा कर भिक्षुणी उत्पलवर्णा को आदर्श आत्म-सुख प्राप्ति की स्थिति तक पहुँचाया। उसने भी धर्म और समाज के उद्धार के लिए बौद्ध संघ के माध्यम से अद्भुत कार्य किया।

इस कथा का तात्पर्य यह है कि आत्मिक सुख-शांति प्राप्त करने के लिए कामसुख के मोहक जाल में न फँसकर ब्रह्मचर्य-पालन करना अनिवार्य है।

तथागत बुद्ध ने भी अपने उपदेशों में कहा है—

"दुःख का मूल नष्ट करने के लिए ब्रह्मचर्यव्रत का पालन आवश्यक है।"

दुःख का मूल नष्ट करने का अर्थ है—आत्मसुख को प्राप्त करना, उसके लिए ब्रह्मचर्य ही सर्वोत्तम उपाय है।

विद्यार्थी जीवन में अनिवार्य

विद्यार्थी जीवन विद्याध्ययन का स्वर्णकाल है। उस समय उर्वर मस्तिष्क, तीव्र स्मरणशक्ति, सुदृढ़ शरीर, निर्मल मन, पवित्र बुद्धि, आदि अपेक्षित हैं और इन सबकी उपलब्धि ब्रह्मचर्य के बिना हो नहीं सकती। यदि विद्यार्थी अपने अध्ययन-काल में इन्द्रियों और मन पर संयम नहीं रखता, कुसंग के कारण वीर्य-रक्षण नहीं करता, कुव्यसनों और वासनाओं के दल-दल में पड़कर अपनी संजीवनी शक्ति को खो बैठता है, तो वह न तो विद्याध्ययन में सफल होता है और न ही गृहस्थ जीवन में। वह दुर्बल मन वाला क्षीणकाय विद्यार्थी जीवन के हर मोड़ पर विफल रहता

है। वह न तो इहलौकिक उन्नति कर सकता है और न ही पारलौकिक अभ्युदय। इसीलिए 'विदुरनीति' में कहा है—विद्यार्थी जीवन में विद्या प्राप्ति के लिए ब्रह्मचारी रहना अत्यन्त आवश्यक है।[1] उसके बिना आगामी जीवन में सफलता दुष्कर है।

नैपोलियन बोनापार्ट, जो आगे चलकर एक महान शासक और योद्धा बन सका, उसके पीछे उसके विद्यार्थी जीवन में आचरित सर्वेन्द्रियसंयम रूप ब्रह्मचर्य ही कारण था। विद्यार्थी जीवन-काल में वह जिस मकान में रहता था, उस मकान की मालकिन उससे छेड़खानी करने और उसे आकृष्ट करके अपने कामजाल में फँसाने का प्रयत्न करती थी। परन्तु सुन्दर और महत्त्वाकांक्षी विद्यार्थी नैपोलियन उस ओर बिलकुल ध्यान न देकर अपने अध्ययन में मग्न रहता था। अध्ययन पूर्ण करने के बाद नैपोलियन अपने अध्यवसाय के बल पर शासक बन गया।

एक बार नैपोलियन उस कस्बे में आया और उस मकान मालकिन के यहाँ पहुँचा। वह नैपोलियन को पहचान न सकी, बोली—"कुछ वर्षों पहले यहाँ एक विद्यार्थी रहता था। वह बड़ा मनहूस और किताबों का कीड़ा था। पता नहीं, आज वह कहाँ है?"

नैपोलियन ने कहा—"वह लड़का मैं ही हूँ। मेरा नाम नैपोलियन है। अगर मैं उस समय तुम्हारे प्रणयजाल में फँस जाता और अपनी इन्द्रियों पर संयम न रखता तो आज मैं जिस उच्च पद पर हूँ, उस पर कभी नहीं पहुँच सकता था। यह इन्द्रिय-संयम का ही फल है कि मैं इस पद पर पहुँचा हूँ।"

इस घटना का फलितार्थ यह है कि विद्यार्थी-जीवन में ब्रह्मचर्य पालन नितांत अनिवार्य है।

निष्कर्ष

निष्कर्ष यह है कि परमात्म-दर्शन, आत्म-साक्षात्कार, आध्यात्मिक पूर्णता, व्रतादि की आराधना, योगादि उच्च साधना, वानप्रस्थ साधना, समाज, राष्ट्र या विश्व की सेवा, आध्यात्मिक साधना, मोक्ष प्राप्ति, लौकिक-पारलौकिक अभ्युदय, आन्तरिक शक्तियों के केन्द्रीकरण, मन्त्र-तन्त्रादि साधना, शाश्वत सुख-शान्ति, एवं विद्यार्थी जीवन आदि समस्त क्षेत्रों में ब्रह्मचर्य की सार्वत्रिक और सार्वकालिक अनिवार्यता है।

□

——o——

1 विद्यार्थ ब्रह्मचारी स्यात्। विदुरनीति

३

ब्रह्मचर्य की प्रधानता

ब्रह्मचर्य : आध्यात्मिक साधना का शिरोमणि

भारतीय धर्म और संस्कृति में अनेक प्रकार की साधनाएँ बताई गई हैं, उनमें से कुछ साधनाएँ शारीरिक और मानसिक विकास के लिए हैं, तो कुछ ऐसी साधनाएँ हैं, जिनका सम्बन्ध मुख्यतः आध्यात्मिक विकास से है। आध्यात्मिक विकास के लिए जितनी भी साधनाएँ हैं, उन सबमें ब्रह्मचर्य प्रधान है। ब्रह्मचर्य सभी साधनओं में शिरोमणि है। इसीलिए साधारण बोलचाल की भाषा में ब्रह्मचर्य को मोटा (महान्) व्रत कहा जाता है। पांच महाव्रतों में से चार महाव्रतों में कुछ अपवाद भी हैं, किन्तु चतुर्थ महाव्रत—ब्रह्मचर्य में कोई अपवाद या कोई आगार (छूट) नहीं है। अब्रह्मचर्य का सेवन करने पर बिना प्रायश्चित्त के शुद्धि नहीं हो सकती। यदि वह संयम के लिए किया गया हो भी उसके लिए प्रायश्चित्त आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है।[1] इससे ब्रह्मचर्य की प्रधानता स्पष्ट परिलक्षित होती है।

इसके अतिरिक्त शास्त्रकारों ने अन्य महाव्रतों के लिए कहीं नहीं कहा कि अहिंसा आदि महाव्रतों के भंग करने से अच्छा है—मृत्यु का वरण कर लो; किन्तु ब्रह्मचर्य महाव्रत के लिए स्थानांग आदि आगमों में स्पष्ट आदेश दिया गया है कि ब्रह्मचर्य भंग करने की अपेक्षा साधु या साध्वी को (जीभ खींचकर या गिरिपात अथवा अन्य उपायों से) मृत्यु का वरण कर लेना चाहिए।[2] योगिराज भर्तृहरि ने भी इसी का समर्थन किया है।[3]

सभी व्रतों में प्रथम स्थान

यही कारण है कि ब्रह्मचर्य की मन-वचन-काया से रक्षा के लिए कठोर से कठोर नियमों का निर्देश शास्त्रों में किया गया है।[4] बार-बार चेतावनी, सावधानी, और ब्रह्मचर्य रक्षा की प्रेरणाएं शास्त्रों में दी गई हैं; क्योंकि एक ब्रह्मचर्य महाव्रत के खण्डित होने पर सभी व्रत खंडित हो जाते हैं।[5] "एक ब्रह्मचर्य व्रत की जो

---

१. (क) निशीथ भाष्य ३६४, ६७ (ख) बृहत्कल्पभाष्य गा. ४६४६-४७

२. (क) स्थानांग. स्था. २ (ख) सेयं ते मरणं भवे—दशवै. २।६

३. वरं भ्रृंगोत्संगाद् गिरिशिखरिणः क्वापि विषमे ।
पतित्वाऽयं कायः कठिन दृषदन्ते विगलितः ।
वरं न्यस्तो हस्तः फणिपतिमुखे तीक्ष्ण दशने ।
वरं वह्नौ पातः तदपि न कृतः शीलविलयः ॥ — नीतिशतक, श्लो. ७

४. (क) स्थानांग स्था. ९ (ख) उत्तरा. अ.१६

५. प्रश्नव्याकरण सूत्र, संवरद्वार ४,

आराधना कर लेता है, वह समस्त व्रत, नियम, शील, तप, विनय, संयम, गुप्ति, क्षान्ति और मुक्ति की आराधना कर लेता है।[1] इसलिए यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि महाव्रतों की परिगणना में यद्यपि ब्रह्मचर्य का चतुर्थ क्रम है; तथापि वह अपनी अद्भुत गरिमा और महिमा के कारण सभी व्रतों में प्रथम स्थान रखता है।

ब्रह्मचर्य : समस्त व्रतों का मूल आधार

एक वृक्ष है, उसके पत्ते वसन्त ऋतु आने से पहले झड़ गये हैं। उसकी शाखाएं भी तोड़ डाली गई हैं। उसके फल और फूल भी नहीं हैं, किन्तु यदि उसका मूल सुरक्षित है, तो पत्ते, पुष्प, फल, शाखा-प्रशाखा आदि कुछ ही दिनों में आ जाएँगे। यही बात ब्रह्मचर्य के सम्बन्ध में कही जा सकती है। यदि ब्रह्मचर्य सुरक्षित है तो तप, नियम, ज्ञान, दर्शन, चारित्र, सम्यक्त्व और विनय आदि सभी गुण सहज भाव से प्राप्त हो जायेंगे। इसीलिए प्रश्नव्याकरण सूत्र में ब्रह्मचर्य को तप, नियम आदि का मूल कहा गया है—

बंभचेरं उत्तमतव-नियम-नाण-दंसण-चरित्त-सम्मत्त-विणयमूलं

ब्रह्मचर्य उत्तम तप, नियम, ज्ञान, दर्शन, चारित्र, सम्यक्त्व, एवं विनय का मूल है।[2]

ब्रह्मचर्य का पलड़ा : वेदों से भी भारी

महाभारत के युद्ध में अठारह अक्षोहिणी सेना का वध हुआ, और द्वितीय विश्वयुद्ध में भी लाखों का नरसंहार हुआ, परन्तु ब्रह्मचर्य के नष्ट होने पर करोड़ों जीवों के विनाश के साथ-साथ संस्कृति, सभ्यता, नीति, धर्म आदि का भी विनाश होता है। सम्भवतः इसी दृष्टि से ब्रह्मचर्य की महत्ता और गुरुता का प्रतिपादन करने हेतु छान्दोग्य उपनिषद् में कहा है—

एकतश्चतुरो वेदा ब्रह्मचर्यं च एकतः।[3]

अर्थात्—तराजू के एक पलड़े में चारों वेद (वेदों के उपदेश) रखे जाएँ और दूसरे पलड़े में ब्रह्मचर्य रखकर तोला जाए तो ब्रह्मचर्य का पलड़ा भारी हो जाता है।

ब्रह्मचर्य ही इस परिवार का मुखिया

ब्रह्मचर्य इसलिए भी सब व्रत-नियमों में प्रधान है कि ये सब व्रत, नियम आदि ब्रह्मचर्य के ही परिवार हैं। ब्रह्मचर्य इस परिवार का मुखिया है। जैसे मुखिया

---

१. जंम्मिय आराहियंमि ···आराहियं वयमिणं सव्वं ···।" —प्रश्न० २।४सं.
२. प्रश्नव्याकरण २।४ सं.
३. छान्दोग्य उपनिषद्।

के रहे बिना परिवार का योग-क्षेम ठीक से नहीं हो सकता, तथा परिवार पर कोई संकट आए, कोई समस्या उपस्थित हो, उस समय मुखिया ही उस संकट का निवारण और समस्या को हल करता है। इसी प्रकार ब्रह्मचर्य (शील) भी अपने आध्यात्मिक नियम, व्रत, तप आदि का मुखिया है। यदि किसी नियम, व्रत, तप, जीवदया आदि पर कोई संकट आ गया, परस्पर कोई विरोध खड़ा हो गया, अथवा पहल करने का प्रश्न उपस्थित हुआ, वहाँ ब्रह्मचर्य रूप अग्रणी की दृष्टि से विचार करके उस संकट, विरोध या प्रश्न को निपटाया जाता है। इसीलिए 'शीलपाहुड' में कहा गया है—"जीवदया, इन्द्रिय-दमन, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, संतोष, सम्यग्दर्शन, ज्ञान और तप, ये सब शील के परिवार हैं।"[1]

ब्रह्मचर्य : लोकोत्तम व्रत

जगत् में अनेक प्रकार के व्रत हैं। प्रत्येक धर्म में कई प्रकार के व्रत निर्धारित हैं। परन्तु कई व्रत तो लौकिक होते हैं, जो इहलौकिक या पारलौकिक कामनाओं को पूर्ण करने के लिए होते हैं। उनसे इहलौकिक वैषयिक सुख या पारलौकिक स्वर्गादि सुख मिल सकते हैं, पर वे स्थायी नहीं होते। जैसे कोई मंगलवार का या शनिवार का व्रत करता है, कोई रोहिणी व्रत करता है, कोई संतान के लिए अमुक व्रत रखता है अथवा कोई धनादि अन्य किसी प्रयोजनवश व्रत रखता है। ये सभी व्रत लोकोत्तर उद्देश्य की पूर्ति नहीं कर सकते। लोकोत्तर उद्देश्य का अर्थ है—मोक्षप्राप्ति या सर्वकर्मों से मुक्ति। लोकोत्तर उद्देश्य की पूर्ति के लिए अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह आदि व्रत या महाव्रत हैं। परन्तु इन सबसे लोकोत्तम, लोक में प्रधान या विश्व में अग्रणी कोई व्रत है तो ब्रह्मचर्य ही।[2]

गुणों का नायक : ब्रह्मचर्य

मानव जीवन में जितने भी उत्तमोत्तम गुण हैं—सेवा, दया, क्षमा, तितिक्षा, निर्लोभता, सन्तोष, शील आदि उन सबका अग्रणी या नेता ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्य जीवन में रम जाने पर ये गुण अनायास ही उसमें आ जाते हैं। इसीलिए प्रश्नव्याकरण सूत्र में कहा है—**एक्कं गुणनायकं** अर्थात्—यह अद्वितीय गुण है और सर्वगुणों का नायक है। साथ ही ब्रह्मचर्य अहिंसादि यम, अपरिग्रह आदि नियम आदि गुणों में प्रधानरूप से युक्त रहता है। अर्थात् जहाँ यम-नियमादि गुण होंगे, वहाँ ब्रह्मचर्य अवश्य रहेगा।

---

१ "जीवदया-दम-सच्चं, अचोरियं बंभचेर-संतोसे।
समदंसण-नाणं तओ य सीलस्स परिवारो॥"
—शीलपाहुड गा. १९

२ "लोगुत्तमं च वयमिणं।" —प्रश्नव्याकरण सं. ४, सूत्र १

३ "यम-नियम-पहाणगुणजुत्तं" —प्रश्नव्याकरण ४ संवर० सूत्र १

व्रतों में प्रधान : ब्रह्मचर्य व्रत

श्रमण भगवान् महावीर ने पंच महाव्रत, तथा पांच समिति, तीन गुप्ति, एवं शील, तप, विनय, संयम, क्षान्ति, गुप्ति, मुक्ति आदि गुणों की प्ररूपणा की है। आचार संहिता (समाचारी) की दृष्टि से कुछ मौलिक नियमों का भी प्रतिपादन किया है। किन्तु इन सबसे प्रधान (सर्वोत्कृष्ट) व्रत बताया है—ब्रह्मचर्य को।

प्रश्नव्याकरणसूत्र में ब्रह्मचर्य की प्रधानता एवं सर्वश्रेष्ठता बतलाने के लिए भगवान ने विश्व के सर्वश्रेष्ठ बत्तीस पदार्थों से इसकी उपमा दी है—

(१) जिस प्रकार ग्रह, नक्षत्र, तारा आदि में चन्द्रमा प्रधान है, उसी प्रकार सब व्रतों में ब्रह्मचर्य व्रत प्रधान है।

(२) जिस प्रकार मणि, मोती, प्रवाल (मूंगा) और रत्नों के उत्पत्ति स्थानों में समुद्र प्रधान और श्रेष्ठ माना जाता है, उसी प्रकार सब व्रतों में ब्रह्मचर्य व्रत प्रधान है।

(३) जैसे रत्नों में वैडूर्य जाति का रत्न प्रधान एवं उत्तम है, उसी प्रकार सब व्रतों में ब्रह्मचर्य प्रधान एवं श्रेष्ठ है।

(४) जिस प्रकार आभूषणों में मुकुट प्रधान है, उसी प्रकार सब व्रतों में ब्रह्मचर्य व्रत प्रधान है।

(५) जिस प्रकार वस्त्रों में क्षौमयुगल (रेशमी वस्त्र) प्रधान है, उसी प्रकार सब व्रतों में ब्रह्मचर्य व्रत प्रधान है।

(६) फूलों में जिस प्रकार कमल (अरविन्द) का फूल ज्येष्ठ और प्रधान है, उसी प्रकार सब व्रतों में ब्रह्मचर्य व्रत ज्येष्ठ और प्रधान है।

(७) जैसे चन्दनों में गोशीर्ष चन्दन प्रधान है, उसी प्रकार सब व्रतों में ब्रह्मचर्य व्रत प्रधान है।

(८) जैसे चमत्कारी औषधियों के उत्पत्ति स्थानों में हिमवान् पर्वत प्रधान है, उसी प्रकार आमर्शौषधि आदि लब्धियों के उत्पत्ति स्थानों में ब्रह्मचर्य प्रधान है।

(९) जिस प्रकार नदियों में शीतोदा नदी अति विस्तृत होने से प्रधान है, उसी प्रकार ब्रह्मचर्य सब व्रतों में प्रधान है।

(१०) जैसे स्वयम्भूरमण समुद्र सब समुद्रों से महान् अतएव प्रधान है, उसी प्रकार ब्रह्मचर्य सभी व्रतों में महान् एवं प्रधान है।

(११) जिस प्रकार मानुषोत्तर, कुण्डलवर आदि माण्डलिक पर्वतों में रुचकवर पर्वत श्रेष्ठ एवं उत्तम है, उसी प्रकार ब्रह्मचर्य सब व्रतों में श्रेष्ठ एवं प्रधान है।

(१२) जैसे हाथियों में शक्रेन्द्र का ऐरावत हाथी प्रधान है, वैसे ही ब्रह्मचर्य व्रत सब व्रतों में प्रधान है।

(१३) जिस प्रकार हिरण आदि सभी वन्य पशुओं में सिंह बलवान् एवं प्रधान है, उसी प्रकार ब्रह्मचर्य सब व्रतों में प्रधान है।

(१४) जिस प्रकार सुपर्णकुमार जाति के भवनपति देवों में वेणुदेव प्रधान है, उसी प्रकार सभी व्रतों में ब्रह्मचर्य व्रत प्रधान है।

(१५) जिस प्रकार नागकुमार जाति के भवनपति देवों में धरणेन्द्र प्रधान है, उसी प्रकार सब व्रतों में ब्रह्मचर्यव्रत प्रधान है।

(१६) जैसे ब्रह्मलोक नामक पंचम देवलोक अतिविस्तृत होने से तथा वहाँ के इन्द्र के अति शुभ परिणाम होने से, सब देवलोकों में प्रधान है, वैसे ही ब्रह्मचर्य सब व्रतों में प्रधान है।

(१७) प्रत्येक भवन और विमान में पांच सभाएँ होती हैं—सुधर्मसभा, उत्पादसभा, अभिषेक सभा, अलंकार सभा, और व्यवसाय सभा। इन सभी सभाओं में सुधर्मसभा प्रधान होती है, उसी प्रकार सब व्रतों में ब्रह्मचर्य-व्रत प्रधान है।

(१८) जिस प्रकार अनुत्तर विमानवासी देवों की स्थिति सभी स्थितियों में प्रधान है, उसी प्रकार सब व्रतों में ब्रह्मचर्य व्रत प्रधान है।

(१९) जिस प्रकार अभयदान सब दानों में प्रधान है, इसी प्रकार सब व्रतों में ब्रह्मचर्य व्रत प्रधान है।

(२०) जैसे कम्बलों में किरमिची रंग की कम्बल प्रधान मानी जाती है, उसी प्रकार सब व्रतों में ब्रह्मचर्य-व्रत प्रधान है।

(२१) जिस प्रकार छह संहननों में वज्रऋषभनाराच संहनन प्रधान है, उसी प्रकार व्रतों में ब्रह्मचर्यव्रत प्रधान है।

(२२) जिस प्रकार छह संस्थानों में समचतुरस्र संस्थान प्रधान है, उसी प्रकार सब व्रतों में ब्रह्मचर्यव्रत उत्तम है।

(२३) जिस प्रकार ध्यान में परम शुक्लध्यान अर्थात्—समुच्छिन्न क्रिया अप्रतिपाती नामक शुक्लध्यान का चौथा भेद प्रधान है, उसी प्रकार सब व्रतों में ब्रह्मचर्यव्रत प्रधान है।

(२४) जिस प्रकार मति, श्रुत आदि पांच ज्ञानों में केवलज्ञान प्रधान है, उसी प्रकार सब व्रतों में ब्रह्मचर्यव्रत प्रधान है।

(२५) जिस प्रकार छह लेश्याओं में परमशुक्ललेश्या (सूक्ष्म क्रिया अनिवर्ती नामक शुक्लध्यान के तृतीय भेद में होने वाली) प्रधान है, उसी प्रकार सब व्रतों में ब्रह्मचर्यव्रत प्रधान है।

(२६) जिस प्रकार मुनियों में तीर्थंकर भगवान् प्रधान हैं, उसी प्रकार सब व्रतों में ब्रह्मचर्यव्रत प्रधान है।

(२७) जिस प्रकार सब क्षेत्रों में महाविदेह क्षेत्र अतिविस्तृत एवं प्रधान है, वैसे ही सब व्रतों में ब्रह्मचर्यव्रत प्रधान है।

(२८) जैसे सब पर्वतों में सुमेरुपर्वत प्रधान है, वैसे ही सब व्रतों में ब्रह्मचर्य-व्रत प्रधान है।

(२९) जैसे भद्रशाल, नन्दन, सौमनस एवं पाण्डुक नामक मेरुगिरि के चारों वनों में नन्दन वन अतिरमणीय एवं प्रधान है, वैसे ही ब्रह्मचर्य व्रत सब व्रतों में प्रधान है।

(३०) जिस प्रकार वृक्षों में जम्बूवृक्ष जिसे सुदर्शन भी कहते हैं और जिसके नाम पर से यह द्वीप जम्बूद्वीप कहलाता है, प्रसिद्ध है, अतएव प्रधान है, वैसे ही सब व्रतों में ब्रह्मचर्यव्रत प्रधान है।

(३१) जिस प्रकार राजा, अश्वपति, गजपति, रथपति और नरपति रूप से (चतुरंगिणी सेना से युक्त) प्रसिद्ध और मनुष्यों में प्रधान होता है, उसी प्रकार ब्रह्मचर्य व्रत भी चारों कोनों में प्रसिद्ध एवं प्रधान है।

(३२) जैसे महारथ में बैठा हुआ रथी, शत्रु की सेना को पराजित कर देता है वैसे ही ब्रह्मचर्यव्रत भी कर्मरूपी शत्रु की सेना को पराजित कर देता है।

इस प्रकार अनेक गुण एक ब्रह्मचर्य रूप भगवान् के अधीन हो जाते हैं।[1]

इन सब उपमाओं के आधार पर ब्रह्मचर्य को प्रमुख, प्रधान, उत्कृष्ट, उत्तम और सर्वश्रेष्ठ बताया गया है। प्रत्यक्ष अनुभव के आधार पर भी यह कहा जा सकता है कि परिवार, समाज, राष्ट्र एवं जनपद (प्रांत) में जो व्यक्ति ब्रह्मचर्यहीन है, व्यभिचारी या दुराचारी है, उसे सबसे हीन, निकृष्ट एवं निंद्य समझा जाता है, किन्तु जो व्यक्ति ब्रह्मचर्यनिष्ठ है वह मनुष्य सर्वत्र उत्कृष्ट, उच्च, वन्द्य एवं प्रधान

---

१ (क) जैन सिद्धान्त बोल संग्रह भाग ७, बोल ३२वाँ, पृ. १५ से १८ तक

(ख) विणय-सील-तव-नियम-गुणसमूहं तं, बभं भगवंतं गहगण-नक्खत्त-तारगाणं वा जहा उडुपत्ती, मणिमुत्त सिलप्पवाल-रत्तरयणागराणं च जहा समुद्दो, वेरुलिओ चेव जहा मणीणं, जहा मउडो चेव भूसणाणं, वत्थाणं चेव खोमजुयलं, अरविंदं चेव पुप्फजेट्ठं, गोसीसं चेव चंदणाणं, हिमवंतो चेव ओसहीणं, सीतोदा चेव निन्नगाणं, उदहीसु जहा सयंभुरमणो, रुयगवरे चेव मंडलिक पव्वयाणं पवरो, एरावण इव कुंजराणं, सीहोव्व जहा मिगाणं पवरे, पवकाणं चेव वेणुदेवे, धरणो जह पण्णगइंदराया, कप्पाणं चेव बंभलोए, सभासु य जहा भवे सोहम्मा, ठितिसु लवसत्तमव्व पवरा, दाणाणं चेव अभयदाणं, किमिराओ चेव कंबलाणं, संघयणं चेव वज्जरिसभे, संठाणे चेव समचउरंसे, झाणेसु य परमसुक्कज्झाणं, णाणेसु य परमकेवलं नु सिद्धं, लेसासु य परमसुक्कलेसा, तित्थंकरे जहा चेव मुणीणं, वासेसु जहा महाविदेहे, गिरिराया चेव मंदरपवरे, वणेसु जह णंदणवणं पवरं, दुमेसु जह जंबू सुदंसणा····तुरगवती गयवती रहवती नरवती जह वीसुए चेव राया, रहिए चेव जहा महारहगते। एवमणेगा गुणा अहीणा भवंति एकम्मि बंभचेरे।

—प्रश्नव्याकरण अ. ६, सं. ४, सू. १

समझा जाता है, उसे सर्वत्र आदर सम्मान दिया जाता है, उसकी यश कीर्ति सर्वत्र फैलती है, उसे विश्व का महामानव माना जाता है। यह क्यों ? यह उसके सुन्दर शरीर, धन, वैभव, बल, सत्ता, शिक्षा आदि की सम्पन्नता के कारण नहीं, किन्तु उसके ब्रह्मचर्य के कारण ही उसे प्रमुखता दी जाती है। प्रश्नव्याकरण सूत्र इस तथ्य का साक्षी है—

"तहेव इहलोइय पारलोइय जसे य कित्ती य पच्चओ य।"[1]

"तथा ब्रह्मचर्य की आराधना के कारण उसकी इस लोक और परलोक में यशकीर्ति और प्रतीति (विश्वास) बढ़ती है।"

वैदिक धर्म के मूर्धन्य ग्रन्थ अथर्ववेद में भी इस बात का समर्थन किया गया है 'व्रतेषु वै ब्रह्मचर्यम्।'[2]—व्रतों में ब्रह्मचर्य उत्कृष्ट है।

ब्रह्मचर्य : सर्वव्रतों का गुरु

गुरु मार्गदर्शक और प्रेरक होता है तथा वजनदार एवं गुरुतर भी होता है, साथ ही महान भी। ब्रह्मचर्य को भी कुछ मनीषियों ने सब व्रतों का गुरु बताया है। गुरु बताने के उपर्युक्त कारणों के अतिरिक्त ब्रह्मचर्य को इसलिए भी गुरु बताया गया है कि ब्रह्मचर्य-पालन से होने वाली पुण्यराशि बहुत ही अधिक है। जैन दर्शन की दृष्टि से शुद्ध ब्रह्मचर्य साधना से महानिर्जरा भी बहुत अधिक होती है। इस कारण ब्रह्मचर्य को व्रतों का 'गुरु' कहा गया है।[3]

ब्रह्मचर्य : सभी उत्तम कार्यों का विनायक

लोक व्यवहार में समस्त कार्यों को निर्विघ्न समाप्त करने के लिए विनायक जी (गणेशजी) को सर्वप्रथम मनाया जाता है। श्री गणेशजी विघ्नविनायक देव माने जाते हैं। इसी प्रकार संसार के समस्त उत्तम कार्यों में विघ्न निवारक एवं मंगल का मार्गदर्शक विनायक ब्रह्मचर्य ही है। ब्रह्मचर्यनिष्ठ व्यक्तियों के या ब्रह्मचर्य को पालन करके उत्तम कार्य करने वालों के कार्य ब्रह्मचर्य के प्रभाव से मंगलमय होते हैं।[4]

सभी आश्रमों में प्रधान : ब्रह्मचर्य

भारतीय संस्कृति के उन्नायकों ने समाज की सुव्यवस्था, आध्यात्मिक विकास एवं मोक्षप्राप्ति की दृष्टि से चार आश्रमों की व्यवस्था की—(१) ब्रह्मचर्याश्रम,

---

१ प्रश्नव्याकरण, संवरद्वार २।४

२ अथर्ववेद

३ व्रतानां ब्रह्मचर्यं हि निर्दिष्टं गुरुकं व्रतम्।
तज्जन्यपुण्या सम्भायोगाद् गुरुरुच्यते॥

४ सव्वजगुत्तम-मंगलमग्गं। —प्रश्नव्याकरण सूत्र सं० ४।१

(२) गृहस्थाश्रम, (३) वानप्रस्थाश्रम और (४) संन्यासाश्रम। इन चारों आश्रमों की योजना में भारतीय तत्त्वज्ञों ने ब्रह्मचर्य को समग्र समाजव्यापी बनाने की दृष्टि से प्रधानता दी है। ब्रह्मचर्य की डिग्री (साधना स्तर) न्यूनाधिक हो सकती है, परन्तु चारों में ब्रह्मचर्य का पालन मुख्यरूप से विहित है। सर्वप्रथम ब्रह्मचर्याश्रम को ही लीजिए। यह चारों आश्रमों की बुनियाद है। आगे के तीनों आश्रम इसी की परिपक्वता और पुष्टता पर निर्भर हैं। ब्रह्मचर्याश्रम में २५ वर्ष तक विद्यार्थी ब्रह्मचर्यनिष्ठ रहकर अपना जीवन-यापन करता है। बाल्यकाल से ही जन्मघुटी में बालक को ब्रह्मचर्य का प्रशिक्षण मिल जाने से उसके जीवन की नींव सुदृढ़ और पक्की हो जाती है। इसीलिए जीवन के अरुणोदय से लेकर यौवन के सिंहद्वार पर पहुँचने तक ब्रह्मचर्याश्रम में निष्ठापूर्वक पूर्णतया शुद्ध ब्रह्मचर्य का पालन आवश्यक माना गया है। ब्रह्मचर्य की पूर्ण रक्षा और परिपक्वता की दृष्टि से ब्रह्मचर्याश्रम बनाया गया था। इससे मनुष्य के भावी जीवन का उत्कृष्ट निर्माण हो जाता है। शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक तीनों प्रकार की शक्तियां इस अवधि में बढ़ जाती हैं। अन्यान्य उत्तम गुणों की फसल के लिए इस आश्रम से बाल्यावस्था में ही ब्रह्मचर्य की खाद पड़ जाती है। मानव-जीवन का यह स्वर्णकाल होता है। इसमें गुरुनिष्ठा, अध्ययननिष्ठा और सुसंस्कारनिष्ठा परिपक्व हो जाती है। ये तीनों निष्ठाएँ ब्रह्मचर्य द्वारा ही परिपक्व एवं सफल होती हैं। ब्रह्मचर्याश्रम में ब्रह्मचर्य को प्रधानता इसलिए भी दी गई है कि इस अवधि में ब्रह्मचर्यनिष्ठा सुदृढ़ हो जाए तो द्वितीय गृहस्थाश्रम में भी वह कुछ न कुछ रूप में रहेगी।

यद्यपि गृहस्थाश्रम में सन्तानसेवा, कुटुम्बसेवा और क्रमशः समाजसेवा कर्तव्य रूप से निहित है, इसलिए गृहस्थाश्रम में मर्यादित ब्रह्मचर्य होते हुए भी उसका अन्तिम आदर्श पूर्ण ब्रह्मचर्य ही है। टॉलस्टॉय के मतानुसार ब्रह्मचर्यपथ पर चलते हुए कहीं थकान आए, वहाँ गृहस्थाश्रम विश्राम रूप है। गृहस्थाश्रम में भी स्वपत्नी के सिवाय दूसरी सभी स्त्रियाँ माता-बहन-पुत्री के समान होती हैं। पत्नी के साथ गृहस्थाश्रम में रहते हुए भी यथावसर दम्पति पूर्ण ब्रह्मचर्यपूर्वक आगे बढ़ते हैं। ऐसे अनेक उदाहरण भारतीय इतिहास में मिलते हैं कि गृहस्थ जीवन में रहते हुए पति-पत्नी दोनों पूर्ण ब्रह्मचर्य-पालन के लिए प्रतिज्ञाबद्ध हो गये थे।

गृहस्थाश्रम में रहते हुए विजय सेठ और विजया सेठानी के पूर्ण ब्रह्मचर्य का उदाहरण पहले प्रस्तुत किया जा चुका है। गृहस्थाश्रम में रहते हुए भी वानप्रस्थाश्रमी के समान ब्रह्मचर्य-मय जीवन व्यतीत करने का एक ज्वलन्त उदाहरण बंगाल के एक अश्विनीकुमार दत्त का है। विवाह के दो वर्ष बाद एक दिन वे ईसाई सन्त 'सैंट पाल की वाणी' का स्वाध्याय कर रहे थे। देह की पवित्रता की सुरक्षा करने का उपदेश पढ़कर उनके मन में अन्तःस्फुरणा हुई—"मैं तो विवाहित हूँ, फिर शरीर की पवित्रता ब्रह्मचर्य-पालन के बिना कैसे रख सकता हूँ?" उन्होंने अपने

विचार से सहमत करने हेतु अपनी पत्नी को आठ पृष्ठ का पत्र लिखा। उस समय पत्नी की आयु १५ वर्ष की थी, फिर भी उस सुसंस्कृत भारतीय बाला ने दृढ़ता-पूर्वक उत्तर दिया—"प्रिय ! मैं आपकी सहधर्मिणी हूँ। आप जिस आध्यात्मिक पथ पर प्रगति करना चाहते हैं, उस पर सुखपूर्वक प्रगति करें। मैं आपके श्रेयमार्ग में बाधक नहीं, अपितु सहायक बनूंगी"। धर्मपत्नी की सहमति पाकर अश्विनीकुमार दत्त ने पत्नी सहित उसी दिन से आजीवन पूर्ण ब्रह्मचर्य पालन करने का संकल्प कर लिया। इस प्रकार पति-पत्नी दोनों ने ब्रह्मचर्यपूर्वक रहकर समाज और राष्ट्र की सेवा की। इन्होंने ब्रह्मचारी भाई-बहनों का एक मण्डल भी स्थापित किया था।

इसी प्रकार रामकृष्ण परमहंस और शारदामणि देवी का जीवन विवाहित होकर भी आजीवन ब्रह्मचर्यपूर्वक बीता, यह इतिहास प्रसिद्ध है। ये उदाहरण गृह-स्थाश्रम में ब्रह्मचर्य लक्षी आदर्श को सिद्ध करते हैं।

गृहस्थाश्रम के पश्चात् तीसरा वानप्रस्थाश्रम है। वानप्रस्थाश्रम में पति-पत्नी दोनों गृहस्थाश्रम के उत्तरदायित्व से निवृत्त होकर वन में कहीं झोंपड़ी बनाकर ब्रह्मचर्यपूर्वक रहते थे। सम्पर्क में आने वाले व्यक्ति को नैतिक धार्मिक उपदेश दिया करते थे। कई वानप्रस्थी तापस अथवा ऋषि वन में रहकर गुरुकुल या आश्रम चलाते थे।

कुछ लोग पूर्वजन्म के प्रबल संस्कारवश गृहस्थाश्रम एवं वानप्रस्थाश्रम स्वीकार न करके ब्रह्मचर्याश्रम से सीधे ही संन्यासाश्रम में प्रविष्ट हो जाते थे। इसके आदर्श उदाहरण जगद्गुरु आद्य शंकराचार्य, कलिकालसर्वज्ञ श्री हेमचन्द्राचार्य, ऋषि दयानन्द सरस्वती आदि इतिहासप्रसिद्ध रत्न हैं। गांधी युग में संत विनोबा जी, बालकोबाजी एवं शिवाजी भावे ये तीनों भाई नैष्ठिक ब्रह्मचारी प्रसिद्ध हैं। भारत भूमि पर इस प्रकार के ब्रह्मचारियों की कमी नहीं है।

चौथा संन्यास-आश्रम है। संन्यासाश्रम में तो मुख्यतः पूर्ण ब्रह्मचर्यनिष्ठा होती है। इसलिए इस आश्रम में मन, वचन-काया से कृत-कारित-अनुमोदित रूप से अब्रह्मचर्य का त्याग और पूर्ण रूप से ब्रह्मचर्य का पालन करना अनिवार्य होता है।

निष्कर्ष यह है कि जीवन की बुनियाद में ब्रह्मचर्याश्रम, फिर ब्रह्मचर्यलक्षी गृहस्थाश्रम, तत्पश्चात् पति-पत्नी दोनों के द्वारा ब्रह्मचर्य-पूर्वक स्वीकृत वानप्रस्था-श्रम और अन्त में पूर्ण ब्रह्मचर्यनिष्ठा के साथ अंगीकृत संन्यासाश्रम यों समग्र समाज को जीवन के हर मोड़ पर ब्रह्मचर्य को प्रधानता दी गई है।

ब्रह्मचर्य व्रत : उग्र और घोर

शास्त्रों में अहिंसा आदि चार महाव्रतों के लिए कहीं भी 'उग्र' और 'घोर' शब्द नहीं आता, ब्रह्मचर्य महाव्रत के लिए कई स्थानों पर 'उग्र' और 'घोर' विशेषण प्रयुक्त हुआ है। जैसा कि उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया है—

'उग्गं महव्वयं, धारेयव्वं सुदुक्करं'[1]

अर्थात्—ब्रह्मचर्य महाव्रत उग्र है, उसे धारण करना अति दुष्कर है।

इसी प्रकार 'घोरबंभयारी' शब्द भी आता है जिसका आशय भी ब्रह्मचर्य महाव्रत की 'घोरता' का प्रतिपादन करना है।

ये दोनों विशेषण सभी महाव्रतों में ब्रह्मचर्य महाव्रत की प्रमुखता, प्रधानता या श्रेष्ठता को अभिव्यक्त करते हैं।

□□

---

१. उत्तराध्ययन, १९।२८

४

ब्रह्मचर्य का अमोघ प्रभात

ब्रह्मचर्य की अद्‌भुत परिवर्तन क्षमता

ब्रह्मचर्य साधक-जीवन का प्रचण्ड बलिष्ठ प्रहरी है। ब्रह्मचर्य की साधना से अनेक प्रकार की आध्यात्मिक शक्तियाँ प्राप्त होती हैं। उन शक्तियों के कारण ब्रह्मचारी का प्रभाव पारिपार्श्विक सजीव और निर्जीव पदार्थों पर पड़ता है। यहाँ तक कि प्रकृति के भयंकरतम पदार्थों को, हृदय को कँपा देने वाली वस्तुओं को, मरणान्तक दृश्य को, प्रतिकूल प्रभाव वाले पदार्थों को अपने अनुकूल बना लेने, उनमें परिवर्तन कर डालने, उनकी भयंकरता को मंगलमयी एवं आनन्दमयी बना देने की क्षमता ब्रह्मचर्य में है। अखण्ड और शुद्ध ब्रह्मचर्य के अद्‌भुत चमत्कार हैं, अगणित प्रभाव हैं, आश्चर्यजनक प्रताप हैं। सभी धर्मों में ब्रह्मचर्य के अद्‌भुत प्रभावों की कहानियाँ मिलती हैं।

देवों पर ब्रह्मचर्य का प्रभाव

देव वैक्रिय शक्ति से सारे विश्व को चमत्कृत कर सकते हैं, विश्व की बड़ी से बड़ी भौतिक शक्ति को देव परास्त कर सकते हैं, अपने भौतिक वैभव से संसार के मानवों को प्रभावित कर सकते हैं, परन्तु वे देव भी, यहाँ तक कि देवों का राजा इन्द्र भी, ब्रह्मचारी के समक्ष तथा ब्रह्मचर्य प्रभाव के समक्ष नतमस्तक हो जाते हैं।

इन्द्र या देव व्रताचरण नहीं कर सकते, किन्तु वे ब्रह्मचर्य आदि व्रतों के धारक साधकों का तो आदर करते ही हैं। वे अपनी सभा में ऐसी कोई कामवासना की बात नहीं करते, जो ब्रह्मचर्य-मर्यादा के विरुद्ध हो। साथ ही उनके सभागारों में शील-मूर्ति तीर्थंकरों एवं शीलवान व्यक्तियों से शील की प्रेरणा लेने को कहा जाता है। देवों का राजा इन्द्र अपने सिंहासन पर बैठते समय **'णमो बंभयारिस्स'** (ब्रह्मचारी को नमस्कार हो) कहकर नमन करता है। सभी देव ब्रह्मचारियों की भक्ति एवं बहुमान करते हैं। यह शास्त्रीय कथन है।

जैन शास्त्रों में प्रमुख आगम उत्तराध्ययन सूत्र में स्पष्टतः इस तथ्य को प्रकट किया गया है—

"जो महान् आत्मा दुष्कर ब्रह्मचर्य का पालन करता है, उसके चरणों में देव, दानव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, किन्नर आदि समस्त दैवी शक्तियाँ सभक्ति भाव से नमस्कार करती हैं।"[1]

अथर्ववेद में भी ब्रह्मचर्यधारक के देवों पर अचूक प्रभाव को स्पष्ट करते हुए कहा है—

"ब्रह्मचारी के प्रति समस्त देवगण अनुकूल होकर रहते हैं और वह पृथ्वी और द्यौ को धारण करता है।"[2]

"रक्षा करने वाले पितर देव और अन्य समस्त देवगण ब्रह्मचारी का अनुसरण करते हैं।"[3]

जैन कथाओं में ऐसे अनेक ब्रह्मचारियों और ब्रह्मचारिणी सतियों के उदाहरण मिलते हैं, जिन पर संकट आने पर देवों ने उनके संकट का निवारण किया है।

सती सुभद्रा का उदाहरण जैनजगत् में प्रसिद्ध है। सती सुभद्रा का विवाह उसके पिता ने धोखे से चम्पानगरी के एक बौद्धधर्मी वणिक्पुत्र के साथ कर दिया था। सुभद्रा के ससुराल वाले सभी कट्टर बौद्धधर्मी थे। सुभद्रा जब अपने ससुराल में जैनधर्म की धार्मिक क्रियाएँ करती तो उसकी सास आदि सब टोकते, उसकी टीका-टिप्पणी करते और उसे धर्म से विचलित करने का प्रयत्न करते थे। उसका पति भी उसे बहुत रोक-टोक करता रहता था, किन्तु सुभद्रा अपने मधुर व्यवहार से सबको समझाकर अपनी धार्मिक क्रियाएँ करती रहती थी। सास को दृष्टि में ये सब धार्मिक क्रियाएँ ढोंग थीं। वह इसी फिराक में रहती थी कि कोई ऐसा नुक्ता मिल जाए तो सुभद्रा को बदनाम करके घर से निकाल दूँ।

एक दिन एक जिनकल्पी मुनि सुभद्रा के यहाँ आहार के लिए आए। मुनिराज को आहार देने के समय सुभद्रा ने देखा कि उनकी आँखों में कोई तिनका घुस गया है, जिसके कारण उनके नेत्रों से पानी बह रहा है। नेत्रों में पीड़ा असह्य है, परन्तु मुनि को शरीर पर आसक्ति न होने से वे समभावपूर्वक सह रहे थे। सुभद्रा श्राविका थी, अतः सुभद्रा ने निर्दोष भक्तिभाव से पितातुल्य मुनिराज की आँखों में अपनी जीभ फिराई, जिससे आंख में पड़ा हुआ तिनका निकल गया। मुनिराज स्वस्थ होकर सहजभाव से चले गये किन्तु जीभ से तिनका निकालते समय सुभद्रा के भाल पर लगा हुआ लाल सुहाग बिन्दु मुनिराज के कपाल पर लग गया। सुभद्रा की सास यह हरकत देख रही थी। मुनिराज के जाने ही उसने हल्ला मचाया कि "देखो,

---

१. देव-दाणव-गंधव्वा जक्ख रक्खस्स-किन्नरा।
बंभयारिं नमंसंति, दुक्करं जे करेंति तं॥ —उत्तराध्ययन १६।१६

२. तस्मिन् देवाः संमनसो भवन्ति, सदाधारा पृथ्वी दिवं च।" —अथर्व. ११।५।१

३. "ब्रह्मचारिणं पितरो देवजनाः पृथक् देवा अनुसंयन्ति सर्वे।" —अथर्व.११।५।२

इस कुलटा की चेष्टा ! उस ढोंगी साधु को आहार देने के बहाने यह उसके साथ भ्रष्ट हो गई है। मैंने अपनी आँखों से इसका त्रियाचरित्र देखा है। स्वयं सती बनने का ढोंग करती है, है कुलटा ही। ऐसी कुलटा को घर में कौन रखेगी, मैं अपने पुत्र को कहकर अभी इसे घर से निकालती हूँ।"

सुभद्रा ने सास को बहुत समझाया कि "मुनिराज निर्दोष हैं, मैंने निर्दोष भाव से उनकी आँख में पड़ा हुआ तिनका निकाला है। आप कहें, उस प्रकार से मैं परीक्षा देने को तैयार हूँ।"

परन्तु सास ने उसकी एक न मानी। पति जरा कोमल स्वभाव का था। अतः उसने घर से तो नहीं निकाला, परन्तु किसी भी साधु को कुछ भी आहारादि देने पर प्रतिबन्ध लगा दिया।

सुभद्रा सच्ची थी, पतिव्रता थी; शीलवती थी, अपने पर झूठा दोषारोपण आया हुआ देख उसे अत्यन्त दुःख हुआ। उसने पंचपरमेष्ठी मंत्र का जाप ध्यानस्थ होकर किया। फलतः मर्यादित ब्रह्मचर्यनिष्ठ सुभद्रा पर आये हुए संकट के कारण देवों का आसन कंपायमान हुआ। उन्होंने अवधिज्ञान से जाना और चम्पानगरी के सभी दरवाजे बन्द कर दिये। नगरी में चारों ओर हाहाकार मच गया। नागरिक लोग राजा से संकटनिवारणार्थ प्रार्थना करने लगे। राजा ने अपने सैनिकों को दरवाजे खोलने के लिए भेजा। मगर दरवाजे न खुले। इतने में ही आकाशवाणी हुई—"जो एक पतिनिष्ठा शीलवती सती कच्चे सूत के धागों की चालनी से पानी निकालकर उस पानी को दरवाजों पर छींटेगी तो दरवाजे खुलेंगे, अन्यथा नहीं।"

कच्चे सूत की चालनी से पानी निकालना और एक बूंद भी न गिरने देना, यह अशक्य बात किसी भी स्त्री के गले उतरती नहीं थी। सुभद्रा सती ने अपनी सास से कहा—"माताजी ! मुझे भी यह परीक्षा देने दें। विश्वास है कि मैं इस परीक्षा में सफल होऊंगी।" यह सुनते ही सब उसकी खिल्ली उड़ाने लगे। आखिर अनुमति पाकर सूत की चालनी से सुभद्रा ने कुँए में से पानी निकाला। सब लोग यह चमत्कार देख कर दाँतों तले अंगुली दबाने लगे। अतः सुभद्रा ने उस जल को लेकर ज्यों ही नगरी के मुख्य दरवाजे पर छींटा वह (देवमाया से) खुल गया। इस प्रकार क्रमशः तीन दरवाजों पर छींटा तो तीनों खुल गये। चौथा दरवाजा सुभद्रा सती ने बंद रखा। सभी लोग, विशेषतः सुभद्रा के ससुराल वाले सभी उसकी जय-जयकार करने लगे। आकाशवाणी हुई। देवों ने पुष्पवृष्टि की। 'सुभद्रा सती की जय' के नारों से आकाश गूंज उठा। इस प्रकार सुभद्रा सती के ब्रह्मचर्य (एक पतिनिष्ठ) के प्रभाव से देवों ने उस पर आए हुए मिथ्या दोषारोपण का निवारण किया।

ब्रह्मचर्य की सुगन्ध देवों के लिए चित्ताकर्षक

जैन परम्परा की तरह बौद्ध परम्परा में भी ब्रह्मचर्य का त्रिलोकव्यापी प्रभाव माना गया है। "धम्मपद" में कहा है—"अगरु और चन्दन की सौरभ फैलती है, वह तो बहुत ही अल्पमात्रा में होती है, परन्तु ब्रह्मचर्य (शील) की सुगन्ध ऐसी है,

जो देवों के हृदय को भी आकर्षित कर लेती है।[1] वह सुगन्ध इतनी व्यापक है, कि मानवलोक तो क्या देवलोक में भी व्याप्त हो जाती है।

'विसुद्धिमग्ग' में भी इसी के समर्थन में कहा गया है कि "शील की गन्ध के समान दूसरी गन्ध कहाँ से होगी ? दूसरी गन्ध तो जिधर हवा का रुख होगा, उधर ही बहती है, परन्तु शील की गन्ध ऐसी गन्ध है जो विपरीत हवा में भी उसी तरह बहती है जिस तरह अनुकूल हवा में बहती है।[2] तात्पर्य यह है कि शील की सुगन्ध देवों को भी प्रभावित करती और मुग्ध बना देती है।

ब्रह्मचर्य से प्रभावित एवं परास्त

महाभारत में वर्णन है कि वीर अर्जुन ब्रह्मचर्य का पालन करता हुआ तप कर रहा है। इन्द्र के मन में आशंका हुई कि कहीं अर्जुन मेरा राज्य न हथिया ले। इस भय से इन्द्र ने अर्जुन को तप एवं ब्रह्मचर्य से भ्रष्ट करने के लिए उर्वशी नामक अप्सरा को भेजा। उर्वशी वस्त्राभूषणों से सुसज्जित होकर हाव-भाव दिखाती हुई अर्जुन से बोली—"प्रियतम ! आप जिसको पाने के लिए इतना तप कर रहे हैं, वह मैं स्वयं आपकी सेवा में उपस्थित हूँ। मुझे अपनाकर अपना जीवन सफल बनाइये।"

अर्जुन अपनी तपस्या में मग्न था। वह उर्वशी को माता के रूप में देख रहा था। वह किसी भी तरह विचलित न हुआ। उर्वशी ने सब तरह से कौशल अजमा लिया, किन्तु वह अर्जुन का ध्यान न खींच सकी। सब तरह से हार कर उसने अपने अन्तिम अस्त्र का प्रयोग किया। वह नग्न हो गई। उर्वशी रूप सौन्दर्य में अद्भुत थी ही, फिर उसने दैवीबल से आकर्षक रूप बना लिया। फिर भी वीर अर्जुन जरा सा भी ब्रह्मचर्य-भ्रष्ट न हुआ। उसने मुस्कराकर कहा—"माता ! अगर आपने इस सुन्दर शरीर से मुझे जन्म दिया होता तो मुझमें और अधिक तेज आ जाता।" यह सुन उर्वशी लज्जित हुई। वह प्रभावित व परास्त होकर लौट गई।

ब्रह्मचर्य से प्रभावित होकर देव सहायक बने

सेठ सुदर्शन की कथा को कौन नहीं जानता है ? जब राजा ने अभयारानी की बात सच्ची मानकर शीलवान सुदर्शन को शूली पर चढ़ाने की सजा दी। सेठ सुदर्शन पर लगा हुआ दोषारोपण मिथ्या था, राजा को विश्वासपूर्वक कहने से कदाचित् वह मान जाता, किन्तु सत्य घटना कहने से रानी के लिए अनर्थ होने की

---

१. "चन्दनं तगरं वापि उप्पलं अथ वस्सिकी।
एतेसं गंधजातानं सीलगंधो अनुत्तरो॥" —धम्मपद ४—१२

२. सीलगंध समो गंधो कुतो नाम भविस्सति।
यो समं अनुवाते च पटिवाते च वायति॥ —विसुद्धिमग्ग परि—१

सम्भावना थी। राजा कदाचित् रानी को इस अपराध के कारण शूली की सजा या और कोई मृत्युदण्ड देता। इसी कारण सुदर्शन ने मौन रहकर स्वयं मृत्युदण्ड का वरण कर लिया।

परन्तु यह क्या ? ज्यों ही सेठ सुदर्शन को शूली पर चढ़ाया गया, देखते ही देखते देवमाया से उस शूली का सिंहासन बन गया। सभी लोगों ने सेठ सुदर्शन की जय के नारे लगाए। राजा को अपनी भूल मालूम हुई। उसने भी क्षमा याचना की।

यह सुदर्शन सेठ के ब्रह्मचर्य का ही प्रभाव था कि देव सहायक बने, शूली का सिंहासन बन गया। यह था देवों पर ब्रह्मचर्य का प्रभाव !

मनुष्यों पर ब्रह्मचर्य का प्रभाव

मनुष्यों पर भी ब्रह्मचर्य का अद्भुत प्रभाव पड़ता है। मनुष्य चाहे कितना ही पापी हो, क्रूर हो, विषयान्ध हो, धन के मद में मतवाला हो, सत्ता के नशे में चूर हो अथवा शस्त्र-अस्त्र आदि संहारक पदार्थों से सुसज्जित हो, परन्तु ब्रह्मचारी स्त्री या पुरुष के ब्रह्मचर्य का उस पर अचूक प्रभाव पड़ता है। किन्तु ब्रह्मचारी पर इन या ऐसे ही कठोर हृदय व्यक्तियों का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। वह न तो उनके भय दिखाने से डरता है, और न ही उनके प्रलोभनों से ललचाकर वश में होता है। उलटे ब्रह्मचारी की ब्रह्मचर्यनिष्ठा का उन पर चामत्कारिक प्रभाव पड़ता है। कोई स्त्री किसी पुरुष के रूप पर मुग्ध होकर सहसा ब्रह्मचारी को अपना वशवर्ती बनाने की इच्छा से सर्वस्व समर्पण करने को तैयार हो जाए किन्तु ब्रह्मचारी चट्टान की तरह अडोल रहता है, ब्रह्मचारी के अद्भुत तेज के सामने वह झुक जाती है। ब्रह्मचारी के तेजस्वी व्यक्तित्व से प्रभावित होकर उसका काम का नशा उतर जाता है।

उन दिनों स्वामी रामकृष्ण परमहंस नहीं बने थे। काली माता के वे परम-भक्त थे। विवाहित होते हुए भी पति-पत्नी दोनों पूर्ण ब्रह्मचर्यनिष्ठ होकर रहते थे। उन्हें विरक्तदशा में देखकर माथुर बाबू नामक एक गृहस्थ ने उनकी परीक्षा लेने की दृष्टि से कलकत्ता के मछुआ बाजार में रहने वाली लक्ष्मीबाई नाम की एक वारांगना से बातचीत करके उन्हें वेश्याओं के जाल में फंसाने का विचार किया। लक्ष्मीबाई ने एक दीवानखाने में रूप-लावण्य-सम्पन्न सोलह नवयुवती वेश्याओं को रख लिया था। माथुर बाबू श्री रामकृष्ण को लक्ष्मीबाई के दीवानखाने में ले गए। वहाँ उन्हें प्रवेश कराकर माथुर बाबू तो नौ दो ग्यारह हो गए। श्री रामकृष्ण उस समय एक साधारण लंगोटी लगाये हुए थे। उन्होंने दीवानखाने में घुसते ही देखा कि यौवन के मद में मतवाली, अत्यन्त सुन्दरी १५-१६ युवतियाँ अर्धनग्नावस्था में हाथ जोड़े खड़ी है। श्री रामकृष्ण को मोहित करने के लिए वे अनेक हाव-भाव एवं कामचेष्टाएँ करने लगी। उन्होंने श्री रामकृष्ण को कामजाल में फँसाने का पूरा आयोजन कर लिया। परन्तु ब्रह्मचर्यनिष्ठ रामकृष्ण ने उन पर दृष्टि पड़ते ही उनके समक्ष खड़े होकर

मस्तक झुकाया, और मुँह से 'माँ आनन्दमयी ! माँ आनन्दमयी !' शब्द से सम्बोधित करके उन्हें नमस्कार किया, फिर उनके बीच में खड़े हुए 'माँ ब्रह्ममयी !' बोलते-बोलते वे समाधिस्थ हो गये। समाधि अवस्था में उनके दोनों नेत्रों से प्रेमाश्रुधारा बहने लगी। श्री रामकृष्ण की यह स्थिति देखकर कुछ वारांगनाएँ भयभीत होकर ! पंखे से उन्हें हवा करने लगीं, कई उनके समक्ष हाथ जोड़ कर कहने लगीं—"महात्मन् ! हम अपराधी हैं। हमें क्षमा कर दीजिए।" थोड़ी देर बाद माथुर बाबू आए और श्री रामकृष्ण की यह स्थिति देखकर अत्यन्त लज्जित हुए। उन्होंने श्री रामकृष्ण से क्षमा माँगी और उसी दिन से उनके चरणों में सर्वस्व समर्पण करके उनके सेवक बन गये। कहते हैं, उन वारांगनाओं ने श्री रामकृष्ण के जीवन से प्रभावित होकर वेश्या-वृत्ति छोड़ दी।

यह था नैष्ठिक ब्रह्मचारी श्री रामकृष्ण परमहंस का कामवासनामयी वारांगनाओं पर प्रबल प्रभाव !

स्थूल ब्रह्मचर्य का प्रभाव

यद्यपि वीर्य रक्षा करना अपूर्ण ब्रह्मचर्य है। स्वस्त्री के अतिरिक्त समस्त नारियों के प्रति अब्रह्मचर्य-सेवन का त्याग स्थूल ब्रह्मचर्य कहलाता है। तथापि निष्ठापूर्वक स्थूल ब्रह्मचर्य पालन करने वाले का भी अचूक प्रभाव पड़ता है। वह भय एवं प्रलोभन दिखाने पर भी अपने स्थूल ब्रह्मचर्य से कदापि विचलित नहीं होता।

वीर दुर्गादास राठौड़ अपनी स्त्री के सिवाय तमाम पराई स्त्रियों को माता-बहन समझता था। औरंगजेब बादशाह की बेगम गुलनार दुर्गादास के रूप एवं प्रभावशाली शरीर को देखकर मोहित होगई। उसने दुर्गादास को कैद कराया और जेलखाने में मिली। उसने अत्यन्त हाव-भाव दिखाकर स्वयं को स्वीकार करने के लिए कहा और अपना तन, मन, धन, सर्वस्व समर्पण करने को तैयार हो गई। किन्तु दुर्गादास किसी भी मूल्य पर उसे अपनाने को तैयार न हुआ। उसने हाथ जोड़कर कहा—"माँ ! मुझे क्षमा करो। तुम मेरी माता के समान हो। मैं पराई स्त्रियों को जगदम्बा दुर्गा के समान समझता हूँ।"

बेगम गुलनार ने देखा कि प्रलोभन से काम नहीं हो रहा है तो उसने अनेक भय दिखाये। लेकिन वीर दुर्गादास अपने स्थूल ब्रह्मचर्य से एक इंच भी न डिगा। आखिर वीर दुर्गादास की विजय हुई। बेगम गुलनार को उसके सामने झुकना पड़ा। उसने क्षमा माँगी और विदा हुई।

ब्रह्मचारिणी का पुरुषों पर प्रभाव

कुम्भराजा की पुत्री मल्लिकुमारी के अद्भुत रूप की प्रशंसा सुनकर छह राजाओं ने अपने-अपने दूत भेजकर राजकुमारी मल्लि की अपने-अपने राजा के लिए याचना की। किन्तु मिथिलानरेश कुम्भराजा ने उन दूतों को तिरस्कृत करके विदा

कर दिया। इस पर छहों राजा क्रुद्ध होकर एक साथ मिथिला पर चढ़ आए और चारों ओर से मिथिला को घेर लिया। राजकुमारी मल्लि ने सबको मोहनघर में ठहराने को कहा। अंदर घुसते ही गुप्तगृह में मल्लिकुमारी की पुतली को वास्तविक मल्लिकुमारी समझकर एकटक देखने लगे। इतने में मल्लिकुमारी ने पीछे से पुतली का ढक्कन खोल दिया। ढक्कन खोलते ही चारों ओर दुर्गन्ध फैल गई, क्योंकि उस पुतली के खोखले में प्रतिदिन खाया हुआ अन्न डाला जाता था, जो सड़कर तीव्र दुर्गन्ध मारता था। उस दुर्गन्ध के मारे सभी राजाओं ने परेशान होकर नाक, मुँह ढक लिये। उस समय मल्लिकुमारी ने उन्हें प्रतिबोध दिया। अखण्ड ब्रह्मचारिणी मल्लिकुमारी के उपदेश से छहों राजा अत्यन्त प्रभावित हुए। सभी ने अपने-अपने पुत्र को राज्यभार सौंपकर मल्लिकुमारी (तीर्थंकर) के साथ भागवती दीक्षा ग्रहण की।

इसी प्रकार जैन साहित्य में ऐसी शीलवती नारियों की अनेक कथाएँ हैं, जिनके ब्रह्मचर्य के तेज के आगे कामलोलुप पुरुष झुक गये और क्षमा माँगकर भविष्य में वैसा अपराध न करने की प्रतिज्ञा ली।

स्त्री की कामवासना शान्त होगई

अखण्ड ब्रह्मचारी का ब्रह्म तेज इतना प्रखर होता है कि उनके पास कामुक दृष्टि से आने वाली महिला की कामवासना भी शान्त हो जाती है।

स्वामी विवेकानन्द के एक तेजस्वी और अखण्ड ब्रह्मचारी शिष्य वे स्वामी विभूतानन्द जी।

एक दिन वे अपने कमरे में बैठे कुछ चिन्तन कर रहे थे कि एक स्त्री ने उन्हें अकेले जानकर बुरे आशय से प्रवेश किया। किन्तु स्वामी जी का ब्रह्मतेज और तेजस्वी चेहरा देखकर वह स्तब्ध रह गई। स्वामी जी को उसका आशय समझते देर न लगी। उन्होंने शीघ्र ही कहा—"माँ! तुम्हें कुछ लेकर ही जाना होगा।" यों कहकर उस महिला को स्वामी जी ने प्रसाद दिया, जो उसने स्वीकार किया। किन्तु उसने स्वामी जी के मुँह से अपने लिए सम्बोधित किया हुआ 'माँ' शब्द सुना कि तुरन्त ही उसकी कामवासना शान्त हो गई। प्रभु का प्रसाद ग्रहण करके आँखों से अश्रु बहाते हुए उसने स्वामी जी को नमस्कार किया और क्षमा माँगकर विदा हुई। यह था अखण्ड ब्रह्मचर्य साधना का प्रताप!

बुन्देलखण्ड के महाराजा छत्रशाल उस समय पूर्ण यौवन पर थे। ब्रह्मचर्य तेज के साथ-साथ शौर्य, धैर्य, गाम्भीर्य आदि क्षत्रियोचित गुण उनमें विद्यमान थे। महाराजा को देखकर एक सामन्त की विधवा पुत्री उन पर मुग्ध हो गई। काम अन्धा होता है, वह जिस पर सवार होता है, उसे कुछ भी होश नहीं रहता। उसने अपनी दासी को भेजकर सन्देश भिजवाया कि एक दुःखी महिला आपको याद कर रही है। छत्रशाल राजा आए तो उक्त महिला ने कहा—"महाराज! मैं बहुत दुःखी हूँ।" जब उन्होंने पूछा कि तुम्हें क्या दुःख है? तब उसने छलपूर्वक उत्तर

दिया—"महाराज ! मैं सन्तानहीन हूँ। मुझे आप सरीखा पुत्र चाहिए।" दो क्षण स्तब्ध होकर महाराजा ने स्वयं को सँभालते हुए उत्तर दिया—"आपको मेरे जैसा पुत्र चाहिए तो, हे माता ! छत्रशाल आज से तुम्हारा पुत्र है।" यों कहकर महाराज छत्रशाल ने उसके चरणों में नमन किया और उसे राजमाता के रूप में माना। उक्त महिला की कामवासना फौरन गायब हो गई।

यह था ब्रह्मचर्यनिष्ठा का अद्भुत प्रभाव, जिसने काम-पीड़ित महिला की भावना में आमूलचूल परिवर्तन कर दिया।

परमभक्त ब्रह्मचर्यनिष्ठ मीराबाई ने वृन्दावन में एक कामासक्त मनुष्य को अपने ब्रह्मचर्य के प्रभाव से ही संत बनाया था।

अशोक वाटिका में एकाकी एवं असहाय सीता को रावण जैसा शक्तिशाली राक्षस विचलित करने में असमर्थ रहा। यह शक्ति सीता की नहीं, सीता की ब्रह्मचर्य-निष्ठा की थी। ब्रह्मचर्य ने ही सीता को जगज्जननी पद पर प्रतिष्ठित किया।

तिर्यञ्चों तथा प्राकृतिक पदार्थों पर प्रभाव

इसके अतिरिक्त ब्रह्मचर्य का प्रभाव देवों और मानवों पर ही नहीं, तिर्यंचों एवं प्राकृतिक पदार्थों पर भी पड़ता है। एक आचार्य ने सिन्दूरप्रकरण नामक ग्रन्थ में इस सम्बन्ध में स्पष्ट रूप से कहा है—"ब्रह्मचर्य (शील) के प्रभाव से अग्नि अवश्य ही जलवत् हो जाती है, साँप पुष्पमालावत्, बाघ हिरण के समान, दुष्ट हाथी साधारण अश्वसदृश, पर्वत प्रस्तर खण्ड के समान, विष अमृत के समान, विघ्न महोत्सववत्, शत्रु मित्रवत्, समुद्र क्रीड़ा सरोवर की तरह और अटवी स्वगृहवत् बन जाती है।"[1] आशय यह है कि ब्रह्मचारी स्त्री-पुरुषों के ब्रह्मचर्य के प्रभाव से अग्नि आदि अपने मूल स्वभाव को छोड़कर उसके अनुकूल ब्रह्मचारी की इच्छानुरूप परिवर्तित हो जाते हैं।

अग्निकुण्ड सरोवर बन गया

आज से हजारों वर्ष पुरानी घटना है, जो अग्नि पर ब्रह्मचर्य-प्रभाव को स्पष्ट अभिव्यक्त करती है। रावण की मृत्यु के बाद श्रीराम ने जब सीता के विषय में लोकापवाद सुना तो सीता के ब्रह्मचर्य (शील) की अग्निपरीक्षा करने का विचार किया। सीता अपने-आप में मन-वचन-काया से पवित्र एक-पतिनिष्ठ शीलवती थी। वह इसके लिए सहर्ष तैयार हो गई। "धधकते हुए अग्निकुण्ड में प्रवेश करने पर यदि अग्नि सीता को नहीं जलाएगी तो समझा जाएगा कि सीता

---

१. तोयत्यग्निरपि स्रजत्यहिरपि व्याघ्रोऽपि सारंगति,
व्यालोऽप्यश्वति पर्वतोऽप्युपलति क्ष्वेडोऽपि पीयूषति।
विघ्नोऽप्युत्सवति प्रियस्थिरपि क्रीडातडागत्यपां—
नाथोऽपि स्वगृहत्यटव्यपि नृणां शीलप्रभावाद् ध्रुवम्॥ —सिन्दूर प्रकरण, ४०

निर्दोष है, पवित्र है, शीलवती है।" फलतः सीता स्वयं हजारों ज्वालाओं से दहकते हुए इस अग्निकुण्डी में कूद। इसके साथ ही सीता ने अग्निदेव से इस प्रकार प्रार्थना की—

"मनसि वचसि काये जागरे स्वप्नमार्गे,
यदि मम पतिभावो राघवादन्यपुंसि।
तदिह दह शरीरं मामकं पावकेदम्
सुकृत-विकृतभाजां देव! लोकेषु साक्षी।'

अर्थात्—"हे पावक (अग्नि)! यदि मन, वचन अथवा शरीर से जागृत रहते या स्वप्न में भी श्रीराम के सिवाय किसी अन्य पुरुष में मेरा पतिभाव जागा हो, तो मेरे इस शरीर को तू यहीं जला डाल। हे देव! इस लोक के सुकृत और दुष्कृत का साक्षी तू ही है।" उस भयंकर अग्निकुण्ड में कूदते ही हजारों दर्शक नर-नारियों के मुख से चीख निकल पड़ी, कठोर हृदय व्यक्तियों के दिल भी काँप उठे। दुर्घटना की आशंका से उनकी आँखें सहसा बंद हो गईं। मगर दूसरे ही क्षण जब उन्होंने आँखें खोलीं तो देखा कि अग्निकुण्ड के स्थान पर वहाँ स्वच्छ शान्त सरोवर है। उसमें विकसित कमलपुष्पों पर आसीन सीता एक अद्भुत दिव्य प्रकाश से जगमगा रही है।

यह था ब्रह्मचर्य का अग्नि पर प्रभाव! ब्रह्माण्ड को जलाने में समर्थ अग्निदेव सीता का स्पर्श होते ही जलरूप में परिवर्तित हो गया था। प्राकृतिक पदार्थों को प्रभावित करने की यह शक्ति सीता की नहीं, सीता के ब्रह्मचर्य की थी।

सर्प पुष्पमाला में परिवर्तित

सोमा नाम की शीलवती महिला थी। वह स्थूल (एकपतिनिष्ठ) ब्रह्मचर्य का पालन करती हुई अपनी धर्माराधना करती थी। लेकिन यह बात उसके सास-ससुर एवं पति आदि को नहीं सुहाती थी। फलतः उन्होंने सोमा को मारने का षड्यंत्र रचा। एक घड़े में भयंकर विषधर को डालकर रखा गया और सोमा से कहा गया—"घड़े में फूलों की माला रखी है, ले आओ।" सोमा सहजभाव से लेने गई। ज्यों ही उसने घड़े में हाथ डाला तो उसके शीलव्रत के प्रभाव से सर्प सचमुच पुष्पमाला बन गया। सोमा ने प्रसन्नता से पुष्पमाला लाकर सास-ससुर के समक्ष रख दी। देखने वाले सब आश्चर्यचकित होकर सोचने लगे कि "हमने तो उस घड़े में सर्प रखा था, यह फूलों की माला कैसे आ गई?"

सबने सोचा—'शायद यह जादू जानती हो।' जाकर घड़े को देखा तो वह खाली पड़ा था। सोमा से फिर कहा गया कि इसे उसी घड़े में डाल आओ। सोमा ने वैसा ही किया, किन्तु घरवालों ने जाकर देखा तो घड़े में साँप फुंफकार रहा था।

---

१ वाल्मीकि रामायण

ब्रह्मचर्यनिष्ठ व्यक्ति की मानसिक इच्छाशक्ति प्रबल होती है। उसका प्रभाव सर्प जैसे पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च पर भी अवश्य पड़ता भी है, इसमें कोई अत्युक्ति नहीं।

ब्रह्मचर्य के प्रभाव की ये सब घटनाएँ काल्पनिक नहीं है। वास्तव में यह सब संभव हैं। मनुष्य की अन्तःकरण शक्ति में ब्रह्मचर्य के कारण अद्भुत क्षमता उत्पन्न होती है और क्षमतावान अन्तःकरण या चेतना शक्ति संसार को क्षण मात्र में हिला सकती है, बदल सकती है।

कुछ वर्षों पहले एक सच्ची घटना पढ़ी थी। एक ग्रामीण महिला अपने पीहर के परिचित गाड़ीवान की बैलगाड़ी में बैठकर अपने पीहर के गाँव जा रही थी। रास्ता बीच में कुछ झाड़ियों का एवं सूना था। गाड़ीवान की नीयत बदली। उसने रास्ते से हटाकर गाड़ी एक घनी झाड़ी की ओर घुमाई। महिला ने पूछा तो बोला—"यह रास्ता सीधा पड़ेगा।" किन्तु उसने गाड़ी रोककर बाई के हाथ-पैर रस्सी से बाँध दिये, फिर उसके साथ बलात्कार करना चाहा। बाई विधवा एवं शीलवती थी। उसने गाड़ीवान को समझाया, विरोध किया और जब वह जबर्दस्ती करने को उतारू हुआ तो बाई ने शोर मचाया। उसके ब्रह्मचर्य-प्रभाव से सहसा एक काला सर्प झाड़ी में से निकला और उस गाड़ीवान को डस लिया। कुछ ही देर में उसके प्राण पखेरू उड़ गये। सुबह गाँव के कुछ लोग उस रास्ते से जा रहे थे तो उन्हें पता लगा। वे बाई को उस गाड़ी में बिठाकर गाँव में ले गये।

सिंह, व्याघ्र आदि के क्रूर स्वभाव में परिवर्तन

योगदर्शन तथा अन्य शास्त्रों हम पढ़ते हैं कि अहिंसक के समक्ष सिंह आदि क्रूर जानवर भी अपना भयंकर स्वभाव छोड़ देते हैं।[1] उनके हृदय में भी व्यक्ति की क्रूरता-कोमलता की छाप अंकित हो जाती है और उसमें क्रूरभाव के बदले प्रेमभाव या मैत्रीभाव की लहर उत्पन्न हो जाती है। ऐसी स्थिति में उस पवित्र तेजस्वी एवं ब्रह्मचर्यनिष्ठ व्यक्ति की महान् ब्रह्मशक्ति का प्राणि जगत एवं प्राकृतिक पदार्थों पर प्रभाव पड़ना असम्भव नहीं है। इसे ही वर्तमान बोलचाल की भाषा में चमत्कार या जादू कहते हैं। पर यह हाथ की सफाई करने वाले उन जादूगरों या मांत्रिकों का चमत्कार नहीं है जो थोड़ी-सी देर के लिए लोगों को प्रभावित कर देते हैं, उनकी आँखों को चकाचौंध कर देते हैं, परन्तु ब्रह्मचर्य या शील का चमत्कार तो आध्यात्मिक चमत्कार है, आत्म-शक्ति से उपलब्ध प्रभाव है।

सती दमयंती जब नलराजा के साथ वन में जा रही थी तब एक पड़ाव पर नल अपनी प्रियतमा दमयन्ती को जंगल में अकेली सोती हुई छोड़कर आगे चल देता है।

---

१ अहिंसा प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः। —योगदर्शन, साधनपाद २।३५

जब दयमन्ती जागती है और देखती है कि पतिदेव (नल) नहीं हैं। तब काफी देर तक चिन्ताग्रस्त होकर फिर आगे चलती है। रास्ते में दयमन्ती को सिंह, व्याघ्र आदि क्रूर जानवर भी मिले, किन्तु दयमन्ती के स्थूल ब्रह्मचर्य (शील) के प्रभाव से वे भी मृगवत् बनकर किसी प्रकार का कष्ट दिये बिना रास्ता छोड़कर एक ओर चले जाते थे। दुष्ट हाथी भी साधारण अश्व के समान व्यवहार करते थे। यह भी ब्रह्मचर्य का ही चमत्कार है।

कदाचित् ब्रह्मचर्य की शक्ति से अपरिचित अथवा शुष्क तर्कवादी इस बात को कपोल कल्पित कह दें, किन्तु यह तो मनोविज्ञान का जाना-माना तथ्य है कि यदि किसी भी प्राणी के प्रति वैर या द्वेष की या हिंसा की भावना है तो उस प्राणी के अन्तर् में भी द्वेष या हिंसा के भाव प्रतिबिम्बित हो जायेंगे। इसके विपरीत जिसके मन में हिंसक या क्रूर प्राणी के प्रति भी द्वेष, वैर या हिंसा आदि की भावना नहीं है; प्रेम, मैत्री या आत्मीयता की भावना है, तो उसके अन्तर् में भी वैसी ही भावना प्रतिबिम्बित हो जाएगी। जिसके मन-वचन-काया में ब्रह्मचर्य का अमृत ओतप्रोत होगा, उसमें प्राणियों के प्रति द्वेष, वैर या हिंसा की भावना भी नहीं होगी, और न भयंकर से भयंकर प्राणी को देखने पर भय की भावना पैदा होगी। क्योंकि ब्रह्मचारी के जीवन में निर्भयता, क्षमा, दया, कोमलता एवं आत्मीयता कूट-कूटकर भरी होती है। यही कारण है कि उसके समक्ष भयंकर एवं क्रूर प्राणी भी अनुकूल और विनम्र बन जाते हैं। योगिराज भर्तृहरि भी अपने अनुभव की आंच में तपे हुए उद्गार निकालते हैं—

"जिसके अंग-अंग में अखिल लोक का अति वल्लभ शील (ब्रह्मचर्य) ओतप्रोत है, उसके लिए आग जल बन जाती है, समुद्र छोटी नदी बन जाता है, मेरु पर्वत छोटी-सी शिला बन जाता है और सिंह झटपट मृग सा बन जाता है, सर्प फूल की माला बन जाता है और विष पीयूष बन जाता है।"[1]

सचमुच ब्रह्मचर्य का बल हजार हाथियों से भी अधिक है, वह शरीरबल से नहीं नापा जाता। कदाचित् प्रत्यक्ष भी नहीं दृष्टिगोचर होता, किन्तु उसके कार्य से स्पष्टतः अनुमान लगाया जा सकता है।

बाह्य जगत् पर ब्रह्मचर्य का प्रभाव

ब्रह्मचारी की अन्तश्चेतना का पर्वत, समुद्र, अरण्य आदि प्रकृतिजगत् पर भी अचूक प्रभाव पड़ता है। एक तरह से देखा जाए तो ब्रह्मचारी का संकल्पबल इतना तीव्र होता है कि उसका प्रत्येक मनोवांछित पवित्र कार्य सिद्ध होकर रहता है।

---

१ "वह्निस्तस्य जलायते, जलनिधिः कूल्यायते तत्क्षणात्,
मेरुः स्वल्पशिलायते, मृगपतिः सद्यः कुरंगायते।
व्यालो माल्यगुणायते, विषरसः पीयूषवर्षायते,
यस्यांगेऽखिललोकवल्लभतरं शीलं समुन्मीलति॥ —नीतिशतक ७८

सौराष्ट्र की एक इतिहासप्रसिद्ध घटना लीजिए—

कालड़ी के देवड़ा राजपूत की कन्या सती राणकदेवी की शादी जूनागढ़ के राजा रायखेंगार से हुई थी; किन्तु सिद्धराज की कुदृष्टि उस पर पड़ी। उसने राणकदेवी को हथियाने के लिए जूनागढ़ पर आक्रमण कर दिया। आश्चर्य की बात यह है कि वह बारह वर्ष तक जूनागढ़ दुर्ग को जीत न सका। अन्त में, रायखेंगार के भानजे ने कपट से गुप्तमार्ग से आकर जूनागढ़ के किले में प्रवेश करके रायखेंगार को पराजित किया। राणकदेवी को ले जाने के लिए सिद्धराज ने बहुत पैर पछाड़े लेकिन वह उसके चंगुल में नहीं फँसी। अन्त में, जब सिद्धराज उसे जबरन ले जाने लगा, तब उसके मुख से ये उदगार निकले –

"ऊँचा गढ़ गिरनार, बादल से बातें करे।
हारत रायखेंगार, तू क्यों ना गिर पड़े।।"

कहते हैं, यों कहते ही, गिरनार पर्वत से चट्टानें टूट-टूटकर धड़ाधड़ गिरने लगीं। यह था सती राणकदेवी के ब्रह्मचर्य का प्रभाव! ब्रह्मचारी के मुख से जो भी वचन निकल जाता है, वह वैसा होकर ही रहता है।

कहा जाता है ब्रह्मचर्यनिष्ठ स्वामी रामतीर्थ जब हिमालय के हिमाच्छादित वनों में घूम रहे थे, तब कई बार जब बर्फीली चट्टानें उनके मार्ग को रोक लेतीं तो वे उन बर्फीली चट्टानों को आदेश देते—

"ओ हिमालय की बर्फीली चट्टानो! शाहंशाह राम तुम्हें हट जाने का आदेश देता है।"

तब सचमुच वे बर्फीली चट्टानें शीघ्र ही पिघल जातीं।

प्रकृति पर ब्रह्मचर्य का प्रबल प्रभाव

शर्दी, गर्मी, वर्षा आदि की ऋतुओं में साधारण आदमी अत्यधिक शर्दी, गर्मी या वर्षा हो तो उसे सहन नहीं कर सकता। शर्दी के दिनों में थोड़ी-सी ठंड अधिक लगते ही जुकाम, खांसी, न्युमोनिया आदि रोगों का शिकार हो जाता है, गर्मी अत्यधिक हो तो लू लग जाती है, या घबराकर बेहोश हो जाता है, वर्षा से पीड़ित व्यक्ति ज्वरादि से आक्रान्त हो जाता है, परन्तु ब्रह्मचर्यनिष्ठ व्यक्ति के शरीर पर शर्दी, गर्मी या वर्षा का सहसा कोई प्रभाव नहीं पड़ता। ब्रह्मचर्य के प्रभाव से उसके शरीर में शर्दी, गर्मी या वर्षा बर्दाश्त करने की शक्ति आजाती है।

महर्षि दयानन्द सरस्वती अखण्ड ब्रह्मचारी थे। उनके अंग-अंग में ब्रह्मचर्य अठखेलियाँ कर रहा था। एक बार शर्दी (पोष या माघ) के दिन थे। कड़ाके की ठंड पड़ रही थी। पेड़-पौधों पर ओस पड़ रही थी। झरनों का पानी जम गया था।

सनसनाती हुई बर्फीली हवा शरीर को बाण की तरह बींध डालती थी। गंगा के ठंडे पानी की लहरें उठती थीं। ऐसे समय में प्रतिदिन के नियमानुसार प्रातःकाल स्वामीजी सिर्फ एक लंगोट लगाये, नंगे बदन गंगानदी के तट पर बर्फ-सी ठंडी रेत पर घूम रहे थे। एक अंग्रेज ने उन्हें ठंड के मौसम में भी नंगे बदन घूमते हुए देखा तो आश्चर्यचकित होकर पूछा—"क्या आपको ठंड नहीं लगती ?" स्वामी जी ने कहा—"आपके मुँह और कान को जैसे ठंड नहीं लगती, वैसे ही मेरे बदन को ठंड नहीं लगती।"

वास्तव में, यह ब्रह्मचर्य का ही प्रभाव था, जिसकी वीर्य रक्षा-जनित उष्मा से शरीर शर्दी, गर्मी या वर्षा को सहन कर सकता था।

विष भी अमृत के रूप में परिणत

ब्रह्मचर्यनिष्ठ व्यक्ति की शारीरिक-आध्यात्मिक शक्ति इतनी प्रबल होती है कि वह विष को भी पचा लेता है। उसके ब्रह्मचर्यबल के प्रभाव से विष भी अपना स्वभाव छोड़कर अमृतरूप में परिणत हो जाता है। ब्रह्मचारी अपनी दृढ़ संकल्पशक्ति के प्रभाव से विष को भी अमृत बना लेता है। साधारण व्यक्ति को यह गप्प लगती होगी, परन्तु वैज्ञानिकों या रसायनशास्त्रियों के लिए यह गप्प या आश्चर्यजनक बात नहीं है। वे विष को अमृतरूप में तो परिणत नहीं कर सकते, किन्तु रासायनिक प्रक्रिया से विष को शोधन करके अमृत-सम बना सकते हैं। परन्तु ब्रह्मचर्यनिष्ठ तो विष को भी अमृत मानकर पी जाता है, फिर भी उसके शरीर पर विष का कोई प्रभाव नहीं होता। 'शिवसंहिता' में नीलकंठ शंकर ने अपना अनुभव बताते हुए कहा है—

सिद्धे बिन्दौ महारत्ने, किं न सिध्यति भूतले।
यस्य प्रसादान्महिमा, ममाऽप्येतादृशोऽभवत्॥

वीर्यबिन्दु रूपी महारत्न के सिद्ध हो जाने पर भूतल में ऐसी कौन-सी सिद्धि है, जो प्राप्त न हो सके। उस वीर्यबिन्दुधारण (ब्रह्मचर्यपालन) के प्रभाव से मेरी भी ऐसी महिमा हो गई थी, अर्थात् मैं कामदेव को भस्म कर सका, तथा समुद्रमन्थन से निकले हुए कालकूट विष का पान करके भी मैं स्वस्थ एवं जीवित रह सका।

राजरानी मीराबाई ने अपना राजसी ठाठ-बाट एवं ऐशो आराम छोड़कर कृष्ण-भक्ति के रंग में अपने जीवन को रंग लिया। वह कृष्ण-भक्ति में तल्लीन होकर सब कुछ भूल जाती। उसका यह रवैया उसके पतिदेव (राणा) को तथा उसकी ननन्द को अच्छा नहीं लगता। वह बार-बार मीरा को टोकती लेकिन मीरा जब किसी भी तरह से अपना सुपथ छोड़ने को तैयार नहीं हुई तब राणा (उसके पति) ने अपनी बहन के हाथों एक प्याले में जहर घोलकर मीरा के लिए भेजा। ब्रह्मचारिणी मीरा को मृत्यु का कोई भय न था। वह अमृत मानकर उस जहर के प्याले को गटागट गई। उस जहर का

मीरा के शरीर पर कुछ भी असर न हुआ। वह विष अमृत के रूप में परिणत हो गया। सभी लोग आश्चर्यचकित होकर मीरा की कृष्णभक्ति एवं ब्रह्मचर्यनिष्ठा का लोहा मानने लगे।

कहते हैं, नैष्ठिक ब्रह्मचारी स्वामी दयानन्दजी को विदेशी लोगों ने कई बार जहर दे दिया था। लेकिन वे उस जहर को भी पचा गये। उन पर विष अपना कुछ भी प्रभाव न डाल सका। यह उनके ब्रह्मचर्य-बल का ही प्रभाव था। किन्तु अन्त में गौरजहाँ नामक वेश्या ने लोभ देकर उनके रसोइए द्वारा दूध में अत्यन्त घातक एवं तीव्र विष मिलाकर खिलाया। उन्हें अगर तुरन्त पता लग जाता और वे चाहते तो उस विष के प्रभाव को रोक सकते थे। किन्तु काफी विलम्ब से पता चला, वह विष भी तीव्र था, उसकी मात्रा भी अधिक थी। इसलिए वह सारे शरीर में शीघ्र ही व्याप्त हो गया और प्राणान्तक बना। फिर भी इतना तो कहा ही जा सकता है कि यदि किसी साधारण काम-भोगपरायण व्यक्ति को वह जहर दिया होता तो वह चन्द मिनटों में ही समाप्त हो जाता, जबकि स्वामीजी का ब्रह्मचर्य-बलयुक्त शरीर काफी समय तक टिका रहा। विष का घातक प्रभाव और उसके कारण शरीर में असह्य पीड़ा होने पर भी उनके चेहरे पर शान्ति विराजमान थी। यह सब ब्रह्मचर्य का ही प्रभाव था।

ब्रह्मचर्य के विशिष्ट चमत्कार

इस प्रकार एक से एक बढ़कर ब्रह्मचर्य के चमत्कार हैं। ब्रह्मचारी जादूगर की तरह अपने चमत्कारों का प्रदर्शन नहीं करता, न ही वह अपनी उपलब्धियों का ढिंढोरा पीटता है। वह लोगों को चमत्कार दिखाने के लिए ब्रह्मचर्य-पालन नहीं करता। वह सहजभाव से निष्ठा और श्रद्धापूर्वक ब्रह्मचर्य का पालन करता है।

हाँ, अगर उसके ब्रह्मचर्य के प्रभाव से किसी का रोग, कष्ट, दुःख या अशान्ति अथवा उपद्रव दूर होता हो तो चुपचाप उस प्रभाव का उपयोग करता है।

एक ब्रह्मचर्यनिष्ठ व्यक्ति था। उसे ब्रह्मचर्य के प्रभाव से ऐसी शक्ति प्राप्त हो गई थी कि जिसको पेटदर्द, सिरदर्द, बेचैनी, प्रसवपीड़ा आदि बीमारी होती और वह उसके पास आ जाता तो उसके पसीने से, चादर से या और किसी उपकरण से रोगी ठीक हो जाता था।

एक बार एक अंग्रेज ऑफिसर की धर्मपत्नी प्रसवपीड़ा से बहुत छटपटा रही थी। किसी ने साहब को उसका नाम बताया। साहब ने उसके पास जाकर सारी घटना कही और इस कष्ट के निवारण की प्रार्थना की। उसने अपने पसीने से तर एक रूमाल दे दिया कि इसे मेमसाहब के पेट पर लगाते ही सुख से प्रसव हो जाएगा। वैसा ही हुआ। साहब ने उसका बहुत आभार माना। उसे बहुत बड़ा इनाम देना चाहा, परन्तु उसने लेने से साफ इन्कार कर दिया। इससे वह ऑफिसर बहुत प्रभावित हुआ।

ब्रह्मचर्य के ये चमत्कार कम महत्वपूर्ण नहीं हैं।

महाराष्ट्र में एक नैष्ठिक ब्रह्मचारी महात्मा हरिदासजी हुए हैं। उन्हें ब्रह्मचर्यनिष्ठापूर्वक योगाभ्यास करने से अनेक सिद्धियाँ प्राप्त हो गई थीं। लगभग १६ वर्ष की आयु में वे एक तेलंगी साधु के शिष्य बन गये थे। ब्रह्मचर्य के प्रताप से यह महात्मा अपनी आँखों पर कपड़े की पट्टी बाँध कर पुस्तक पढ़ सकते थे, चौमासे में उफनती हुई नदी के बहते पानी पर पैदल चलकर पार हो सकते थे। इनकी कृपा से कई अंधों को आँखें मिल गई थीं, कई कुष्ट रोगियों का कोढ़ नष्ट हो गया था, कई लंगड़ों की पंगुता दूर हो गई, कई गूँगे जबान से बोलने लग गये थे। ये सब दैवी चमत्कार ब्रह्मचर्य के प्रभाव से महात्मा हरिदासजी के जीवन में हुए। अतः कहा जा सकता है कि ब्रह्मचर्यरूपी चिन्तामणि ने इन्हें मानव शरीर में प्रत्यक्ष दैवी शक्तियाँ प्रदान कीं।

ब्रह्मचारी के तेजोवलय का अद्भुत प्रभाव

हम कई चित्रों में देखते हैं कि महापुरुषों के मस्तक के चारों ओर भामण्डल होता है। वह और कुछ नहीं, ब्रह्मचर्य का प्रखर तेज है, जो मस्तक के चारों ओर प्रकाशमान होता है। वैसे तो ब्रह्मचर्य-निष्ठ महापुरुषों एवं महानारियों के सार शरीर में तेज व्याप्त होता है, परन्तु प्रचुर रूप से एकत्रित होता है मस्तक के चारों ओर, जिसे पाश्चात्य विद्वान् व्यक्तिगत तेजोवलय (Personal Aura) अथवा व्यक्तिगत आकर्षकत्व (Personal Magnetism) कहते हैं। इसे ही प्राचीनकाल में भामण्डल या प्रभामण्डल कहा जाता था। इस तेजोवलय का इतना अद्भुत प्रभाव होता है कि विरोधी से विरोधी व्यक्ति भी उनके पास आकर अपना विरोध भूल जाता है, वहाँ उसके आकर्षक व्यक्तित्व से प्रभावित होकर उसके अनुकूल या उनका भक्त बन जाता है। ऐसे तेजोवलय से सम्पन्न पुरुष जो भी बोलते हैं, श्रोता लोगों को वह अत्यन्त प्रिय लगता है। ब्रह्मचर्य से उपलब्ध आत्मतेज से जनता प्रभावित हो जाती है, तथा उक्त ब्रह्मचर्यनिष्ठ के प्रत्येक वचन को प्राणीमात्र शिरोधार्य कर लेते हैं। उसके वचन को कोई व्यक्ति टाल नहीं सकता है।

कलिकालसर्वज्ञ जैनाचार्य हेमचन्द्र ने बाल्यवय में दीक्षा ग्रहण की। गुरुसेवा में रहकर उन्होंने अखण्ड ब्रह्मचर्य की आराधना की। उनके मस्तक के चारों ओर अपूर्व तेज चमकता था जिसके प्रभाव से कुमारपाल राजा आदि कई भक्त बने। विरोधी भी उन पर व्यंग कसते किन्तु दूसरे ही क्षण उनकी प्रतिभा एवं तेजस्विता से हतप्रभ हो जाते थे।

अखण्ड ब्रह्मचर्य का शरीर, मन, बुद्धि आदि पर प्रभाव

अखण्ड ब्रह्मचर्य के पालन का प्रभाव शरीर और इन्द्रियों पर भी पड़ता है। अखण्डब्रह्मचारी की बुद्धि, मन और इन्द्रियाँ इतनी सूक्ष्मग्राही एवं सक्षम हो जाती हैं कि वे बहुत ही गहन, गूढ़ और गुप्त बात को पकड़ सकती हैं।

अखण्ड ब्रह्मचारी के लिए कुछ भी अप्राप्य नहीं

"जो व्यक्ति इन्द्रियों का सतत कठोर दमन करके ऊर्ध्वरेता बन जाता है, उस सत्यनिष्ठ ब्रह्मचारी की इच्छानुसार सारे कार्य होते हैं। ऐसा पुरुष इच्छागामी हो जाता है। उसके लिए कोई भी कार्य दुर्गम नहीं रहता। वह ब्रह्मचर्य के प्रभाव से ब्रह्मलोक को प्राप्त करता है।"[1]

छान्दोग्य-उपनिषद् में यह बात स्पष्ट रूप से प्रतिपादित है।[2]

महाभारत में भीष्मपितामह, धर्मराज से कहते हैं—

"हे राजन्! जो व्यक्ति जन्म से लेकर मृत्यु-पर्यन्त मन-वचन-काया से अखण्ड ब्रह्मचर्य का पालन करता है, उस तेजस्वी व्यक्ति के लिए इस जगत् में कोई भी वस्तु अप्राप्य एवं अशक्य नहीं है।"[3]

यही बात महर्षि दयानन्द सरस्वती ने भी कही है।

अखण्ड ब्रह्मचर्य का मृत्यु पर भी प्रभाव

विद्वानों को यह कहते सुना है कि मृत्यु की तिथि, वार, समय, सब कुछ पूर्व-निश्चित होता है। उसमें न तो रत्तीभर समय बढ़ सकता है और न ही तिलभर घट सकता है। दूसरी ओर हमने यह भी सुना है कि हमारे प्रतापी पूर्वजों को इच्छामृत्यु प्राप्त थी अर्थात्—वे जब चाहें, तब मृत्यु का वरण करें और जब तक चाहें जिन्दा रहें।

अथर्ववेद में तो स्पष्ट कहा है—"ब्रह्मचर्य रूप तप से देवों ने मृत्यु का भी विनाश कर दिया था।"[4]

सचमुच ब्रह्मचर्यव्रतधारक मृत्यु पर भी विजय प्राप्त कर सकता है। कहा जाता है—आजीवन ब्रह्मचर्यव्रत को धारण करने वाले भीष्मपितामह ने मृत्यु के निकट आ जाने पर भी यह कह दिया था कि "हम अभी प्राण त्याग नहीं करना

---

१ सत्ये रतानां सततं दान्तानामूर्ध्वरेतसाम्।
ब्रह्मचर्यं वहेद् राजन्! सर्वकार्याण्युपासितम्॥ —महाभारत

२ तद्य एवैतं ब्रह्मलोकं ब्रह्मचर्येणानुविन्दन्ति, तेषामेवैष ब्रह्मलोकस्तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति। —छान्दोग्योपनिषद् ८/४/३

३ आजन्म मरणाद्यस्तु ब्रह्मचारी भवेदिह।
न तस्य किंचिदप्राप्यामिति विद्धि नराधिप॥ —महाभारत अनु. पर्व अ. ७५; श्लोक ३५ से ३८

४ ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नतः। —अथर्ववेद ११।५।१९

चाहते, क्योंकि अभी सूर्य दक्षिणायन है; जब उत्तरायण होगा, तभी हम अपने प्राणों को छोड़ेंगे।"

यही इच्छामृत्यु है, जो एक प्रकार से मृत्यु पर विजय है, जो आजीवन अखण्ड ब्रह्मचर्य के पालन से प्राप्त होती है। अतः लोक धारणा है कि ब्रह्मचर्यनिष्ठ व्यक्ति मृत्यु की भी तिथि बदल सकता है। यह अखण्ड ब्रह्मचर्य का मृत्यु पर भी प्रबल प्रभाव कहा जा सकता है।

शरीर और मन पर अनुकूल प्रभाव

अखण्ड ब्रह्मचर्य शरीर और मन की सूक्ष्मतम स्थितियों पर अत्यन्त लाभदायक प्रभाव डालता है। चिन्तन के प्रवाह को कामवासना की लहरों से मोड़कर अन्य उदात्त ब्रह्मचर्यलक्षी भावनाओं की ओर ले जाया जाए तो ब्रह्मचर्य स्ववशता की परिस्थितियों में आकर विकास पाता है, जिसका शरीर एवं मन पर अद्भुत प्रभाव पड़ता है। ऐसे ब्रह्मचारी का शरीर और मन इतना सुदृढ़, अविचल एवं पवित्र हो जाता है, कि किसी भी प्रकार की उग्रतम काम-वासना के उत्तेजक वातावरण में भी वह ब्रह्मचर्य पर सुदृढ़ रहता है।

कुछ लोगों का मत है कि पूर्ण ब्रह्मचर्य का शरीर और मन पर अनुकूल प्रभाव नहीं होता, इस मत में आंशिक सत्य अवश्य है। जब पूर्ण श्रद्धा, उत्साह एवं ज्ञानपूर्वक ब्रह्मचर्य का पालन होता है तब तो अनुकूल प्रभाव ही पड़ता है, परन्तु जब ब्रह्मचर्य का पालन केवल, बिना मन के, विवशता की स्थिति में होता है तब ही प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। जो व्यक्ति जितना अधिक संयमी, ब्रह्मचर्यनिष्ठ होता है उतना ही उसका व्यक्तित्व प्रखर, तेजस्वी और प्रभावशाली बनता है। उसी व्यक्ति का दूसरे पर अनुकूल प्रभाव पड़ता है।

ब्रह्मचर्य से आत्मविजय

ब्रह्मचर्य से शरीर पुष्ट होता है। किन्तु शारीरिक शक्तियों की वृद्धि के साथ-साथ उन पर नियंत्रण करने की आवश्यकता होती है। वह नियंत्रण ब्रह्मचर्य से ही हो सकता है। ब्रह्मचर्य से मानसिक शक्तियों का संगठन होता है। मानसिक शक्तियों के संगठन से एकाग्रता प्राप्त होती है। मन की एकाग्रता से काम के आवेगों, भावों और इच्छाओं को व्यक्ति वश में रख सकता है। इसे ही दूसरे शब्दों में आत्मविजय कहते हैं। विधिपूर्वक अखण्ड ब्रह्मचर्य का प्रभाव क्रमशः शरीर, मन और आत्मा पर पड़ता है। आत्मा में विपरीत परिस्थितियों से संघर्ष करके उन पर विजय प्राप्त करने की क्षमता एवं दक्षता आ जाती है। अवांछित बातों का प्रभाव उसके मस्तिष्क को उत्तेजित नहीं कर सकता, यही उसकी ब्रह्मचर्यनिष्ठा की कसौटी है।

ब्रह्मचर्य से जगत् वश में

इस जगत् में हम देखते हैं कि लोग दूसरों को अपने वश में करने तथा अपना आज्ञाकारी बनाने, अपने अधीन होकर रहने के लिए वशीकरण मंत्र-तंत्रों का

प्रयोग करते हैं, परन्तु वे वशीकरण मंत्र या तंत्र अविधि हो जाने से या श्रद्धा में शिथिलता आने से दूसरों को वश करने में प्रायः असफल हो जाते हैं, किन्तु सर्वेन्द्रिय-संयम रूप ब्रह्मचर्य दूसरों को अचूकरूप से वश में कर लेता है। ब्रह्मचर्यनिष्ठ व्यक्ति की एक दृष्टि पड़ते ही विरोधी से विरोधी व्यक्ति पानी-पानी हो जाता है।

इसी दृष्टि से भक्त वामन कहते हैं—

यदिच्छसि वशीकर्तुं जगदेकेन कर्मणा।
सुदुर्वृत्तेन्द्रियग्रामं बलात् शीघ्रं निवारय॥

"यदि एक ही कृत्य से सारे जगत् को वश में करना चाहते हो तो शुद्ध ब्रह्मचर्य पालन करो, अपनी दुर्वृत्त इन्द्रियों को विषयों में स्वच्छन्द विचरने से रोको।"

सचमुच, ब्रह्मचर्य सारे विश्व को वश करने का मंत्र है।

ब्रह्मचर्यनिष्ठ की दृष्टि और वाणी का प्रभाव

ब्रह्मचर्यनिष्ठ व्यक्ति की तेजस्वी दृष्टि और ओजस्वी वाणी का शीघ्र प्रभाव पड़ता है। ब्रह्मचर्यनिष्ठ स्वामी विवेकानन्द जब शिकागो (अमेरिका) की विश्वधर्म परिषद् में व्याख्यान देने खड़े हुए, तब वहाँ की सभा पर उनकी तेजोमयी दृष्टि पड़ते ही पांच मिनट के ओजस्वी भाषण ने सबको मंत्रमुग्ध कर दिया। निःसन्देह यह ब्रह्मचर्य का ही दिव्य प्रताप था। ब्रह्मचर्य के द्वारा प्राप्त ब्रह्मतेज के प्रताप से स्वामी विवेकानन्द ने वहाँ के अनेक लोगों को अपना भक्त बना लिया।

यह एक निर्विवाद सत्य है कि जो व्यक्ति क्षीणवीर्य, विषयी-भोगी होगा, वह चाहे कितना ही विद्वान् क्यों न हो, उसकी वाणी का प्रभाव लोगों पर स्थायी नहीं होगा, जबकि ब्रह्मचर्यनिष्ठ व्यक्ति के मुख से निःसृत थोड़े-से वचनों का स्थायी प्रभाव होगा।

अखण्ड ब्रह्मचर्य का सार्वभौम प्रभाव

निष्कर्ष यह है कि अखण्ड ब्रह्मचर्य का बाह्यजगत् पर ही नहीं, आन्तरिक जगत् पर भी अद्भुत प्रभाव पड़ता है। अन्तर् के आवेगों, आवेशों, काम, क्रोध, मद, मोह, लोभ, द्वेष आदि अन्तरंग शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने से अखण्ड ब्रह्मचारी अपने पूर्व कृत समस्त पापों को भस्म कर देता है। जैसा कि महाभारत में कहा है—

ब्रह्मचर्यं दहेत् राजन्! सर्वपापान्युपासितम्।
बिभेति हि यथा शक्रो ब्रह्मचारी-प्रधर्षितः॥

"राजन! ब्रह्मचर्य की उपासना करने से मनुष्य समस्त पापों को जला देता है। जैसे—ब्रह्मचर्यनिष्ठ व्यक्ति से इन्द्र डरता है, वैसे ही काल भी डरता है।"

अतः अखण्ड ब्रह्मचर्य का सार्वभौम प्रभाव अद्भुत है।

□□

५

ब्रह्मचर्य का माहात्म्य

ब्रह्मचर्य को सर्वाधिक महत्त्व

भारतीय संस्कृति में ब्रह्मचर्य को जितना अधिक महत्त्व दिया गया है, उतना और किसी व्रत-नियम या साधना को नहीं। जैन शास्त्रों में यत्र-तत्र ब्रह्मचर्य की महिमा और गरिमा का वर्णन मिलता है। वेदों और उपनिषदों में भी ब्रह्मचर्य के माहात्म्य का गायन प्रभावशाली शब्दों में किया गया है। बौद्ध त्रिपिटकों में भी ब्रह्मचर्य (शील) का गहन विवेचन उपलब्ध होता है। इससे यह तो सर्वविदित है कि विश्व के सभी धर्मों, संस्कृतियों और आध्यात्मिक विचारधाराओं में ब्रह्मचर्य का माहात्म्य एक या दूसरे प्रकार से अभिव्यक्त किया गया है।

ब्रह्मचर्य ही जीवन है

हमारा सारा शरीर वीर्य के सहारे टिका हुआ है। यह समग्र शरीर वीर्य से बना है। दूसरे शब्दों में यों कहा जा सकता है कि नेत्र वीर्य है, नासिका भी वीर्य है, हाथ-पैर भी वीर्य हैं। मस्तिष्क वीर्य है। हमारा मन, वाणी और इन्द्रियाँ भी वीर्य हैं। सारे शरीर का निर्माण वीर्य से हुआ है, और वीर्य की रक्षा करना ब्रह्मचर्य है। इसका अर्थ यह हुआ कि हमारा जीवन वीर्यरक्षा ब्रह्मचर्य पर टिका है, और वीर्यनाश से हमारा मरण है। इसीलिए कहा गया है—

मरणं बिन्दुपातेन, जीवनं बिन्दुधारणात्।[1]

वीर्यपात से मरण है और वीर्य-धारण से जीवन है।

योगवाशिष्ठ में स्पष्ट कहा गया है—"हे निष्पाप! ब्रह्मचर्य ही संसार का अस्तित्व (जीवन) है, मूलाधार है। मूलाधार का नाश हुए बिना पदार्थ नष्ट नहीं होता है।"

वस्तुतः ब्रह्मचर्य के अभाव में तो जीवन, जीवन ही नहीं रह जाता। वह जीवन केवल एक खोखला अस्थिपंजर मात्र होता है। ब्रह्मचर्य के सद्भाव में जीवन, वास्तविक जीवन होता है। वह जीवन सदैव आनन्दमय और उल्लासमय बना रहता है। वह प्रत्येक कार्य अत्यन्त उत्साह और चाव से करता है। असफलता में भी ब्रह्मचर्यनिष्ठ व्यक्ति के मुख पर प्रसन्नता विराजमान रहती है। वह विपत्तियों में भी अधीर नहीं होता। जीवन के प्रत्येक संघर्ष के लिए वह उद्यत और उत्सुक रहता है। निराशा के

---

१. शिव संहिता

क्षणों में भी उसे आशा की किरण दिखाई पड़ती है। मनुष्य का मानसिक उल्लास ब्रह्मचर्य पर आधारित रहता है। वस्तुतः ब्रह्मचर्यहीन व्यक्ति में कोई मानसिक उल्लास नहीं होता। मानसिक उल्लास के अभाव में जीवन, मृत्यु के रूप में बदल जाता है। जो लोग ब्रह्मचर्य से रहित हैं,वे जीवन भर दुःखी, चिड़चिड़े, उदास, रुग्ण और पराश्रित बने रहते हैं। न उनके तन में स्फूर्ति होती है, और न मन में; मानसिक शारीरिक शक्ति न हो, फिर उल्लास कहाँ से आएगा ? मोती तो हो लेकिन उसमें पानी न हो, हीरा तो हो लेकिन उसमें चमक न हो तो उसकी कीमत कुछ भी नहीं है। इसी प्रकार मानव शरीर तो हो लेकिन उसमें ओज, तेज, बल, वीर्य, उत्साह, पराक्रम, पुरुषार्थ आदि न हो, उसके चेहरे पर कान्ति न हो तो वह मनुष्य जीते हुए भी मृतक समान है। अर्थात् जीवन में ब्रह्मचर्य के बिना ओज, तेज आदि के अभाव में जीवन मृतवत् है। अतः ब्रह्मचर्य मानव जीवन का सर्वस्व है।

ब्रह्मचर्य : जीवन की खाद

किसान खेत में बीज बोने से पहले उत्तम खाद डालता है। अगर उत्तम खाद होती है तो फसल भी अच्छी और अधिक प्राप्त होती है। अच्छी खाद डालकर किसान एक एकड़ में सौ मन अनाज भी प्राप्त कर लेता है। बागवान अच्छी खाद देकर एक-एक किलो भर वजन वाले टमाटर पैदा कर लेता है। इसी प्रकार जीवन-उपवन का माली सद्गृहस्थ यदि ब्रह्मचर्य की खाद बाल्यावस्था से ही बालक के जीवन में डाल देता है, तो उसे जीवन के सभी क्षेत्रों में उत्तम बुद्धिबल, मनोबल, शरीरबल, चरित्रबल आत्मबल आदि बढ़े हुए मिलते हैं।

शिवाजी को बचपन से ही ब्रह्मचर्य के उत्तम संस्कार अपनी माता जीजाबाई से मिले थे। बचपन से ही माता उनको वीरों की तथा महापुरुषों की कहानियाँ सुनाया करती थी। इसी कारण शिवाजी अपूर्व तेजस्वी और वीर हुए। सोलह वर्ष की उम्र में उन्होंने सिंहगढ़ के दुर्ग पर विजय प्राप्त कर ली थी। ब्रह्मचर्य के संस्कारों का ही फल था कि शिवाजी ने मुगलों के दांत खट्टे कर दिये थे। अतः ब्रह्मचर्य जीवन की खाद है।

जीवनरूपी भवन की आधारशिला : ब्रह्मचर्य

ब्रह्मचर्य भावी जीवन की आधारशिला है। यह तो सुनिश्चित है कि भारतीय ऋषि-मुनियों ने जीवन को चार आश्रमों में विभाजित किया था। इन चारों में ब्रह्मचर्याश्रम का स्थान प्रथम है। क्योंकि आगे के तीनों आश्रम इसी की पुष्टता और परिपक्वता पर निर्भर हैं। जिस व्यक्ति के जीवन के २५ वर्ष पूर्णसंयम और सदाचार-पूर्वक व्यतीत होते हैं, उसका भावी जीवन अत्यन्त सुखपूर्वक व्यतीत होता है। वह जीवन भर शक्तिशाली और प्रतापी बना रहता है। बीमारी, उदासी, अधीरता, हीनता आदि दोष कदापि उसके पास नहीं फटकते। जिस प्रकार एक भवन की दृढ़ता, मजबूती, परिपक्वता एवं चिरस्थायित्वता उसकी नींव,पर आधारित होती है; यदि नींव कम जोर और खोखली है, बालू पर या दलदल पर रखी हुई है, तो उस पर बनाया हुआ

मकान एक न एक दिन शीघ्र ही धराशायी हो जायेगा। उसमें आँधी और तूफानों को सहन करने की शक्ति कहाँ ? उसी प्रकार जीवनरूपी भवन की आधारशिला (नींव) ब्रह्मचर्य है। यदि बाल्यकाल से ही ब्रह्मचर्य के संस्कार परिपक्व हो जाएं तो आगे के जीवन में सुदृढ़ता एवं परिपक्वता बनी रहती है।

ब्रह्मचर्य : अमरत्व की साधना

ब्रह्मचर्य अमरत्व की साधना के लिए आवश्यक है। यों कहा जा सकता है कि ब्रह्मचर्य अमृत है और अब्रह्मचर्य विष है। साधारण मनुष्य मृत्यु से डरता है, वह मृत्यु को अत्यन्त भयंकर मानता है। इसलिए ज्यों-ज्यों मृत्यु समीप आती जाती है त्यों-त्यों वह घबराने, रोने और विलाप करने लगता है। मृत्यु के समय उसका मोह प्रायः अपने परिवार, धन-सम्पत्ति आदि से नहीं छूटता, वह अमरत्व की साधना में असफल हो जाता है। इसके विपरीत ब्रह्मचर्यनिष्ठ व्यक्ति मृत्यु से डरना नहीं जानते। वे मृत्यु के समय भी परमात्मा को नहीं भूलते। वे सांसारिक मोह माया में प्रायः नहीं फँसते। मृत्यु के समय उनके ओठों पर अद्भुत मुस्कान अठखेलियाँ करती है। पूर्वकृत कर्मों के उदय से उन पर संकट या विपत्ति आने पर भी वे घबराते नहीं, साहस-पूर्वक उनका सामना करते हैं। इसलिए कहना चाहिए कि ब्रह्मचर्य अमरत्व की साधना है।

स्वर्ग एवं मुक्ति का द्वार : ब्रह्मचर्य

ब्रह्मचर्य जिस प्रकार स्वर्ग (देवलोक) का द्वार है उसी प्रकार वह मोक्ष (सिद्धि) का भी द्वार है। प्रश्नव्याकरण सूत्र में इसी तथ्य को स्पष्ट किया गया है कि ब्रह्मचर्य मुक्ति और स्वर्ग का खुला द्वार है।[1] साथ ही यह भी कहा गया है कि यह नरक और तिर्यंचगति के मार्ग का निवारण करता है।[2]

तात्पर्य यह है ब्रह्मचर्य साधना मोक्ष की ओर ले जाने वाली है। उससे कर्मक्षय होता है और कर्मक्षय करना ही मोक्ष की ओर प्रस्थान करना है। जितने भी नर-नारी मुक्त हुए हैं, वे सब ब्रह्मचर्य के पालन से ही संसार सागर को पार सके हैं। यदि उन्होंने ब्रह्मचर्य का पालन न किया होता तो, वे कदापि मुक्तिस्थान को प्राप्त नहीं कर सकते थे।

जैसे कुँआ खोदने वाला उत्तरोत्तर नीचे-नीचे चला जाता है, और महल बनाने वाला सदैव ऊपर-ऊपर चला जाता है, इसी प्रकार ब्रह्मचर्य का नाश करने वाला उत्तरोत्तर अधोगति में जाता है और ब्रह्मचर्य का पालन करने वाला सतत ऊर्ध्वगति में जाता है। सूत्रकृतांग सूत्र में इसी तथ्य को अभिव्यक्त किया गया है—

---

१ सिद्धि विमाण-अवंगुयदारं। —प्रश्नव्याकरणसूत्र २।४

२ नरयतिरिच्छविवज्जिय मग्गं। —वही, सं० ४, सू० २

"जो ब्रह्मचारी नर-नारी सम्पूर्ण रूप से तर गये हैं उन्हें भगवान् ने सिद्ध (मुक्त) के समान कहा है । ऐसे नर-नारी एक दूसरे के पाश में बद्ध नहीं होते । जो संकीर्ण दृष्टि वाले व्यक्ति हैं वे ही कामादि रोग में ग्रस्त होते हैं । जो ऊर्ध्व (विशाल) दृष्टि वाले हैं, ऊर्ध्व (गति) की ओर देखते हैं । वे कामादि के पाश को तोड़ डालते हैं ।"[1]

उत्तराध्ययनसूत्र के चतुरंगीय अध्ययन में चौथा दुर्लभ अंग संयम में वीर्य (शक्ति) को लगाना बताया है ।[2] वहाँ सकर्मवीर्य का नहीं परन्तु अकर्मवीर्य का विधान है, क्योंकि सकर्मवीर्य तो संसार वृद्धि करने वाला है, जबकि अकर्मवीर्य संसार (जन्म-मरणरूप चक्र) को घटाने वाला है । अतः जो अकर्मवीर्यशाली है, वह ब्रह्मचारी है वह कर्मक्षय करके संसार को घटाता है, मोक्ष की ओर बढ़ता है ।

जैन धर्म ने साधक को मुक्ति पाने के लिए भेदविज्ञान का उपदेश दिया है । भेदविज्ञान तभी हो सकता है जब आत्मा एवं आत्मा के निजगुणों को शरीर या शरीर से सम्बद्ध सजीव-निर्जीव वस्तुओं से पृथक समझे; समझे ही नहीं, इसे अपने जीवन में संस्कारबद्ध करले । इस प्रकार का भेदविज्ञान ब्रह्मचर्य से ही सम्भव है । क्योंकि ब्रह्मचर्य का निश्चय दृष्टि से अर्थ है—आत्मा (ब्रह्म) या आत्मगुणों रमण करना और शरीर या वैभाविक गुणों (शरीर से सम्बद्ध परभावों) में आसक्त न होना । कर्म-पुद्गल, विषयासक्ति, कामवासना, राग-द्वेष-मोह या कषाय आदि सब वैभाविक पर्याय आत्मा के स्व-गुण नहीं हैं, परभाव हैं; ब्रह्मचर्यधारक इन सबको पृथक मानकर इनमें नहीं फँसता । ब्रह्मचारी पुरुष स्त्री को ब्रह्म (आत्म) रूप में देखेगा । उसके शरीर को परभाव समझकर उसके प्रति मोहवश आकर्षित नहीं होगा । आचार्य अमृतचन्द्र ने इसी तथ्य के विषय में कहा है—

'भेदविज्ञानतः सिद्धाः, सिद्धाः ये किल केचन ।'

अनादि काल से आज तक जितनी भी आत्माएँ सिद्ध या मुक्त हुई हैं, और जो आगे होंगी, वे भेदविज्ञान से ही हुई हैं, होंगी । कोरे क्रियाकाण्डों या अन्य बाह्य साधनाओं से नहीं; अहिंसा, सत्य, अस्तेय और अपरिग्रह इन व्रतों से अकेले से भी मुक्ति नहीं हो सकती, वह हो सकती है, इन सब के मूल में भेदविज्ञानात्मक ब्रह्मचर्य के पालन से ही ।

वस्तुतः ब्रह्मचर्य द्वारा भेदविज्ञान की दृष्टि से जड़ और चेतन को या स्वभाव और विभाव को पृथक्-पृथक् समझकर जब आत्मा स्वयं को देखती और साधना करती है, तभी जीवन में उत्कृष्ट रस आता है । उसी भेदविज्ञान की ज्योति को आत्मा उत्कृष्ट रसपूर्वक अधिकाधिक प्रज्वलित करती जाती है और एक दिन पूर्णता

---

१ **जे विन्नवणाहिज्जोसिया, संतिण्णेहि समं वियाहिया ।**
तम्हा उड्ढंति पासहा, अदक्खु कामाइं रोगवं ॥ —सूत्रकृ० १/२/३/२

२ **संजमम्मिय वीरियं** —उत्तरा० चतुरंगीय अध्ययन

के शिखर पर पहुँच जाती है। जड़ से आत्मा का सम्पूर्ण रूप से पृथक होना और अपने वास्तविक स्वभाव में ओतप्रोत हो जाना ही मुक्ति है, सिद्धि है। इसीलिए प्रश्न व्याकरण सूत्र में इसके लिए कहा गया है, **विसुद्धसिद्धिगतिनिलयं**[1]—"ब्रह्मचर्य राग-द्वेषादि कालुष्य से या परभावों से रहित विशुद्ध सिद्धिगति का स्थान है।"[2]

अन्तरंग से शुद्ध साधना की कसौटी : ब्रह्मचर्य

जैन धर्म अन्तरंग की साधना पर विशेष जोर देता है। किसी व्यक्ति ने बाहर सर्वस्व त्याग दिया, भौतिक वैभव या धन आदि छोड़ दिया, किन्तु अन्तर् में काम-वासना एवं विषय-सुखभोग की लहरें उठती हैं, वह अन्तरंग में दुर्बल है, किन्तु बाह्य साधनों क्रियाकाण्डों का प्रदर्शन करता है। उसी से स्थूलदृष्टि वाले लोग उसे महान साधक पहुँचा हुआ पुरुष मान लेते हैं। परन्तु प्रश्नव्याकरण सूत्र में कहा है कि—"अन्तर् में शुद्ध रूप से ब्रह्मचर्य के आचरण के बिना वह न तो ऋषि है, न मुनि है, न संयमी है, और न भिक्षु है। ब्रह्मचर्य के शुद्ध आचरण से ही ब्राह्मण उत्तम ब्राह्मण, श्रमण उत्तम श्रमण और साधु सुसाधु होता है। वही ऋषि है, वही मुनि है, वही संयत है और वही भिक्षुक है, जो शुद्ध ब्रह्मचर्य का पालन करता है।"[2]

वास्तव में, जिसके जीवन का अन्तस्तल ब्रह्मचर्य से पवित्र नहीं है, वह ज्ञानियों की दृष्टि में ऋषि, मुनि, श्रमण या संयमी नहीं है। एक बर्तन के अन्दर बदबू भरी है, उसे अन्दर से तो स्वच्छ नहीं किया जाता, केवल बाहर से मांजा और धो लिया जाए तो भी क्या प्रयोजन सिद्ध हुआ ? उसकी दुर्गन्ध जाएगी नहीं। इसी प्रकार जिस साधक के अन्तरंग में विषय विकार छिपे हैं, भोग-वासनाएँ घुसी हुई हैं, उन्हें तो दूर नहीं किया जाए, ब्रह्मचर्य को शुद्ध रूप में(मन-वचन-काया से) पालन न किया जाए तो बाह्य साधनाओं या क्रियाकाण्डों से अथवा तप-जप से उसे वास्तविक साधक नहीं कहा जा सकता है। ब्रह्मचर्य की शुद्ध चर्या के द्वारा ही उसकी शुद्धि हो सकती है। अतः शुद्ध साधना का मूल ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्य के द्वारा ही विकारों और वासनाओं को दूर करके अन्तरंग की शुद्धि हो सकती है। उसी से तप, जप, ध्यान या अन्य साधनाओं में चमक-दमक आती है। अतः ब्रह्मचर्य शुद्ध साधना का जनक है।

ब्रह्मचर्य : उदारता, धीरता और गम्भीरता का स्रोत

जैन इतिहास साक्षी है, जिन आत्माओं ने शुद्धरूप में ब्रह्मचर्य का पालन किया है, वे चाहे एकान्त में रहे, या तप-जप ध्यान, मौन के साधक रहे, वे उन्नति के उच्चतम शिखर पर पहुँच गये। उनमें ब्रह्मचर्य का तेज पैदा हो गया, उनके अन्तस्तल में ब्रह्मचर्य रम गया और जीवन में काम-क्रोधादि जो भी विकार थे, वे सब नष्ट हो

---

१ प्रश्नव्याकरण सूत्र ४ सं०, सू० १

२ जेण सुद्धचरिएण भवइ सुबंभणो सुसमणो सुसाहू।
स इसी, स मुणी, स संजए, स एव भिक्खू, जे सुद्ध चरइ बंभचेरं।
—प्रश्नव्याकरण सं०४

गये। अन्तरंग शुद्ध साधनाओं से ओतप्रोत हो गया। ऐसे ब्रह्मचर्यनिष्ठ साधकों का जीवन, शुद्ध ब्रह्मचर्य के प्रताप से कितना उन्नत हो जाता है? इसे प्रश्नव्याकरण सूत्र में स्पष्ट रूप से कहा गया है—ब्रह्मचर्य के पालन करने से अन्तःकरण उदार, गम्भीर और स्थिर हो जाता है।[1] जो व्यक्ति कामी-भोगी होते हैं उनके हृदय में कहाँ एकाग्रता, स्थिरता, और गम्भीरता होगी? उनका चित्त सदा चंचल रहेगा तथा उनका हृदय छिछला एवं बुद्धि अदूरदर्शी होने के कारण उनमें स्वार्थपरता होगी, उदारता नहीं। ब्रह्मचर्य के कारण ब्रह्मचर्यनिष्ठ का जीवन हिमवान् पर्वत से भी अधिक तेजस्वी होता है।

ब्रह्मचारिणी चन्दनबाला को जब धनावह सेठ अपने यहाँ धर्मपुत्री बनाकर ले आया था; उस समय श्रेष्ठी-पत्नी मूला के हृदय में चन्दनबाला के प्रति जबरदस्त शंका घुस गयी थी कि मेरे पति इसे मेरी सौत बनाने के लिए लाये हैं। इसी आशंका से प्रेरित होकर मूला सेठानी सेठ धनावह की अनुपस्थिति में चन्दनबाला को घोर यातनायें देने लगी। उसका मस्तक मुंडवाकर तथा एक मात्र एक कच्छा पहनाकर तथा उसके हाथों में हथकड़ियाँ और पैरों बेड़ियाँ डालकर घर के तलघर में डाल दिया। तीन दिन चन्दनबाला वहीं भूखी-प्यासी पड़ी रही। मूला सेठानी उसकी उपेक्षा करके अपने पीहर चली गई, किन्तु इतनी यातना देने के बावजूद भी ब्रह्मचारिणी चन्दनबाला के हृदय में सेठानी के प्रति कोई दुर्भावना या प्रतिक्रिया की भावना नहीं जागी। उसने सेठानी मूला को अपनी धर्ममाता मान लिया। ब्रह्मचर्य के प्रताप से इतने कष्टों के आ पड़ने पर भी निर्भय, निश्चल एवं धीर-गम्भीर बनी रही। मूला-सेठानी के प्रति भी वह उदार एवं प्रशस्त रही। यद्यपि वह चाहती तो धनावह सेठ से, यहाँ तक कि अपनी मौसी रानी मृगावती और राजा शतानीक से मूला सेठानी की शिकायत करके उसे दण्ड दिला सकती थी, परन्तु उसने ऐसा कोई दुर्विचार नहीं किया, न ही ऐसा कठोर कदम उठाया। चन्दनबाला ने इन कष्टों को स्वकृत कर्मों का फल माना।[2] यह ब्रह्मचर्य का ही माहात्म्य था।

विचारों की पवित्रता का स्रोत : ब्रह्मचर्य

ब्रह्मचर्य का जिसने शुद्धरूप से अन्तःकरण से पालन किया है, उसके विचारों में पवित्रता आ जाएगी। ब्रह्मचर्य में ही ऐसा जादू है कि उसके प्रभाव से मनुष्य का चिन्तन-मनन, विचार एवं भाव पवित्र एवं शुद्ध रहते हैं। ब्रह्मचारी के मन-मस्तिष्क में विचार की एक भी किरण पड़ते ही वह पवित्र सुधा बन जाता है।

यह एक माना हुआ सिद्धान्त है कि मन जितना पवित्र होगा, उसमें चिन्तन-मनन भी उतना ही प्रशस्त होगा, उसमें विचार भी सुन्दर ही आएँगे, उसकी स्मरण-

---

१ "पसत्थगंभीरविमितमज्झं हिमवंत-महंततेयमंतं।"—प्रश्नव्याकरण सं.४, सूत्र १
२ 'महासती चन्दनबाला' (जैनाचार्य पू. श्री जवाहरलालजी)

शक्ति, निर्णयशक्ति तथा निरीक्षण-परीक्षण एवं स्फुरणाशक्ति भी उतनी ही तीव्र एवं सक्षम होगी।

एक सरोवर में पानी भरा है, किन्तु उसमें कीचड़ और मैल जमा हुआ है, अथवा पानी तो साफ है, किन्तु हवा के थपेड़ों से उठने वाली लहरों के कारण वह चंचल है, तो ऐसे पानी में कोई व्यक्ति अपना मुंह देखना चाहे तो साफ नहीं दिखाई देगा, डांवाडोल अवस्था में दिखाई देगा। किन्तु जिस सरोवर में पानी स्वच्छ और स्थिर हो, उसमें मनुष्य अपना मुख ज्यों का त्यों देख सकता है। इसी प्रकार जिस मनुष्य में विकारों का मैल और कीचड़ भरा है, वासना की चंचलता है, इस कारण वह चंचल और मलिन बना हुआ है, उसमें सैद्धान्तिक सुविचार और शास्त्रीय शुद्ध चिन्तन मिलना कठिन है। न ही उसमें स्मरणशक्ति, निर्णयशक्ति या स्फुरणाशक्ति मिलेगी। वह किसी समस्या के आने पर स्पष्ट एवं युक्तिसंगत चिन्तन नहीं दे सकेगा। किन्तु ब्रह्मचर्य के विशुद्ध पालन के कारण व्यक्ति का मन पवित्र और स्थिर हो जाता है। उसके मन में विकारों की मलिनता, वासना की गन्दगी या चंचलता नहीं रहती, इसी कारण उसका चिन्तन स्पष्ट, शुद्ध, शास्त्रसम्मत एवं युक्तिसंगत होता है। उसके विचारों में किसी प्रकार का भय, शंका, चिन्ता, खेद तथा आसक्ति, मोह, दैन्य, असहिष्णुता, लोभ, क्षोभ, क्रोध, द्वेष, द्रोह आदि का मालिन्य नहीं होता। न ही अभिमान, उच्छृंखलता, मद, अविनय आदि दुर्गुणों का प्रवेश उसके मन में होता है। ब्रह्मचर्य का ही यह प्रभाव है कि शुद्ध एवं अखण्ड ब्रह्मचारी का मन इतना प्रशस्त, स्वच्छ एवं निर्मल हो जाता है। प्रश्नव्याकरण सूत्र में ब्रह्मचर्य की इसी महत्ता का वर्णन किया गया है—

"जिन उत्तम गुणों से युक्त महापुरुषों तथा धैर्यधारियों में महासत्त्वशाली पुरुषों, धार्मिकों एवं धृतिमान् पुरुषों का यह ब्रह्मचर्य व्रत सदा विशुद्ध होता है, उनका ब्रह्मचर्ययुक्त मन शंकारहित, भयविहीन, तुषरहित चावल के समान सारयुक्त एवं निरायास (खेदरहित), तथा आसक्ति या मलिनता के लेप से रहित होता है। यह चित्त की शान्ति का घर एवं अविचल होता है।"[1] ऐसे अखण्ड एवं विशुद्ध ब्रह्मचर्यनिष्ठ साधक का मन भयों एवं प्रलोभनों से विचलित नहीं होता। उसके मन में कामवासना का एक भी कुविचार प्रवेश नहीं कर पाता। वह अपने मन में विषय-भोगों को कतई स्थान नहीं देता। ऐसे ब्रह्मचारी के पूर्वजन्म के संस्कार के साथ-साथ इस जन्म के संस्कार भी कम प्रभावशाली नहीं होते।

अखण्ड ब्रह्मचारी तथा अनेक विद्याओं और लब्धियों से सम्पन्न आचार्य वज्र

---

१ महापुरिस-धीर-सूर-धम्मिय-धितिमंताण सया विसुद्धं..... निस्संकियं, निब्भयं, निक्कुसं, निरायासं, निरुवलेवं, निव्वुतिघरं नियम-निप्पकंपं.....।"

—प्रश्नव्याकरण सं० ४, सू० १

स्वामी विचरण करते हुए पाटलिपुत्र पधारे। नगर की जनता उनके दर्शनों के लिए उमड़ पड़ी। आचार्य वज्रस्वामी का रूप आकर्षक था। उन्होंने प्रभावशाली धर्मोपदेश दिया। श्रोतागण उनके रूप और वाणी की प्रशंसा करते हुए अपने-अपने स्थान पर लौटे।

पाटलिपुत्र नगर में धनावह नामक एक श्रेष्ठी रहता था। उसके एक अत्यन्त रूपवती कन्या थी—रुक्मिणी। एक दिन साध्वियाँ वज्रस्वामीजी के रूप-लावण्य, विद्या, लब्धि आदि गुणों की प्रशंसा कर रही थीं। श्रेष्ठिपुत्री रुक्मिणी ने यह सुना तो वज्रस्वामी के अनुपम गुणों पर मुग्ध होकर उसने प्रतिज्ञा करली कि "मैं वज्रस्वामी के अतिरिक्त और किसी से भी विवाह नहीं करूँगी।" घर जाकर उसने अपने माता-पिता के सामने अपनी प्रतिज्ञा दोहरा दी। पिता पहले तो अत्यन्त चिन्तित हुआ किन्तु पुत्री की दृढ़ता देखकर उसने वज्रस्वामी को मनाने का उपाय सोचा। पुत्रीस्नेहवश करोड़ों के रत्न तथा देवांगनासम उत्तम वस्त्राभूषणों से सुसज्जितपुत्री को लेकर धनावह सेठ आचार्य वज्रस्वामी की सेवा में पहुँचा। सेठ ने हाथ जोड़कर विनय-पूर्वक उनसे निवेदन किया—"भगवन्! प्राणों से भी अधिक प्रिय, सरल, एवं विनय-सेवादि गुणों से सम्पन्न सर्वगृहकार्यदक्ष मेरी यह रूपवती कन्या है। इसने आपके साथ विवाह करने की प्रतिज्ञा करली है। इसलिए आप इसके साथ पाणिग्रहण करके इसे स्वीकारें और यह रत्नराशि लेकर मुझे अनुग्रहीत करें।"

आचार्य वज्रस्वामी ने मुस्कराते हुए उत्तर दिया—"देवानुप्रिय! तुम्हारी यह कन्या बहुत ही भोली है। यह साधुजीवन का स्वरूप नहीं जानती। इसलिए ऐसी प्रतिज्ञा कर बैठी है। आप तो जानते ही हैं, कि जैन साधु कंचन और कामिनी के सर्वथा त्यागी होते हैं। साधु बन जाने के बाद मन-वचन-काया से व कृत-कारित-अनुमोदितरूप से हम पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं। संसार की सभी स्त्रियाँ हमारे लिए माता-बहन-पुत्री के समान हैं। हम किसी भी सांसारिक स्त्री से विवाह नहीं करते। हमने तो मुक्तिकन्या के साथ विवाह कर लिया है। हमें मल-मूत्र आदि अशुचि से पूर्ण स्त्रीशरीर पर आसक्ति करना, यहाँ तक कि उसका स्पर्श करना भी महान् अरुचिकर है। अतः सेठ! अगर तुम्हारी पुत्री का मुझ पर वास्तविक स्नेह है तो उसे मेरे (संयमसाधना के) मार्ग का अनुसरण करना चाहिए। यही इसके लिए उचित है।"

धनावह सेठ ने अपनी पुत्री को समझाया। उसके मन में वज्रस्वामी का उपदेश सुनकर पहले ही वैराग्य का अंकुर फूट गया था। वह संसार के वास्तविक स्वरूप को समझ गई। उसके नेत्रों से हर्षाश्रु उमड़ पड़े। उसने हाथ जोड़कर वज्रस्वामी से विनति की—"स्वामिन्! मुझे भवजलतारिणी दीक्षा नौका का आश्रय देकर कृतार्थ कीजिए। मैं आजीवन ब्रह्मचारिणी एवं महाव्रती रहकर आपके पदचिह्नों का

अनुसरण करूंगी।" वज्रस्वामी ने कहा—"भद्रे! कुलीन आर्यनारियों के लिए यही मार्ग उचित है। श्रेयस्कर कार्य में विलम्ब न करो।" रुक्मिणी ने अत्यन्त वैराग्यभाव से भागवती दीक्षा ग्रहण की और रत्नत्रय की सम्यक् आराधना की। यह है—शुद्ध ब्रह्मचर्य व्रती की निर्लोभता, नियमितता, निश्चलता एवं धीरता का जीता जागता उदाहरण!

मनुष्य का मन शुद्ध एवं निष्कलुष बनता है—ब्रह्मचर्य की साधना से, ब्रह्मचर्य के द्वारा ही मन में पवित्रता आती है। मन पवित्र होगा तो चिन्तन भी स्पष्ट और स्वच्छ होगा, कर्त्तव्य पालन का विचार भी प्रबल होगा। उसका जीवन उदात्त विचारों के कारण महान् बन जाता है। दूसरे शब्दों में, ब्रह्मचर्य पवित्र मन का झरना है और अब्रह्मचर्य मलिन मन का गंदा नाला है। जो मन रातदिन वासना की गंदगी में भटकता है, उसमें झरने की पवित्र धारा कहाँ से आएगी? वह तो गंदे नाले की गंदगी के समान अपवित्र विचारों की गंदगी एवं बदबू ही फैलाएगा। वह परिवार, समाज एवं राष्ट्र में भी अपने दूषित एवं निर्बल मन की दुर्गन्ध फैलाएगा।

सारांश यह है, कि पवित्र मन का या वैचारिक निर्मलता का स्रोत ब्रह्मचर्य है।

शुद्ध साधना का सिंहद्वार

साधना किसी भी तप-जप की हो या व्रत या नियम की हो, वह मन की पवित्रता से ही सिद्ध होती है। यदि साधना के प्रारम्भ करने से पूर्व साधक का मन पवित्र नहीं है, कलुषित है, काम-वासना के विकारों से भरा है, तो वह क्षम्य नहीं। मन की पवित्रता ब्रह्मचर्य से आती है। यदि उस व्रत या नियम को ग्रहण करने से पूर्व ब्रह्मचर्य व्रत को ग्रहण कर लिया जाए, तो उस साधना में बल आ जाता है, उसका मन भी पवित्र विचार एवं स्पष्ट चिन्तन देता रहता है।

मानव-मन का सबसे बड़ा दोष है—अपवित्र एवं अस्पष्ट दूषित विचार या काम-विकार का चिन्तन। विशृंखलित मन किसी भी साधना को ठीक ढंग से नहीं कर पाता। एक साधु है। यदि वह अच्छा आहार चाहता है, उसकी रुचि सरस पदार्थ खाने में है, तो यह दोष क्षम्य हो सकता है। किसी साधक की रुचि अच्छा वस्त्र पहनने की है तो वह भी निभ सकती है। इसी प्रकार जीवन की और भी कुछ बातें निभ सकती हैं; जैसे किसी की उग्र प्रकृति हो, सन्तसेवा करने में उत्साह न हो, आदि। ये दोष तो हैं, पर इन्हें निभाया जा सकता है; परन्तु अब्रह्मचर्य सम्बन्धी दोष इतना बड़ा है कि वह क्षम्य नहीं हो सकता। दूसरे शब्दों में यों कहा जा सकता है कि ब्रह्मचर्य शुद्ध साधना का सिंहद्वार है। इसमें प्रवेश किये बिना साधना में गति-प्रगति आ ही नहीं सकती। ब्रह्मचर्य से भ्रष्ट होते ही पहले की हुई सारी व्रत-नियमादि की साधना चौपट हो जाती है और ब्रह्मचर्य के पथ पर पुनः आते ही पूर्व की सारी साधना सजीवन हो उठती है।

मुनि भवदेव ने अपने सांसारिक छोटे भाई भावदेव को प्रतिबोध देने के हेतु गुरु-आज्ञा प्राप्त कर अपने गाँव की ओर विहार किया। गाँव में पहुँचने

पर पता लगा कि भावदेव का आज ही विवाह हुआ है। भावदेव जब अपने भ्राता मुनि के दर्शन करने आया तो भवदेव मुनि ने कहा—"तू तो जाल में फँस गया है, पर अब भी बचने का उपाय है। सांसारिक विषय-सुख दुर्गतियों में भटकाने वाले हैं, आत्म-कल्याण कर। संसार के सारे सदार्थ अनित्य हैं।" भावदेव ने कुछ वैराग्य से और कुछ बड़े भाई के संकोच से दीक्षा लेना स्वीकार कर लिया। नववधू नागिला से जब भावदेव ने अनुमति मांगी तो उसने कहा—

"अगर आप मुनिधर्म का और सबसे महान् व्रत ब्रह्मचर्य का पालन कर सकते हों तो खुशी से दीक्षा लें, मेरी ओर से सहर्ष अनुमति है। परन्तु मेरी इच्छा दीक्षा लेने की नहीं है। मैं श्राविका धर्म का पालन करूंगी। यह आप भलीभाँति सोच-विचार लें। बाद में इस घर में आपका कोई स्थान नहीं रहेगा।"

भावदेव ने दीक्षा ले ली और अपने भ्रातृमुनि के साथ गुरु के पास आये। अन्तर् में पूरा वैराग्य-रंग नहीं था। केवल बड़े भाई का संकोच था, इसलिए भावदेव मुनि संयम का पालन करते थे, सभी धर्मक्रियाएँ करते थे। किन्तु रह-रहकर नागिला की याद आती थी। बार-बार काम-विकार जागृत होता था। पर अवसर नहीं मिल पाता था। अतः विचार किया कि भाई के जीते-जी घर नहीं जाऊंगा, साथ ही रहूँगा।

एक-एक करते पूरे बारह वर्ष बीत गए। शुद्ध ब्रह्मचर्य साधना के बिना भाव-देव मुनि के अन्य व्रत-नियमादि-पालन औपचारिक एवं निर्जीव थे। मुनि भवदेव को सहसा एक व्याधि ने आ घेरा। वे स्वर्गवासी हुए। अब भावदेव को रोकने वाला कोई नहीं था। दूसरे दिन लोग मुनि भवदेव के मृत शरीर का दाहसंस्कार करने में व्यस्त थे। अवसर पाकर भावदेव ने वस्त्रों की गठड़ी बांधी और सूर्योदय से पूर्व ही अपने गाँव की ओर प्रस्थान कर दिया।

विषय-सुख प्राप्ति के पुलावे बाँधता हुआ भावदेव मुनि गाँव के बाहर रमणीय बाग में ठहरा। संयोगवश नागिला अपनी सहेलियों के साथ कहीं जा रही थी। उसने मुनि को आते हुए देखा तो सहर्ष दर्शन करने पहुँची। वन्दना करके पूछा—"मुनिवर! आप अकेले कैसे?"

मुनि ने टालमटूल उत्तर दिया। फिर नागिला से पूछा—"इस गाँव में नागिला नाम की एक श्राविका रहती थी, वह है या नहीं?"

नागिला अपना नाम सुनकर सहम गई। उसके दिमाग में सहसा एक झटका लगा, सोचा—"ये अपने गुरु एवं भाई को छोड़कर अकेले आये हैं। हो न हो, कुछ न कुछ दाल में काला है।" कुछ सोचकर नागिला ने उत्तर दिया—"आपको नागिला से क्या मतलब? नागिला को उसके पति छोड़कर १२ वर्ष हुए मुनि बन चुके हैं।"

मुनि बोले—"हाँ-हाँ, उसी से मतलब है। बताओ, वह कहाँ रहती है?"

नागिला—"मुने ! नागिला अब आपको तन-मन से बिलकुल नहीं चाहती। आप यहीं से आपस लौट जाइये अपने गुरु के पास।"

मुनि—"नहीं, मैं नागिला की खोज में आया हूँ। नागिला मुझे अवश्य चाहती होगी। बड़े भाई ने मुझे सांसारिक बंधनों के बचने का उपदेश दिया। मैंने संकोचवश दीक्षा ले ली। परन्तु मेरे मन से नागिला गई नहीं है।"

नागिला बोली—"आप में साधुत्व का अंश भी नहीं है। कोरा वेष है। मैं चलती हूँ।"

चिन्तातुर नागिला घर आई। कैसे इन्हें समझाया जाए ? घर आगये तो मैं क्या करूँगी ? उसने मन ही मन एक योजना बनाई और अपनी सहेली के साथ उसी बाग में पहुँच गई, जहाँ मुनि ठहरे थे। दोनों ने वहीं सामायिक कर ली। सामायिक पूर्ण होते ही एक बच्चा दौड़ा-दौड़ा आया और अपनी माँ की गोद में बैठकर कहने लगा—"आज खीर तो बड़ी अच्छी बनी थी, परन्तु खाते ही मुझे कै हो गई। मैं पुनः उस वमन की हुई खीर को चाट गया।"

माँ ने कहा—"बेटा! बहुत अच्छा किया। अच्छी चीज फेंकी थोड़े ही जाती है।"

यह सुनते ही भावदेव मुनि बोले—"कैसी मूर्खता की बातें कर रही हो ? वमन की हुई खीर को बच्चा पुनः चाट गया, यह क्या अच्छी बात थी, जिसकी प्रशंसा कर रही हो ?"

नागिला ने अवसर देखकर कहा—"यह तो नादान बच्चा है, वमन की हुई खीर को चाट गया; परन्तु आप तो मुनि होकर जिन विषय-भोगों का वमन कर दिया था, उन्हें फिर चाटने चले हैं। नागिला तन-मन-वचन से पुरुष मात्र की वांछा नहीं करती। न मैं आपकी हूँ और न आप मेरे हैं। खबरदार ! यदि घर की ओर पैर बढ़ाया तो ! इस वेष की कुछ तो लज्जा रखिए।"

मुनि की आँखें खुल गईं। उन्हें अपनी भयंकर भूल मालूम हुई। मन में पश्चात्ताप हुआ—"कहाँ मैं मुनि और ब्रह्मचर्य से भ्रष्ट होने जा रहा हूँ ! धिक्कार है मुझे !" उसने नागिला से क्षमा मांगी और कहा—"आज से मैं पूर्ण ब्रह्मचर्य के पथ पर दृढ़तापूर्वक पुनः लौट रहा हूँ। तुमने मुझे भ्रष्ट होने से बचा लिया, इसके लिए आभारी हूँ। परन्तु मैं अब गुरु के पास कैसे जाऊँ ? बिना आज्ञा के ही आगया था।"

नागिला ने कहा—"घबराइए नहीं, मैं गुरुदेव से सारी बात कह दूँगी। आप उनके समक्ष आलोचना करके प्रायश्चित्त लेकर आत्म-शुद्धि कर लेना।"

नागिला गुरुदेव के पास पहुँची। भावदेव मुनि की घटना उन्हें आद्योपान्त सुनाई। भावदेव मुनि ने भी गुरुचरणों में अपने समस्त पापों की आलोचना की और प्रायश्चित्त लेकर पुनः संयमारूढ़ हुए। अब वे मन-वचन-काया से शुद्ध ब्रह्मचर्य का पालन करने लगे।

यह है, ब्रह्मचर्य साधना के बिना सारे ही व्रत-नियमों के डांवाडोल होने और पुनः ब्रह्मचर्य में स्थिर होते ही सारे व्रत-नियमों के सजीवन होने का उदाहरण !

इसीलिए प्रश्नव्याकरण सूत्र में यह कहा गया है कि "ब्रह्मचर्य पाँच महाव्रतों और पाँच अणुव्रतों का मूल है।"[1] ब्रह्मचर्य के बिना अन्य महाव्रतों या अणुव्रतों का कोई मूल्य नहीं, जड़ को छोड़कर केवल पत्तों को सींचना है।

चारित्र का प्राण : ब्रह्मचर्य

इसीलिए आचार्य हेमचन्द्र ने ब्रह्मचर्य को चारित्र का प्राण[2] कहा है। जैसे प्राण निकल जाने पर शरीर निर्जीव हो जाता है, वैसे ही अहिंसादि चारित्र के अंगों में से ब्रह्मचर्य को निकाल लेते हैं, तो चारित्र निष्प्राण सा हो जाता है।

अकबर बादशाह के दरबार में एक प्रश्न पूछा गया था—"अगर बारह महीनों में से वर्षा का महीना निकाल दिया जाए तो शेष कितने महीने बचेंगे?" इस पर किसी ने कुछ बताया और किसी ने कुछ। कोई प्रश्न की जड़ तक नहीं पहुँच सका। अन्त में महामन्त्री बीरबल ने कहा—"हजूर! वर्षा का महीना निकाल दिया जाए तो शेष कुछ भी नहीं बचेगा। क्योंकि वर्षा के बिना कोई भी व्यक्ति खुशहाल नहीं होगा, अन्न आदि कुछ भी पैदा न होगा। मनुष्य मर जाएँगे।" इसी प्रकार ब्रह्मचर्य के बिना दूसरे व्रत आदि—सम्यक्चारित्र के अंगों का पालन कैसे होगा? क्योंकि चारित्र-पालन के लिए मन-वचन-काया की विशुद्धि आवश्यक है। मन-वचन-काया में जरा भी विकार भाव आने पर चारित्र दूषित या भंग हो जाता है। अतः चारित्र को टिकाये रखने में मूल कारण ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्य से ही मन-वचन-काया की विशुद्धि या पवित्रता रह सकती है। इसके अतिरिक्त व्रतादि का पालन करने के लिए सशक्त शरीर, मजबूत मनोबल एवं व्रतपालन का उत्साह, साहस आदि का होना आवश्यक है, वह ब्रह्मचर्य के बिना नहीं हो सकेगा। इसीलिए ब्रह्मचर्य को चारित्र का प्राण और जीवन कहा गया है।[3]

आनन्द का अक्षय कोष : ब्रह्मचर्य

सामान्य अज्ञानी लोग विषय-भोगों में आनन्द मानते हैं। परन्तु गहराई से देखा जाए तो विषयभोग अनेक रोग, शोक, दुःख, चिन्ता आदि नाना अनर्थ पैदा करने वाले हैं। सर्वाधिक आनन्ददायी एवं आनन्द का सर्वोत्तम साधन तो ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्य का त्याग करके जो व्यक्ति मूढ़ होकर विषय-भोगों में रात-दिन रचा-पचा रहता है वह वीर्यक्षय होते ही ग्लानि, उदासी, शरीर में शिथिलता, अशक्ति, वेदना

---

१. पंचमहव्वय-सुव्वय-मूलं। —प्रश्नव्याकरण सं० ४, सू० १
२. "प्राणभूतं चारित्रस्य" —योगशास्त्र २/१०४
३. ब्रह्मव्रतमिदं जीयाच्चरणस्यैव जीवितम्। —ज्ञानार्णव ११/४

आदि अनेक अनिष्टों का शिकार हो जाता है। अतः विषयों के उपभोग में जो सुख है, वह क्षणिक और परिणाम में अत्यन्त दुःखावह है; वह शारीरिक-मानसिक अनेक अनिष्टों-कष्टों से भरा है। आनन्द का सागर तो हमारे समग्र चैतन्य में लहरा रहा है, उसमें रमण करने एवं डुबकी लगाने से ही आनन्द प्राप्त होता है। उपनिषद् के ऋषियों ने अपना अनुभव प्रस्तुत करते हुए कहा—**आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्** ब्रह्म को हमने आनन्दमय अनुभव कर लिया है। मनुष्य चाहे तो ब्रह्मचर्य के माध्यम से ब्रह्म (आत्मा) में रमण करके असीम आनन्द की अनुभूति कर सकता है। ब्रह्मचर्य से प्राप्त आनन्द ही मन, वाणी, चित्त, बुद्धि एवं हृदय में व्याप्त हो जाता है। परन्तु अज्ञानी विषयासक्त मन आनन्द की खोज में बाहर भटकता रहता है। कस्तूरीमृग की नाभि में कस्तूरी होती है फिर भी वह कस्तूरी की खोज में इधर-उधर मारा-मारा फिरता है। यही दशा आज विषयासक्त अज्ञजनों की हो रही है, वे असीम सुख या परम आनन्द के स्रोत—ब्रह्मचर्य को (जो कि स्वयं के पास है) न अपनाकर अत्यन्त विषयों-उपभोग में, स्वच्छन्द कामाचार में अपने अमूल्य वीर्य को लुटा कर स्थायी आनन्द की आशा रखते हैं। परन्तु शास्त्रकार उन लोगों से पुकार-पुकार कहते है—

"खाणी अणत्थाण हु कामभोगा"

काम-भोग अनर्थों की खान है। उनमें आनन्द नहीं। अतः ब्रह्मचर्य ही आनन्द का अक्षय कोष है।

ब्रह्मचर्य : संयम का मेरुदण्ड

ब्रह्मचर्य का व्यापक और व्यावहारिक अर्थ है—सर्वेन्द्रियसंयम, मनःसंयम, वचनसंयम, हाथ-पैरों पर संयम, क्रोधादि पर संयम, जननेन्द्रियसंयम या उपस्थसंयम। इस प्रकार सर्वदा एवं सर्वत्र संयम ही ब्रह्मचर्य का सर्वस्व है।

मेरुदण्ड शरीर का महत्वपूर्ण अवयव है। यह जिसका टेढ़ा या झुक जाता है, उसकी कमर झुक जाती है। असमय में ही वह बूढ़े की तरह चलता है। उसके शरीर में नाना प्रकार के रोग लग जाते हैं। उसका मस्तिष्क भी विकृत एवं कभी-कभी विस्मरणशील हो जाता है। इसी प्रकार जिस व्यक्ति के जीवन में संयम नहीं रहता, विशेषतः जननेन्द्रियसंयम, पंचेन्द्रिय संयम या मनःसंयम शिथिल हो जाता है, अथवा संयम का अतिशय भंग हो जाता है, उसका आध्यात्मिक मेरुदण्ड विकृत हो जाता है। अर्थात् शुद्ध और सर्व-संयम पालन करने पर ब्रह्मचर्यरूपी मेरुदण्ड सुरक्षित, सशक्त और सम्यक् रह सकता है अन्यथा वह विकृत, निर्बल एवं असुरक्षित हो जाता है। कहना होगा कि ब्रह्मचर्य संयम का मेरुदण्ड है। ब्रह्मचर्य रूपी मेरुदण्ड को सुरक्षित, सशक्त और सम्यक् सक्रिय रखना हो तो सर्व-संयम का शुद्ध रूप से पालन आवश्यक है।

ब्रह्मचर्य : सर्वोत्तम तप

कहने को तो स्थूल दृष्टि वाले लोग कह देते हैं कि उपवास, बेला, तेला या मासक्षमण आदि ही तप हैं। परन्तु क्या कोरे उपवास तप हैं। वे सिवाय लंघन के और कुछ नहीं हैं। वास्तविक तप तो वह है, जिसमें, इन्द्रिय-विषयों के उपभोग पर नियंत्रण हो, मनोविकारों पर संयम हो। एक व्यक्ति उपवास करता है परन्तु विषयासक्त होने से वह ब्रह्मचर्य-पालन नहीं कर सकता, जबकि दूसरा व्यक्ति उपवास नहीं कर सकता, परन्तु मन-वचन-काया से ब्रह्मचर्य का पालन करता है। मनरूपी अश्व को वश में करना दुःशक्य ही नहीं, महादुष्कर है। उपवासी अब्रह्मचारी की अपेक्षा उपवास नहीं करने वाला ब्रह्मचारी श्रेष्ठ है; क्योंकि उपवास करने का मुख्य उद्देश्य इन्द्रियों और मन पर या इच्छाओं—वासनाओं पर विजय पाना है। चाहे जितने उपवास किये जाएँ, किन्तु उपवास का मूल हेतु सिद्ध नहीं हो तो, वे उपवास ही किस काम के?

बाह्य या आभ्यन्तर किसी भी सांसारिक प्रयोजन रहित उत्तम तप के लिए शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक तीनों शक्तियों की आवश्यकता है। शारीरिक, मानसिक और आत्मिक शक्ति के अभाव में कोई भी सम्यक् तप कैसे हो सकता है? बिना मनोबल के कोई क्या खाक तप करेगा? बिना शरीरबल के वह उपवास या किसी भी तप को कैसे और कहाँ तक पार लगा पाएगा? आत्मबल या मनोबल के अभाव में आभ्यन्तर तप भी कैसे कर पाएगा? जितनी भी शक्तियाँ हैं, वे ब्रह्मचर्य से प्राप्त होती हैं। इसीलिए प्रश्नव्याकरण सूत्र में कहा है—तपस्या का मूल ब्रह्मचर्य है।[1] वैदिक धर्मग्रन्थों में ब्रह्मचर्य को ही वास्तविक तप कहा है।[2] आद्य शंकराचार्य ने तो इससे भी आगे बढ़कर स्पष्ट शब्दों में कहा है—मनीषियों ने बाह्य तप को तप नहीं कहा, अपितु ब्रह्मचर्य को ही सर्व तपों में उत्तम कहा है।[3] ब्रह्मचर्य रूप तप इसलिए भी सर्वोत्तम तप है कि उससे मन, बुद्धि, इन्द्रिय तथा शरीर के सभी अंगोपांगों पर संयम या नियंत्रण किया जा सकता है, इनका आध्यात्मिक दिशा में कर्मक्षय की दृष्टि से उपयोग किया जा सकता है।

प्रश्नव्याकरण सूत्र में ब्रह्मचर्य को हिमवान् पर्वत से भी बढ़कर तेजस्वी बताया है।[4] ब्रह्मचारी की तेजस्विता और कान्ति के सामने हिमवान् पर्वत की कान्ति और तेजस्विता फीकी लगती है। अतः ब्रह्मचर्य रूपी तप व्यक्ति को तेजस्वी और ओजस्वी

---

१. उत्तमतव·····मूलं —प्रश्न० सं०, ४ सू० १
२. तपो वै ब्रह्मचर्यम् —वेद
३. न तपस्तप इत्याहुर्ब्रह्मचर्यं तपोत्तमम्। —ज्ञानसंकीलनीतंत्र
४. हिमवंतमहंततेयमंतं। —प्रश्न० सं० ४ सू० १

तथा मृत्युञ्जयी बनाता है। इन्द्र का कथन है—ब्रह्मचर्य से ब्रह्मतेज का संचय होता है और पूर्ण तपस्वी उसी के बल से तप सफल कर सकता है।

ब्राह्मी और सुन्दरी, दोनों महासतियाँ भगवान् ऋषभदेव की पुत्रियाँ थीं। वे तप करती थीं, इसलिए उनका शरीर भले ही कृश हो गया था, किन्तु उनका शरीर ब्रह्मचर्यरूपी तप से तेजस्वी और ओजस्वी था। वास्तव में ब्रह्मचर्यरूपी तपस्या वह अग्नि है, जिसमें तपकर आत्मा कुन्दन बन जाती है। उस अग्नि में अनन्त-अनन्त काल से आत्मा के साथ चिपटा हुआ कर्ममल भस्म हो जाता है।

रत्नत्रय का मूल : ब्रह्मचर्य

सम्यग्दर्शन, सम्यक्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र—ये तीनों रत्नत्रय कहलाते हैं। ये तीनों मिलकर मोक्षमार्ग हैं। परन्तु सम्यग्दर्शन भी वास्तव में आत्मबल पर निर्भर है, आत्मनिरीक्षण-परीक्षणशक्ति पर अवलम्बित है। वस्तुतः हेयोपादेय का, सत्या-सत्य का एवं कर्तव्याकर्तव्य का निर्णय सम्यग्दृष्टि के बिना नहीं हो सकता। सम्यग्दर्शन के बिना व्यक्ति की सांसारिक पदार्थों तथा स्त्री-पुत्रादि सम्बन्धों के प्रति गाढ़ आसक्ति, मूर्च्छा मिट नहीं सकती, या मंद नहीं हो सकती, इससे विरक्ति भी नहीं हो सकती। ब्रह्मचर्य से ही आत्मिक, बौद्धिक, हार्दिक, विवेकीय या निरीक्षण-परीक्षणीय शक्ति प्राप्त हो सकती है। इसीलिए प्रश्नव्याकरण सूत्र में ब्रह्मचर्य को सम्यक्त्व का मूल बताया है।

वस्तुतत्त्व के सम्यग्ज्ञान के लिए तथा संसार के किसी भी पदार्थ के यथार्थ बोध के लिए बौद्धिक प्रतिभा, स्मरणशक्ति एवं विवेकशक्ति की आवश्यकता है, और ये सब उपलब्ध होती हैं, ब्रह्मचर्य से ही। इसलिए सम्यग्ज्ञान का मूल भी ब्रह्मचर्य को बताया है।

सम्यक्चारित्र के पालन के लिए प्रवृत्ति-निवृत्ति में विवेक, मन-वचन-काया की गुप्ति, तथा विषय-विकारों तथा कषायों पर विजय तथा आन्तरिक विशुद्धि की आवश्यकता है, ये सब ब्रह्मचर्य से ही परम्परा से प्राप्त हो सकती हैं। इसलिए ब्रह्मचर्य को चारित्र का भी मूल बताया गया है।

इस प्रकार ब्रह्मचर्य रत्नत्रय का मूल है।[1]

ब्रह्मचर्य : सर्वोत्तम यज्ञ

भगवद्गीता में आध्यात्मिक यज्ञ का प्रतिपादन किया गया है, उसे वहाँ 'ब्रह्मयज्ञ' की संज्ञा दी गई है। वह और कोई नहीं, ब्रह्मचर्यरूपी यज्ञ ही है। जिसमें ब्रह्म को ही अर्पण किया जाता है, ब्रह्म की ही हवि है, ब्रह्मरूप अग्नि में ब्रह्म के

---

१. प्रश्नव्याकरण सं. ४, सूत्र १ "**उत्तमतवनियमनाणदंसणचरित्तसम्मत्त विणयमूलं।**"

द्वारा आहुति देने पर ब्रह्मकर्मसमाधि के द्वारा ब्रह्म को ही प्राप्त करना है। इसका तात्पर्य यह है कि इस ब्रह्मचर्यरूपी (आत्म-विचरण) यज्ञ में आत्मारूपी अग्नि में शरीर, मन, वाणी, बुद्धि, इन्द्रिय आदि के सम्पूर्ण कालुष्य (विकार) की आहुति देनी है, आत्मा की सेवा में इन सबको चढ़ा (अर्पण कर) देना है।[1]

उत्तराध्ययन सूत्र में इसी ब्रह्मयज्ञ की प्रक्रिया इस प्रकार बताई है—"तपस्या अग्नि है, जीव-अग्निकुण्ड है, मन-वचन-काया की सत्प्रवृत्तियाँ आहुति डालने की कड़छियाँ हैं, शरीर अग्नि जलाने के कण्डे हैं, कर्म ईन्धन है, संयम (ब्रह्मचर्य) की प्रवृत्ति शान्ति पाठ है। इस प्रकार मैं ऋषियों का प्रशस्त हवन (यज्ञ) करता हूँ।"[2]

छान्दोग्य उपनिषद् में भी इसी तथ्य का समर्थन किया गया है—जिसे यज्ञ कहा जाता है, वह वास्तव में ब्रह्मचर्य ही है।[3]

मौन (मुनिधर्म) ब्रह्मचर्य ही है

मौन का अर्थ यहाँ सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रात्मक मुनिधर्म है जिसमें सत्य, तप, प्राणिदया एवं इन्द्रियनिरोधरूप ब्रह्म की चर्या है। इस दृष्टि से ब्रह्मचर्य एक प्रकार से मौन—मौनीन्द्र धर्म या मौनीन्द्र-प्रवचन है।[4] इसी का समर्थन उपनिषद् ने किया है।[5]

मोक्षप्राप्ति के सभी गुणों का समावेश : ब्रह्मचर्य में

आचारांग सूत्र के ६ अध्ययनों को नियुक्तिकार भद्रबाहु स्वामी ने ब्रह्मचर्य नाम दिया है और बताया है कि "आचारांग के ब्रह्मचर्य नामक नौ अध्ययन प्रवचन के सार रूप हैं और उनमें मोक्ष के उपाय का वर्णन है।" यहाँ ब्रह्मचर्य शब्द मोक्ष प्राप्ति के लिए आवश्यक सारे प्रशस्त गुण (मूल गुण और उत्तर गुण) और आचरण का द्योतक है। इसमें सारे मूल और उत्तर गुणों की साधना का समावेश होता है। इसलिए ब्रह्मचर्य इतना व्यापक एवं मोक्ष प्राप्ति के सभी गुणों का समावेशक है।

दूसरी दृष्टि से देखा जाए तो ब्रह्मचर्य में सभी गुणों का समावेश हो जाता है। इसका समर्थन वैदिक धर्मग्रन्थ महाभारत ने भी किया है—ब्रह्मचर्य में सभी तीर्थ हैं,

---

१. ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्म समाधिना॥ —भगवद्गीता, अ० ४, श्लोक २४

२. तवो जोई जीवो जोइठाणं, जोगा सुया, सरीरं कारिसंगं।
कम्म एहा, संजमजोग संती, होमं हुणामी इसिणं पसत्थं॥—उत्तरा० १२/४४

३. **यद् यज्ञ इत्याचक्षते, ब्रह्मचर्यमेव तद्।** —छान्दोग्य उपनिषद् ८/५/१

४. (क) मौनीन्द्रं प्रवचनं ब्रह्मचर्यमित्युच्यते।....मौनीन्द्र प्रवचनं तु मोक्षमार्ग हेतुतया सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रात्मकम्। —सूत्रकृतांग शीलांक-वृत्ति २-५-१
(ख) आचारांग निर्युक्ति, गा, ३०

५. **यन्मौनमित्याचक्षते, तद्ब्रह्मचर्यमेव।"** —छन्दोग्य० ८/५/२

ब्रह्मचर्य में ही तप है, ब्रह्मचर्य में धैर्य है और यश भी निहित है। ब्रह्मचर्य में पुण्य, पवित्रता और पराक्रम है। ब्रह्मचर्य में स्वातंत्र्य और ईश्वरत्व तक भी प्रतिष्ठित हैं। वीर्य धारण (ब्रह्मचर्य) में ये समस्त प्रतिष्ठित हैं।[1]

आरोग्य की कुञ्जी और जड़ी-बूटी : ब्रह्मचर्य

ब्रह्मचर्य नाश करने वाला व्यक्ति नीरोग नहीं रह सकता। उसे कोई न कोई रोग घेरे रहेगा। युवावस्था में, चढ़ते खून में कदाचित् बाहर से शरीर स्वस्थ दिखाई दे परन्तु वीर्यनाश करने वाले का शरीर प्रायः श्वास, खांसी, दमा, क्षय, मस्तक-पीड़ा, कब्ज, अपाचन, अतिसार, आदि अनेक रोगों का घर बन जाता है। दवाइयाँ लेने पर भी शरीर में स्फूर्ति, साहस, कार्यक्षमता, उत्साह आदि नहीं रहते। आलस्य और अकर्मण्यता उसे घेर लेती है। अतः ब्रह्मचर्य ही स्वास्थ्य और आरोग्य की कुंजी है। शीघ्र आरोग्य प्राप्त करने के लिए ब्रह्मचर्य से बढ़कर कोई रामबाण दवा नहीं है। महात्मा गांधी के शब्दों में आरोग्य की अनेक कुञ्जियाँ हैं, परन्तु उसकी मुख्य कुञ्जी ब्रह्मचर्य है।

स्वास्थ्य मानव-जीवन की सफलता का चिन्ह है। स्वस्थ व्यक्ति जीवन के संघर्षों में भी सफल हो सकता है, इहलोक परलोक भी सुधार सकता है। यदि शरीर स्वस्थ नहीं है तो उसे अपना जीवन भी भाररूप मालूम पड़ने लगेगा, वह व्यक्ति मृत्यु की प्रतीक्षा करता हुआ प्रतीत होगा। शरीर की स्वस्थता और पुष्टता ब्रह्मचर्य पर आधारित है। वीर्यरक्षा करने से ही शरीर नीरोग और पुष्ट रह सकता है। इसलिए यह स्पष्टतः कहा जा सकता है कि ब्रह्मचर्य आरोग्य की कुञ्जी है।

संसार की भौतिक जड़ी-बूटियाँ शरीर को तभी स्वस्थ एवं सशक्त बना सकती हैं जब कि उस में वीर्य संचय हो। अहिंसा-सत्य आदि की आध्यात्मिक जड़ी-बूटियाँ केवल आत्मा की शक्ति बढ़ाती हैं, बशर्ते कि ब्रह्मचर्य साथ में हो; किन्तु ब्रह्मचर्य की जड़ी-बूटी तो शरीर और आत्मा दोनों को एक साथ ही शक्ति प्रदान करती है। आदर्श ब्रह्मचारी प्रो० माणिकराव कहते हैं—

बजा ब्रह्मचर्य का डंका, हमेशा सारी दुनिया में।
बली ब्रह्मचारी पुरुषों का, अमर है नाम दुनिया में ॥१॥
मिटा दो रोग को जड़ से, भगा दो भूत दुनिया में।
कथा यह पहलवानी की, सुना दो सारी दुनिया में ॥
फिरो मत बाटली लेकर, पियो मत डोज मिक्श्चर का।
करो ब्रह्मचर्य का पालन, बिना खर्चे के दुनिया में ॥

---

१. ब्रह्मचर्ये स्थितं तीर्थम्, ब्रह्मचर्ये स्थितं तपः।
ब्रह्मचर्ये स्थितं धैर्यं, ब्रह्मचर्ये स्थितं यशः॥
ब्रह्मचर्ये स्थितं पुण्यं, पावित्र्यं च पराक्रमः।
स्वातंत्र्यमीश्वरत्वं च, सर्वं वीर्ये प्रतिष्ठितम्॥

किसी प्रकार का खर्च किये बिना ब्रह्मचर्यपालन से आरोग्य प्राप्त होता है, इससे कौन इन्कार कर सकता है।

सौन्दर्य का मूलस्रोत : ब्रह्मचर्य

संसार में सभी लोग प्रायः सुन्दर होना और बने रहना चाहते हैं। असुन्दरता सभी को अप्रिय है। प्रायः कोई नहीं चाहता कि वह कुरूप दिखाई दे। अपनी इस इच्छा को पूर्ण करने के लिए लोग तरह-तरह के कृत्रिम साधनों का आश्रय लेते हैं। आज संसार में सौन्दर्य-प्रसाधन-सामग्री बनाने वाले सैकड़ों कारखाने चल रहे हैं। लोग अपनी आय का एक बड़ा भाग इन सौन्दर्य प्रसाधनों पर खर्च करते हैं। हिसाब लगाकर देखा जाय तो देश के लाखों-करोड़ों रुपये शरीर को सुन्दर बनाने में प्रतिमास खर्च हो रहे हैं। साथ ही अपना अमूल्य समय भी उसके पीछे बर्बाद किया जा रहा है। परन्तु जिन उपकरणों एवं साधनों में सुन्दरता की खोज की जा रही है, उनमें वह होती ही नहीं है। वास्तविक सौन्दर्य साधनों का अनुगामी नहीं होता। उसका आधार तो कुछ और ही होता है। वह है स्वस्थ शरीर, निर्विकार मन एवं ब्रह्मचर्य का अद्भुत तेज। सुन्दरता की लिप्सा में जो लोग बाह्य टीप-टाप, फैशनेबल वस्त्र-परिधान, लिपस्टिक, हेयर आइल, सेंट, क्रीम, स्नो और पाउडर की लिपाई-पुताई, केश विन्यास और आकर्षक साज सज्जा का सहारा लेते हैं, वे अपने स्वाभाविक तन, मन, धन तथा समय का दुरुपयोग करते हैं।

जिन लोगों का हाथी-का सा शरीर है किन्तु मन रुग्ण, विकारयुक्त एवं काम-वासना से ओत-प्रोत है, वे शरीर से कितने ही हृष्ट-पुष्ट एवं बलवान क्यों न हों, वे वास्तव में असुन्दर ही माने जायेंगे, क्योंकि मन का सौन्दर्य सद्विचार और पवित्रता से प्रकट होता है और तन का सौदर्य प्रकट होता है—वीर्य-रक्षण से।

किसी व्यक्ति का नाक-नक्शा कितना ही मनोहर क्यों न हो, यदि उसका मन मलिन है, वृत्तियाँ आसुरी हैं, कामवासनामयी है तो वह सुन्दर नहीं कहा जा सकता। इसके विपरीत कई लोग काले रंग और साधारण शरीर वाले होने पर भी उनके जीवन में संयम है, उनका मन निर्विकार एवं पवित्र है, तन भी ब्रह्मचर्य से ओत-प्रोत है तो वे सुन्दर कहे जा सकते हैं। उनके काले रंग में भी कांति होती है। तात्पर्य यह है कि शारीरिक स्वास्थ्य की अपेक्षा संयम (ब्रह्मचर्य या शील) का सुन्दरता से घनिष्ठ सम्बन्ध है। जो व्यक्ति असंयमी, विषय-भोगी अथवा दुर्व्यसनी होते हैं वे चाहे कुछ अर्से के लिए शरीर से स्वस्थ दिखाई देते रहे हों, किन्तु उनका स्वास्थ्य क्रमशः गिरता है, उससे पहले ही उनका सौन्दर्य नष्ट हो जाता है। असंयमी व्यक्ति जहाँ जवानी में ही कुरूप और अनाकर्षक दीखने लगते वहाँ संयमी व्यक्ति वृद्धावस्था में भी सुन्दर एवं आकर्षक बने रहते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि सौन्दर्य का मूल ब्रह्मचर्य–संयम है। ब्रह्मचर्य-पालन से शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य स्वभावतः

सुरक्षित होगा और इस प्रकार ब्रह्मचर्यनिष्ठ व्यक्ति का सौन्दर्य, तेजस्विता एवं ओजस्विता के सहित सर्वांगीण रूप से विकसित हो उठता है।

दुःख है, आज सौन्दर्य की वृद्धि के लिए मनुष्य न जाने कितने प्रसाधनों का उपयोग करता है? क्या पुरुष, क्या स्त्री अपने-अपने मुखे कपोलों पर क्रीम और स्नो रगड़ते हैं, चाहे उनकी आँखों के गड्ढों में कीचड़ भरी हो, होठों की प्राकृतिक लालिमा को अब्रह्मचर्य छीन ले गया, इसलिए वे लिपस्टिक या पान से अपने होठ लाल करते हैं। परन्तु इस प्रकार के कृत्रिम सौन्दर्य-प्रसाधनों से पैदा की हुई सुन्दरता, जीवन की वास्तविक सुन्दरता नहीं है। नैसर्गिक सौन्दर्य-प्रसाधन का मूल स्रोत तो हर समय उनके पास ही है, इसके लिए उन्हें कृत्रिम सौन्दर्य-प्रसाधनों की आवश्यकता नहीं है। किन्तु आज हम देखते हैं कि भारतीय तरुणों के चेहरे पर न तो कोई रौनक है, न ही उनके ललाट पर कोई आभा है, न ही उनके मुख पर कोई तेजस्विता है। जो स्त्री-पुरुष अपनी इन्द्रियों और मन को विषय-वासनाओं की भट्टी में झोंक देते हैं; रागरंग, विलासिता, अश्लील सिनेमा-प्रेक्षण, गंदे कामोत्तेजक साहित्य के पठन, तथा अति मैथुन, अप्राकृतिक मैथुन आदि से अपने सौन्दर्य को अपने हाथों से आग लगा देते हैं, ब्रह्मचर्य की उपेक्षा करके स्वच्छन्दतापूर्वक अनाचार सेवन करते हैं, उन पर जवानी में ही मक्खियाँ भिनभिनाने लगती हैं, उनका शरीर अनेक रोगों का घर बन जाता है, उनके हाथ-पैर, आँख-नाक आदि उनका साथ नहीं देते। ऐसे लोग यदि चेहरे पर कृत्रिम प्रसाधनों की लीपा-पोती कर लें, तो उससे जीवन में वसन्त का आगमन कैसे हो सकता है? क्या कभी मुर्दे के शरीर पर शृंगार-प्रसाधन कर देने से उसकी शोभा बढ़ सकती है?

एक वृक्ष सूख गया है। उसके पत्ते सूखे व निष्प्राण हो गये हैं, ऐसी स्थिति में यदि चित्रकार उनमें सुन्दर रंग पोतकर वसन्त लाना चाहे तो क्या वसन्त आ जाएगा? कदापि नहीं आएगा। उनमें वसन्त तो तभी आ पाएगा, जब वृक्ष के अन्दर की प्राणशक्ति में हरियाली होगी। यदि पत्ता हराभरा होगा और वृक्ष में प्राणशक्ति होगी तो एक भी पत्ते पर रंग पोतने की जरूरत नहीं रहेगी। इसी प्रकार जिसके जीवन का नैसर्गिक सौन्दर्य वासना की आग में जलकर खाक हो गया है, उसके चेहरे पर कृत्रिम अंगराग पोत देने से वसन्त की बाहर नहीं आएगी। बल्कि सौन्दर्य प्रसाधनों द्वारा अपने शरीर को सुन्दर एवं आकर्षक बनाने के प्रयत्न में ऐसे लोग बिल्कुल असफल रहते हैं। अन्त में, वे सुन्दर तो क्या, असुन्दरतम बन जाते हैं।

अतः जिन्हें वास्तविक सौन्दर्य चाहिए, चेहरे पर ओज, तेज एवं चमक चाहिए, वे कृत्रिम सौन्दर्य प्रसाधनों से या असंयम, कामवासना, व्यभिचार आदि से आत्मा पर कालिमा न पोतकर उसे ब्रह्मचर्य, शील और संयम से सुसज्जित करें। ब्रह्मचर्य से ही आत्मा की चमक-दमक बढ़ेगी। ब्रह्मचर्य ही आत्मा का सौन्दर्य है। इसी तथ्य

को नीतिकार चाणक्य उजागर करते हैं—"कुरूपता शील के प्रभाव से सुशोभित होती है।"[1] ब्रह्मचर्य की तन-मन-वचन से उपासना करने पर शारीरिक सौन्दर्य भी बढ़ेगा, मनोबल भी उच्च बनेगा, जीवन भी कार्यक्षम एवं सत्त्वशाली बनेगा।

सिकंदर बादशाह के गुरु अरिस्टोटल की पुत्री पीथिया अत्यन्त चतुर और बिदुषी थी। एक दिन किसी ने उससे पूछा—"गाल पर लगाने के लिए सर्वोत्तम रंग कौन-सा है? जिससे चेहरा चमक उठे?" पीथिया ने तपाक से कहा—"संयम!" ब्रह्मचर्य ही वह रंग है, जिससे चेहरा ही नहीं, सारा शरीर ओज, तेज और लावण्य से चमक उठता है।

ब्रह्मचर्य ही परम आभूषण

लोग बहुधा सोने-चाँदी और हीरे-मोती आदि के आभूषण पहनकर शरीर को सजाते हैं। परन्तु इस शरीररूपी मन्दिर में विराजमान जो आत्मदेव है, उसे सजाने की ओर बिलकुल ध्यान नहीं देते। शरीर तो नाशवान है, एक न एक दिन मिट्टी में मिल जाने वाला है, तथा इसे सजाने से कोई सुख-शान्ति, रोगमुक्ति या चिन्ता से छुटकारा अथवा मुकदमे में विजय होने वाली नहीं है; उलटे, वर्तमान-युग में तो शरीर पर आभूषण लादने में प्राणों का खतरा है, लूट-पाट और छीना-झपटी, ईर्ष्या और कलह आदि का भय है। इसीलिए बुद्धिमान एवं दूरदर्शी व्यक्ति शरीर को आभूषणों से सजाने के बजाय आत्मा को शील (ब्रह्मचर्य) के आभूषण से सजाते हैं, जिससे दुःख, अशान्ति, रोक-शोक, भय, ईर्ष्या, कलह, लूट आदि किसी बात का खतरा नहीं रहता। अतः ब्रह्मचर्य (शील), आत्मा को सजाने के लिए परम आभूषण है। जिसके लिए भर्तृहरि कहते हैं—

सर्वेषामपि सर्वकारणमिदं शीलं परं भूषणम्।

अर्थात्—"सौजन्य, वाक्संयम, उपशम, विनय, दान, क्षमा, अक्रोध, निश्छलता इत्यादि समस्त गुणों के विभिन्न कारण होते हुए सर्वस्व कारण रूप शील परम आभूषण है।"

यह ब्रह्मचर्यरत्न जिसके पास होता है, वह सर्वत्र प्रवेश एवं सम्मान पाता है, सर्वत्र विश्वसनीय होता है। उसके जीवन में प्रायः सभी गुण स्वतः आ जाते हैं। इसीलिए हिन्दी के एक सुप्रसिद्ध कवि ने इसकी महिमा गाते हुए कहा है—

"शील रतन सबसे बड़ो, सब रत्नों की खान।
तीन लोक की सम्पदा, रही शील में आन॥"

भावार्थ स्पष्ट है। अन्य रत्न तो खो जाते हैं, चुराये जाते हैं, लूट लिये जाते हैं, नष्ट भी हो जाते हैं, परन्तु शीलरूपी रत्न न तो खोता है, न ही उसकी चोरी या लूट होती है और न ही वह नष्ट होता है। बल्कि इन सभी को प्राप्त करने की खान

१. 'कुरूपता शीलतया विराजते'। —चाणक्यनीतिदर्पण

शील है। क्योंकि ब्रह्मचर्य-पालन से पुण्य-वृद्धि होने पर ये रत्न तो स्वतः प्राप्त हो जाते हैं, ये ही नहीं ब्रह्मचर्य के प्रताप से मनुष्य को तीर्थंकर पद प्राप्त होने से तीन लोक की सर्वस्व सम्पदा (ऋद्धि-समृद्धि) प्राप्त हो सकती है।

यह है शील का माहात्म्य !

महिमा : कुल की नहीं, शील की

कई लोग उच्चकुल में जन्म लेने मात्र से ही अपने को महान् मानने लगते हैं। परन्तु जैन धर्म कहता है कि अगर किसी को उच्च कुल मिला है तो उसे आत्म-विकास करने के लिए अच्छा वातावरण मिला है, परन्तु वह उच्चकुल का वातावरण और संग पाकर भी दुर्वासनाओं की नीच वृत्तियों में भटकता रहे, कुसंगवश अब्रह्मचर्य की ओर अपने चरण बढ़ाये तो उच्च कुल से क्या वह महान् कहला सकेगा ? कदापि नहीं।

राक्षसराज रावण का कुल ऊँचा था। कहते हैं, वह बहुत विद्वान था, अनेक विद्याओं का ज्ञाता था, वैभवशाली था, किन्तु रावण के कुशील (अब्रह्मचर्य) के कारण उसका कुल, यश-प्रतिष्ठा, पुण्य और भौतिक ज्ञान सब कुछ धूल में मिल गया। उसका विशाल साम्राज्य कामवासना पूर्ति की भूल के कारण नष्ट-भ्रष्ट हो गया। इसीलिए कहा गया—

किं कुलेन विशालेन, शीलमेवात्र कारणम्।
कृमयः किं न जायन्ते कुसुमेषु सुगन्धिषु ॥

अर्थात्—"विशाल कुल से क्या प्रयोजन ? शील ही महिमा का कारण है। क्या सुगन्धित पुष्पों में कीड़े नहीं पैदा होते ?" अतः अकेले कुल की कोई महिमा नहीं है, महिमा शील—ब्रह्मचर्य की है। विशाल कुल में भी दुराचारी पुरुष पैदा होते हैं, जो कुल को तथा स्वयं को भी बदनाम करते हैं।

हरिकेशी मुनि चाण्डाल कुल में पैदा हुए थे, उनका शरीर भी कुरूप और बेडौल था; किन्तु उन्होंने साधुजीवन अंगीकार करके पूर्ण अखण्ड ब्रह्मचर्य का पालन किया। उनका तप ब्रह्मचर्य-पालन में सहायक था।

एक बार वे एक उपवन में कायोत्सर्ग करके खड़े आत्म-चिन्तन कर रहे थे। उस समय कौशलराज की राजकन्या भद्रा अपनी सखियों सहित वहाँ आई। आँख मिचौनी के खेल में ही राजकुमारी ने हरिकेशी मुनिराज को खंभा समझकर पकड़ लिया। 'जो कन्या जिस पर हाथ लगा लेगी, वही उसका पति होगा,' यह खेल की शर्त थी। तदनुसार राजकन्या ने जब एक काले, कुरूप, किन्तु दृढ़ब्रह्मचारी तपस्वी मुनि को देखा तो वह घृणा के मारे भड़क उठी। उसने मुनि पर थूक दिया और घृणासूचक उद्गार निकाले।

हरिकेशी मुनि के तप, त्याग और ब्रह्मचर्य से प्रभावित होकर उक्त तिन्दुक वनवासी यक्ष उनकी सेवा करता था। यक्ष ने जब मुनि का उपहास और अपमान

होते देखा तो उसने कुपित होकर राजकुमारी को यक्षाविष्ट एवं विक्षिप्त बना दिया। राजकुमारी की ऐसी दुःस्थिति देखकर सखियाँ दौड़ी हुईं राजा के पास गईं और सारा हाल कहा। राजा घटना-स्थल पर आया। उस समय यक्ष ने मुनि के शरीर में प्रविष्ट होकर कहा—"मैं इसे तभी छोड़ सकता हूँ, जब तुम इसका विवाह मेरे साथ करो।" मरता क्या नहीं करता? राजा ने स्वीकार किया और पुरोहित को बुलाकर राजकन्या मुनि को अर्पण कर दी। यक्ष के तिन्दुकवन में चले जाने के बाद मुनि ने अपना ध्यान खोला तो सामने राजकन्या को देखकर कहा—"मैं तो पूर्ण अखण्ड ब्रह्मचारी हूँ। मुझे पत्नी से क्या मतलब? मेरे लिए तो यह कन्या भगिनी या पुत्री के समान है। मैं तो इसे किसी भी मूल्य पर स्वीकार नहीं कर सकता।"

राजा ने कहा—"पहले तो आपने कहा था कि इसका मेरे साथ विवाह कर दो। अब आप इन्कार क्यों कर रहे हैं?"

मुनि बोले—"वह बोलने वाला मेरी सेवा में रहने वाला यक्ष था, मैं नहीं। मैं तो कायोत्सर्गस्थ था।"

राजा ने मुनि से बहुत अनुनय-विनय की उक्त राजकन्या को अपनी सेवा में रखने की; किन्तु मुनि ने सर्वथा इन्कार कर दिया। तब निरुपाय होकर राजा ने मुनि की परित्यक्ता पत्नी (राजकन्या) रुद्रदत्त नामक पुरोहित को दे दी।[1]

विश्ववन्द्य श्रमण भगवान् महावीर ने हरिकेशीमुनि की गुण गाथा स्वयं अपने श्रीमुख से गाई—"इस चाण्डालपुत्र हरिकेशबल में जाति (कुल) विशेष कुछ भी नहीं दिख रहा है, इसमें साक्षात् तप (ब्रह्मचर्य आदि) दिखाई दे रहा है। चाण्डालपुत्र हरिकेश साधु की ऐसी महा प्रभावशाली (देवकृत) ऋद्धि थी। वास्तव में हरिकेशमुनि के अखण्ड ब्रह्मचर्य एवं तप की ही यह महिमा गाई गई थी। चाण्डालकुल में उत्पन्न होने से उनकी महिमा घटी नहीं।"[2]

अतः यह निश्चित है कि ब्रह्मचर्य से ही मानव की महिमा है, कुल से नहीं। कुल अच्छा हो या बुरा, किन्तु ब्रह्मचर्य उसके जीवन में है, तो वह महान है, देवों का भी पूज्य है।

समस्त श्रेयस्करकार्यों का जनक : ब्रह्मचर्य

ब्रह्मचर्य के प्रभाव से मनुष्य में कार्य-क्षमता, योग्यता, सूझबूझ एवं कर्त्तव्य निर्धारण शक्ति बढ़ जाती है। इस कारण वह प्रत्येक श्रेयस्कार्य को करने में उत्साह-पूर्वक जुट जाता है। श्रेयांसि बहुविघ्नानि इस लोकोक्ति के अनुसार श्रेयस्कर कार्यों को

---

१. देखिए, उत्तराध्ययन सूत्र अ. १२ हरिकेशीय.

२. सक्खं खु दीसई तवोविसेसो, न दीसइ जाइविसेस को वि।
सोवागपुत्त हरिएस साहु, जस्सेरिसा इड्ढिमहाणुभागा॥
—उत्तरा० अ. १२ गा. ३७

करने में अनेक विघ्न-बाधाएँ भुजाएँ ठोककर खड़ी हो जाती हैं, परन्तु ब्रह्मचर्यनिष्ठ व्यक्ति हिम्मत नहीं हारता, उन विघ्न-बाधाओं का सामना करता है और उन्हें परास्त करता हुआ अपने कार्यों में सफल होता है। आलस्य, अकर्मण्यता एवं निरुद्योगिता ब्रह्मचारी के पास नहीं फटकती। वह यथाशक्ति पुरुषार्थ करके श्रेयस्कर कार्यों को सिद्ध कर लेता है। इसीलिए 'सौन्दरा नन्द महाकाव्य' में कहा है—

"जैसे पृथ्वी के आधार से बैठना, खड़े होना आदि सभी कार्य सम्पन्न होते हैं, वैसे समस्त श्रेयस्कर कार्य शील (ब्रह्मचर्य) के आश्रय से सम्पन्न होते हैं।"[1]

निष्कर्ष यह है कि संसार में जितने भी कल्याणकारी परहितकारी कार्य होते हैं, वे ब्रह्मचर्य के आश्रय से ही सफलतापूर्वक सम्पन्न होते हैं।

पवनपुत्र हनुमानजी ब्रह्मचर्य के प्रताप से सीताजी की खोज के लिए समुद्र को भी लांघकर लंका में पहुँच गये थे। ऐसे एक नहीं अनेक पुरुषों के उदाहरण हैं, जिन्होंने बड़े-बड़े कार्य ब्रह्मचर्य के बल पर सपन्न किये थे।

समस्त सुधारों का मूलाधार : ब्रह्मचर्य

आज समाज, परिवार, प्रान्त एवं राष्ट्र में सर्वत्र विकृतियाँ—झूठ-फरेब अनाचार, भ्रष्टाचार, अविश्वास, लोभ, कलह आदि फैल रहे हैं। सभी लोग सुधार चाहते हैं, परन्तु सुधार के बदले बिगाड़ ही अधिकाधिक बढ़ता जा रहा है। प्रायः किसी का ध्यान इस ओर नहीं जाता है कि सुधार का मूल क्या है? जो लोग ब्रह्मनिष्ठ हैं, संयमी हैं, या शीलवान् हैं, वे मानते हैं कि सुधार का मूल आधार ब्रह्मचर्य है। पारिवारिक, सामाजिक या राष्ट्रीय सुधार को ही लीजिए, जब तक उनके सदस्यों में संयम की मात्रा नहीं बढ़ेगी, स्वेच्छा से द्रव्य और भाव दोनों रूप से ब्रह्मचर्य-पालन नहीं होगा तब तक स्वार्थ, दम्भ, असत्य, झूठ-फरेब, छल, दुराव आदि पनपते रहेंगे। ब्रह्मचर्य-पालन से परस्पर प्रेम, आत्मीयता, बन्धुत्व, सज्जनता, सौहार्द, स्नेह, वात्सल्य आदि गुण बढ़ेंगे, स्वार्थ आदि दुर्गुण दूर होंगे, अतः जो भी अहितकर, युगबाह्य, दम्भवर्द्धक, विश्वासघातक कुरूढ़ियाँ-कुरीतियाँ एवं कुप्रथाएँ समाज या राष्ट्र आदि में प्रचलित हैं, जो भी अन्धविश्वास, अज्ञान, दम्भ, दिखावा आदि चल रहे हैं, वे सब शीघ्र ही बन्द हो सकेंगे। इस प्रकार पारिवारिक, सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक एवं राष्ट्रीय, प्रान्तीय आदि सभी क्षेत्रों में सुधार द्रुतगति से होने लगेगा।

समस्त सुधारों में आत्म-सुधार सबसे कठिन है। मनुष्य दूसरों को सुधारने के लिए तो आकाश-पाताल एक कर देता है किन्तु अपने आपका सुधार करना हो, अपने जीवन में प्रविष्ट दुर्गुणों, दुष्प्रवृत्तियों, बुरी आदतों, कुटेवों आदि को दूर करना हो तो बगलें झांकने लगता है, अत्यन्त कठिन एवं दुःशक्य कहकर टाल देता है किन्तु

---

१. शीलमास्थाय वर्तन्ते, सर्वा हि श्रेयसोक्रिया।
स्थानाद्यानीवकार्याणि प्रतिष्ठाय वसुन्धराम्॥ —सौन्दरानन्द० १३/२१

जो ब्रह्मचर्यनिष्ठ हैं, संयमी और सदाचारी हैं, वे आत्म-सुधार में तनिक भी हिचकिचाते नहीं, बल्कि अपनी आलोचना-निन्दा-गर्हणा एवं क्षमापना, प्रायश्चित्त, पश्चात्ताप आदि द्वारा आत्मशुद्धि करते हैं। अपने सुधार के लिए वे हरदम सचेष्ट रहते हैं। कहना होगा कि सभी सुधारों का मूलाधार ब्रह्मचर्य है। भक्त वामन के शब्दों में—

सर्वं सुधारणापूर्वं कर्त्तव्याऽत्मसुधारणा।
तन्मूलं ब्रह्मचर्यं च, सेव्यं राष्ट्रहितैषिभिः॥

अर्थात्—सर्व सुधारों का मूल ब्रह्मचर्य है किन्तु समस्त सुधारणाओं में सर्वप्रथम आत्म-सुधारणा करनी चाहिए, राष्ट्रहितैषियों को उसके मूल—ब्रह्मचर्य का आचरण करना चाहिए।

ब्रह्मचर्य : महान् बनने का राजमार्ग

ब्रह्मचर्य का एक अर्थ होता है—बृहत्ता—महानता में विचरण करना। इसका भावार्थ है—छोटे दायरे को छिन्न-भिन्नकर बड़े दायरे की तरफ बढ़ना, स्वयं को महान बनने की तरफ ले जाना। यह ब्रह्मचर्य का व्यापक अर्थ है। 'वीर्य रक्षा' ब्रह्मचर्य का स्थूल रूप है, किन्तु वीर्य रक्षा करने वाले के हृदय में उक्त प्रकार की महानता का भाव स्वयं स्थित हो जाता है।

इस दृष्टि से 'ब्रह्मचर्य' शब्द ही अपने में अपनी महत्ता को छिपाये हुए है। आज मनुष्य छोटे-छोटे दायरों में बँधा हुआ है, क्षुद्र क्षेत्र में विचरण करता है, संकुचित होकर वह अपने-पराये के क्षुद्र घरौंदे में ही रहता है, उसी संकीर्ण दृष्टि से सोचता विचारता है, स्वार्थ दृष्टि से व्यवहार करता है। परन्तु ब्रह्मचर्य के इस व्यापक अर्थ को लेकर जो ब्रह्मचर्यनिष्ठ बनते हैं, वे इन क्षुद्रताओं, संकीर्णताओं और संकुचित दायरों से ऊपर उठकर व्यापक विश्व विशाल दृष्टि से सोचते-विचारते, व्यवहार और आचरण करते हैं। इस प्रकार के व्यापक अर्थ वाले ब्रह्मचर्य को जीवन में उतारने वाले संकुचितता, हीनता, स्वार्थपरता असमर्थता एवं शक्तिहीनता के शिकार नहीं होते।

नैतिकता का आधार : ब्रह्मचर्य

ब्रह्मचर्य, चाहे सर्वविरतिरूप में हो, चाहे देशविरति रूप में, जिसके जीवन में रम गया हो, उस व्यक्ति का जीवन नैतिक बल अथवा चरित्र बल में सुदृढ़ हो जाता है। उसके सामने कितने ही भय के बवण्डर आएँ, प्रलोभन की आँधियाँ आएँ, विचलित करने के कितने ही पैंतरे रचे जाएँ, वह अपने व्रत, नियम, संकल्प या प्रतिज्ञा पर अटल अचल रहता है।

सुदर्शन सेठ के सामने एक ओर अनेक प्रलोभन थे—सारा राज्य, उसके चरणों में समर्पित होने वाली रूप राशि अभयारानी, समग्र सुख-वैभव आदि, दूसरी ओर रानी के प्रस्ताव को ठुकराने पर प्रतिष्ठा-हानि, मिथ्या कलंक, मौत की सजा, पत्नी-पुत्रों पर भयंकर संकट—ये सब भय के भूधर खड़े थे। किन्तु सुदर्शन जैसे सामान्य नागरिक को न तो प्रलोभन ही डिगा सके, न ही भय के भूधर उसे विचलित कर सके; वह अपने सिद्धान्त, संकल्प, या व्रतनियम पर चट्टान की तरह दृढ़ रहा। इस नैतिकता के पीछे ब्रह्मचर्य का ही बल था जिसने अन्त तक उसे टिकाये रखा।

ब्रह्मचर्य का ऐसा अन्तरंग बल, जब जीवन में आ जाता है तो मनुष्य सुख में हो या दुःख में, सोता हो या जागता हो, अकेला हो या समूह में हो, एकान्त में हो या हजारों की सभा में हो, सर्वत्र नैतिकता या चरित्रबल सुरक्षित रहता है। उस मनुष्य की चारित्रिक रक्षा अगर कोई करता है तो उसका अन्तःकरण निहित ब्रह्मचर्य का अंगीकृत व्रत या संकल्प ही। यही मनुष्य के मन को निर्मल, शुद्ध और अविचल रखता है।

ब्रह्मचर्याणुव्रती गृहस्थ का जीवन सभी प्रकार की नैतिकता से ओतप्रोत होता है। पराई कमाई का लाखों का ढेर भी उसके लिए धूल समान होगा, और अप्सरा-सी सुन्दर युवतियाँ भी उसके लिए माता-बहन-पुत्री के समान होंगी। इस प्रकार का नैतिकता से ओतप्रोत सद्गृहस्थ घर में, परिवार में और राष्ट्र में सर्वत्र आदर पाता है।

एक दुकानदार है, वह भी ब्रह्मचर्यव्रत के प्रभाव से इतना नैतिक बलयुक्त होता है कि दूकान पर माताएँ, बहनें, युवतियाँ सौदा लेने आती हैं; दिनभर उसकी दूकान पर इस प्रकार से स्त्रियों का जमघट रहता है, मगर क्या मजाल कि वह जरा भी उनकी ओर विकार भाव की दृष्टि से देखे या अन्यथा विचार करे। उसकी दृष्टि में माता-बहन-पुत्री का ही भाव रहता है, उसकी वाणी पर भी वे ही वचन अंकित रहते हैं और उसकी चेष्टएँ भी वैसी ही पवित्र निर्विकार रहती हैं। ऐसा व्यक्ति कहीं भी रहे, कोई भी सात्विक व्यवसाय करे परन्तु अपनी नैतिकता को जरा भी आंच नहीं आने देता। ऐसा व्यक्ति जहाँ भी जाता है, सम्मान पाता है। उसका जीवन स्पृहणीय एवं अनुकरणीय बन जाता है। उसकी संतति को भी उत्तम प्रेरणा मिलती है।

एक लखारा था। वह अपनी गधी पर लाद कर लाख की बनी हुई चूड़ियाँ एक गाँव से दूसरे गाँव ले जाकर बेचता था। एक दिन वह गधी पर बैठकर कहीं जा रहा था। गधी धीरे चलने लगी। तब लखारा गधी को हांकते हुए कहने लगा—"बेटी चल, बहन चल, चल माता।" इस सम्बोधन को सुनकर कुछ पथिक आश्चर्य से कहने लगे—तू भी कैसा मूर्ख है कि इस गधी को माँ, बहन, बेटी कहता है। क्या यह गधी तेरी माँ, बहन या बेटी हो सकती है? उसने बहुत ही शान्तिपूर्वक उत्तर दिया—"आपका कहना यथार्थ है। यह गधी मेरी माँ, बहन या बेटी नहीं हो सकती, किन्तु नारीजाति के प्रति माता, बहन और पुत्री की भावना जगाने वाली तो हो सकती है? अगर मैं इस गधी के प्रति माँ, बहन और बेटी की भावना तथा दृष्टि नहीं रखूंगा तो नारी जाति के प्रति ऐसी पवित्र भावना और दृष्टि कैसे रख सकूंगा? लखारा होने के नाते, बड़े-बड़े घरों में मेरा आना-जाना रहता है, प्रतिदिन सुन्दर-सुन्दर नारियों के कोमल-कोमल हाथ चूड़ियाँ पहनाने के लिए मेरे हाथों में आया करते हैं। ऐसे समय में मैं उनके प्रति माता-भगिनी-पुत्री का भाव न रखकर कुभावना या

दृष्टि रखूं तो मैं लोगों का विश्वास भी खो बैठूं और अपने व्यवसाय से भी हाथ धो बैठूं। यही कारण है कि मैं इस गधी को भी माँ, बहन और बेटी के सम्बोधन से पुकारता हूँ। ताकि मैं अन्य नारियों को भी माता, बहन और बेटी के समान मान सकूं और पुकार सकूं।''

व्यवसाय में इस प्रकार की नैतिकता का मूल आधार ब्रह्मचर्य संकल्प ही हो सकता है, जिससे व्यक्ति अपने संकल्प या व्रत पर भी अटल रह सकता है, और सबका विश्वास भी सम्पादन कर सकता है।

अखण्ड ब्रह्मचर्य-महाव्रती का जनता में इतना विश्वास इसीलिए है कि लोग जानते हैं इनके लिए संसार भर की स्त्रियाँ माता, बहन या पुत्री के समान हैं।

पश्चिमी देशों में जहाँ कि भोग-विलास का वातावरण है, विश्वविश्रुत साहित्यकार जार्ज बर्नार्ड शॉ हुए जिन्होंने अपने जीवन में संसारभर की स्त्रियों के प्रति पवित्र भावना रखी। इतना ऊँचा चरित्रबल ब्रह्मचर्य के प्रभाव से ही हुआ, जिसके कारण वे ९४ वर्ष की आयु तक संसार को उत्तम एवं संयमपूर्ण विचार देते रहे। उनके उदात्त एवं स्वस्थ चिन्तन की धारा अन्तिम समय तक बहती रही।

इसी प्रकार की नैतिकता डाक्टर, वैद्य या हकीम में होनी चाहिए कि जो भी नारी उसके पास आए, उसे माँ, बहन या बेटी की पवित्र दृष्टि से देखे। किन्तु यह नैतिकता ब्रह्मचर्य-व्रत के माध्यम से ही हो सकती है। ऐसी नैतिकता का आधार ब्रह्मचर्य ही है।

सर्व शक्तियों का मूल स्रोत : ब्रह्मचर्य

मानव शरीर में दो प्रकार की शक्तियाँ हैं—एक मस्क्युलर स्ट्रेंथ और दूसरी नर्व स्ट्रेंथ अर्थात्—शारीरिक शक्ति और स्नायविक शक्ति। शरीर को पूर्ण स्वस्थ एवं बलिष्ठ रखने के लिए इन दोनों शक्तियों की आवश्यकता होती है। सात्विक आहार, व्यायाम, प्राणायाम आदि सहायक साधनों के सहित ब्रह्मचर्य का पालन करने से ये दोनों प्रकार की शक्तियाँ प्राप्त हो सकती हैं।

ब्रह्मचर्य-पालन से सर्वप्रथम शरीर स्वस्थ, सशक्त एवं सुदृढ़ बनता है। जैन सिद्धान्त की दृष्टि से विचार करें तो शरीर जितना भी सशक्त, सुदृढ़, स्वस्थ एवं सुडौल बनता है, उतना ही वह दुःखों, कष्टों, परीषहों एवं उपसर्गों की चोटों को समभावपूर्वक सहने में समर्थ होता है। यह देखा गया है कि जिस व्यक्ति का शरीर सुदृढ़ और शक्तिशाली होता है, वह स्वावलम्बी बन सकता है। वह अपने बाहुबल और बुद्धिबल से अपना मार्ग ढूँढ़ निकालता है। दूसरों का मुँह ताकने या उनके बताए हुए इशारों पर चलने में वह अपना अपमान समझता है। बड़े-बड़े भयानक विघ्न भी उसके मार्ग में रोड़ा अटकाते हैं तो वह उनका सामना करता है। वह कभी दूसरों के सामने हाथ नहीं पसारता। आलस्य, अकर्मण्यता या निरुद्योगिता उसके पास नहीं आती।

ऐसा शक्तिसम्पन्न व्यक्ति ही आत्मनिर्भर हो सकता है और शक्तिसम्पन्नता आती है ब्रह्मचर्य से।

प्रायः देखा जाता है कि जो शारीरिक दृष्टि से अशक्त होते हैं, उन्हें गुस्सा जल्दी आ जाता है। वे दूसरों को एक बात भी सहन नहीं कर पाते। ऐसे व्यक्ति घर और बाहर सर्वत्र लड़ाई-झगड़े किया करते हैं। इसके विपरीत जो व्यक्ति शक्तिसम्पन्न होता है, तथा तन-मन से बलवान् होता है, वह सहसा क्रोध नहीं करता। वह क्षमाशील होता है। बड़े से बड़े विरोध को भी वह हँसकर टाल देता है। उसमें सहनशीलता अधिक होती है। यह तो सबका अनुभव है कि चूल्हे पर रखा हुआ हल्का बर्तन जल्दी गर्म हो जाता है और भारी तपेली देर से गर्म होती है। यही हाल निर्बल और बलवान् का है। बल आता है—ब्रह्मचर्य से। ब्रह्मचारी का स्वभाव प्रायः शान्त होता है।

ब्रह्मचर्य से शक्ति-प्राप्त व्यक्ति वीर भी होता है, और धीर भी। अखाड़े में दूसरे पहलवान को पछाड़ने की इच्छा से उतरने वाला पहलवान जानता है कि ब्रह्मचर्य की कीमत क्या है? युद्धक्षेत्र में शत्रुओं से दाँत खट्टे करने वाले योद्धा अपने वीर्य की रक्षा करते हैं। ब्रह्मचर्य-बल से सम्पन्न व्यक्ति में वीरता के साथ-साथ धैर्य भी होता है। वे जिन्दगी में आने वाले विकट संकटों, उलझनों, चिन्ताजनक परिस्थितियों एवं विपत्तियों में न हताश होते हैं और न ही घबराते हैं। वे निराशा के वातावरण में भी आशावान् रहते हैं। भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी, निर्धनता एवं असहाय-अवस्था आदि अवसरों पर भी वे दुःख महसूस नहीं करते। यह सब ब्रह्मचर्य से प्राप्त कायिक शक्ति का प्रताप है।

कुछ लोग शरीर की अभिवृद्धि और स्थूलता को ही ब्रह्मचर्य की देन मानते हैं। परन्तु उनकी यह मान्यता अपूर्ण है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि ब्रह्मचर्य से शारीरिक शक्ति में वृद्धि होती है, क्योंकि ब्रह्मचर्य अपने आप में अमित शक्ति का भण्डार है; किन्तु शरीर के मोटापन या भारी-भरकम भीमकाय शरीर का सम्बन्ध इस शक्ति के साथ नहीं है। एक व्यक्ति स्थूलकाय होकर भी दुर्बल एवं बलहीन हो सकता है। ऐसा व्यक्ति थोड़ा-सा श्रम करने से हाँपने लग जाएगा। उसमें स्फूर्ति, उत्साह, धीरता-वीरता नहीं होती। इसके विपरीत दूसरा व्यक्ति कृशकाय है, फिर भी वह सबल एवं बलवान हो सकता है। अतः ब्रह्मचर्य अनेकविध शक्तियों का स्रोत है, इसलिए कायिक शक्ति का भी केन्द्र है, किन्तु स्थूल शरीर का या भीमकाय शरीर का नहीं। केवल शरीर से बलशाली को भी ब्रह्मचारी नहीं कहा जा सकता। शरीर-बल तो शेर में भी होता है, भीमकाय तथा स्थूल शरीर तो हाथी का भी होता है, किन्तु उनमें पाशविक बल है। इसी तरह एक आसुरी बल भी होता है। जैसे—अर्जुनमाली के शरीर में जब मुद्गरपाणि यक्ष प्रविष्ट हो गया था, तब उसका शारीरिक बल बहुत बढ़ गया था।

इसी प्रकार वायु विकार के कारण कई व्यक्तियों का शरीरबल बढ़ जाता है। इसी प्रकार कई लोग मांसाहार आदि तामसिक पदार्थ या रसायन, भस्म आदि खाकर शारीरिक बल में वृद्धि करने तथा शरीर को स्थूल और भारी भरकम बनाने का प्रयत्न करते हैं। जैसे कि महात्मा गांधी लिखते हैं— "उसके दो मार्ग हैं—एक आसुरी और दूसरा दैवी। आसुरी मार्ग है—शारीरिक बल प्राप्त करने के लिए हर तरह के उपायों से काम लेना— मांस आदि हर तरह की (तामसिक) चीजें खाना।..... दैवीसाधन से शरीर तैयार करना हो तो उसका एकमात्र उपाय ब्रह्मचर्य है।[1]

कुछ भी हो, इतना अवश्य जान लेना चाहिए कि पाशविक बल, या आसुरी बल जिसके शरीर में होता है, उसमें मनोबल, बुद्धिबल, विवेकशक्ति, विचारशक्ति, या आध्यात्मिक शक्ति नहीं होती। क्योंकि शरीरबल के साथ-साथ मनोबल, बुद्धिबल, विवेक-विचारशक्ति या आध्यात्मिक शक्ति आदि बल ब्रह्मचर्य से ही प्राप्त हो सकते हैं; आसुरीमार्ग से नहीं। इसके अतिरिक्त पाशविक या आसुरी मार्ग से प्राप्त होने वाले शारीरिक बल में क्रियाशीलता, स्फूर्ति, मानसिक उत्साह, सहनशीलता, कार्यक्षमता, ओजस्विता, तेजस्विता आदि गुण नहीं होते। आसुरी या पाशविक बल में प्रायः आलस्य, अकर्मण्यता, विवेकहीनता, असहिष्णुता, अनैतिक साहस, जबर्दस्ती, हिंसा, लड़ाई आदि दुर्वृत्तियाँ पाई जाती हैं, जो कि ब्रह्मचर्य से प्राप्त शारीरिक बल में नहीं होतीं। इतना अवश्य है कि जहाँ ब्रह्मचर्य है, वहाँ दुर्बलता टिक नहीं सकती। जहाँ दुर्बलता है, वहाँ ब्रह्मचर्य नहीं। कोई ब्रह्मचर्यसम्पन्न व्यक्ति शरीर से पतला हो सकता है, किन्तु वह बलहीन नहीं हो सकता। उसमें शरीरबल से भी बढ़कर मनोबल, संकल्पबल, आदि बल होंगे।

केवल शरीरबल से ही आध्यात्मिक साधना नहीं होती, उसके साथ मनोबल भी अपेक्षित है। शरीरबल के साथ मनोबल होने पर ही आत्मगुणों की साधना की जा सकती है। तात्पर्य यह है कि शारीरिक शक्ति के साथ-साथ मानसिक शक्ति भी ब्रह्मचर्य से प्राप्त होती है जिससे जीवन तितिक्षु, कष्टसहिष्णु, समभावी एवं साहसी बनता है और यही आध्यात्मिक साधना की पूर्वभूमिका है।

मुण्डकोपनिषद् में इसी बात का समर्थन किया है—

नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः।[2]

जिस तन-मन में बल नहीं, क्षमता नहीं, शक्ति नहीं, वह आत्मा को—आत्मगुणों को उपलब्ध नहीं करता। बलवान् शरीर में ही बलवान् आत्मा का निवास होता है।[3]

---

१ आत्मसंयम पृ० ८

२. मुण्डकोपनिषद ३।२।४

३. (क) **बलवति शरीरे बलवान् आत्मा निवसति**
(ख) 'A sound mind in a sound body.'

इसका फलितार्थ यह है कि परीषहों, उपसर्गों, विपत्तियों और संकटों के तूफान के समय अपने सिद्धान्त—आत्मस्वभाव पर मेरुसम स्थिर रहने वाला ही आत्मा की शुद्ध ज्योति एवं आत्मगुणों का साक्षात्कार कर सकता है। कष्टों से घबराकर पथभ्रष्ट होने वाला बलहीन व्यक्ति आत्मदर्शन नहीं कर सकता।

सचमुच, ब्रह्मचर्य में इतनी शक्ति, क्षमता, तेज, ओज और सामर्थ्य है कि उस के समक्ष बिजली की शक्ति या चमक कुछ भी नहीं है।

ब्रह्मचर्य की अद्भुत शक्ति का परिचय तुलसीकृत रामायण में मिलता है। वहाँ बताया गया है कि हनुमानजी में अखण्ड ब्रह्मचर्य के कारण प्रचण्ड शक्ति थी। लक्ष्मणजी के शरीर में जब मेघनाद का शक्तिबाण लगा, तब वे मूर्च्छित हो गये थे। श्रीरामचन्द्रजी के शिविर में सर्वत्र चिन्ता व्याप्त हो गई। श्रीरामचन्द्रजी तथा उनके योद्धागण चिन्तातुर हो उठे कि अब क्या होगा? उसी समय विभीषण रावण के प्रसिद्ध राजवैद्य सुषेण को लेकर आया। वैद्य ने लक्ष्मणजी की नब्ज तथा अन्य चिह्न देख कर कहा– "अगर संजीवनी बूटी जरा सी सुंघा दी जाए तो लक्ष्मण की मूर्च्छा दूर हो सकती है। परन्तु संजीवनी बूटी कौन और कैसे लाएगा? इसकी व्यवस्था आप सोच लें।"

हनुमानजी ने श्री रामचन्द्रजी की प्रश्नसूचक मुखमुद्रा देखकर तत्काल निवेदन किया—"स्वामिन्! संजीवनी बूटी लाने की चिन्ता छोड़ दें। आपकी कृपा से जहां भी यह बूटी होगी, वहाँ से मैं ले आऊँगा। पर मुझे वैद्यजी सिर्फ यह बता दें कि वह बूटी कहाँ, किस पर्वत पर मिलती है, कैसी होती है? वैद्यराज सुषेण ने संजीवनी बूटी की पहिचान और उसके मिलने का स्थान द्रोणगिरि बता दिया। कहते हैं, हनुमानजी तुरन्त वहाँ से उड़े और विद्युत् वेग से सीधे द्रोणगिरि पर पहुँच गए। वहाँ उन्होंने संजीवनी बूटी की खोज शुरू की. परन्तु वे ठीक तरह से उसे पहचान न सके। अतः शीघ्र ही निर्णय करके उन्होंने जड़ी बूटियों की वह सारी पहाड़ी ही एकदम उठाई और हथेली पर रखकर उड़े और यथाशीघ्र श्रीराम के युद्ध शिविर में उतरे। हनुमान जी को देखते ही सबके चेहरे पर खुशियाँ छा गईं। सुषेण वैद्य ने उस पहाड़ी पर उगी हुई वनस्पतियों में से संजीवनी बूटी तोड़ी और लक्ष्मणजी को सुंघाई, तथा जरा-सी उनके मुंह में डाली। संजीवनी बूटी देते ही लक्ष्मण जी की मूर्च्छा दूर हो गई।

हनुमानजी की इस प्रचण्ड शक्ति का स्रोत क्या था? ब्रह्मचर्य ही हनुमानजी के वज्रांग होने का रहस्य था। इतना वजन उठाने की शक्ति ब्रह्मचर्य से ही प्राप्त हुई थी।

इसी ब्रह्मचर्य के प्रभाव से हनुमान जी सीता की खोज में लंका जाते समय विशाल समुद्र को नदी की तरह पार करके चले गये थे। लंका में स्थित अशोकवाटिका में, जहाँ रावण ने त्रिजटा आदि राक्षसियों के पहरे में सीता जी को रखा था, वहाँ भी हनुमानजी ब्रह्मचर्य की विलक्षण शक्ति से पहुँच गये; और सीता जी को उन्होंने श्रीराम का सन्देश दिया। रावण की राज-सभा में हनुमान जी को जब नागपाश-बन्धन से बाँध दिया था, तब भी उन्होंने उसे एक झटके में तोड़ डाला था। रावण के शक्तिशाली राजपुरुषों के देखते ही देखते हनुमान जी वहाँ से सकुशल समुद्र पार करके श्री रामजी की सेवा में पहुँच गए थे। राक्षसराज रावण की नगरी में जाना, सीता जी का पता लगाना, रावण की शक्तिशाली सेना की गिरफ्त से निकलना, कितना कठिन कार्य था! किन्तु हनुमान ब्रह्मचर्य के प्रताप से सभी विघ्न-बाधाओं को सकुशल पार करके ऐसे कठिनतम कार्यों को आसानी से सम्पन्न कर सके थे।

ब्रह्मचर्य की अमित शक्ति से अपरिचित लोग सहसा कह बैठते हैं—'ये सब पुराणों की गप्पें हैं। इनकी सच्चाई पर हमें विश्वास नहीं होता।' परन्तु इसी शताब्दी का जीता-जागता उदाहरण अतिमानवीय बल, अदम्य उत्साह एवं प्रबल संकल्प-बल के धनी प्रसिद्ध पहलवान भारत-भीम बाल ब्रह्मचारी प्रो० राममूर्ति का हमारे समक्ष है। अखण्ड ब्रह्मचर्य और व्यायाम-प्राणायाम के प्रताप से उन्हें आश्चर्यजनक शारीरिक बल प्राप्त हो गया था। अखण्ड ब्रह्मचर्य के बल पर उन्होंने अपने तन-मन को साध लिया था कि वे अपने दांतों से अंदर बिठाये हुए घोड़े सहित तराजू को उठाकर जमीन से दो फुट ऊँचा अधर रख सकते थे। तीन टन से ऊपर वजन वाले सरकस के हाथी को उठा लेते थे। चालीस-पचास मनुष्यों को दो गाड़ों में बिठाकर उन गाड़ों को अपने पेट, छाती या जंघा पर से पार करवाते थे। लगभग सौ-सवासौ मन का पत्थर अपनी छाती पर रखवाकर बड़े हथौड़े से कुटवाते और एक ही झटके में उसे उलट देते थे। आधे इंच की लोहे की सांकल एक झटके में तोड़ना उनके लिए बाँये हाथ का खेल था। वे पच्चीस हॉर्स पावर की आमने-सामने दौड़ती हुई दो कारों को कमर से रस्से से बांधकर रोक सकते थे। इसी प्रकार वे चार बलवान मनुष्यों को सांकल का सिरा पकड़वा कर दोनों बगल खड़े रखते, फिर उस सांकल को अपनी छाती पर लपेट कर अपनी छाती को फुलाकर सांकल के टुकड़े-टुकड़े कर डालते थे। अपनी छाती पर हाथी के दोनों पैर रखवा लेते थे। उनकी शारीरिक शक्ति इतनी बढ़ी-चढ़ी थी कि वे बलिष्ठ और भीमकाय मनुष्य से भी लोहा ले सकते थे। उनकी ऊँचाई ५" फीट थी। उनका वजन सवा छह मन था। प्रौढ़ शरीर, बड़ी-बड़ी मूँछें, विशाल भाल, विकसित एवं तेजस्वी विशाल नेत्र, दिव्य एवं आकर्षक चेहरा, ये उनके तेजस्वी व्यक्तित्व के चिन्ह थे। युवावस्था में उनकी छाती का घेरा ४८ इंच था, फुलाने पर ५२ इंच हो जाता था।

इतने अलौकिक शरीर-बल के अतिरिक्त उनका मनोबल भी प्रचण्ड था।

मन को एकाग्र करके संकल्प शक्ति से वे एक ही स्थल में, एक ही स्नायु में अपार बल का संचय कर लेते थे। शरीरशास्त्रियों का कहना है कि मनुष्य की हड्डियाँ कितनी ही मजबूत हों, यदि उस पर १००० पौंड का दबाव पड़े तो चूर-चूर हो जाएँगी, किन्तु इस बाल ब्रह्मचारी ने शारीरिक एवं मानसिक बल से ६००० पौंड का हाथी अपनी हड्डियों पर उठा लिया था, फिर भी उनकी हड्डियों को जरा भी आँच नहीं आई। प्रो० राममूर्ति का यह दावा था कि मुझे दो वर्ष का बालक सौंप दो, मैं बीस वर्ष में दूसरा राममूर्ति बना दूंगा। कई तामसिक लोग कहते हैं—मांस भक्षण किये बिना इतना बलवान या पहलवान कोई नहीं हो सकता, परन्तु वे इस मान्यता का प्रबल विरोध करते थे। प्रो० राममूर्ति पूर्ण शाकाहारी थे। यहाँ तक कि शराब, गांजा, भंग, तम्बाकू आदि नशीली चीजों का भी उन्होंने कभी सेवन नहीं किया। सात्त्विक खानपान, व्यायाम-प्राणायाम, आदि साधनों के साथ मूल वस्तु तो ब्रह्मचर्य थी। मन-वचन-काया से वीर्यरक्षा एवं ब्रह्मचर्य का सर्वथा पालन ही उनके अद्वितीय बल का रहस्य था।

सचमुच, ब्रह्मचर्य में अमित शक्ति है, तेज है, ओज है, बल-वीर्य है। वह अपूर्व शक्ति, साहस और पुरुषार्थ का भण्डार है।

मनुष्य शरीर एक शक्ति-उत्पादक डायनेमो की तरह है। इससे नित्य-निरन्तर महत्त्वपूर्ण शक्तियों का उद्रेक होता रहता है। आखिर शक्ति तो शक्ति है। निर्माण या ध्वंस की ओर मुड़ते, अथवा सही या गलत दिशा की ओर मुड़ते उसे देर नहीं लगती। इसलिए शक्ति का सदुपयोग या दुरुपयोग व्यक्ति के विवेक-अविवेक पर निर्भर रहता है। यदि वह प्राप्त शक्ति को वीर्यधारणरूप ब्रह्मचर्य के द्वारा रोककर विवेकपूर्वक उचित दिशा में लगा देता है तो उससे महान् कार्य सम्पन्न हो सकते हैं।

हमारे तीर्थंकर, भीष्म पितामह, हनुमान आदि से लेकर हेमचन्द्राचार्य, महर्षि दयानन्द, स्वामी विवेकानन्द एवं अन्य बहुत-से महापुरुष संसार में जो अद्भुत एवं महान् कार्य कर सके, उसका मूलाधार ब्रह्मचर्य से प्राप्त वीर्य शक्ति को संचित करके उचित दिशा में उसका उपयोग ही था। जो लोग शरीर के डायनेमो से प्राप्त शक्ति का विषय-भोगों के छिद्रों द्वारा वीर्यक्षरण करके नाश कर देते हैं, वे संसार में कोई भी महत्त्वपूर्ण कार्य नहीं कर सकते।

ब्रह्मचर्य : आध्यात्मिक शक्ति का केन्द्र

किन्तु आध्यात्मिक दिशा में आगे बढ़ने के लिए केवल तन-मन के बल से ही काम नहीं चलता, क्योंकि ये दोनों भौतिक बल हैं। इनके साथ आध्यात्मिक बल अपेक्षित है। मनुष्य का जीवन आखिर क्या है? केवल तन-मन तो है नहीं, क्योंकि आयुष्य पूर्ण होते ही ये दोनों यहीं समाप्त हो जाते हैं। माना कि आध्यात्मिक दिशा में आगे बढ़ने के लिए शारीरिक-मानसिक बल चाहिए, किन्तु आत्मबल के बिना पवित्रता

के—पूर्णशुद्ध आत्मा के—सर्वोच्च शिखर पर पहुँचा नहीं जा सकता। इसलिए मानव जीवन के दो रूप अध्यात्मतत्त्ववेत्ताओं ने बताये हैं—एक ओर शरीर है, जिसमें वचन, मन, इन्द्रियाँ आदि हैं, दूसरी ओर आत्मा है जिसमें अनन्त ज्ञानादि, आत्मा के निजगुण हैं। न तो अकेले शरीर से आध्यात्मिक साधना हो सकती है, और न अकेली आत्मा से। दोनों का संयोग और विवेकपूर्वक प्रयोग ही आध्यात्मिक शक्तियों को प्राप्त कराता है।

अतः शरीर और आत्मा, दोनों को मजबूत बनाकर ही साधक बुराइयों को ललकारता हुआ, विकारों से जूझता हुआ और काम-मोह आदि को परास्त करता हुआ कलुषित जीवन का मैदान पार करता है और पवित्रता तथा शुद्ध आत्मा के ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य की अनन्तता पर पहुँच जाता है। अतः ब्रह्मचर्य ही वह सर्वोत्कृष्ट उपाय है जो तन-मन और आत्मा को अप्रतिहत शक्तिमान बना देता है। फिर बाहर की या भीतर की कोई भी विकारी शक्ति उसके मार्ग को रोक नहीं सकती। विकार उसकी प्रचण्ड आत्म-शक्ति के आगे टिक नहीं सकते। ऐसी विशुद्ध अध्यात्म शक्ति ब्रह्मचर्य से ही प्राप्त होती है।

निष्कर्ष यह है कि ब्रह्मचर्य के प्रताप से उसके साधक-आराधक में इतनी प्रचण्ड आध्यात्मिक शक्ति आ जाती है कि वह बड़े से बड़े प्रलोभन और भय के वश में नहीं होता। ब्रह्मचर्य के प्रभाव से समस्त आध्यात्मिक शक्तियाँ उसे प्राप्त हो जाती हैं, उसका मन ब्रह्मचर्य से अन्यत्र भोग-विलास, कामविकार या अब्रह्मचर्य में या इन्द्रियों के असंयम में जा ही नहीं सकता।

लगभग ३५० वर्ष पहले की एक ऐतिहासिक घटना है— लोक विश्रुत अकबर बादशाह का उत्तराधिकारी हुआ बादशाह जहाँगीर।

सम्राट अकबर को उन दिनों उपाध्याय भानुचन्द्रजी धर्मोपदेश सुनाते थे। उनके एक शिष्य थे—सिद्धिचन्द्र मुनि। उन्होंने छोटी उम्र में ही साधु दीक्षा अंगीकार कर ली थी। जैसा उनका रूप आकर्षक था, वैसी ही बुद्धि भी तेजस्वी थी। बहुश्रुत पण्डित होने के साथ उनमें काव्य रचना की अद्भुत प्रतिभा थी। स्मरण शक्ति तीव्र होने के कारण वे १०८ अवधान प्रयोग कर सकते थे। कई दिनों से बाल मुनि सिद्धिचन्द्र इच्छा प्रगट करते आये थे कि गुरुदेव उन्हें भी साथ में राजमहल ले जाएँ। परन्तु गुरु उनको राजमहलों के भोगी-विलासी वातावरण एवं वहाँ के इन्द्रियाकर्षक प्रलोभनों से दूर रखना चाहते थे।

फिर भी बालमुनि की प्रबल जिज्ञासा देखकर एक दिन गुरु भानुचन्द्र जी उसे अपने साथ राजमहल में ले गये। बादशाह इस सौन्दर्य के अवतार, किन्तु संयम-मार्ग के पथिक को देखकर तथा उसकी मधुर वाणी एवं तेजस्वी बुद्धि से अत्यन्त प्रभा-

वित हुआ। बादशाह ने एक दिन प्रस्ताव रखा कि "गुरुदेव ! आपकी इच्छा हो तो मेरा शहजादा जिन उस्तादों से पढ़ता है, उनके साथ ही आपके ये छोटे शिष्य पढ़ लें।" उपाध्याय भानुचन्द्रजी ने बादशाह की बात मान ली। ज्ञान के तीव्र पिपासु मुनि सिद्धिचन्द्रजी दत्तचित्त होकर पढ़ने लगे। अल्प समय में ही वे फारसी भाषा के विद्वान् हो गये। पढ़ाई के दौरान राजकुमार सलीम का गाढ़ परिचय हो गया था। किन्तु इस सम्पर्क से जो खतरा था कि त्याग-मार्ग का पथिक भोग-मार्ग का पथिक न बन जाए, वह बिलकुल टल गया। नैष्ठिक ब्रह्मचारी मुनि सिद्धिचन्द्र मन से भी भोग-मार्ग के चिन्तन की ओर प्रवृत्त न हुए।

अकबर बादशाह के बाद सलीम 'जहाँगीर' उपनाम धारण करके बादशाह बना। मुनि सिद्धिचन्द्र का यौवन ज्यों-ज्यों खिलता गया, त्यों-त्यों सौन्दर्य, पांडित्य और वैराग्य भी विकसित होता गया। बादशाह जहाँगीर के साथ उनका गाढ़ सम्पर्क तो था ही। उनके साथ धर्म और व्यवहार की चर्चा करने का भी बादशाह को व्यसन था। यद्यपि वेश वैरागी का था, किन्तु काया कामदेव की-सी, यौवनवय थी, किन्तु आचरण ब्रह्मचारी साधु का था। भोगी-विलासी सम्राट् जहाँगीर मुनि सिद्धिचन्द्र के हृदय और उनके ब्रह्मचर्यप्रधान वैराग्य को पहचान न सका। वह सौन्दर्य रसिक था, भोगविलास ही उसका आनन्द था। इसलिए उसकी दृष्टि में मुनि का यौवनवय में यह योग और ब्रह्मचर्य बड़ा ही अटपटा और प्रकृतिविरुद्ध जचता था। परन्तु यह ब्रह्मचर्यनिष्ठ बालयोगी शरीर और उसके सौन्दर्य की आसक्ति पार करके आत्मा को गुणों से सजाने में लगा हुआ था।

बादशाह प्रतिदिन स्वयं सोचता एवं रानी नूरजहाँ से भी कहता—"न जाने इस उम्र में इन्हें यह क्या सूझा ? सुकुमार सुन्दर काया का कितना दमन ! यौवन में यह ब्रह्मचर्य एवं त्याग !" अप्सरा-सी रानी को भी इस उम्र में यह त्याग-वैराग्य समझ में नहीं आता था। पर कहें तो कैसे कहें ? इसे देहदमन से रोकने के लिए कहने का साहस नहीं हो रहा था। काफी अर्से के बाद एक दिन सम्राट जहाँगीर ने कह ही दिया—"मुनिजी ! आपकी उम्र तो २५ वर्ष की होगी, इस जवानी में इस त्याग, संयम और वैराग्य की जरूरत क्यों पड़ी ? यह सब तो बुढ़ापे में शोभा देता है। कुदरत ने आपको सौन्दर्य और यौवन की देन दी है। इस समय भोग-विलास और मौज-शौक करिये।"

मुनि ने साश्चर्य उत्तर दिया—"बादशाह ! यह तो अपनी-अपनी रुचि का प्रश्न है। मैंने अपने जीवन के वास्तविक निर्माण के लिए यह वेश और योग लिया है। इसमें छोटी या बड़ी उम्र का क्या प्रश्न ?"

बादशाह ने जरा उग्र होकर कहा—"आपकी ये बातें व्यर्थ हैं। जवानी को इस प्रकार कुचल देने और काया को कुम्हलाने का क्या अर्थ है ? भोग की उम्र में यह योग और ब्रह्मचर्य अकाल में आम पकाने जैसा लगता है। अतः आप यह योग और

वेश छोड़कर सदा के लिए हमारे साथ रहें। हम आपको वचन देते हैं कि आपको हम स्वर्ग की परी-सी स्त्री और मनचाही दौलत देंगे और किसी तरह तकलीफ नहीं होने देंगे। जिन्दगी की मौज लूटिये।"

दृढ़ संयमी मुनि ने मुस्कराते हुए कहा—"बादशाह! हमें अपनी साधना में किसी प्रकार का कष्ट नहीं है। संसार के सुख-भोगों में पड़ने से हमें कौन रोकता था? किसी ने हमें इस त्यागमार्ग पर आने के लिए बाध्य नहीं किया था। हमें इसमें सर्वथा आनन्द ही आनन्द है। फिर इस योगमार्ग का त्याग करके दोनों ओर से भ्रष्ट होने की हमें क्या जरूरत?"

परन्तु बादशाह ने सत्ता के मद में कहा—"आपको हमारी बात माननी होगी।"

मुनि ने इतना ही कहा—"आपकी बात मानी जा सकने योग्य नहीं है। अगर आपको कोई योगी बनने को कहे तो क्या आप बन सकेंगे?"

बादशाह के अहं को चोट पहुँची। उसने कहा—"अच्छा हमारी बात पर विचार करना; कल इसका फैसला करेंगे।"

दूसरे दिन फिर बादशाह ने पूछा तो मुनि ने कहा—"मेरा तो एक ही जवाब है। आप अपनी बात वापस ले लें।"

बादशाह ने उत्तेजित होकर कहा—"आप बादशाह की बात से इन्कार करते हैं?"

मुनि बोले—"इन्कार का कोई सवाल नहीं। सवाल अपने मन की बात मानने का है।"

बादशाह को हठ पर चढ़े देख नूरजहाँ ने नम्रता से समझाया—"आप इस समय बादशाह की बात मान लें। समय पक जाने दें। फिर आपको योग के मार्ग पर जाने से कोई नहीं रोकेगा? भोग की उम्र में योग ठीक नहीं।"

मुनि ने कहा—"इस जिन्दगी का क्या भरोसा? आप स्वयं क्या नहीं जानतीं कि बल्ख के राजा ने जवानी में ही फकीरी धारण करली थी। उम्र छोटी हो या बड़ी, इसका महत्व नहीं। महत्व है मन की तैयारी का। छोटी उम्र में ही ऐसी तैयारी अच्छी, ताकि भोग-विलास में समय व शक्ति बर्बाद न हो। मुझे अपने ब्रह्मचर्य-साधना के मार्ग पर जाने दें।"

गुस्से में आकर बादशाह ने कहा—"मेरे हुक्म का अनादर करने का नतीजा तो जानते हैं न?"

योगी दृढ़ता से बोला—"मैं तो इतना ही जानता हूँ कि अपनी आत्मा की आज्ञा का उल्लंघन करने में जितना नुकसान है, उसकी अपेक्षा आपके हुक्म को न मानने में कम नुकसान है। परन्तु याद रखिये, आपकी आज्ञा में न तो आपका भला है, न मेरा और न दुनिया का।"

बादशाह और मुनि दोनों ही अपनी बात पर दृढ़ थे। बादशाह—"तो इसका फल भोगने को तैयार हो जाएँ।"

बादशाह ने तुरन्त राजहस्ती को शराब पिलाकर लाने का हुक्म दिया। मुनि स्वस्थ शान्त भाव से खड़े थे। न जीवन का मोह था, न मृत्यु का भय! वे अपने ब्रह्मचर्य एवं संयम की अग्नि परीक्षा देने खड़े थे, इष्टदेव के स्मरण में लीन! बादशाह की आज्ञा की देर थी, हाथी चिंघाड़ रहा था। पल भर में वह मुनि को मौत के घाट उतार देता, किन्तु तभी बादशाह के मन में इन्सानियत जागी। उसने गर्ज कर कहा—"हाथी को वापस ले जाओ, और सुनलो, योगिराज! आपके गुरु भानुचन्द्र जी के सिवाय आपको तथा आपके धर्म के सभी साधुओं को देश निकाला दिया जाता है।"

अग्नि परीक्षा में उत्तीर्ण मुनि ने संतोष के स्वर में कहा—"मंजूर है।" और मुनि सिद्धिचन्द्र ने उसी समय जहाँगीर का राज्य छोड़कर मालपुर चौमासा किया।"[1]

यह थी—ब्रह्मचर्य के प्रभाव से प्रलोभन और भय की परीक्षा में उत्तीर्ण हुए आत्मबली मुनि सिद्धिचन्द्र की अविचलता। न तो उन पर बादशाह के द्वारा दिये गये विषय-भोगों के प्रलोभन का असर हुआ और न ही मृत्यु या राज्य-त्याग के भय का प्रभाव उनके ब्रह्मचर्यनिष्ठ मन पर हुआ। ब्रह्मचर्यबल के प्रभाव से इतनी जबर्दस्त आध्यात्मिक शक्ति आ जाती है।

ब्रह्मचर्य का महिमागान

संस्कृत वाङ्मय के एक कवि ने ब्रह्मचर्य की महिमा गाते हुए कहा— "मनुष्यों के कुल की उन्नति करने वाला शील (ब्रह्मचर्य) ही है। परम आभूषण भी शील है। अग्नि को शीघ्र पानी कर देने वाला शील है। सुगति में ले जाने वाला शील है। उच्चकोटि का शील ही मोक्ष का हेतु है। शील दुर्गति-निवारक है, शील पवित्र विपुल यश रूप है। सचमुच शील कल्पवृक्ष है।"[2]

जैसे कल्पवृक्ष चिन्तित फल देने वाला होता है। उसके नीचे बैठकर भी व्यक्ति मन में चाहे जैसी इच्छा करे, उसको वह इच्छा सफल होती है। वैसे ही ब्रह्मचर्य भी कल्पवृक्ष के समान है। ब्रह्मचारी जो भी शुभ संकल्प करता है, वह पूर्ण होता है। एक विचारक ने यहाँ तक कहा है कि "ब्रह्मचारी की सभी शुभेच्छाएँ पूर्ण होती हैं।"

अमेरिकन विचारक थोरो ने ठीक ही कहा है—"ब्रह्मचर्य जीवन-वृक्ष का पुष्प है और प्रतिभा, पवित्रता, वीरता आदि गुण उसके कतिपय फल हैं।"

---

१ 'पंचामृत' (रतिलाल दीपचन्द देसाई) से संक्षिप्त।

२ शीलं नाम नृणां कुलोन्नतिकरं, शीलं परंभूषणं।
शीलं चाशु करोति पावकजलं, शीलं सुगत्यावहम्॥
शीलं दुर्गतिनाशनं च विपुलं, शीलं यशः पावनम्।
शीलं निर्वृतिहेतुरेव परमं, शीलं तु कल्पद्रुमः॥१॥

जीवन एक विशाल वृक्ष है। उसकी बाल्य, युवा एवं वृद्धत्व आदि अनेक शाखाएँ हैं। उसी वृक्ष का अद्वितीय सुगन्धित पुष्प ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्य के पालन से प्रतिभा आदि गुण अनायास ही प्राप्त होते हैं।

ब्रह्मचर्य की महिमा का प्रशस्त गान प्रश्नव्याकरण में इस प्रकार है—

यह (ब्रह्मचर्य) शाश्वत, अव्याबाध और पुनर्भव को रोकने वाला है। यह प्रशस्त, सौम्य, शुभ और शिव है। यह अचल है, अक्षयकारी है, मुनिवरों द्वारा संरक्षित, सु-आचरित एवं सुभाषित है। मुनिवरों ने, महापुरुषों ने, धीर-वीरों ने तथा धर्मात्माओं ने एवं धृतिमानों ने सदैव ब्रह्मचर्य का पालन किया है। यह भव्य है, भव्यजनों ने इसका आचरण किया है। यह शंकारहित, भयरहित, तुषरहित, खेद के कारणों से रहित और निर्लेप है। यह समाधि का घर है, निश्चल नियम है, तप-संयम का तना है, पांचों महाव्रतों में अत्यन्त सुरक्ष्य है, समिति-गुप्ति से युक्त है, उत्तम ध्यान की रक्षा के लिए उत्तम कपाटों के समान है, शुभ ध्यान की सुरक्षा के लिए अर्गला के समान है। दुर्गति के मार्ग को रोकने तथा आच्छादित करने वाला है, सद्गति का पथप्रदर्शक है और लोक में उत्तम व्रत है।

यह व्रत पद्म सरोवर और तालाब की पाल के समान है, महाशकट के आरों की नाभि के समान है, अत्यन्त विस्तृत (विशाल) वृक्ष के स्कन्ध के समान है, किसी विशाल नगर के प्राकार के कपाटों की अर्गला के समान है, रस्सी से बंधे हुए इन्द्रध्वज के सदृश है तथा अनेक विशुद्ध गुणों से युक्त है।

ब्रह्मचर्य पांच महाव्रतों का मूल है। कषायरहित साधुजनों ने इसका आचरण किया है। वैर की शान्ति ब्रह्मचर्य का फल है। महासमुद्र के समान संसार (समुद्र) से पार होने के लिए तीर्थ रूप (घाटरूप) है। (यह) तीर्थंकरों द्वारा सम्यक् प्रकार से प्रदर्शित मार्ग है। नरक-तिर्यञ्च गति से बचने का मार्ग है, समस्त पावन वस्तुओं का सार है। मोक्ष और स्वर्ग का द्वार खोलने वाला है।

ब्रह्मचर्य देवेन्द्र और नरेन्द्रों के नमस्यों का भी नमस्य है। समस्त संसार में उत्तम मंगलों का मार्ग है। उसका कोई भी अभिभव नहीं कर सकता। वह श्रेष्ठ गुणों की प्राप्ति का अद्वितीय साधन है और मोक्ष मार्ग के हेतुओं में शिरोमणि है। ब्रह्मचर्य का निरतिचार (विशुद्ध) पालन करने वाला ही सुब्राह्मण, सुश्रमण और सुसाधु है। जो ब्रह्मचर्य का शुद्ध पालन करता है, वही मुनि है, वही संयमी है और भिक्षु है। यह परलोक में हितकारी है, आगामी काल में कल्याणकारी है, निर्मल है, न्याययुक्त है, सरल है, श्रेष्ठ है तथा समस्त दुःखों और पापों का शमन करने वाला है।[1]

---

१ प्रश्नव्याकरण सं० ४, सू० १

वास्तव में, ब्रह्मचर्य की महिमा के लिए प्रयुक्त ये सब विशेषण अथवा शब्द उसकी यथार्थता और प्रभावोत्पादकता को प्रकट करने वाले हैं। इन सबका भावार्थ बहुत ही गम्भीर और विशद है। ग्रन्थ-विस्तार के भय से हम यहाँ उसकी विस्तृत व्याख्या नहीं करना चाहते हैं। फिर भी इतना अवश्य कहेंगे कि ब्रह्मचर्य के अनन्त गुणों की महिमा अपार है।

अन्त में, हम वैदिक धर्म के प्रसिद्ध नैष्ठिक ब्रह्मचारी प्रभुदत्त शास्त्री[1] द्वारा किये गये ब्रह्मचर्य के महिमागान को प्रस्तुत करते हैं—

ओ तेजपुंज ! ओ दिव्यरूप ! ओ शक्तिसुधा के अनुपम स्रोत।
ओ सौन्दर्य निराले सुखमय ! ओ जागृत जीवन की ज्योत।
ओ अनन्त के परिचायक ! ओ अमर भावनाओं के मूल।
ओ अद्भुत, ओ भव्य, सुगन्धित, ओ मानस उपवन के फूल।
देह भवन के उज्ज्वल दीपक, फणि की मणि, वंडूर्य ललाम।
जग में केवल साररूप, ओ ब्रह्मचर्य ! है तुझे प्रणाम ॥१॥

सचमुच, ब्रह्मचर्य जीवन का अमृत है,[2] वासना मृत्यु है, ब्रह्मचर्य अनन्त सुख है, वासना अशान्ति एवं दुःख का खारा सागर है, ब्रह्मचर्य शुद्ध ज्योति है, वासना पाप-कालिमा है। ब्रह्मचर्य उत्कृष्ट ज्ञान विज्ञान का प्रकाश है, अब्रह्मचर्य अज्ञान तिमिर है ब्रह्मचर्य अजस्र अजेय बल है, अब्रह्मचर्य जीवन की दुर्बलता, कायरता और पामरता है। ब्रह्मचर्य जीवन का ओज और तेज है, अब्रह्मचर्य ग्लानि और निःसत्त्वता है। ब्रह्मचर्य ही साहस, शक्ति, उत्साह और प्राण बलदाता है। यही जीवन के सर्वांगीण विकास का स्रोत है। विशुद्ध ब्रह्मचर्य साधक पूज्यों का भी पूज्य बन जाता है। यही संयम, नियम, तप, शील, आदि का मूलाधार है। यही सब व्रतों-नियमों में ज्येष्ठ-श्रेष्ठ है।

□

---

१ 'हम उनकी जय गायें' पुस्तक से, पृष्ठ १५

२ अमृतं ब्रह्मचर्यं। —महाभारत

६
ब्रह्मचर्य से विविध लाभ

ब्रह्मचर्य से अगणित लाभ

वर्तमानयुग का तर्कशील मानव प्रत्येक वस्तु को प्रायः भौतिक लाभ की दृष्टि से देखता है। अगर किसी वस्तु से भौतिक लाभ नहीं है तो तर्कशील मानव प्रायः उसे ठुकरा देता है। ब्रह्मचर्य को भौतिक लाभ की तुला पर तौलते हैं तो भी पिछले पृष्ठों में किये हुए ब्रह्मचर्य के माहात्म्य आदि के वर्णन से इतना तो सुनिश्चित है कि ब्रह्मचर्य से हानि तो किसी भी दृष्टि से कतई नहीं है, बल्कि अनेकों भौतिक लाभ हैं। शारीरिक-मानसिक लाभ के उपरान्त ब्रह्मचर्य से बौद्धिक एवं आध्यात्मिक लाभ भी कम नहीं हैं। इसके अतिरिक्त हम यह दावे के साथ कह सकते हैं कि ब्रह्मचर्य से व्यक्तिगत लाभ तो हैं ही; परिवार, समाज और राष्ट्र को भी ब्रह्मचर्य-पालन से कम लाभ नहीं हैं।

कई बुद्धिजीवियों का जो यह तर्क है कि "तरुणों को ब्रह्मचर्य-पालन से अर्थात्—वीर्यधारण करने से स्वास्थ्य को हानि पहुँचती है," युक्ति और अनुभूति-पूर्वक हम पिछले पृष्ठों में इसका भी निराकरण कर चुके हैं। विभिन्न विचारकों, चिकित्सकों एवं कामवैज्ञानिकों के प्रमाणों के आधार पर यह सिद्ध भी कर चुके हैं कि ब्रह्मचर्य शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक, आध्यात्मिक आदि सभी दृष्टियों से लाभ-दायक है।

भारत के महान् ऋषि-मुनियों ने ब्रह्मचर्यरूपी चिन्तामणि रत्न को अपनाकर उसके अगणित लाभों का स्वयं साक्षात्कार किया है। उन्होंने बार-बार चेतावनी के शब्दों में कहा है—कि ब्रह्मचर्य ही सब प्रकार से सुख-शान्ति-लाभ का उपाय है, सर्वेन्द्रियसंयम से मानव का कल्याण है, स्वेच्छा से मनोनिग्रह या वासना-नियंत्रण ही रोग-शोक, दुःख एवं निर्बलता का निवारक है, स्वस्थता और आत्म-शक्ति का प्रदाता है। विषय-भोगों से, व्यभिचार से, अब्रह्मचर्य से या कामवासना-सेवन से मनुष्य की किसी प्रकार भी प्रकार उन्नति, लाभ या सुख-शान्ति सम्भव नहीं है।

ब्रह्मचर्य से आरोग्य आदि का लाभ

आजकल जहाँ देखें वहाँ प्रायः लोग रोगग्रस्त दिखाई देते हैं। प्रायः प्रत्येक घर में कोई न कोई रोगी है। इसका कारण है, ब्रह्मचर्य का

अभाव। ब्रह्मचर्य का पालन न करने से रोग, शोक, दुःख, व्याधि, चिन्ता, असमय में बुढ़ापा आदि के शिकार होना स्वाभाविक है। ब्रह्मचर्य से ही आरोग्य-लाभ हो सकता है। यह वह अमृत है जिसके आसेवन से शारीरिक ही नहीं, मानसिक एवं आध्यात्मिक रोगों से भी मानव मुक्त हो सकता है। इसलिए वैद्यराज धन्वतरि ने कहा है—

"मृत्यु व्याधिजरानाशि, पीयूषं परमौषधम्।
सौख्यमूलं ब्रह्मचर्यं, सत्यमेव वदाम्यहम् ॥"

ब्रह्मचर्य मृत्यु, व्याधि, वृद्धावस्था आदि का नाश करने वाला अमृत है, परम औषध है। समस्त सुखों का मूल है, यह मैं सत्य कहता हूँ।

संसार के समस्त धर्म-कर्म शरीर की पुष्टता और स्वस्थता पर आधारित हैं। स्वस्थता ब्रह्मचर्य पर आधारित है। स्वस्थ और हृष्ट-पुष्ट व्यक्ति जीवन के संघर्षों में सफल हो सकते हैं और परलोक भी सुधार सकते हैं। स्वस्थ और पुष्ट शरीर जीवन का सबसे बड़ा सुख है। स्वस्थ और पुष्ट शरीर वाले व्यक्ति के जीवन में सदा शान्ति और मुख पर कान्ति रहेगी। इसलिए स्वास्थ्य मानव जीवन की सफलता की कुञ्जी है।

अखण्ड ब्रह्मचर्यनिष्ठ के लिए डॉ० क्राउएन लिखते हैं—"अखण्ड ब्रह्मचारी को पता ही नहीं लगता कि व्याधिग्रस्त दिवस कैसा होता है। उसकी पाचन शक्ति नियमित होती है।"

ब्रह्मचर्यनिष्ठ व्यक्ति के आरोग्य के सम्बन्ध में डॉ० लोरेंजो कहते हैं "ब्रह्मचारी के शरीर में प्राण एवं आरोग्यप्रद तत्व इतने प्रबल होते हैं कि उसे विषयासक्ति के विचार और कार्य भ्रष्ट नहीं कर सकते। अगर ब्रह्मचारी के शरीर पर रोग हमला करता है तो भी ब्रह्मचर्य तमाम प्रकार के रोगों के लिए बख्तर बन जाता है।"

स्वामी शिवानन्द सरस्वती का कथन है—"वीर्य रक्षण करने वाला मनुष्य कदाचित् व्याधिग्रस्त हो जाये तो भी वीर्य संचय के कारण उसकी जीवनी शक्ति प्रबल होने से रोग प्रबल रूप धारण नहीं कर सकता। इस कारण वह शीघ्र ही स्वस्थ हो जाता है। बीमारी के कारण आई हुई अशक्ति भी शीघ्र ही मिट जाती है। अगर एक अब्रह्मचारी एक महीने में ठीक होता है, तो ब्रह्मचारी एक सप्ताह में ही ठीक हो जाता है।"

कहा भी है—**ब्रह्मचर्यमौषधं च पेयं सदा वरेण्यम्।**

ब्रह्मचर्य रूपी श्रेष्ठ औषधि सदा पीना चाहिए।

डा० एकसन कहते हैं—

"ब्रह्मचारी अपना प्रत्येक कार्य निरन्तर करता रहता है; उसे प्रायः थकान नहीं आती। वह कभी चिन्तातुर नहीं होता। उसका शरीर सुदृढ़ होता है। उसका मुख तेजस्वी होता है। उसका स्वभाव आनन्दी और उत्साही होता है।"

सचमुच, ब्रह्मचर्य से आरोग्य-लाभ का वरदान मनुष्य को मिल जाता है। आत्मा को अपने ध्येय तक पहुँचने के लिए स्वस्थ तन-मन की आवश्यकता है; और तन-मन की स्वस्थता ब्रह्मचर्य से ही प्राप्त हो सकती है।

ब्रह्मचर्य से दीर्घजीवन की प्राप्ति

ब्रह्मचर्य से मनुष्य दीर्घायु हो जाता है। प्रख्यात आयुर्वेदाचार्य चरक कहते हैं "स्त्री-संग से दूर रहने वाला व्यक्ति दीर्घायु होता है। उसका शरीर हृष्टपुष्ट और तेजस्वी बनता है। उसे शीघ्र वृद्धावस्था नहीं आती। वह वृद्ध होते हुए भी युवावस्था की मस्ती में रहता है।"

जिस कुल या परिवार में ब्रह्मचर्य का पालन होता है, उस कुल की सन्तान दीर्घजीवी होती है। जो व्यक्ति या कुल अहर्निश काम-भोगों में रत रहता है, संयम की बिलकुल उपेक्षा करता है, उसमें दीर्घजीवी सन्तान कैसे पैदा हो सकती है?

बौद्ध-धर्मशास्त्र जातक का एक प्रसिद्ध उदाहरण है—तक्षशिला बौद्ध युग में विश्वविद्याओं का धाम रहा है। वहाँ हजारों विद्यार्थी दूर-दूर से आकर ब्रह्मचर्य-पूर्वक रहकर विद्याध्ययन करते थे। मगध देश के एक गाँव के निवासी धर्मपाल विप्र का पुत्र धर्मकुमार भी वहीं पढ़ता था। एक दिन सभी विद्यार्थी शोकाकुल होकर धर्मकुमार से कहने लगे—"भाई! अत्यन्त दुःख है कि आचार्य के इकलौते युवा पुत्र का देहान्त हो गया है।" यह सुनकर धर्मकुमार ने कहा—"आपका शोक करना व्यर्थ है। मुझे पूरा विश्वास है कि जिस कुल में ब्रह्मचर्य का पालन होता है वहाँ अपने पिता के जीवित रहते, उसका तरुण पुत्र नहीं मरता।" आचार्य के कानों में यह बात पहुँची। उन्हें धर्मकुमार की बात पर सहसा विश्वास नहीं हुआ। वे तीर्थाटन करने के बहाने इस तथ्य की परीक्षा करने हेतु धर्मकुमार के यहाँ पहुँचे। धर्मकुमार के पिता ने आचार्य से कुशल-मंगल पूछ कर अपने पुत्र के अध्ययनादि के बारे में प्रश्न किया तो उन्होंने कहा—"तुम्हारा पुत्र धर्मकुमार बहुत ही मेधावी था, किन्तु खेद है कि वह मर गया है।" उसके धर्मश्रद्धालु पिता ने कहा—"गुरुजी! मैं यह बात मान नहीं सकता; क्योंकि मेरे रहते मेरा धर्मकुमार मरे, यह असम्भव है।"

इस पर आचार्यजी ने कहा—"आपकी बात यथार्थ है। मैं इसी तथ्य की प्रतीति करने आया था कि आपके परिवार में तरुण क्यों नहीं मरता?"

धर्मपाल ने कहा—"आचार्य जी! मेरे कुल में कोई भी स्त्री-पुरुष ब्रह्मचर्य-मर्यादा का उल्लंघन नहीं करता। इसी कारण मेरे कुटुम्ब में किसी तरुण की अकाल-मृत्यु कभी नहीं होती।"

यह है—ब्रह्मचर्य-पालन का विशिष्ट लाभ!

आज संसार में जहाँ अकालमृत्यु का घंटा बज रहा है, युवक लोग वृद्धों से भी पहले मौत के मेहमान बन जाते हैं, वहाँ ब्रह्मचर्य-पालन से वीर्य की सुरक्षा की

जाए तो सभी दीर्घायु बन सकते हैं, सभी को जीने का आनन्द आ सकता है और वृद्धों को अपनी संतान से प्राप्त होने वाली सेवा का सुख मिल सकता है।

यजुर्वेद के एक मंत्र में बताया है—"जो मनुष्य अपने शरीर में वीर्य का संग्रह (ब्रह्मचर्य-पालन) करता है, वह दीर्घजीवी होता है।" दीर्घजीवन का मूल कारण वीर्य रक्षा है। जिस मनुष्य का वीर्य जितना बलिष्ट होता है वह उतना ही अधिक समय तक जीता है। ऋग्वेद में स्पष्ट कहा है—"ब्रह्मचर्य पालन किये बिना मनुष्य पूर्ण आयु प्राप्त कहीं कर सकता।"

स्वामी शिवानन्दजी, ब्रह्मचारी के दीर्घायु होने का सयुक्तिक कारण प्रस्तुत करते हुए कहते हैं—"मनुष्य जब शरीर धारण करता है, तब उसके श्वासोच्छ्वास निश्चित हो जाते हैं। तदनुसार ही उसके शरीर का हलन-चलन होता है। अर्थात् —श्वासोच्छ्वास जितने कम चलते हैं, मनुष्य उतने अधिक समय तक अपना जीवन टिका सकता है।"

मानव-शरीर के श्वासोच्छ्वास की सामान्य सीमा एक मिनट में १५ श्वासोच्छ्वास चलने की है। यानी दिन भर में सामान्यतः २१६०० श्वासोच्छ्वास चलते हैं। जो मनुष्य ब्रह्मचर्य का भंग करता है, वह बलहीन हो जाता है, इस कारण उसका श्वास प्रति मिनट अधिक चलता है। इसलिए उसका आयुष्य अल्प हो जाता है, और उसकी मृत्यु जल्दी हो जाती है। परन्तु जो व्यक्ति ब्रह्मचर्य-पालन करता हुआ वीर्य-रक्षा करता है, उसके श्वास की संख्या नहीं बढ़ती है, इस कारण उसकी अकाल मृत्यु नहीं होती।

हठयोग प्रदीपिका का भी यही मत है कि मनुष्य जहाँ तक ऊर्ध्वरेता रहता है, वहाँ तक उसे अकाल मृत्यु का भय नहीं होता।

महान शरीरशास्त्री वाग्भट्टाचार्य कहते हैं—"संसार में जितने भी सुख हैं, वे आयुष्य के अधीन हैं, और आयुष्य ब्रह्मचर्य के अधीन है।"

महान चिकित्सक 'चरक' कहते हैं कि "बैखानस और बालखिल्य ने तपो-भण्डार ब्रह्मचर्य का सेवन करके दीर्घायुष्य प्राप्त किया था।"

भक्त वामन कहते हैं—"जो व्यक्ति प्रारम्भ के २५ वर्षों तक ब्रह्मचर्य का पालन करता है, वह गुणवान एवं शक्ति-सम्पन्न होकर शतायु होता है।"[1]

लोकमान्य तिलक ने २५ वर्ष तक पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन किया था। उनकी कीर्ति, बुद्धिमत्ता, प्रभुता और लोकनेतृत्व का रहस्य यही था।

स्वामी रामतीर्थ कहते हैं—"दुनिया में वैचारिक क्रान्ति करने वाले समर्थ विद्वान 'हर्बर्ट स्पेंसर' तथा 'स्वीडनबर्ग' अखण्ड ब्रह्मचारी थे। विश्व का महान तत्व-ज्ञानी 'कांट' भी ब्रह्मचर्य के प्रताप से दीर्घायु हुआ था। विश्व का प्रसिद्ध गणित-

---

१ ब्रह्मचर्य चरेद्यस्तु वर्षाणां पंचविंशतिम्।
गुणवान् शक्तिसम्पन्नः स शतायुर्भविष्यति॥ —भक्त वामन

शास्त्री सर आइजक न्यूटन भी ८० वर्ष तक जीवित रहा, तब तक उसकी सभी इन्द्रियाँ सशक्त थीं, जिनसे वह बड़े-बड़े आविष्कार कर सका था।"

अतः ब्रह्मचर्य के रसायन-सेवन से मनुष्य की आयुष्य वृद्धि होती है।

ब्रह्मचर्य से सुदृढ़ बलिष्ठ शरीर

ब्रह्मचर्य-साधना से शरीर और मन दोनों ही सशक्त और सुदृढ़ बनते हैं। ब्रह्मचर्य से सुदृढ़ और बलिष्ठ शरीर होने पर व्यक्ति प्रत्येक कार्य में सफल होता है। साथ ही ब्रह्मचारी की आकृति, शरीर का डीलडौल, ढाँचा, अंगोपांग आदि सब सुन्दर, तेजस्वी और सुदृढ़ होते हैं। स्वामी आत्मानन्द कहते हैं—"शरीर के रक्षण के लिए ब्रह्मचर्य सर्वाधिक जरूरी है। जिसने उसका पालन नहीं किया, उसका जीवन धिक्कार है।"

आयुर्वेदशास्त्र में बतलाया गया है कि शरीर ही धर्मपालन का सर्वप्रथम साधन है।[1] यदि शरीर कमजोर, दुबला-पतला, वीर्यहीन एवं अशक्त हुआ तो उससे न तो व्यक्ति गृहस्थधर्म का पालन कर सकता है और न ही साधुधर्म का। वह किसी श्रेयस्कर कार्य में सफल नहीं होता, न ही उसमें किसी भी कार्य को करने का उत्साह और साहस ही होगा। परिवार, समाज और देश की रक्षा ऐसे निर्बल तन-मन वाले व्यक्ति नहीं कर सकते। आज के शक्तिहीन नवयुवकों को देखते हैं तो तरस आती है। एक फर्लांग चलने पर उन्हें चक्कर और माथे पर पसीने की बूंदें आने लगती हैं। हाथ और पैरों में बिलकुल जान नहीं रहती। हाथों से जरा-सा वजन उठाने में वे समर्थ नहीं। चलते समय कमर में झटके लगने का डर बना रहता है। मानों शक्ति और स्वास्थ्य उनसे रूठकर कहीं अन्यत्र चले गये हैं।

बलिष्ठ एवं सुदृढ़ तन-मन वाला मनुष्य यदि गृहस्थाश्रम में प्रवेश करेगा, तब भी अपनी जीवन यात्रा सफलतापूर्वक सम्पन्न कर सकेगा और यदि वह साधु-जीवन अंगीकार करेगा, तब भी अपनी संयमयात्रा निराबाध रूप से स्वपरकल्याण साधना के साथ सफल कर सकेगा।

ब्रह्मचर्य से सर्वशक्तियों की प्राप्ति

ब्रह्मचर्य का मन-वचन-काया से आचरण करने से मनुष्य को शारीरिक, स्नायविक, मानसिक, एवं आध्यात्मिक सभी शक्तियाँ प्राप्त होती हैं।

महर्षि अरविंद योगी का कहना है—रेतस् (वीर्य) जिस तत्व का मनुष्य काम-सेवन में व्यय कर देता है, जितेन्द्रिय (ब्रह्मचारी) बनने से वही तत्व प्राण, मन और शरीर की शक्तियों का पोषक हो सकता है। अर्थात्—मनुष्य उत्पादकशक्ति

---

१ शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्।

(वीर्य) की गति बदल दे और उसे शरीर में ही जज्ब कर दे तो उससे अद्भुत शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक बल प्राप्त कर सकता है । महात्मा गांधी ने स्वयं अपने अनुभवों के आधार पर लिखा है कि—"जिन लोगों ने थोड़े समय भी ब्रह्मचर्य का पालन किया होगा, उन्हें अपने मन और शरीर के बढ़े हुए बल का अनुभव जरूर हुआ होगा । ..... मुझे स्वयं ब्रह्मचर्य के अपरिमित लाभों का अनुभव है ।"[1]

महर्षि पतंजलि ने ब्रह्मचर्य-साधना की परिपक्वता से लाभ बतलाते हुए कहा—

"ब्रह्मचर्य-प्रतिष्ठायां वीर्यलाभः ।"[2]

"ब्रह्मचर्य की साधना परिपक्व हो जाने पर अपूर्व शारीरिक-मानसिक शक्ति (वीर्यलाभ) मिलती है ।"

ब्रह्मचर्य का सम्यक्रूप से पालन करने से मनुष्य अपार शक्ति का संचय कर सकता है । जिसके प्रभाव से वह समस्त इन्द्रियों पर अपना आधिपत्य जमा सकता है । मन उसके अनुकूल हो जाता है, बुद्धि भी उसकी आज्ञा में चलती है । ब्रह्मचर्य साधक अपनी आत्मा में आत्मा की समस्त शक्तियों को केन्द्रित कर लेता है । और यह केन्द्रीकरण जितना-जितना सुदृढ़ होता जाता है, ब्रह्मचर्य की शक्ति में उतनी-उतनी वृद्धि होती जाती है । शरीर, इन्द्रिय और मन पर यथार्थरूप से अधिकार हो जाने पर राग-द्वेष की परिणति कम हो जाती है, उससे भी ब्रह्मचर्य का विकास और विशुद्धि अधिकाधिक होती जाती है ।

यह है—ब्रह्मचर्य की आत्मा में प्रतिष्ठा (निष्ठा) हो जाने से शारीरिक-मानसिक-आध्यात्मिक शक्तिलाभ का रहस्य !

डॉ निकलसन एम.डी. भी इस बात का समर्थन करते हैं कि "स्त्री-संग का त्याग करने से शारीरिक और मानसिक शक्ति का प्रत्यक्ष विकास होता है और द्रुतगति से आध्यात्मिक उन्नति होती है । शरीर में वीर्य के संचय और जज्ब कर लेने से मनुष्य की दैवी शक्ति में अद्भुत वृद्धि होती है ।"

ब्रह्मचर्य से महान पराक्रम करने की शक्ति

प्रो० कृष्णराव कहते हैं—"अचिन्त्य और अद्भुत पराक्रम करने लिए आवश्य क समग्र अनुपम और मानसिक तथा शारीरिक शक्ति, प्रशंसनीय सद्गुण और दीर्घायुष्य केवल ब्रह्मचर्य के प्रताप से ही प्राप्त किया जा सकता है । इसके विपरीत यदि तुम अपने जीवन की ब्रह्मचर्यरूपी मुख्य नस काट डालोगे तो तुम्हारी शारीरिक-मानसिक-शक्तियों की बर्बादी होगी और तुम समस्त प्रकार के दुःखों और अधोगति के गर्त में गिर पड़ोगे ।"

---

१ आत्मसंयम (गांधी जी) पृ० ५५

२ पातंजल योगदर्शन २/३८

वेद की उक्ति है—"जो व्यक्ति ऊर्ध्वरेता(अपना वीर्य नीचे न जाने देकर शरीर में ही जज्ब कराकर ऊपर चढ़ा देना) बनता है। वह देव जैसा पराक्रमी होता है।"[1]

ब्रह्मचारी को शारीरिक-मानसिक शक्ति के साथ-साथ शान्ति भी प्राप्त होती है, क्रान्ति भी। वह जीवन में कभी हारता नहीं, न ही पराधीन होता है।

ब्रह्मचर्य से अतुल मनोबल

जिस मनुष्य का मनोबल क्षीण हो जाता है, वह प्रत्येक कार्य में हताश-निराश हो जाता है। जरा-सी विपत्ति आने पर घबरा जाता है। न्याय के लिए वह संघर्ष नहीं कर सकता। धर्मपालन में उत्साह एवं साहस नहीं दिखा सकता। संसार में वह कोई भी महत्वपूर्ण कार्य नहीं कर सकता। प्रबल मनोबल वाला व्यक्ति सुख, आरोग्य, तेज, बल, सामर्थ्य, विद्या, स्वतंत्रता और धर्माचरण का लाभ—इन सबको प्राप्त कर सकता है। सम्पूर्ण कार्यों की सफलता का आधार भी मनोबल है। श्रेष्ठता, उन्नति और स्वतंत्रता का बीजमंत्र अगर कोई है, तो मनोबल है। और श्रेष्ठ मनोबल ब्रह्मचर्य के पालन से ही प्राप्त होता है। स्वामी शिवानन्दजी के शब्दों में—"अगर तुम ब्रह्मचर्य का पालन करोगे तो तुम्हें अतुल मनोबल प्राप्त होगा। उसका अनुभव तुम्हें प्रतिदिन नहीं होगा। परन्तु जैसे पहलवान सामान्य दिनों में साधारण मनुष्य-सा दिखाई देता है, परन्तु कुश्ती (मल्लयुद्ध) के समय वह अपना अतुल बल बता सकता है, वैसे ही तुम अपने ब्रह्मचर्य के प्रताप से समय आने पर असाधारण मनोबल बता सकोगे।"

ब्रह्मचर्य से मनुष्य की मानसिक शक्तियों का विकास होता है। उससे शुद्ध विचार एवं चिन्तन-मनन करने की क्षमता बढ़ती है। मानसिक शक्तियों के विकास से निर्भीकता, साहस, श्रद्धा, कार्यक्षमता, योग्यता आदि गुणों में वृद्धि होती है। साथ ही मानसिक शक्तियों के विकास से आत्मिक उत्थान भी होता है। मनुष्य अपने शुद्ध मन से ऐसे कार्य करता है, जिससे उसकी आत्मा को शान्ति मिलती है। आत्म-शान्ति के कार्य में संलग्न व्यक्ति अन्त में मोक्ष प्राप्त करता है। वस्तुतः ब्रह्मचारी में सदैव मानसिक उल्लास बना रहता है। वह प्रत्येक कार्य को अत्यन्त उत्साह एवं चाव से करता है। इसलिए वह प्रत्येक कार्य में अगुआ रहता है।

हृदय-बल का विकास : ब्रह्मचर्य से

ब्रह्मचर्य से मनुष्य के हृदय-बल का विकास होता है, वह सारे विश्व के साथ मैत्री, बन्धुता, वात्सल्य एवं आत्मौपम्य का विचार करता है। जो गुणीजन हैं, उनके प्रति उसके हृदय में प्रमोदभावना जागती है, वह उनकी प्रशंसा करता है, प्रतिष्ठा देता है। जो दीन-हीन, असहाय, पीड़ित, पददलित एवं संकटग्रस्त हैं, रुग्ण हैं, उनके प्रति उसके हृदय में करुणा का निर्झर बहता है। अनुकम्पा उसके हृदय में सतत रहती है। समस्त

---

१ ऊर्ध्वरेता भवेद्यस्तु स देवो.....

दुःखी एवं हीन प्राणियों के प्रति दयाभाव उसके हृदय में रहता है । जो अपराधी मनोवृत्ति के हैं, पापी और अत्याचारी हैं, उनकी आत्मा को भी प्रेम से जगाता है। उनके प्रति घृणाभाव न रखकर गम्भीरता से उनके अपराध के मूल पर विचार करके उसे दूर करने का प्रयत्न करता है । इस प्रकार ब्रह्मचर्यनिष्ठ व्यक्ति का हृदय विशाल हो जाता है। प्रश्नव्याकरण सूत्र भी इस बात का साक्षी है। पहले कहा गया है कि "ब्रह्मचर्य से साधक का हृदय (अन्तःकरण) प्रशस्त (उदार) गम्भीर और स्थिर हो जाता है।"[1] साथ ही ब्रह्मचर्य-पालन करने वाले का हृदय निश्छल, सरल एवं मृदु (नम्र) हो जाता है । वह अपनी जरा-सी भी गलती या भूल को छिपाता नहीं; शुद्धरूप से दोषों की आलोचना करके प्रायश्चित्त ग्रहण करके आत्मशुद्धि कर लेता है। स्वामी विद्यानन्दजी के शब्दों में—"ब्रह्मचर्य पालन करने वाले का हृदय-बल प्रबल हो जाने से उसमें प्रत्येक कार्य को सिद्ध करने की क्षमता और सुदृढ़ता होती है। साथ ही उसके हृदय में परोपकारवृत्ति जागृत रहती है।"

बौद्धिक शक्तियों का विकास : ब्रह्मचर्य से

ब्रह्मचर्य का सबसे बड़ा वरदान है—बौद्धिक शक्तियों का विकास। ब्रह्मचर्य से मस्तिष्क में अपूर्व शक्ति आती है, जिससे स्मृति, मेधा, बुद्धि आदि सब विकसित हो जाती हैं। ब्रह्मचर्य-पालन करने वाले व्यक्ति के ज्ञानतन्तु शक्तिशाली बनते हैं। उसका मस्तिष्क विशाल एवं उर्वराशक्ति, निरीक्षण-परीक्षणशक्ति, निर्णयशक्ति, एवं चिन्तन-मननशक्ति से परिपूर्ण हो जाता है।

जैनाचार्य हेमचन्द्र नैष्ठिक ब्रह्मचारी थे। उन्होंने ५ वर्ष की उम्र में संसार से विरक्ति धारण कर ली थी और गुरुसेवा में रहकर अल्पसमय में ही अनेक शास्त्रों का अध्यन कर लिया था। उनकी बुद्धि एवं स्मरणशक्ति, स्फुरणाशक्ति अत्यन्त तीव्र थी। आजीवन अखण्ड ब्रह्मचर्य के प्रभाव से वे अनेक विशालकाय ग्रन्थों की रचना कर सके। व्याकरण, काव्य, कोष, अलंकार, नीतिशास्त्र, योगशास्त्र, त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र आदि सभी विषयों पर उन्होंने अपनी अदभुत प्रतिभा से नवसृजन किया है। कहते हैं, उन्होंने इतनी छोटी उम्र में लगभग साढ़े तीन करोड़ श्लोकों की रचना कर ली थी।

ब्रह्मचर्य के बल से मनुष्य का चिन्तन-मनन उज्ज्वल, परिष्कृत एवं शुद्ध हो जाता है, ब्रह्मचारी का मस्तिष्क बड़ा ही उर्वर और ग्रहणशील होता है, उसके मस्तिष्क में छह महीने तो क्या, हजारों वर्ष पुरानी स्मृतियाँ ज्यों की त्यों ताजी बनी रहती हैं। जिस जीवन में ब्रह्मचर्य का दीपक जगमगाता रहता है, वह किसी भी ग्रन्थ को एक बार पढ़ लेता है, या किसी भी विचार को एक बार ग्रहण कर लेता है, उसे जिन्दगी

---

१ पसत्थगंभीरथिमियमज्झं । —प्रश्नव्याकरण सं० ४, सू० १

भर भूलता नहीं। जो व्यक्ति निष्ठापूर्वक ब्रह्मचर्य की उपासना करता है, किसी भी विचार को शुद्ध रूप में ग्रहण करके उस पर नई-नई स्फुरणाएँ उसके मस्तिष्क में उठती रहती हैं, वह उस विचार को अमृतरूप में परिणत कर लेता है और उसी विचार को पल्लवित-पुष्पित करके जिज्ञासु के सामने प्रस्तुत कर देता है।

जैनाचार्य मल्लवादी जैनशासन के देदीप्यमान सूर्य थे। उन्होंने बाल्यावस्था में ही दीक्षाग्रहण कर ली थी। अखण्ड ब्रह्मचर्य के प्रभाव से उनकी बुद्धि और स्मरण शक्ति अत्यन्त प्रखर बन गई। उज्जैन नरेश भी उनकी बौद्धिक शक्ति एवं अपूर्व प्रतिभा देखकर आश्चर्यचकित एवं नत-मस्तक हो गये थे। आचार्य मल्लवादी ने नयचक्र नामक अद्भुत ग्रन्थ लिखा है जिसे समझने में बड़े-बड़े विद्वानों की बुद्धि भी चकरा जाती है।

स्वामी विवेकानन्द की बौद्धिक क्षमता, प्रतिभा, स्मरण शक्ति एवं नव-नवीन स्फुरणाशक्ति ब्रह्मचर्य की निष्ठापूर्वक साधना से आश्चर्यजनक रूप से बढ़ गई थी। शिकागो की सर्व धर्म परिषद् में जब वे भाषण देने गए, तब उनकी उम्र केवल ३० वर्ष की थी। इतनी छोटी उम्र होते हुए भी उनकी मोहक वक्तृत्व शक्ति, अलौकिक प्रतिभा और विषय प्रतिपादन करने की क्षमता ने अमेरिका के धर्मोपदेशकों और सुशिक्षित श्रोताजनों को प्रभावित कर दिया। उन्होंने उस समय तक वेदान्त पर इतना गहन अध्ययन नहीं किया था, फिर भी जब वे बोलने लगते तो नई-नई स्फुरणाएँ उनके मस्तिष्क में उभर आती थीं। यह सब उनके अस्खलित ब्रह्मचर्य का ही प्रताप था।

एक बार स्वामी विवेकानन्द कुछ अस्वस्थ थे। उस समय उनके शयनकक्ष में विश्वकोष के कई दलदार ग्रन्थ रखे हुए थे, जिनमें से कई भागों का वे बहुत शीघ्रता से वाचन कर चुके थे। उनकी परिचर्या में रहने वाले एक शिष्य ने इन बड़े-बड़े पोथों को देखकर आश्चर्य से पूछा—"गुरुदेव! इन बड़े-बड़े पोथों को अपनी जिन्दगी में शायद ही कोई पढ़ सकता होगा। अगर पढ़ जाए तो भी इन्हें पूरा का पूरा याद तो रख ही नहीं सकता होगा।"

स्वामीजी ने उससे कहा—"वत्स! तू भूलता है। मैंने इनमें से अनेक भागों को पढ़ा है। उनमें लिखी हुई बहुत-सी बातें मुझे याद हैं। तुम चाहो तो कहीं से भी पूछकर देख सकते हो।" शिष्य ने विश्वकोष का एक भाग उठाया और उसमें से कई कठिन स्थलों को निकालकर उनके सम्बन्ध में पूछा। इस पर स्वामीजी ने कई स्थलों का पाठ तो अक्षरशः सुना दिया और कई स्थलों को उन्होंने अपनी स्फुरणाशक्ति से विशेष विवेचन करके समझाया। शिष्य सुनकर दंग रह गया। कहने लगा—"गुरुजी! मेरा अनुमान है कि आपको किसी दैवीशक्ति का वरदान प्राप्त है। इसी से आप इतनी प्रखर बौद्धिक शक्ति से सम्पन्न हैं।"

स्वामी विवेकानन्द ने उसे प्रेमपूर्वक कहा—"वत्स! मुझे किसी भी दैवी शक्ति का वरदान प्राप्त नहीं है। किन्तु यह ब्रह्मचर्य की ही अद्भुत शक्ति है। निष्ठापूर्वक ब्रह्मचर्य के पालन से सभी विद्याएँ थोड़े ही समय में प्राप्त हो सकती हैं। अगर

व्यक्ति पूर्णतया ब्रह्मचर्य का पालन (वीर्यरक्षण) करे तो एक बार पढ़ी या सुनी हुई बात को जिन्दगीभर याद रख सकता है। ब्रह्मचर्य के प्रताप से स्मृति अखण्ड रह सकती है। चाहे जो व्यक्ति ब्रह्मचर्य के बल से श्रुतिधर और स्मृतिधर बन सकता है। तू भी चाहे तो अखण्ड ब्रह्मचर्य साधना से शारीरिक, वाचिक, मानसिक एवं बौद्धिक सभी शक्तियाँ प्राप्त कर सकता है। आज ब्रह्मचर्य के अभाव के कारण ही हमारे देश का इतना अधःपतन हुआ है।"[1]

महात्मा गाँधी का भी यही मत था कि "ब्रह्मचर्य से कई लाभ तत्काल होते हैं। इसका अनुभव तो सभी कर सकते हैं, और नवयुवक तो विशेष करके। ब्रह्मचर्य से स्मरणशक्ति स्थिर और संग्राहक होकर बुद्धि उर्वरा और इच्छाशक्ति बलवान हो जाती है। मनुष्य के समग्र जीवन में वह रूपान्तर हो जाता है, जिसकी कल्पना भी स्वेच्छाचारियों को नहीं हो सकती।"[2]

यह निर्विवाद है कि ब्रह्मचर्य के बिना विद्या प्राप्त नहीं होती। अथर्ववेद भी इसी बात का समर्थन करता है—

"ब्रह्मचर्येण वै विद्या[3]

ब्रह्मचर्य से ही विद्याध्ययन हो सकता है। क्योंकि विद्याध्ययन के लिए स्मरण शक्ति का तीव्र होना आवश्यक है। बुद्धि और स्मरणशक्ति तीव्र होती है—ब्रह्मचर्य से। ब्रह्मचर्य से मन, बुद्धि और चित्त एकाग्र होता है। इन्द्रियसंयम एवं मनोनिग्रह आदि होते हैं और उनसे स्मरणशक्ति तीव्र होती है। इसीलिए भारतीय संस्कृति में विद्याध्ययन के लिए ब्रह्मचारी रहना परम आवश्यक बताया है।[4] जो विद्यार्थी ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं, वे कक्षा में सर्वप्रथम आते हैं। सर्वश्रेष्ठ छात्रों में उनकी गणना होती है। उन्हें छात्रवृत्ति, पारितोषिक एवं सम्मान मिलता है। एक बार बतायी हुई बात तुरन्त उनकी समझ में आ जाती है।

इसके विपरीत जो विद्यार्थी प्रारम्भ से ही कुसंगति में फँसकर वीर्यनाश कर बैठते हैं, वे पढ़ने-लिखने में कभी आगे नहीं आ सकते। उनका मुखमण्डल फीका और निस्तेज रहता है। आँखे गड्ढे में धंसी रहती हैं। अध्यापक द्वारा पढ़ाने के समय उन्हें नींद के झोंके आने लगते हैं। उनकी बुद्धि मन्द होती है। एक बात को बार-बार समझाने पर भी उनकी समझ में नहीं आती।

ब्रह्मचर्यनिष्ठ व्यक्ति अपनी तीव्र बुद्धि के कारण कठिन से कठिन समस्या का तुरन्त समाधान प्राप्त कर लेता है। उसमें आत्मनिर्णय की क्षमता, आत्मविश्वास की

---

१ विवेकानन्द की जीवनी से उद्धृत।

२ आत्मसंयम पृ० ६६

३ अथर्ववेद

४ विद्यार्थं ब्रह्मचारी स्यात्। —विदुरनीति

प्रचुरता और निर्भयता होती है। वह दूसरों का मुँह नहीं ताकता। अपनी बुद्धि के बल पर वह नये-नये आविष्कार कर लेता है। कण्टकाकीर्ण पथ को भी सरल बना लेता है।

शैशवकाल में बालक में कामविकार बिलकुल नहीं रहता, इसी कारण शैशव में वे निर्दोष और निर्विकार होते है, उन्हें कई-कई पाठ कण्ठस्थ हो जाते हैं। इसका मूल कारण उस अवस्था में ब्रह्मचर्य का पालन है।

ब्रह्मचर्य से पारिवारिक लाभ

ब्रह्मचर्य-पालन से पारिवारिक जीवन में अनेकों लाभ हैं। साधु जीवन में तो सभी साधु-साध्वी पूर्ण ब्रह्मचर्य महाव्रती होते हैं, उनसे परिवार, समाज और राष्ट्र को ब्रह्मचर्य एवं संयम पालन करने की प्रेरणा, तालीम एवं अनुमोदना मिलती है।

एक गृहस्थ, जो कि पूर्ण ब्रह्मचर्य या मर्यादित ब्रह्मचर्य का पालन करता है, उससे भी सारे परिवार को ब्रह्मचर्य पालन की प्रेरणा और संस्कार मिलते हैं। और नहीं तो कम से कम पर्वतिथियों, धर्माराधनाओं, संक्रान्तियों आदि विशिष्ट दिनों में तो सारे परिवार को उक्त ब्रह्मचारी पारिवारिक गृहपति से ब्रह्मचर्य-पालन की प्रेरणा मिलती ही है। परिवार में अगर कोई लड़की विधवा हो गई है, और वह ब्रह्मचर्य-पूर्वक सादा एवं समाजसेवानिष्ठ जीवन बिताना चाहती है, तब भी परिवार के अग्रगण्य माता-पिता आदि को परिवार में उक्त विधवा पुत्री या पुत्रवधू के लिए संयममय ब्रह्मचर्यमय वातावरण रखने हेतु ब्रह्मचर्य-पालन अनिवार्य हो जाता है।

परिवार में ब्रह्मचर्य के वातावरण से स्वस्थता, सात्विकता एवं आत्मचिन्तन, धर्माचरण आदि का लाभ भी कम महत्वपूर्ण नहीं है।

परिवार में जब एक व्यक्ति ब्रह्मचर्य में आस्थापूर्वक प्रतिज्ञाबद्ध होता है, तो सहज ही संततिनिरोध हो जाता है। जिससे व्यक्ति लौकिक-पारलौकिक अभ्युदय तो करता ही है साथ ही ऐसे व्यक्ति की संतान में सुसंस्कारों का बीजारोपण होता है। परिवार छोटा हो जाने से व्यक्ति अपनी संतति के भरण-पोषण एवं शिक्षा संस्कार की ओर भी ध्यान दे सकता है। परिवार का वातावरण पवित्र एवं संयममय बन जाता है।

जो सद्गृहस्थ मर्यादित ब्रह्मचर्य का पालन करता है, उसके परिवार में बाल-विवाह, अनमेल विवाह, बहुपत्नी प्रथा, परस्त्रीगमन, वेश्यागमन या अप्राकृतिक व्यभिचार आदि ब्रह्मचर्य-विघातक प्रवृत्तियाँ टिक नहीं सकतीं, और न ही उस परिवार में मद्यपान, मांसाहार आदि कुव्यसन रह सकते हैं। गृहपति श्रावक की स्वदार-सन्तोषरूप ब्रह्मचर्य मर्यादा से सारे परिवार को ये सब लाभ प्राप्त होते हैं।

परिवार के अग्रगण्य माता-पिता के द्वारा कुछ वर्षों तक पालन किये हुए ब्रह्मचर्य का उनकी सन्तान पर बहुत अच्छा प्रभाव पड़ता है। वह शक्तिशाली, सुदृढ़ और स्वस्थ होती है। वह बड़ी से बड़ी चोट को सहने में समर्थ होती है।

आज हम देखते हैं कि बहुत-से पढ़ने वाले नौजवान लड़कों का शरीर निस्तेज एवं रुग्ण है। बचपन में ही उनका शरीर जर्जर होता जा रहा है। जरा-सी कठिनाई आते ही वे रोने लगते हैं, दुःखों की चोटों से घबराने लगते हैं। छोटे-छोटे बच्चों को दिल की धड़कन, मृगी का दौरा, क्षयरोग आदि भयंकर बीमारियाँ घेरे हुई हैं। जो वयस्क हैं, उनके भी जीवन में स्फूर्ति, उत्साह, जोश एवं मुसीबतों से टक्कर लेने की हिम्मत नहीं है इसका कारण है—स्वेच्छाचारी माता-पिता द्वारा की हुई भूल। जब अधिष्ठान ही दुर्बल है, तब उसका अधिष्ठाता कैसे बलवान होगा ? दुर्बल और निःसत्त्व स्वेच्छाचारी माता-पिता की सन्तान में बल, सत्त्व या साहस कहाँ से आएगा ? वह अवश्य ही निर्वीर्य, निःसत्त्व, दुर्बल, कायर, डरपोक, बुद्धू, दब्बू और प्रायः कामी होती है। इसके विपरीत सदाचारी माता-पिता की संतान संसार की चोटों से तनिक भी नहीं घबराती, न उसका शरीर सदा रुग्ण, दुर्बल, वीर्यहीन एवं निस्तेज होता है।

कहते हैं, हनुमान जी जब छोटे-से बच्चे थे, तब विमान से नीचे गिर गये थे—एक पर्वत की चट्टान पर। उनके मामा और माता अंजना दोनों अत्यन्त चिन्तित हो कर सोचने लगे—"हाय ! बालक इतने ऊँचे से गिरा है, शायद ही बचा हो।" किन्तु ज्यों ही वे विमान से नीचे उतरकर उस चट्टान की ओर देखते हैं, उनके हर्ष का पार न रहा। देखा कि जिस चट्टान पर वह गिरा था, वह चूर-चूर हो गई है, बालक हनुमान दूसरी चट्टान पर सही सलामत बैठा खेल रहा है। उसके शरीर पर जरा भी चोट नहीं आई। यह किस शक्ति का प्रभाव था ? यह लाभ हनुमान जी को उनके माता-पिता (अंजना और पवनकुमार) के द्वारा लगातार बारह वर्ष तक अखण्ड ब्रह्मचर्य-पालन से प्राप्त हुआ था। यही कारण है कि हनुमान अपने जीवन में सदा पराक्रमी और साहसी रहे; संकटों, कष्टों, आफतों या आघातों से वे कभी नहीं घबराए।

ब्रह्मचर्य से होने वाला यह पारिवारिक लाभ कितना उत्कृष्ट है !

जिस परिवार में अग्रगण्य ब्रह्मचर्य पालन करते हैं, उनकी संतान अकाल में मरण शरण नहीं होती। वह दीर्घजीवी और बलिष्ठ होती है।

ब्रह्मचर्य से सामाजिक लाभ

ब्रह्मचर्य से होने वाले सामाजिक लाभ भी अगणित हैं। जिस समाज में ब्रह्मचर्य पालन करने वाले अधिक होते हैं, वह समाज गौरवशाली, सुखी, स्वस्थ, धार्मिक, सदाचारी और सत्यकार्य करने वाला होता है। उस समाज को लोग आदर की दृष्टि से देखते हैं और उसका अनुकरण करने को प्रेरित होते हैं।

जो समाज स्वेच्छाचारी है, ब्रह्मचर्य-मर्यादा का खुलेआम भंग करता है, जिस समाज के स्त्री-पुरुष ब्रह्मचर्य की उपेक्षा करके मुक्त सहचार के पक्षपाती हैं, जहाँ भोग-विलास की खुली छूट ली जाती है, उस समाज में आए दिन तलाक, अविश्वास, अशान्ति, उपद्रव, ईर्ष्या, द्वेष, वैर-विरोध, कलह आदि दुर्गुण अधिक पनपते हैं। उस

समाज को कोई भी सुसंस्कार नहीं मिल पाते, न ही वह समाज आध्यात्मिक विकास कर पाता है, न ही वहाँ सभ्यता और सुसंस्कृति पनपती है। वह समाज एक तरह से पशुओं का या दानवों का समाज बन जाता है—अब्रह्मचर्य के वातावरण के कारण। वहाँ कोई किसी पर विश्वास नहीं कर पाता, न ही निरंकुश कामसेवन से कोई सुख-शान्ति पा सकता है।

ब्रह्मचर्य की मर्यादा का पालन करने वाले समाज में स्त्री-पुरुषों में परस्पर विश्वास, सन्तोष, शान्ति एवं सहिष्णुता बढ़ती है।

जिस समाज में ब्रह्मचारी स्त्री-पुरुषों का आदर किया जाता है, जहाँ ब्रह्मचर्य के प्रति आस्था और सद्भावना है, उसमें अनेक लोगों को ब्रह्मचर्य-पालन की प्रेरणा मिलती है। वह समाज भी उच्चकोटि का, तथा सभ्यता और संस्कृति में अग्रणी माना जाता है।

जैनसंघ में प्रायः यह रिवाज है कि जब कोई दम्पत्ति चतुर्थव्रत (पूर्णब्रह्मचर्यव्रत) स्वीकार करते हैं, तो लोग उनको आदर देते हैं, पोशाक भेंट करते हैं तथा कई श्रावक धर्मप्रभावना (लाहणी) भी किया करते हैं।

एक बार गुजरातनिवासी प्रसिद्ध श्रावक पैथडशाह के नगर के किसी श्रावक ने चतुर्थव्रतधारियों (पूर्ण ब्रह्मचर्य की प्रतिज्ञा लेने वालों) को अपनी ओर से लाहणी देने का निश्चय किया। तदनुसार नगर में जितने भी पूर्ण ब्रह्मचर्य के प्रतिज्ञाधारी श्रावक-श्राविका थे, उनके यहाँ वह श्रावक लाहणी देने लगा। संयोगवश वह श्रावक पैथडशाह को भी धर्मिष्ठ तथा धर्म का अग्रणी समझ कर लाहणी देने लगा। श्री पैथडशाह ने पूछा—भाई! यह लाहणी किस बात की है? श्रावक ने कहा—श्रीमान्! मैंने आज ब्रह्मचर्य प्रतिज्ञाधारी समस्त श्रावक-श्राविकाओं के सम्मानार्थ अपनी ओर लाहणी देने का नम्र प्रयत्न किया है। आप भी हमारे समाज के अग्रणी, धर्मपरायण एवं श्रावक हैं, अतः आपकी सेवा में भी मैं यह तुच्छ भेंट देना चाहता हूँ। अतः आप इसे स्वीकार करें।

पैथडशाह ने नम्रतापूर्वक कहा—"भाई! धन्य है, उन पूर्ण ब्रह्मचर्यव्रतधारी नर-नारियों को! मैंने तो अभी तक पूर्ण ब्रह्मचर्य ग्रहण करने का विचार भी नहीं किया। अतः इस लाहणी को लेने का अधिकारी नहीं हूँ। परन्तु आप मेरे सहधर्मी भाई हैं। आपकी भेंट को ठुकराना संघ एवं धर्म शासन की अवहेलना होगी। इसलिए आज से मैं भी चतुर्थव्रत (पूर्ण ब्रह्मचर्यव्रत) ग्रहण करके इस लाहणी को स्वीकार करता हूँ।"

उक्त श्रावक के मुँह से बरबस धन्यवाद के उद्गार निकले। पैथडशाह की उम्र उस समय सिर्फ ३२ वर्ष की थी। यौवनवय में पूर्ण ब्रह्मचर्य अंगीकार करने वाले पैथडशाह का जीवन समाज के अनेक युवकों के लिए प्रेरणादायी बन गया।

ब्रह्मचर्य से होने वाले ये सामाजिक लाभ भी काफी महत्वपूर्ण हैं।

ब्रह्मचर्य से राष्ट्रीय लाभ

जिस राष्ट्र में ब्रह्मचर्य-पालकों का बाहुल्य होता है, ब्रह्मचर्य की मर्यादाओं का जहाँ प्रत्येक व्यक्ति पालन करता है, उस राष्ट्र की जनता, शरीर की ऊँचाई, डीलडौल और शक्ति में दूसरे राष्ट्रों से बढ़कर होती है। वह राष्ट्र अपराजेय होता है वह राष्ट्र अनेक योद्धाओं और शक्तिशाली पुरुषों को जन्म देने का गौरव प्राप्त करता है।

भारतवर्ष में ऐसे अनेक पूर्ण एवं मर्यादित ब्रह्मचारी हुए हैं, जिनसे राष्ट्र गौरवान्वित हुआ है।

भीष्म पितामह अखण्ड ब्रह्मचारी थे। महाभारत के युद्ध में उन्होंने कौरवपक्ष की ओर से सेनापति पद स्वीकार किया था। कुरुक्षेत्र (रणक्षेत्र) के घोर संग्राम में भीष्मपितामह मध्याह्न के सूर्य-सम प्रकाशित थे। श्रीकृष्ण को भी उनको हराने के लिए अतुल पराक्रमी व्यक्तियों को तैयार करना पड़ा था। किन्तु ब्रह्मचर्य के प्रताप से भीष्मपितामह से कोई भी अन्य योद्धा लोहा नहीं ले सका। युद्ध के उपसंहार के समय वे छह महीने तक बाणों की शय्या पर लेटे रहे, पर क्या मजाल कि तीव्रवेदना के कारण अशान्त और बेचैन हों। शान्त भाव से बाण शय्या पर लेटे-लेटे उन्होंने श्रीकृष्ण, युधिष्ठिर आदि पाँचों पाण्डव एवं अन्य अनेक ऋषियों को राजधर्म से लेकर आत्म-धर्म एवं मोक्ष तक का उपदेश दिया तथा अव्याकुलित होकर जीए और अन्त में मृत्यु प्राप्त की।

भीष्मपितामह के अखण्ड ब्रह्मचर्य के प्रभाव से राष्ट्र गौरवान्वित हो उठा। राष्ट्र के अनेक लोगों को भीष्म पितामह के इस उद्‌गार से ब्रह्मचर्य-पालन की प्रेरणा मिली—"त्रिलोक के साम्राज्य का अथवा स्वर्ग के अधिकार का त्याग कर देना तथा इससे भी बढ़कर उत्तम कोई वस्तु हो तो उसका भी परित्याग कर देना, परन्तु ब्रह्मचर्य-भंग न करना।"

वस्तुतः ब्रह्मचर्य पालन से राष्ट्र के अनेक लोगों को ब्रह्मचर्य की प्रेरणा मिली है। महात्मा गांधी ने जब राष्ट्र सेवा का व्रत लिया तो ब्रह्मचर्य को जीवन में मुख्यता दी जिसके कारण पं० जवाहरलाल नेहरू आदि अनेक राष्ट्रसेवक नेताओं को ब्रह्मचर्य-पालन की प्रेरणा मिली। इससे राष्ट्र को अपार लाभ हुआ, वह स्वतन्त्रता संग्राम में विजयी हुआ।

ब्रह्मचर्य से आध्यात्मिक लाभ

ब्रह्मचर्य से शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक आदि लाभ तो आनुषंगिक हैं, मुख्य लाभ तो आध्यात्मिक है। जहाँ निश्चय दृष्टि से ब्रह्मचर्य के अर्थ का स्वीकार करके ब्रह्म (आत्मा या परमात्मा) में विचरण (रमण) करने की साधना या प्रक्रिया अपनाई जाती है, वहाँ आत्मा के साथ लगे हुए काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर, अभिमान, माया, राग, द्वेष आदि वैभाविक विकार (परभाव) टिक नहीं सकते। जहाँ काम-क्रोधादि विकारों का आक्रमण होने पर साधक डिग जाय, उनके प्रवाह में बह जाय, वहाँ ब्रह्मचर्य-भंग समझना चाहिए। राग-द्वेष से बँध जाने वाले शुभाशुभ कर्म जहाँ आत्मा

पर विविध प्रकार के आवरण (पर्दा) डालकर उसके ज्ञान, दर्शन, चारित्र, वीर्य, सुख आदि गुणों को आच्छादित कर देते हैं, वहाँ ब्रह्मचर्य की यह साधना उन कर्मों को छिन्न-भिन्न कर देती है। ब्रह्मचर्य के परिपक्व अभ्यास से आत्मा इतनी शुद्ध, पवित्र निश्चल एवं ध्येय में स्थिर हो जाती है कि चाहे उसके समक्ष स्वर्ग की अप्सराएँ भी शृंगार सजकर नृत्य करें, हाव-भाव दिखाएँ, कामसेवन की प्रार्थना करें तो भी वह अपने ब्रह्मचर्य से एक इंच भी विचलित नहीं होता।

संत बिनोबा के शब्दों में ब्रह्मचर्य से इस आध्यात्मिक लाभ का क्रम इस प्रकार है—

"....ब्रह्मचर्य के पालन से मन में निर्विकारता आती है, निर्विकारता के कारण अनासक्ति पैदा होती है। यह एक (आध्यात्मिक) स्वरूप है। दूसरा स्वरूप यह है कि अनासक्ति से चित्तशुद्धि होती है और उससे प्रेम व्यापक (विश्वव्यापी) होता है। निर्विकारता और अनासक्ति निषेधक (नेगेटिव) पक्ष है। चित्तशुद्धि और व्यापक प्रेम विधायक पक्ष है। इस प्रकार (ब्रह्मचर्य से) चार बातें सिद्ध हो गईं।"

"....निर्विकारता का गौण लाभ शरीर में वीर्य संग्रह होगा। यह शारीरिक लाभ माना जाएगा। वीर्य संग्रह से स्मृति शक्ति तेज होती है, विचार शक्ति प्रबल होती है, भीतर की विकार-वासनाएँ छूटती हैं, कौटुम्बिक सम्बन्धों में अनासक्ति पैदा होती है और प्रेम का उत्कर्ष होता है—यह मुख्य लाभ है।"[1]

इसी प्रकार ब्रह्मचर्य से आध्यात्मिक लाभ के और भी पहलू हैं। धर्मध्यान से लेकर साधक, शुक्लध्यान के चतुर्थ पाये तक पहुँच जाता है। उसे ध्यान में किसी प्रकार की थकान महसूस नहीं होती, तथा सर्वतोमुखी आत्म संयम प्रगट हो जाने से साधक महान् आनन्दमयी समाधि का स्वामी बन जाता है। फिर तो सभी इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, चित्त, शरीर आदि समस्त साधन आत्मा—शुद्ध आत्मा की सेवा में लग जाते हैं। ब्रह्मचर्य से अहिंसा, सत्य आदि धर्म की रक्षा भी होती है।[2]

ब्रह्मचर्य से इहलौकिक-पारलौकिक लाभ

पूर्वपृष्ठों में गिनाये हुए अगणित लाभ इहलौकिक तो हैं ही, परम्परा से वे पारलौकिक लाभ के कारण हैं। ब्रह्मचर्य से स्वास्थ्य अच्छा रहता है और उससे बल, बुद्धि, विद्या, कर्त्तव्यक्षमता, यश-कीर्ति, मनोबल, सुख-शान्ति, दीर्घजीविता आदि सभी इहलौकिक

---

१. अभंगव्रत-विवेचन (विनोबा) पृ० १३२-१३३

२. 'ब्रह्मचर्येण धर्मरक्षा'

लाभ प्राप्त होते हैं। पारलौकिक लाभ भी कम नहीं है। पहले बताया जा चुका है, ब्रह्मचर्य का फल केवल यहीं तक ही सीमित नहीं है, परलोक में भी ब्रह्मचारी को शुभ कर्मों के पुण्य प्रभाव से सुगति मिलती है और सर्वथा कर्मक्षय होने से मोक्षप्राप्ति भी हो जाती है। जैन एवं वैदिक धर्मशास्त्रों में ब्रह्मचारी के लिए स्वर्गगमन तो अनिवार्य माना है,[1] किन्तु मोक्ष के लिए भी ब्रह्मचर्य को मूल कारण बताया है।

वास्तव में ब्रह्मचर्य पर सभी पहलुओं से विचार किया जाए तो इससे अनन्त लाभ हैं। □□

---

१. (क) सर्वे गच्छन्ति ते सर्वे ये केचिद् ब्रह्मचारिणः।
(ख) प्रश्नव्याकरण सं० ४, सू० १

७
ब्रह्मचर्य की उपलब्धियाँ

मानव जन्म : एक महती उपलब्धि

मनुष्य को जो इतना महत्त्वपूर्ण मानव तन-मन मिला है, वह भी एक बहुत बड़ी उपलब्धि है। अनन्त-अनन्त जन्मों के बाद पुण्यराशि संचित होने के कारण मानव जन्म मिला। परन्तु मानव जन्म की उपलब्धि से भी मनुष्य का उद्देश्य पूर्ण नहीं होता। मानव जन्म तो चोर, कसाई, वेश्या और हत्यारे को भी मिला है। उससे क्या कार्य सिद्ध हुआ? जितनी दुर्लभता से मनुष्य जन्म मिला, उस बहुमूल्य जन्म को सार्थक करने के लिए तो ये लोग कुछ भी नहीं कर रहे हैं। उलटे पाप कर्मों का भार बाँधकर पुनः दुर्गतियों और कुयोनियों में भटकने का उपक्रम कर रहे हैं। इस की अपेक्षा अगर उन मनुष्यों को सद्बुद्धि और ज्ञान मिल जाए और वे ब्रह्मचर्य को अपना लें तो उनका जीवन भी सार्थक हो जाए और ब्रह्मचर्य के साथ-साथ अनेक सद्गुणों और व्रत-नियमों के आ जाने से वे या तो पुण्य की राशि संचित करके स्वर्गादि में जाएँ या फिर जन्म-मरण के चक्र का अन्त करके मोक्ष प्राप्त कर लें।

ब्रह्मचर्य : चिन्तामणि रत्न

जैसे चिन्तामणि रत्न को पाकर व्यक्ति उससे मनचाहा लाभ उठा सकता है, उसे संसार की कोई भी भौतिक वस्तु चाहिए तो मिल सकती है। इसी प्रकार ब्रह्मचर्य भी चिन्तामणि रत्न है, उससे भी मनुष्य स्वर्ग के उत्तमोत्तम सुख अथवा मोक्ष का अनन्त, अक्षय एवं निराबाध स्वाधीन सुख प्राप्त कर लेता है। इसके अतिरिक्त ब्रह्मचर्य के द्वारा लौकिक और लोकोत्तर सभी सिद्धियाँ, लब्धियाँ या ऋद्धियाँ भी उपलब्ध की जा सकती हैं। प्रश्नव्याकरण सूत्र इस बात का साक्षी है। यह हम पहले बता चुके हैं कि "ब्रह्मचर्य सिद्धि (मुक्ति) और विमान (देवलोक) के द्वारों को खोलने वाला है अथवा मोक्षपथ का शेखर रूप है।"[1] यही नहीं ब्रह्मचर्य की इतनी बड़ी उपलब्धि है कि इससे सभी प्रकार की मनचाही ऋद्धि, सिद्धि और समृद्धि भी मिलती है; और इसी ब्रह्मचर्य से आध्यात्मिक जीवन की उच्चता—अन्तिम मंजिल भी प्राप्त की जा सकती है। मनुष्य जीवन भी ब्रह्मचर्य के द्वारा इतना शानदार बनाया जा सकता है,

---

१ सिद्धि विमाण-अवंगुयद्दारं। —प्रश्नव्याकरण सं० ४, सू० १

जिससे यहाँ भी आनन्द, जन्मान्तर में भी आनन्द और जन्म-मरण के चक्र से पार होने के बाद मुक्त-अवस्था में तो असीम-अनन्त आनन्द प्राप्त हो सकता है।

ब्रह्मचर्य-साधना से लौकिक और लोकोत्तर सभी प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त की जा सकती हैं, किन्तु बुद्धिमान एवं मुमुक्षु व्यक्तियों को लौकिक सिद्धियों या लब्धियों के चक्कर में न पड़कर लोकोत्तर सिद्धि (मुक्ति) की प्राप्ति का पुरुषार्थ करना ही श्रेयस्कर है।

उत्तराध्ययन सूत्र में इसी सर्वोत्तम उपलब्धि की ओर अंगुलि निर्देश किया गया है—"इस ब्रह्मचर्य धर्म के पालन से अनेक जीव सिद्ध (मुक्त) बन गये, वर्तमान में बन रहे हैं और भविष्य में भी बनेंगे।"[1]

स्वर्ग की ऋद्धि—ब्रह्मचर्य के शुद्ध पालन से स्वर्ग-देवलोक की ऋद्धि, समृद्धि तथा देवों की वैक्रिय लब्धि, आदि प्राप्त होती है। यह उपलब्धि भी कम नहीं है। पूर्ण रूप से सर्वथा कर्मक्षय न होने से कर्मों—शुभकर्मों के पुञ्ज के फलस्वरूप अनायास ही देव-लोक प्राप्त हो गया तो अफसोस करने की आवश्यकता नहीं। ब्रह्मचर्य की साधना तो की, परन्तु शुद्ध रूप से न की; उसमें नामना, कामना और लौकिक-पारलौकिक वासना (रागभाव) का विकार मिश्रित हो गया। अतः उस अनुपात में उक्त ब्रह्मचर्य साधक को उसका फल प्राप्त हो जाता है।

लौकिक सिद्धियाँ—कई लोगों को ब्रह्मचर्य की उत्कट साधना के कारण अणिमा महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व और वशित्व[2] इन आठ सिद्धियों की उपलब्धि हो जाती है। इन सिद्धियों के मिलने पर व्यक्ति अपना छोटा (सूक्ष्म)रूप बनाना, विशाल रूप बनाना, भारी-हलका बनना, इच्छानुसार प्राप्ति, वस्तु की प्रकाम उपलब्धि, ईशित्व (प्रभुत्व) एवं वशीकरण आदि कर सकता है। परन्तु इन आठ सिद्धियों का उपयोग परोपकार के कार्यों में, अथवा आत्म-साधना में करे तो उससे कर्मक्षय भी कर सकता है। अत्रि स्मृति में बताया है कि **"ब्रह्मचर्य के संरक्षण से मनुष्य को सर्वलोकों में सुखदायिनी सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं।"**

लब्धियाँ—ब्रह्मचारी को ब्रह्मचर्य-साधना के फलस्वरूप अनेक लब्धियाँ भी प्राप्त हो जाती हैं जैसे—**आमर्शौषधि** (किसी को सहलाने—हाथ फेरने मात्र से उसका रोग मिट जाना), **सर्वौषधि लब्धि** (किसी को स्पर्श करने मात्र से उसका रोग मिट जाना) इसी प्रकार कफ, नाक का मैल, पसीना, मल, मूत्र आदि में भी इतनी चमत्कारिता पैदा हो जाती है, कि उसके प्रयोग करने वाले के समस्त रोग मिट जाते हैं। जंघा-

---

१ सिज्झा सिज्झंति चाणेण सिज्झिस्संति तहावरे। —उत्तरा० १६/१७

२ अणिमा महिमा चैव गरिमा लघिमा तथा।
प्राप्तिः प्राकाम्यमीशित्वं वशित्वं चाष्टसिद्धयः॥ —अमरकोष

चारण या विद्याचारण लब्धि भी ब्रह्मचारी को प्राप्त हो जाती है। शाप या अनुग्रह की लब्धि भी ब्रह्मचर्य से प्राप्त हो सकती है।[1]

अखण्ड ब्रह्मचर्य के प्रताप से साधक की मंत्र, तंत्र या विद्या आदि की सिद्धि भी शीघ्र हो जाती है। यह कोरी कपोल कल्पना नहीं है, कई अखण्ड ब्रह्मचर्य-साधकों को ऐसी लब्धियाँ प्राप्त हुई हैं, भविष्य में भी होंगी। वर्तमान युग में भी ब्रह्मचर्य एवं तप के प्रताप से कई साधु-साध्वियों को वचनसिद्धि या वचनलब्धि प्राप्त हुई है।

ब्रह्मचर्य से पदानुसारिणी लब्धि

जैनशास्त्रों में पदानुसारिणी लब्धि का उल्लेख है। पदानुसारिणी लब्धि का अर्थ है—एक पद या कुछ पदों के देखने या सुनने से ही उस विषय से सम्बन्धित सारा विषय या समस्त पद याद हो जाते हों। मन-वचन-काया से शुद्ध रूप से ब्रह्मचर्य का पालन करने से ऐसी पदानुसारिणी लब्धि प्राप्त होती है। जैन इतिहास में आचार्य वज्रस्वामी को यह लब्धि प्राप्त थी। वज्रस्वामी नैष्ठिक बालब्रह्मचारी थे। वज्रस्वामी ने अभी दीक्षा भी नहीं ली थी। उनका पालन-पोषण एक श्राविका माता के यहाँ हो रहा था। वेष से साधुत्व अंगीकार न करने पर भी भाव-साधुत्व तो उनकी अन्तरात्मा में रम रहा था। कभी-कभी अपनी झांकी वह दिखा देता था। श्राविका माता जब वज्रस्वामी को लेकर साध्वियों के उपाश्रय में आती तो उन्हें एक पालने में लिटाकर स्वयं सामायिक में बैठ जाती। साध्वियाँ अंग शास्त्रों का स्वाध्याय करती थीं, उस समय पालने में लेटे-लेटे वज्रस्वामी शास्त्र-पाठ को दत्तचित्त होकर सुनते रहते। ज्ञानावरणीय कर्म के तीव्र क्षयोपशमवश ११ अंगशास्त्रों का पाठ सुनते-सुनते उन्हें कण्ठस्थ हो गया। दीक्षा ग्रहण करने के बाद उन्हें पदानुसारिणी लब्धि प्राप्त हो गई थी जिसके कारण गुरुदेव से या गीतार्थ स्थविर साधुओं से जो भी शास्त्र पाठ लेते थे, उसे शीघ्र कण्ठस्थ करने के साथ-साथ पदानुसारिणी लब्धि के कारण उस पाठ के आधार पर आगे-पीछे का सारा पाठ स्मरण कर लेते थे। पदानुसारिणी लब्धि के कारण उन्होंने अगाध ज्ञान राशि अर्जित कर ली थी। यह पदानुसारणी लब्धि उन्हें नैष्ठिक ब्रह्मचर्य के प्रभाव से तथा ज्ञानावरणीय कर्म के तीव्र क्षयोपशम से प्राप्त हुई थी।[2]

इस युग में स्वामी विवेकानन्द को भी इसी प्रकार की उपलब्धि प्राप्त थी। छोटा बालक एक-एक अक्षर पढ़ता है, पर शिक्षित व्यक्ति एक ही नजर में सारी लाइन पढ़ लेता है, किन्तु स्वामी विवेकानन्द की आँखें तो सारा पैराग्राफ या सारा पृष्ठ एकदम पढ़ सकती थीं।

स्वामी विवेकानन्द एक बार जर्मन विद्वान् 'डायसन' के यहाँ भोजन करने

---

१ देखो, अट्ठाइस प्रकार की लब्धियों का वर्णन—प्रवचनसारोद्धार, द्वार २७/१४६२-से १५०८

२ प्रभावक चरित्र—श्री प्रभाचन्द्राचार्य, सिंघी जैन ज्ञानपीठ

गये थे। वहाँ उसकी टेबल पर एक पुस्तक पड़ी थी। स्वामी जी ने खड़े-खड़े ही थोड़ी-सी देर में सारी पुस्तक देख ली। तत्पश्चात् वे डायसन से बातचीत में लग गये। वार्तालाप के दौरान जब वे उस पुस्तक के उद्धरण देने लगे, तब 'डायसन' ने विस्मित होकर पूछा—"आपने यह पुस्तक कब पढ़ी है?" स्वामी जी के कहा—"अभी कुछ समय पहले यहीं पढ़ी है।" डायसन ने आश्चर्यचकित होकर कहा—"इतने कम समय में इतनी बड़ी पुस्तक कैसे पढ़ डाली?"

स्वामी विवेकानन्द ने कहा—"इसमें आश्चर्य जैसी कोई बात नहीं है। मैं एक साथ अध्याय के अध्याय पढ़ डालता हूँ और वे विचार मेरे मस्तिष्क में जम जाते हैं।"[1]

स्वामी विवेकानन्द को इतनी बड़ी बौद्धिक उपलब्धि कैसे प्राप्त हुई थी? कहना होगा कि यह उपलब्धि उन्हें नैष्ठिक ब्रह्मचर्य से—इन्द्रिय निग्रह, मनःसंयम, वीर्यरक्षा आदि से प्राप्त हो सकी थी।

मनोवांछित कार्यसिद्धि

ब्रह्मचर्य की एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि यह है कि ब्रह्मचारी के मन में जो भी शुभ विचार, संकल्प या भाव स्वपरहित के उठते हैं या किसी के लिए मन में शुभेच्छा या आशीर्वाद मन में स्फुरित होते हैं, वे अवश्य ही पूर्ण होते हैं। ब्रह्मचारी की शुभ मनोवांछा खाली नहीं जाती।

इसीलिए संस्कृत वाङ्मय के एक विचारक ने कहा है—

शीलं प्रधानं लोकऽस्मिंस्तस्मिन् सर्वं प्रतिष्ठितम्।
शीलेन सर्वमाप्नोति यत्किंचिन्मनसेच्छति॥

अर्थात्—'इस लोक में शील ही प्रधान है, शील में ही सभी गुण प्रतिष्ठित हैं। शील (ब्रह्मचर्य) से वह सब कुछ पाता है, जिसकी मन में वांछा करता है।'[2]

ब्रह्मचर्य की यह उपलब्धि कितनी महान है! महाभारत में भी ब्रह्मचर्य की इस उपलब्धि का समर्थन किया गया है—

"ब्रह्मचर्येण संयुक्तः सर्वान् कामानवाप्नुयात्"

ब्रह्मचर्य से सम्पन्न व्यक्ति सभी कामनाओं को प्राप्त करता है।

मार्गदर्शक और संसार का अन्तकर

इससे भी बढ़कर एक उपलब्धि यह है कि ब्रह्मचर्य का आराधक-साधक मनुष्यों का मार्गदर्शक एवं संसार का अन्त करने वाला बनता है। क्योंकि उसके ब्रह्मचर्य-पालन के अनुभव से अनेक नर-नारियों को शुद्ध मार्गदर्शन मिलता है। महात्मा गांधी ने जब पूर्ण ब्रह्मचर्य व्रत अंगीकार किया, उससे अनेक लोगों को

---

१ स्वामी विवेकानन्द की जीवनी से

२ सर्वेषु लोकेषु कामचारी भवति। —छान्दोग्य, ८

मार्गदर्शन मिला। सूत्रकृतांग सूत्र में बताया है कि जो मनुष्य (भावना बल से) भोगाकांक्षा का अन्त करता है वह मनुष्यों के लिए चक्षुरूप मार्गदर्शक बनता है। जैसे उस्तरा एवं गाड़ी का पहिया अन्तभाग (अन्तिम धार) पर चलता है वैसे ही ब्रह्मचर्यनिष्ठ पुरुषों का जीवन अन्तिम सत्यों पर चलता है, एवं संसार का अन्त करने वाला होता है।[1]

वास्तव में संसार का अन्त करना सबसे बड़ी उपलब्धि है। श्रमण-संस्कृति में साधना का लक्ष्य यही है—सदा-सदा के लिए जन्म-मरणरूप संसार का अन्त करना—मोक्ष प्राप्त करना। ब्रह्मचर्य की साधना से ही यह उपलब्धि सम्भव है।

ब्रह्मचर्यवास : सर्वकर्मक्षय समर्थ

ब्रह्मचर्य के यथार्थ पालन के लिए तपश्चर्या द्वारा देहदमन करना अनिवार्य है और उस तपश्चर्या में मनुष्य को अपनी काम वासना, अहंकार, क्रोधादि एवं राग-द्वेषादि का परित्याग करना आवश्यक होता है। वैसा करने पर ही व्यक्ति ब्रह्मचर्य में स्थिर हो सकता है; और भवभ्रमण-कारणरूप कार्मण शरीर का क्षय हो सकता है।

यह तो सर्वविदित है कि अब्रह्मचर्य से बांधे हुए कर्मों के उदय से नाना रोग, दुःख, शोक, आदि प्राप्त होते हैं, इनके मुख्य कारणभूत कर्मबन्धन को मिटाने का उपाय ब्रह्मचर्य ही है। आचारांगसूत्र इस तथ्य का साक्षी है—जो ब्रह्मचर्य में बसा हुआ है, वह (तप से) मांस-रक्त का त्याग करता है, और वही पुरुष द्रव्य (भव्य—मोक्ष-योग्य), वीर तथा अनुसरणीय है। वह (इस प्रकार के ब्रह्मचर्यवास से) समस्त कर्मों (कार्मण शरीर) का क्षय करता है। ऐसा शास्त्र में (तीर्थंकरों द्वारा) कहा गया है।[2] सारांश यह है कि कार्मणशरीर से सदा-सर्वदा के लिए छुटकारा पाने का सामर्थ्य ब्रह्मचर्य से प्राप्त होता है। इसलिए ब्रह्मचर्य की यह उपलब्धि सर्वोपरि एवं सर्वोत्तम है।

□□

---

१ से हु चक्खू मणुस्साणं, जे कंखाए य अंतए।
अंतेण खुरो वहई, चक्कं अंतेण गच्छइ।
अंताणि धीरा सेवंति, तेण अंतकरा इह॥"— सूत्रकृतांग १ श्रु० १५/१४-१५

२ विगिंच मंससोणियं एस पुरिसे दविए वीरे आयाणिज्जे वियाहिए।
जे धुणाइ समुस्सयं वसित्ता बंभचेरम्मि॥
—आचारांग १ श्रु, अ. ४, उ. ४

जीवो बंभो जीवम्मि चेव चरिया
हविज्ज जा जदिणो।
तं जाण बंभचेरं
विम्मुक्कपरदेहतित्तिस्स ॥

—भग० आ० ८७८

जीव (आत्मा) ब्रह्म है, उस ब्रह्म में जिस उपाय से, देहभाव से ऊपर उठकर, रमण किया जाता है, वह ब्रह्मचर्य है।

□□

जो मानव को ब्रह्म की,
ओर शीघ्र ले जाय।
ब्रह्मचर्य है शान्ति का,
उत्तम एक उपाय॥

ब्रह्मचर्य विज्ञान

स्वरूप-दर्शन

ब्रह्मचर्य का स्वरूप, अर्थ, साधन
और विघातक तत्वों का धार्मिक
एवं शरीर-शास्त्रीय विवेचन

१

ब्रह्मचर्य : एक शब्द, अनेक अर्थ

ब्रह्मचर्य : शब्द एक—अर्थ अनेक

पिछले प्रकरण में हमने विभिन्न पहलुओं से ब्रह्मचर्य के महत्व, गौरव, प्रभाव, श्रेष्ठता, अनिवार्यता, लाभ एवं उपलब्धियों आदि के सम्बन्ध में व्यापक चिन्तन किया है। ब्रह्मचर्य का महत्व तथा जीवन में उसकी अनिवार्य उपयोगिता समझने के बाद सहज ही जिज्ञासा होती है, कि ब्रह्मचर्य का अर्थ क्या है ? हम जिसकी इतनी गरिमा गाथा पढ़ रहे हैं उसका स्वरूप और लक्षण क्या है ? तथा किस प्रकार उसकी व्यापक साधना की जा सकती है। प्रस्तुत में इन्हीं प्रश्नों पर चिन्तन करना है।

एक बात निश्चित है कि ब्रह्मचर्य शब्द में जो अर्थ-गाम्भीर्य, अभिधा, लक्षणा एवं व्यंजना शक्ति तथा विचार सामर्थ्य एवं गहन अर्थ-पराक्रम निहित है, वह संस्कृत-भाषाशास्त्र के किसी अन्य शब्द में नहीं है। विश्व की समस्त भाषाओं के समान संस्कृत भाषा में भी एक शब्द के अनेक अर्थ होते हैं। किन्तु उन विभिन्न अर्थों का निरूपण कपोल कल्पित या अप्रासंगिक नहीं किया जा सकता।

संस्कृत भाषाशास्त्र के नियमानुसार किसी शब्द का अर्थ ग्रहण निम्नलिखित निमित्तों पर से होता है—(१) व्याकरण से (व्युत्पत्ति से), (२) उपमान से, (३) शब्द कोश से, (४) आप्तवचन से, (५) व्यवहार से, (६) वाक्य के शेष से, (७) विवरण से और (८) रूढ़ि से तथा (९) प्रसंगवश।

इस दृष्टि से ब्रह्मचर्य शब्द भी अपने में अनेक अर्थों को समाविष्ट किये हुए है। इस दृष्टि से हम ब्रह्मचर्य शब्द के विभिन्न अर्थों पर विचार करेंगे।

ब्रह्मचर्य के व्युत्पत्तिजन्य अर्थ

ब्रह्मचर्य में दो शब्द हैं—ब्रह्म और चर्य। पहले 'ब्रह्म' शब्द के अनेक अर्थों को समझ लें तो फिर पूरे 'ब्रह्मचर्य' शब्द के अर्थ समझ में आ जाएँगे। ब्रह्म के वैदिक, जैन और बौद्ध तीनों परम्पराओं में दो अर्थ विशेष प्रचलित हैं—आत्मा और परमात्मा।

ब्रह्म का तीसरा अर्थ, जो वैदिक परम्परा में विशेष प्रचलित है, वह है—अध्ययन (विद्याध्ययन) या वेद का अध्ययन।

ब्रह्म का चौथा व्युत्पत्त्यर्थ होता है—बृहद्, विराट या महान् ।

यहाँ प्रसंगवश 'ब्रह्म' के ये चार अर्थ अभिप्रेत हैं ।[1]

चर्य का अर्थ होता है—विचरण करना, रमण करना, चलना या गति करना, चर्या करना, अध्ययन करना या अनुष्ठान करना ।

इस प्रकार ब्रह्मचर्य का पूर्ण अर्थ हुआ—आत्मा में रमण करना, अथवा परमात्मा (परमात्म भाव) में विचरण करना, अथवा विद्याध्ययन या वेदाध्ययन में विचरण करना अथवा वेदाध्ययन का आचरणीय कर्म ब्रह्मचर्य है ।[2] अथवा बृहत् या महान में विचरण करना, विराट में रमण करना भी ब्रह्मचर्य है ।

ब्रह्मचर्य : आत्मा में विचरण

ब्रह्मचर्य का प्रथम अर्थ—ब्रह्म में विचरण करना है । ब्रह्म का एक अर्थ आत्मा है । इसलिए शुद्ध आत्मा में, आत्मभावों या स्वभाव या निजगुणों में रमण करना ब्रह्मचर्य है । इसी अर्थ को स्पष्ट करते हुए 'पद्मनन्दि पंचविंशतिका' में कहा गया है—'ब्रह्म शब्द का अर्थ निर्मल ज्ञान स्वरूप आत्मा है, उसमें लीन (तन्मय) होना ब्रह्मचर्य है । जिस मुनि का मन अपने शरीर के सम्बन्ध में निर्ममत्व हो चुका है, उसी के ब्रह्मचर्य होता है ।"

भगवती आराधना में बताया गया है कि "जीव ब्रह्म है, जीव ही में जो पर-देह-सेवन रहित चर्या होती है, उसे ब्रह्मचर्य समझो ।"[3]

यह निश्चय दृष्टि से ब्रह्मचर्य का स्वरूप बताया गया है । इसका तात्पर्य है, आत्मा को विकारी भावों से हटाकर शुद्ध परिणति में केन्द्रित करना । दूसरे शब्दों में कहें तो—जिस आचरण से आत्मचिन्तन हो, आत्मा अपने आप को पहचान सके और अपने स्वभाव में रमण कर सके, उस आचरण का नाम ब्रह्मचर्य है ।

अनादिकाल से जीव अपने स्वभाव को, अपनी शुद्ध परिणति को भूलकर पाँचों इन्द्रियों के विषय-कषाय, वेद—कामवासना, अब्रह्म या व्यभिचार आदि परभावों

---

१ (क) "वेदे तपसि सत्ये तत्त्वे यथार्थे तुरीये सर्वगुणातीते विशुद्धे चित्स्वरूपे च ।
हिरण्यगर्भे विप्रे ऋत्विग्विशेषे च ।" —कल्प०, २ अधि०, ८ क्षण

(ख) "ब्रह्म तत्त्वं तपो ज्ञानं ब्रह्म विप्रः प्रजापतिः ।" —आवश्यक ६ अ.

२ (क) 'ब्रह्मचारी ब्रह्मणि वेदात्मके अध्येतव्ये चरितुं शीलं यस्य सः ।
—अथर्व० ११/५/१

(ख) ब्रह्मवेदस्तदध्ययनार्थं आचरणीयं कर्म ब्रह्मचर्यम्—अथर्ववेद ११/५/१७सायण

३ (क) आत्मा ब्रह्म विविक्तबोधनिलयो यत्तत्र ब्रह्मचर्यं परः ।
स्वांगासंगविवर्जितैकमनसस्तद् ब्रह्मचर्यं मुनेः ॥ —प. पं. १२/२

(ख) जीवो बंभो, जीवम्मि चेव चरिया हविज्ज जा जदिणो ।
तं जाण बंभचेरं विमुक्कपरदेहतित्तिस्स ॥ —भ. आ. सू. ८७८

या विभावों में रमण करता आ रहा है परन्तु जब वह ब्रह्मचर्य को अपनाता है, तब उसकी इन्द्रियाँ, मन, वचन एवं शरीर, जो पहले विषय-कषायों की सेवा में रहते थे, वे अब एकमात्र आत्मा की सेवा में विचरण करने लगते हैं।

किन्तु इन्द्रियाँ, मन, वचन एवं शरीर आदि साधन आत्मा की सेवा में तभी रह सकते हैं, जब आत्मा अपने स्वरूप का चिन्तन करे, उसी में आनन्द माने, आत्म-हित में प्रवृत्ति करे, आत्मगुणों में दृढ़ रहे।

यद्यपि इन्द्रिय, मन, बुद्धि, वचन और तन का कार्य आत्मा की सेवा में रहना है, क्योंकि ये सब स्वाभाविक रूप से आत्मा के सहायक एवं सेवक हैं किन्तु क्षणिक वैषयिक सुख की अभिलाषा से अथवा क्रोधादि कषायों से प्रेरित होकर जब ये दुर्विषयों एवं कषायों की ओर दौड़ते हैं, तब वे आत्मा से विमुख हो जाते हैं। आत्मा इनके प्रभाव में आकर बुद्धि के अधीन हो जाए, बुद्धि मन की आज्ञानुवर्तिनी बन जाए और मन इन्द्रियों के बहकावे में आ जाए, तब आत्मा अपने स्वभाव से च्युत हो जाता है। ब्रह्मचर्य से अब्रह्म में चला जाता है। आत्मा अपना स्वरूप तभी जान सकता है, तभी स्व-स्वभाव में स्थिर रह सकता है, जब बुद्धि, मन, इन्द्रियों आदि के बहकावे में न आए। दूसरे शब्दों में यों कहा जा सकता है कि इन्द्रियाँ मन के, मन बुद्धि के और बुद्धि आत्मा के अधीन हो, आत्मा की आज्ञानुवर्ती हो एवं आत्मा की सहायिका हो, तभी आत्मा ब्रह्म में विचरण कर सकती है। इसी का नाम ब्रह्मचर्य है। अतः ब्रह्मचर्य के लिए आवश्यक है कि इन्द्रियाँ दुर्विषयों की ओर न दौड़ें, मन इन्द्रियों के साथ होकर विषय-कषायों का चिन्तन न करे या राग-द्वेषपूर्वक विचार न करे।

इसे स्पष्ट रूप से समझने के लिए यों कहा जा सकता है कि आँख, कान, नाक, जीभ और स्पर्शन (त्वचा) से पाँच इन्द्रियाँ हैं। रूप, शब्द, गन्ध, रस और और स्पर्श, यानी देखना, सुनना, सूँघना, चखना (स्वाद लेना) और छूना, ये क्रमशः पांच विषय हैं। वैशेषिक दर्शन में इन पांचों को ज्ञानेन्द्रिय कहा गया है। लेकिन ये सच्चे माने में ज्ञानेन्द्रियाँ तभी हो सकती हैं जब वे आत्मा को पदार्थों के यथार्थ रूप की सिर्फ जानकारी करा दें, उन-उन पदार्थों को देख, सुन या सूँघकर अथवा चखकर या छूकर वे मनोज्ञ विषयों में राग या मोह न करें तथा अमनोज्ञ विषयों के प्रति द्वेष या घृणा न लाएँ, यानी विषयों में लिप्त न हों, उनके भोग में सुख न मानें। ऐसा होने पर ही वे आत्मा का हित कर सकती हैं। इसी प्रकार मन भी अपने कर्तव्य में दृढ़ रहे, उससे भ्रष्ट होकर इन्द्रियों का अनुगामी न बने, न ही इन्द्रियों को दुर्विषयों की ओर जाने दे, तभी वह आत्मा का हित कर सकता है।

मन का कार्य इन्द्रियों को क्षणिक सुख देना या दुर्विषयों में भटकने देना ही नहीं, किन्तु आत्मा को अपने स्वरूप में रमण करने देना है, और इन्द्रियों को भी उन्हीं कार्यों में लगाना है जिनसे आत्मा अपने ज्ञान, दर्शन और वीर्य रूप निजगुण में स्थिर रह सके। आत्मा के द्वारा इन्द्रिय और मन पर विजय प्राप्त करके दुर्विषयों,

कषायों, राग-द्वेष आदि वैभाविक या परभावीय भावों से दूर रहकर स्वभाव (आत्मा के निजगुणों या निज स्वरूप) में रमण करना, विचरण करना ही वास्तविक ब्रह्मचर्य है।

ब्रह्मचर्य के इस व्यापक अर्थ के अनुसार आत्मा में रमण करने वाले व्यक्ति को, उन सब का त्याग करना अनिवार्य है, जिनसे आत्मा का अहित एवं आत्मगुणों का घात होना है, अथवा विषय, कषाय, हिंसा, असत्य, चोरी, कुशील एवं परिग्रह आदि आस्रवों, पर-भावों में रमण या विचरण होता है। अर्थात् जिनसे आत्मा का पतन होता है, आत्मा स्वभाव को छोड़कर विषय-वासनादि विभाव में जाती है, उन सबको छोड़ना आवश्यक है।

वस्तुतः ब्रह्मचर्य आत्मा का स्वभाव है, स्वधर्म है, स्वगुण है, निजरूप है। हिंसा, असत्य, चोरी, कुशील, परिग्रह आदि सब विभाव हैं, अहंत्व (देहभाव), ममत्व (देहादि के प्रति आसक्ति एवं अभिमान) आदि भी विभाव हैं, विकार हैं, परधर्म हैं, परभाव हैं। ब्रह्मचर्य में इन सब विभावों को छोड़कर अपने असली स्वरूप को, आत्मा की स्वाभाविक परिणति को पकड़ना है। ब्रह्मचर्य में आत्मा की चर्या (गमन) ब्रह्म (शुद्ध आत्मा) की ओर होती है, स्वभाव में स्थिरता होती है।

ब्रह्मचर्य और अहंचर्य का अन्तर भी समझ लेना चाहिए। ब्रह्मचर्य स्वभाव है, आत्मा की स्वपरिणति है, जबकि अहंचर्य (देहभाव में रमण) देहाध्यास, विभाव है, पर-परिणति है। ब्रह्मचर्य में चर्या (गमन) ब्रह्म—आत्मा की ओर होती है, जबकि अहंचर्य में चर्या (यानी गमन) शरीर और शरीर से सम्बन्धित पदार्थों या देहभाव की ओर होती है। ब्रह्मचर्य में बाहर से अन्दर की ओर आना होता है, जबकि अहंचर्य में आत्मा विकृत एवं व्यभिचारी होकर अन्दर से बाहर की ओर जाता है। अहंचर्य में मन और इन्द्रियों की दासता रहती है, जबकि ब्रह्मचर्य में मन और इन्द्रियों की वृत्ति पर आत्मा की प्रभुता रहती है।

ब्रह्मचर्य में विभावों और परभावों का बल घटाना या क्षीण करना एवं आत्मा का बल बढ़ाना होता है। अपनी परभावोन्मुखी उपयोगधारा को स्वभाव (निजगुण) की ओर मोड़ना, बहिर्दृष्टि को अन्तर्दृष्टि बनाना, तथा बहिर्पथ को अन्तर्पथ बना देना होता है। यानी ब्रह्मचर्य सही माने में तभी सिद्ध होता है, जब बहिर्जगत शून्य हो जाए और अन्तर्जगत् में ही एकमात्र तन्मयता हो। वैभाविक या परभावीय प्रवृत्तियाँ निःसार एवं निःस्वाद लगने लगें, उपयोग की धारा परपदार्थों या विभावों से हटकर स्वभाव में स्वगुण में स्थिर हो जाए।

इसीलिए ब्रह्मचर्य का सर्वप्रथम व्यापक अर्थ किया है—सच्चिदानन्द रूप शुद्ध निज आत्मा में रमण करना। यही ब्रह्म की उपासना है। पदार्थों में रमणता, पंचेन्द्रिय-सम्बन्धी विषय-वासना, या रागद्वेषादिजनक बाह्य भोग सामग्री को इष्टानिष्ट समझकर भोगने का प्रयत्न करना व्यभिचार है, अब्रह्माचरण है। इसी

अर्थ के सन्दर्भ में संत विनोबा ने कहा —"ब्रह्मचर्य का मतलब है—ब्रह्म की खोज में अपना जीवन क्रम रखना।"[1]

इसका फलितार्थ यही है कि जहाँ-जहाँ प्रवृत्ति की जाए, वहाँ पहले शुद्ध आत्मभाव की शोध या गवेषणा (छान-बीन) करके कदम रखना, ताकि ब्रह्मभाव को छोड़कर परभाव या विभाव में चरण न पड़ जाएँ।

महात्मा गांधी ने इसी मूल अर्थ का अनुसरण करते हुए लिखा था—"ब्रह्मचर्य के मूल अर्थ को सब याद रखें। ब्रह्मचर्य का अर्थ है—ब्रह्म की—सत्य की खोज में चर्या अर्थात् तत्सम्बन्धी आचार।[2] महात्मा गांधी की दृष्टि से सत्य में अहिंसा, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह आदि सभी व्रत आ जाते हैं। सत्य ही साध्य है, अहिंसादि उसके साधन। अतः सत्य की शोध में चर्या तभी सफल हो सकती है, जब उस सत्य के अंगभूत अहिंसा को साथ लेकर चलें। जैन दृष्टि से इसका तात्पर्य हुआ—अहिंसा आदि स्वभाव हैं, वे ही सत्य हैं, उनकी गवेषणा करते हुए चर्या (प्रवृत्ति) करना ब्रह्मचर्य है।

ब्रह्मचर्य : परमात्मभाव में रमण

ब्रह्मचर्य का दूसरा व्यापक अर्थ है—ब्रह्म, अर्थात्—परमात्मा में, अथवा परमात्मभाव में या परमात्मा की सेवा में रमण या विचरण करना।

ब्रह्मचर्य के इस अर्थ के अनुसार साधक को परमात्म-भाव में रमण के लिए आत्मा का पवित्र, निष्कलंक रागादि विकार रहित रहना आवश्यक है। आत्मा की पवित्रता एवं शुद्धता के लिए मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ एवं शरीर (अंगोपांगों सहित) को शुद्ध रखना आवश्यक है। तात्पर्य यह है कि आत्मा शुद्ध एवं पवित्र तभी रह सकती है, जबकि मन उसके अधीन रहे, वह दुर्विषयों, कषायों तथा कामवासना तथा हिंसादि में प्रवृत्त न हो, बुद्धि भी अब्रह्मचर्य या काम की ओर प्रवृत्त न होकर आत्मा की सेवा में रहे, तथा इन्द्रियाँ मन और बुद्धि के अधीन रहें, दुर्विषयों में न दौड़ें और एकमात्र आत्महित में प्रवृत्ति करें। परमात्मभाव का तात्पर्य है—राग-द्वेष-मोहरहित शुद्ध आत्मभाव। आत्मा परमात्मभाव में विचरण करने में तभी समर्थ हो सकती है, जब इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि उसे शक्तिशाली बनाएँ। बलवान् आत्मा ही परमात्मा के स्वरूप को जान सकता है।

परमात्मभाव में रमण-रूप ब्रह्मचर्य बहुत ही उच्च ध्येय वाला है। इतने उच्च ध्येय को प्राप्त करने के लिए काम-क्रोधादि क्षुद्र विकारों या विषय-वासनाओं

---

१ कार्यकर्तावर्ग (संत विनोबा) पृ० ३१-३२
२ मंगलप्रभात (महात्मा गांधी) पृ० १६-१७

को स्वेच्छा से दमन करना आवश्यक है। तभी ब्रह्मचर्य-साधक के जीवन में परमात्म-भाव की ज्योति प्राप्त हो सकेगी।

प्राचीन काल में ऐसी कई विख्यात महिलाएँ भारतवर्ष में हुई हैं, जिन्होंने ब्रह्मभाव में विचरण—रमण करने के लिए पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन किया था। विदुषी गार्गी के समक्ष अनेक सांसारिक प्रलोभन थे। याज्ञवल्क्य उसे सारी चल-अचल सम्पत्ति सौंपकर स्वयं ब्रह्म (परम शुद्ध आत्मा) में रमण, तथा उसी में तन्मय होने के लिए श्रवण-मनन-निदिध्यासन करना चाहते थे। परन्तु गार्गी ने समस्त सांसारिक प्रलोभनों को ठुकराकर परब्रह्म की खोज करके तथा परब्रह्म में तन्मय होने के लिए पूर्ण ब्रह्मचर्य व्रत अपना लिया था।[1]

महात्मा गांधी भी ब्रह्मचर्य के इसी अर्थ का समर्थन करते हैं—"ब्रह्मचर्य का वास्तविक अर्थ है—ब्रह्म की खोज करना। ब्रह्म सर्वत्र व्याप्त है। अतः ध्यान, धारणा और आत्मानुभव से उसे अपने अन्तःकरण में खोजना चाहिए।"[2]

महात्मा गांधी ने अन्यत्र कहा है—"ब्रह्मचर्य क्या है? वह जीवन की ऐसी चर्या है, जो हमें ब्रह्म—ईश्वर तक पहुँचाती है। इसमें जनन-क्रिया पर सम्पूर्ण संयम का समावेश हो जाता है। यह संयम मन, वचन और कर्म से होना चाहिए।"[3]

ऐसे परब्रह्म की खोज करने तथा उसमें तन्मय होने वाले स्त्री-पुरुषों के सम्बन्ध में महात्मा गांधी लिखते हैं—"ऐसे व्यक्ति (ब्रह्मचर्य का पूर्णतया पालन करने वाले स्त्री या पुरुष) परमेश्वर के निकट होते हैं। वे ईश्वरवत् होते हैं।"[4]

सूत्रकृतांगसूत्र[5] में भी अखण्ड ब्रह्मचर्य पालन करने वालों को संतीर्ण अर्थात्—सिद्ध-बुद्ध पुरुषों के समान कहा गया है। संत विनोबा ने ब्रह्मचर्य के इसी व्यापक अर्थ का समर्थन किया है—"ब्रह्म-प्राप्ति—यानी परमात्म दर्शन या आत्मानुभव प्राप्त करने के लिए अनुकूल चर्या यानी अनुष्ठान करने योग्य साधना।"[6]

वैदिकधर्म के विश्रुत विद्वान् श्री मंगलदेव शास्त्री ने ब्रह्मचर्य का अर्थ किया है—"समस्त पदार्थों का जो अक्षय, कूटस्थ, शाश्वत एवं दिव्य मूल कारण है, वह

---

१ ब्रह्मचर्य मार्गोपदेशिका पृ. ६३
२ आत्मसंयम (महात्मा गांधी) पृ. १७
३ Self-Restraint (M. K. Gandhi) V. Self Indulgence, P 165 से अनूदित
४ आत्मसंयम (गांधी जी) पृ. १७
५ जे विन्नवणाहिऽजोसिया संतिन्नेहिं समं वियाहिया। —सूत्रकृतांग २/३।२
६ अभंग व्रत विवेचन : ब्रह्मचर्य का सन्देश, पृ १५६

'ब्रह्म' है, अथवा ज्ञान-रूप वेद 'ब्रह्म' है। ऐसे 'ब्रह्म' की प्राप्ति के उद्देश्य से व्रत ग्रहण करना ब्रह्मचर्य है।"[1]

इस वैदिक विचारधारा के अनुसार ईश्वर (जगत्कर्त्ता) ब्रह्म है और जैन विचारधारा के अनुसार सिद्ध-बुद्ध-मुक्त परमात्मा ब्रह्म है। अथवा सिद्ध-बुद्ध-मुक्त दशा प्राप्त करने के इच्छुक पुरुषों का साध्य—'मोक्ष' ब्रह्म है।

प्रसिद्ध निर्युक्तिकार भद्रबाहु स्वामी ने आचारांग का विश्लेषण करते हुए लिखा है—"बारह अंगों में आचारांग प्रथम अंगशास्त्र है। उसमें मोक्ष के उपाय का विवेचन है। यह प्रवचन का सारभूत है।" तथा "आचरांग ही 'वेद' है, जो 'ब्रह्मचर्य' नामक नौ अध्ययनमय एवं अठारह हजार पदरूप है।"[2]

निर्युक्तिकार के अनुसार 'ब्रह्म' का फलितार्थ—'मोक्ष' है, चर्य का अर्थ है—उसके उपाय (हेतुभूत—सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रात्मक मार्ग) का आचरण करना। अर्थात्—आचारांग में वर्णित नौ ब्रह्मचर्यात्मक अध्ययनों के अनुसार मोक्ष-मार्ग का आचरण करना ब्रह्मचर्य है।

ब्रह्मचर्य : बृहत् में विचरण

ब्रह्मचर्य का तीसरा अर्थ है—बृहत् या महान् ध्येय या क्षेत्र में विचरण करना—रमण करना। अर्थात्—महानता में विचरण करना, महान् होना।

जब साधक किसी न किसी विशाल ध्येय या महान् क्षेत्र अथवा विराट परमात्मा में विचरण करने लगता है, तब स्वतः ही उसके तन, मन, वचन एवं इन्द्रिय आदि में क्षुद्र विचार, विकार या कामवासना, अथवा दुर्विषय आदि नहीं आएंगे। मन में उत्पन्न होने वाले काम, क्रोध, लोभ, मोह, मत्सर आदि विकार अथवा इन्द्रिय-विषयों की लालसा के विचार ही मनुष्य को क्षुद्रता या हीनता की ओर खींच ले जाते हैं। जब वह इनकी ओर ध्यान न देकर अपने विराट् ध्येय, परमात्मा या मोक्ष आदि की ओर ही ध्यान देगा, तब स्वतः ही वे विकार या दुर्विचार शान्त हो जाएंगे। प्रायः लोग छोटे-छोटे क्षेत्र में विचरते हैं। अपने आप को हर बात में छोटा और क्षुद्र बनाते हैं। अतः जब तक व्यक्ति क्षुद्र क्षेत्र में विचरण करता है, तब तक वह प्रत्येक स्थिति में अपने आप को क्षुद्र दीन-हीन मानकर विशाल क्षेत्र—महान ध्येय की ओर विचरण या गमन करने से कतराता है। ऐसी स्थिति में वह काम-क्रोधादि क्षुद्र विकारों या इन्द्रिय-विषयों में ही भटकता रहता है। अतः क्षुद्र या हीन सीमा

---

१ भारतीय संस्कृति का विकास (प्र. ख.) पृ. २२८ में देखिये—
"सर्वेषामपि भूतानां यत्तत्कारणमव्ययम्। कूटस्थं शाश्वतं दिव्यं, वेदो वा ज्ञानमेव यत्। तदेतदुभयं ब्रह्म, ब्रह्मशब्देन कथ्यते। तदुद्दिश्य व्रतं यस्य ब्रह्मचारी स उच्यते॥

२ आचारांग निर्युक्ति, गाथा ९, ११

को लांघकर पवित्र एवं महान जीवन की विराट्ता की ओर, या विशाल ध्येय की ओर बढ़ना, गति करना या उसमें रमण करना ही वस्तुतः 'ब्रह्मचर्य है।

जहाँ महान् या बृहत् ध्येय (मोक्षप्राप्ति, परमात्म-रमण या शुद्धात्मभाव-रमण) के रूप में ब्रह्मचर्य को अपनाया जाता है, वहाँ भी काम-क्रोधादि क्षुद्र विकारों या हीन दुर्विषयों का दमन-शमन करना एवं उनसे सावधान रहना आवश्यक होता है।

एक बात निश्चित है कि जब ब्रह्मचर्य के इस अर्थ के रूप में तन-मन में एवं जीवन में सर्वोच्च आदर्श प्रतिष्ठित हो जाता है, तब अपने आप विकारों, वासनाओं या दुर्वृत्तियों के पैर उखड़ने लगते हैं, उन क्षुद्र बातों की ओर उसका लक्ष्य ही नहीं जाता। फिर वह कलुषित जीवन का मैदान पार कर जाता है और पवित्रता एवं शुद्धता के अन्तिम सर्वातिशायी बिन्दु पर पहुँच जाता है। ब्रह्मचर्य के रूप में जीवन में इतनी ऊँचाई जब आ जाती है तो व्यक्ति तनकर खड़ा हो जाता है वह बुराइयों को ललकार कर खदेड़ देता है। अथवा उसे कामविकार, क्षुद्र दुर्विषयों या हीन दुर्विचारों के विषय में सोचने का ही अवकाश नहीं मिल पाता।

ऋषि दयानन्द सरस्वती एक बार कलकत्ता में अश्विनीकुमार दत्त के यहाँ ठहरे हुए थे। वार्तालाप के दौरान अश्विनीकुमार ने स्वामीजी से पूछा—"स्वामी जी! क्या आपको 'काम' नहीं सताता?"

स्वामी दयानन्दजी ने कहा—'मुझे 'काम' कैसे सता पाएगा? मैं तो निरन्तर विराट् परमात्मा के काम में लगा रहता हूँ। मेरे मन में तो क्या, स्वप्न में भी 'काम' की स्मृति नहीं होती।"

अश्विनीकुमार—"स्वामीजी! आश्चर्य होता है मुझे! क्या आपका शरीर हाड़-मांस का बना हुआ नहीं है?"

स्वामी दयानन्दजी ने कहा—"योगाभ्यास और परमात्म-भक्ति द्वारा जो अपने मन में से मलिन संस्कारों का नाश कर डालता है और बाकी का समय आत्म-चिन्तन एवं परोपकार में लगा देता है, उसे अक्षय आत्मानन्द से इतनी तृप्ति हो जाती है कि (क्षुद्र विषयानन्द की ओर) कामादि विकारों की ओर उसका लक्ष्य ही नहीं जाता।"[1]

यह है – विशाल ध्येय—परमात्मप्राप्ति या मोक्षप्राप्ति में रमण या विचरण (ब्रह्मचर्य) का परिणाम!

संत विनोबाजी ने ब्रह्मचर्य के इसी अर्थ पर विशेष जोर दिया है—"ब्रह्मचर्य शब्द का मतलब है—सबसे विशाल ध्येय—परमेश्वर का साक्षात्कार करना। उससे नीचे की बात नहीं कही है।"[2]

---

१ साधक साथी (डॉ. सोनेजी) पृ० ३५

२ कार्यकर्ता वर्ग (संत विनोबा) पृ० ३२

राष्ट्रसन्त कविरत्न उपाध्याय श्री अमरमुनिजी ने इसी अर्थ की पुष्टि की है—"क्षुद्र एवं हीन परिधि को छिन्न-भिन्न करके, पवित्र जीवन की विशालता और विराट्ता की ओर अग्रसर होना एवं अन्ततः उसमें रम जाना ही ब्रह्मचर्य शब्द का व्यापक अर्थ है।" उन्हीं के शब्दों में इसका व्यापक फलितार्थ है—"·····अपने शरीर की शक्ति बढ़ाना, अपनी वाणी की शक्ति बढ़ाना और अपने मन की मौलिक विशुद्ध संकल्प शक्ति का विकास करना; अर्थात्—भौतिक एवं आध्यात्मिक शक्तियों का सर्वोत्कृष्ट विकास करना।"[1]

ब्रह्मचर्य : विद्याऽध्ययन, गुरुकुलवास

ब्रह्मचर्य का चौथा अर्थ है—विद्याध्ययन करना या वेदाऽध्ययन करना। यह अर्थ वैदिक परम्परा में ही प्रसिद्ध है। विद्यार्थी के लिए ब्रह्मचर्य-पालन की अनिवार्यता वैदिक और जैन दोनों धर्मों को मान्य है। वैदिक धर्म की धारा में वेदाऽध्ययन के लिए आचरणीय कर्म जैसे कि समिधादान, भिक्षाचर्या एवं ऊर्ध्वरेतस्कत्व उपस्थ-संयम, इन्द्रियसंयम आदि को ब्रह्मचर्य कहा है।[2] वैसे ही जैन धर्म की धारा में **ग्रहणशिक्षा** (शास्त्राध्ययन एवं ज्ञानवृद्धि) तथा **आसेवनाशिक्षा** (व्रत-परिपालन, कषायजय, विनयधर्माचरण एवं स्वच्छन्दाचार से निवृत्ति) के लिए गुरुकुलवास (आचार्य, उपाध्याय या गीतार्थ गुरु की सेवा में रहने) को ब्रह्मचर्य कहा गया है। जैन शास्त्रों में गुरुकुलवास का मुख्य उद्देश्य गुरु-चरणों में रहकर नवदीक्षित साधक को स्वच्छन्दता से तथा पंचेन्द्रिय-विषयासक्ति एवं कषायों से अपने आपको रोकना है। इसलिए यहाँ ब्रह्मचर्य का अर्थ किया गया है—ब्रह्मा अर्थात् गुरु में चर्या अर्थात् तदनुकूल विचरण करना अथवा गुरु-चरणों में रहना।[3]

इस दृष्टि से यहाँ ब्रह्मचर्य का अर्थ—केवल विद्याध्ययन करना ही नहीं, शास्त्रानुकूल पंचमहाव्रत, कषायविजय, पाँच समिति, तीन गुप्ति, विनय, सर्वेन्द्रिय-संयम, मनोविजय आदि आचरण का प्रशिक्षण लेना भी है।

इस प्रकार गुरुकुलवास, ब्रह्मचर्य के प्रशिक्षण एवं अभ्यास का एक विशिष्ट कारण होने से उसे भी ब्रह्मचर्य कहा गया है। ब्रह्मचर्य में ब्रह्म का एक अर्थ सम्यग्ज्ञान

---

१ ब्रह्मचर्य-दर्शन, पृ० १३५-१३६

२ अथर्ववेद ११/५/१७ सायणभाष्य

३ (क) व्रतपरिपालनाय ज्ञानाभिवृद्धये कषायपरिपाकाय च गुरुकुलवासो ब्रह्मचर्यम् अस्वातन्त्र्यं गुर्वधीनत्वं गुरुनिर्देश स्थायित्वमित्यर्थं च।

—तत्वार्थभाष्य ९/६/१०

(ख) अस्वातन्त्र्यार्थं गुरौ ब्रह्मणिचर्यमिति। अथवा ब्रह्मा गुरुस्तस्मिंश्चरणं तदनुविधानमस्य अस्वातन्त्र्यप्रतिपत्त्यर्थं ब्रह्मचर्यमवतिष्ठते।

—तत्वार्थ राजवार्तिक ९/६/२३

भी है। इस दृष्टि से सम्यग्ज्ञानाचरण भी ब्रह्मचर्य है। अध्यात्म-विद्याऽध्ययन तथा सम्यग्ज्ञानाचरण में कोई विशेष अन्तर नहीं है।

गुरुकुल में रहकर विद्याऽध्ययन एवं तदनुकूल आचरणीय कर्म करने वाला अर्थात् शिक्षा-दीक्षा ग्रहण करने वाला व्यक्ति ब्रह्मचर्याचरण में परिपक्व एवं सुदृढ़ हो जाता है। प्रारम्भिक जीवन में प्रशिक्षित ब्रह्मचारी अपनी मर्यादा से जरा भी विचलित नहीं होता; भले ही उसके समक्ष बड़े से बड़ा प्रलोभन हो अथवा उसे ब्रह्मचर्य से च्युत करने के लिए भयभीत किया जाय, वह डिगता नहीं।

गुरुकुलवास में विद्याध्ययन से परिपक्व हुए ब्रह्मचर्य की दृढ़ता का ज्वलन्त उदाहरण कच और देवयानी के प्रसिद्ध कथानक में मिलता है।

ब्रह्मचर्य के विलक्षण अर्थ

पूर्वोक्त निर्वचनार्थों के अतिरिक्त ब्रह्मचर्य के कुछ और भी व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ सर्वार्थसिद्धि एवं धवला आदि ग्रन्थों में पाये जाते हैं। उनका उल्लेख करना अप्रासंगिक नहीं होगा।

सर्वार्थसिद्धि में ब्रह्मचर्य का निर्वचन इस प्रकार किया गया है—"जिसके पालन करने पर अहिंसादि गुण बढ़ते हैं, वह 'ब्रह्म' कहलाता है। ब्रह्म में विचरण करना ब्रह्मचर्य है।"[1]

ब्रह्मचर्य का पालन करने से अहिंसा आदि गुणों की वृद्धि कैसे होती है? इसके विपरीत अब्रह्मचर्य-सेवन से हिंसा, असत्य, चोरी, परिग्रह आदि पापों की तथा छल-प्रपंच, क्रूरता, अविनय, क्रोध, लोभ, कपट, मद आदि दुर्गुणों की कैसे वृद्धि हो जाती है? इसे हम पूर्वखण्ड में बता आये हैं। संक्षेप में, ब्रह्मचर्य के पालन से उस व्यक्ति के जीवन में दया, क्षमा, मानवता एवं मैत्री का विकास होता है, सत्य एवं निर्भयता आती है। लोभ, क्रोध, मोह, माया, मद, मत्सर आदि मन्द होकर सन्तोष, सरलता, आदि गुणों की वृद्धि होती है।

धवला में 'ब्रह्म' का अर्थ किया गया है—पंच-महाव्रत, पांच समिति एवं तीन गुप्ति रूप चारित्र; क्योंकि वह शान्ति, और (आत्म-गुणों की) पुष्टि का कारण है। उक्त ब्रह्म में रमण करना ब्रह्मचर्य है।[2]

सम्यक्चारित्र को प्रश्नव्याकरण सूत्र में भी पांच महाव्रत, पंच समिति, त्रिगुप्ति के रूप में ब्रह्मचर्य कहा गया है।

इस प्रकार ब्रह्मचर्य अनेक अर्थों में व्याप्त होकर विराट रूप धारण किये हुए है।

□□

---

१ "अहिंसादयोगुणा यस्मिन् परिपाल्यमाने बृंहन्ति वृद्धिमुपयन्ति तद् ब्रह्म"
—तत्वार्थ०सर्वार्थसिद्धि ७/१६/३५/४

२ "ब्रह्म चारित्रं पंच-व्रत-समिति गुप्त्यात्मकम् शान्ति पुष्टि-हेतुत्वात्।"
—धवला ६/४/१/२६/६४/२

२

इन्द्रिय-संयम : ब्रह्मचर्य का प्रथम प्रवेश द्वार

जननेन्द्रिय-संयम : ब्रह्मचर्य का एकांगी लक्षण

संसार के सभी धर्मों ने ब्रह्मचर्य व्रत की महत्ता एक स्वर से स्वीकार की है; किन्तु ब्रह्मचर्य का जितना व्यापक एवं गम्भीर अर्थ जैन धर्म ने किया है शायद ही उतना व्यापक अर्थ किसी अन्य धर्म ने किया हो; जिसे हम पिछले प्रकरण में बता आये हैं।

कई धर्मों ने तो अपने ग्रन्थों में ब्रह्मचर्य का बहुत ही स्थूल और संकीर्ण लक्षण किया है। उनकी दृष्टि में केवल जननेन्द्रियसंयम ही ब्रह्मचर्य है। योगदर्शन व्यासभाष्य में उपस्थसंयम (जननेन्द्रिय का दृढ़निग्रह) ही ब्रह्मचर्य का लक्षण बताया गया है।[1]

केवल जननेन्द्रियसंयम से ब्रह्मचर्य का यथार्थ रूप से पालन नहीं होता। परन्तु समाज में या स्थूल दृष्टि वाले लोगों में ऐसी मान्यता प्रचलित है कि उपस्थ-संयम (जननेन्द्रिय-संयम) होने से ही ब्रह्मचर्य-पालन हो गया। जननेन्द्रिय-संयम में ही ऐसे लोग ब्रह्मचर्य की इतिश्री मान लेते हैं। किन्तु यह ब्रह्मचर्य का एकांगी लक्षण है; क्योंकि कई लोग जननेन्द्रिय को तो नियंत्रण में रख लेते हैं, परन्तु स्पर्श, रूप, शब्द, गन्ध और रस, इन विषयों का खुलकर उपभोग करते हैं, इनमें से मनोज्ञ-विषयों पर उनकी आसक्ति भी गाढ़ हो जाती है। स्पर्श आदि अन्यान्य विषयों की छूट लेते रहते हैं। जैन दृष्टि से भी ब्रह्मचर्य का यह लक्षण एकांगी है, क्योंकि जैन दर्शन के अनुसार देवों में शारीरिक ब्रह्मचर्य-भंग प्रथम और द्वितीय देवलोक (सौधर्म और ईशान) तक ही है। वहाँ तक ही देवियाँ जाती हैं। आगे के दो-दो देवलोकों में क्रमशः स्पर्श करके, रूप देखकर, शब्द सुनकर, मन से चिन्तन करके ही ब्रह्मचर्य-भंग हो जाता है।[2] अगर जननेन्द्रिय संयम ही ब्रह्मचर्य का लक्षण माना जाएगा तो तीसरे से दसवें देवलोक तक के देवों में स्पर्श, रूप, शब्दादि विषयों से

---

१ उपस्थसंयमः ब्रह्मचर्यम् —योगदर्शन व्यासभाष्य

२ "काय प्रवीचारा आ ऐशानात्। शेषाः स्पर्श-रूप-शब्द-मनः प्रवीचारा द्वयोर्द्वयोः। परेऽप्रवीचाराः। —तत्त्वार्थ सूत्र अ. ४ सू० ८-९-१०

ब्रह्मचर्य-भंग नहीं मानना चाहिए; जबकि उनका भी ब्रह्मचर्य भंग होता है, यह एक सैद्धान्तिक सत्य है जिसको नकारा नहीं जा सकता।

महात्मा गांधी ने भी ब्रह्मचर्य के लक्षण के सम्बन्ध में कहा है—"जननेन्द्रिय-विकार के निरोध को ही ब्रह्मचर्य का पालन माना गया है। मेरी राय में यह अधूरी और खोटी व्याख्या है। विषयमात्र का निरोध ही ब्रह्मचर्य है। जो और इन्द्रियों को जहाँ-तहाँ भटकने देकर केवल एक ही इन्द्रिय को रोकने का प्रयत्न करता है, वह निष्फल प्रयत्न करता है, इसमें शक ही क्या? कान से विकार की बातें सुनना, आँख से विकार उत्पन्न करने वाली वस्तु देखना, जीभ से विकारोत्तेजक वस्तु चखना, हाथ से विकारों को भड़काने वाली चीज को छूना और साथ ही जननेन्द्रियों को रोकने का प्रयत्न करना, यह तो आग में हाथ डालकर जलने से बचने का प्रयत्न करने के समान हुआ। इसलिए जो जननेन्द्रिय को रोकने का प्रयत्न करे, उसे पहले ही प्रत्येक इन्द्रिय को उसके विकारों से रोकने का निश्चय कर ही लेना चाहिए।''' मैंने सदा से यह अनुभव किया है कि ब्रह्मचर्य की इस संकुचित व्याख्या से नुकसान पहुँचा है।"[1]

संत विनोबाजी भी इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए कहते हैं—"यदि अन्य सब इन्द्रियों को निरंकुश छोड़ देते हैं और केवल जननेन्द्रिय का निरोध करना चाहते हैं, तो यह सधने वाला नहीं है, क्योंकि जननेन्द्रिय-संयम अन्य इन्द्रियों के संयम पर अवलम्बित है।'''सब इन्द्रियों के संयमन की ओर ध्यान न देकर केवल जननेन्द्रिय का निरोध करने का प्रयत्न विफल होगा।'''कोई भी अकेली इन्द्रिय स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं रखती। यद्यपि अपने-अपने विषय-ग्रहण के लिए प्रत्येक इन्द्रिय स्वतन्त्र है, फिर भी प्रत्येक को दूसरी का सहकार चाहिए। इस दृष्टि से सब इन्द्रियों में अद्वैत है, यह देह की विशेषता है। देह कमजोर हुई तो इन्द्रियाँ भी शिथिल हो जाती हैं, कार्यक्षम नहीं रहतीं।

'''सामान्यतया ब्रह्मचर्य का अर्थ—जननेन्द्रियसंयम लिया जाता है, यही विचारदोष है। अर्थ सीमित कर लिया, इसलिए प्रयत्न भी एकांगी होने लगा और फलतः इसकी साधना भी कठिन होने लगी।'''जननेन्द्रिय-संयम का (लक्षणा से) अर्थ होता है—विकार से मुक्त होने का प्रयत्न। (किन्तु) उसका बाह्य परिणाम उस इन्द्रिय का बाह्य निग्रह है। अतः जननेन्द्रिय संयम के लिए—यानी विकारमुक्ति के लिए अन्य सभी इन्द्रियों का संयम अत्यन्त आवश्यक है। इसमें जननेन्द्रियसंयम तो केन्द्र स्थान में रहेगा ही।"[2]

निष्कर्ष यह है कि सब इन्द्रियों को समग्र रूप में वश में करने का अभ्यास

---

१ आत्मसंयम (महात्मा गांधी), पृ. २८-२९

२ अभंगव्रत विवेचन, पृ. १४६, १४८, १४९

किया जाए तो जननेन्द्रिय को वश में करने का प्रयत्न शीघ्र ही सफल हो सकता है। और तब स्थूल दृष्टि वाले लोगों के द्वारा मान्य इस (जननेन्द्रिय संयम) अर्थ में भी ब्रह्मचर्य पालन में कठिनाई नहीं होगी।

भगवद्गीता के द्वितीय अध्याय में सर्वेन्द्रियसंयम का गौरव बताया गया है।[1]

पूर्ण ब्रह्मचर्य : सर्वेन्द्रियसंयम

वास्तव में पूर्ण ब्रह्मचर्य का व्यावहारिक लक्षण है—सर्वेन्द्रिय-संयम। समस्त इन्द्रियों पर अंकुश रखना, उन्हें विषय-भोगों में आसक्तिपूर्वक प्रवृत्त न होने देना पूर्ण ब्रह्मचर्य है।

कोई व्यक्ति ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहे, किन्तु सभी इन्द्रियों के द्वार खुले रखे तो क्या उसके संयम सधेगा ? यदि किसी के घर का द्वार खुला रहे, और उस पर निगरानी न रखी जाए तो किसी भी समय चोर घर में घुसकर चोरी कर सकते हैं। इसी प्रकार इन्द्रियों को अनियंत्रित रखकर छूट दे देने से वे आत्मा की निर्विकारता को नष्ट कर देंगी। आत्मा का स्वभाव विकार नहीं, निर्विकारता है। यदि कोई लखपति भीख माँगने चले तो वह मूर्ख ही कहा जाएगा; इसी प्रकार कोई सम्भ्रान्त व्यक्ति अपने आत्म-स्वरूप को भूलकर, अर्थात्—स्वयं को देहरूप समझ कर इन्द्रियों का गुलाम बनकर भागता फिरे, तो वह भी मूर्ख और विवेकहीन कहलाएगा।

यदि कोई व्यक्ति सारी इन्द्रियों को निरंकुश छूट दे दे, और कहे कि मैं ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहता हूँ, उसका व्रत ले लिया, पालन करने का निश्चय कर लिया है, तो यह शुभ संकल्प कैसे पार पड़ेगा ? कैसे यह मंगल अभिलाषा पूर्ण होगी ? क्योंकि वह बनना चाहता है—निर्विकार और मार्ग पकड़े विकारों का तो मंजिल पर कैसे पहुँच सकेगा ?

एक दृष्टान्त द्वारा इसे समझिए—कोई व्यक्ति शरीर को तो आग में झोंक दे और यह शुभ चाह रखे कि वह जले नहीं, तो यह अभिलाषा शुभ होने पर भी पूर्ण नहीं हो सकेगी। इसी प्रकार स्वच्छन्दतारूपी अग्नि में ब्रह्मचर्य की आहुति दे डाले तो वह नष्ट हुए बिना नहीं रहेगा।

इसीलिए कहा गया है—

जीयतां दुर्जया देहे, रिपवश्चक्षुरादयः।
जितेषु तेषु लोकोऽयं, ननु कृत्स्नःस्वया जितः॥

अर्थात्—इस शरीर में चक्षु आदि इन्द्रियाँ दुर्जय शत्रु हैं। इन्हें जीत लेने पर अवश्य समग्र लोक तुमने जीत लिया।

---

१ भगवद्गीता अ. २, श्लोक ५८, ६०,६१

अतः ब्रह्मचर्य-पालन का निश्चय किया है तो सर्वेन्द्रियसंयम का निरन्तर ध्यान रखना आवश्यक है। यदि एक भी इन्द्रिय ढीली छोड़ दी जाएगी तो ब्रह्मचर्य मिथ्या सिद्ध होगा। ब्रह्मचर्य एक जलपूर्ण कलश के समान है, यदि एक भी इन्द्रिय का असंयम हुआ तो ब्रह्मचर्य का कलश खंडित होकर धीरे-धीरे खाली हो जाएगा, वह काम का नहीं रहेगा। ब्रह्मचर्यरूपी घट में एक भी छेद होगा तो उसमें पानी (संयम-जल) टिकेगा नहीं, रिसते-रिसते खाली हो जाएगा उसमें पानी नहीं टिक सकेगा। महाभारत में भी इसी तथ्य का समर्थन किया है।[1] इसलिए सर्वेन्द्रियसंयम पूरी तरह रखना ही ब्रह्मचर्य के लिए आवश्यक है।

एक साथ नियंत्रित करने का प्रयत्न आवश्यक

दूसरी बात—सब इन्द्रियों को एक साथ नियंत्रित करने और जीतने का प्रयत्न करना चाहिए। उन्हें एक-एक करके जीतने की कोशिश की जाएगी, तो सफलता नहीं मिलेगी। इनमें से कौन-सी इन्द्रिय प्रबल है, कौन-सी निर्बल ? सभी इन्द्रियों का आकर्षण प्रबल और सूक्ष्म है। इसकी खरी परीक्षा तो तब होती है जब कुछ समय के लिए व्यक्ति स्वयं एकाकी रहकर एकान्त-सेवन करे, स्वात्म-निरीक्षण करे। अतः सर्वेन्द्रियसंयम में क्रम का कोई मतलब नहीं है, क्योंकि इन्द्रियों को स्थूल-सूक्ष्म भेद से या कठिन-सरल-भेद से या अन्य किसी प्रकार से हम विभाजित नहीं कर सकते। सभी इन्द्रियाँ समान रूप से कठिन भी हैं, सूक्ष्म भी। वैसे ऊपर-ऊपर से ऐसा लगता है कि अमुक इन्द्रिय को जीतना, अमुक इन्द्रिय की अपेक्षा आसान है, किन्तु अकेली उसी इन्द्रिय को जीतने का प्रयत्न करने पर पता चलेगा कि उसे जीतना कितनी टेढ़ी खीर है। अतः सभी इन्द्रियों पर संयम करने या विजय पाने का यही उपाय है कि एक साथ सभी इन्द्रियों को जीतने का प्रयत्न करें।

जैसे किसी शत्रु को जीतना होता है तो योद्धा लोग एक साथ चारों ओर से आक्रमण करते हैं। इसी प्रकार यहाँ भी अब्रह्मचर्य या कामरूपी मोक्षविरोधी शत्रु है। जैसे कि गीता में कहा गया है—

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ !
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं, ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥[2]

अर्थात्—इसलिए हे भरतश्रेष्ठ अर्जुन ! सर्वप्रथम तू इन्द्रियों पर संयम करके इस ज्ञान-विज्ञान के नाशक पापी काम को नष्ट कर।

कामरूपी शत्रु को जीतना आसान नहीं है। समस्त वासनाओं में कामवासना

---

१ **पंचेन्द्रियस्य मर्त्यस्य छिद्रं चेदकमिन्द्रियम्।**
ततोस्य स्रवति प्रज्ञा, हृतेः पात्रादिवोदकम् ॥ —महाभारत

२ भगवद्गीता, अ. ३ श्लो. ४१

विशेष प्रबल है। उसे जीतने के लिए सभी इन्द्रियों पर एक साथ नियंत्रण करना आवश्यक है। अन्यथा, सिर्फ एक इन्द्रिय को वश में कर लेने मात्र से कामशत्रु जीता नहीं जा सकेगा।

स्थूलभद्र एक दिन कोशा वेश्या के रूप, रंग, हाव-भाव में आकण्ठ आसक्त थे, पाँचों ही इन्द्रियों के विषयों में गृद्ध होने से काम से पराजित थे। पिता-माता, भाई-बहनों आदि ने बहुत चाहा कि वह कोशा के चंगुल से छूटकर सद्गृहस्थ का जीवन बिताए, महामात्यपद को संभाले, किन्तु उसने एक न सुनी। पिता शकडाल महामंत्री की मृत्यु होने के बाद जनता का कोलाहल सुनकर वह कोशा के महल से उतर कर बाहर आया। पिता के मृत शरीर को देखकर उसे संसार से विरक्ति हो गई। पंचेन्द्रिय के विषयभोगों का त्यागकर गुरुचरणों में पहुँचकर उसने भागवती दीक्षा अंगीकार कर ली। अतिदुष्कर ब्रह्मचर्य महाव्रत की साधना प्रारम्भ की। पांचों इन्द्रियों और मन पर नियंत्रण करने का अभ्यास किया। कुछ ही वर्षों में वे अखण्ड ब्रह्मचर्य की साधना में इतने परिपक्व एवं सुदृढ़ हो गये कि कोई भी शक्ति अब उन्हें ब्रह्मचर्य से जरा भी विचलित नहीं कर सकती थी। ब्रह्मचर्य उनके रोम-रोम में रम गया था।

इनके दूसरे गुरु भाइयों ने सिंह की गुफा, सर्प की बांबी और कुंए की जगती पर चातुर्मास व्यतीत करने का कठोर संकल्प किया, तो स्थूलभद्रमुनि ने भी अपने पूर्ण ब्रह्मचर्य की परीक्षा देने के लिए अपनी भूतपूर्व हृदयेश्वरी रूपराशि कोशा गणिका की चित्रशाला में चातुर्मास बिताने का संकल्प किया और गुरुदेव से आज्ञा लेकर कोशा के यहाँ पहुँच गये। उसकी चित्रशाला में चातुर्मास बिताने का संकल्प मुनि स्थूलिभद्र के मुख से सुनते ही कोशा का रोम-रोम हर्ष से खिल उठा। कोशा ने कामोत्तेजना करने हेतु पांचों ही इन्द्रियों का मादक वातावरण प्रस्तुत कर दिया। नृत्य, गीत, वाद्य, मादक सौरभ, सुकोमल गुदगुदाने वाले गद्दे तकियों, हाव-भाव, वैभव विलास, कटाक्ष आदि से चित्रशाला का वातावरण काम के सभी अंगों से परिपूर्ण कर दिया। साधारण व्यक्ति तो शीघ्र काम से पराजित हो जाता, पंचेन्द्रिय विषयों में आसक्त होकर ब्रह्मचर्य से स्खलित हो जाता, किन्तु कामविजेता मुनि स्थूलभद्र ने सभी इन्द्रियों और मन को अपनी मुट्ठी में कर रखा था। उन्होंने कोशा के द्वारा चार मास तक किये गये ब्रह्मचर्य से विचलित करने के तमाम कामोत्तेजक प्रयत्नों को निष्फल कर दिया। अगर स्थूलभद्र एकमात्र जननेन्द्रिय या स्पर्शेन्द्रिय पर ही संयम रखते और अन्य इन्द्रियों को खुली छोड़ देते तो कभी के काम से पराजित और ब्रह्मचर्य से स्खलित हो जाते, काम उन्हें पछाड़ देता और अन्त में जननेन्द्रिय या स्पर्शेन्द्रिय भी उनके वश में न रहती। किन्तु मुनि स्थूलभद्र के समक्ष ब्रह्मचर्य-भंग के इतने प्रबल निमित्त होते हुए भी वे ब्रह्मचर्य महाव्रत पर स्थिर रह सके, इसका मुख्य कारण था—पांचों इन्द्रियों और मन पर एक साथ नियंत्रण, जिसका उन्हें परिपक्व अभ्यास था।

समस्त-इन्द्रिय-संयम की आवश्यकता

अतः यह निश्चित है कि ब्रह्मचर्य-पालन सच्चे माने में तभी सम्भव है, जबकि समग्र इन्द्रियों पर सब ओर से पूर्ण संयम हो। जैन दर्शन में पांच ज्ञान-इन्द्रियाँ ही मानी गई हैं, जबकि अन्य दर्शनों में पाँच कर्मेन्द्रियाँ (वाक्, पाणि, पाद, पायु—मलद्वार और उपस्थ—जननेन्द्रिय) भी मानी गई हैं।

पांच ज्ञानेन्द्रियाँ विषयों का ज्ञान प्राप्त करती हैं। आँख से भला-बुरा देखना, कान से कोमल-कठोर शब्द सुनना, नाक से सुगन्ध-दुर्गन्ध सूंघना, जिह्वा से खाद्य-अखाद्य का स्वाद चखना, त्वचा (स्पर्शेन्द्रिय) से कोमलता-कठोरता आदि स्पर्शों का अनुभव करना।

इन्द्रियसंयम का अर्थ है—ये इन्द्रियाँ जब भी विषयों की ओर दौड़ें, तब उन्हें सावधानी से सम्भाला जाये और उनकी शक्ति को बर्बाद होने से रोका जाए, ताकि आत्मा की विकास यात्रा पूर्ण हो।

आत्मा की विकास यात्रा के लिए इन्द्रियाँ उपयोगी ही नहीं, आवश्यक भी हैं। वस्तुतः इन्द्रियाँ आत्मा की सुविधाजनक विकास यात्रा के लिए सहायक उपकरण हैं। ये आत्मा के उपकरण (औजार) हैं, सेवक हैं। इनके सहयोग से आत्मा अपनी आवश्यकताएँ पूर्ण करता है, सुख-शान्ति पाता है। किन्तु जब ये अधोमुखी होकर स्वच्छन्दरूप से अपने-अपने विषय में प्रवृत्त हो जाती हैं, तब वे आत्मा के नियन्त्रण में नहीं रहती। तब वे आत्मा की सेवा करने के बदले आत्मा का अहित ही करती हैं। इसीलिए इन्द्रियों को नियंत्रण में रखने की आवश्यकता पड़ती है। और इन्द्रियों पर नियंत्रण रखने के लिए आवश्यक है कि उन्हें अपने-अपने विषयों में स्वच्छन्दता से प्रवृत्त होने से रोका जाए, बहिर्मुखी से अन्तर्मुखी बनाया जाए। अर्थात्—इन्द्रियों की शक्तियों का संयम किया जाए, उनके अनावश्यक अपव्यय को रोका जाए। इन्द्रियाँ ऊर्ध्वगामी होती हैं, तो जीव को उत्कर्ष और आनन्द प्राप्त कराती हैं। जीवन का मधुर रस चखता हुआ मनुष्य अपने जन्म को सफल बना सकता है। परन्तु यदि ये ही इन्द्रियाँ अधोगामी एवं अनियंत्रित होकर दुर्विषयों में भटकती हैं तो उसके लिए पतन एवं विनाश की कारण बन जाती हैं। मनुस्मृति में तथा कठोपनिषद् में इन्द्रिय-नियंत्रण का उपाय बताते हुए कहा गया है—

"जिस प्रकार उच्छृंखल भागते हुए घोड़ों को कुशल सारथी अपने नियंत्रण में कर लेता है, उसी प्रकार विद्वान साधक विषयरूपी महाशत्रु में विचरण करती हुई इन्द्रियों रूपी अश्वों को यत्नपूर्वक संयम (नियंत्रण) में करें।"[1]

---

१ इन्द्रियाणां विचरतां विषये तु महारिपौ।
संयमे यत्नमातिष्ठेद् विद्वान् यन्तेव वाजिनाम् ॥ — मनुस्मृति

"इस शरीर को एक रथ समझो। इस पर आरूढ़ होने वाला रथी आत्मा को समझो। जीवात्मा को यह वाहन मोक्ष प्राप्त करने के लिए मिला है। इन्द्रियाँ इस रथ के घोड़े हैं। मन इन घोड़ों को नियंत्रण में रखने वाली लगाम है।"[1]

इन्द्रियों के घोड़े विषयों की सड़क (गोचरभूमि) में चलते हुए मुक्ति यात्रा की ओर बढ़ते हैं, बशर्ते कि इस वाहन (रथ) पर सारथी मनुष्य की बुद्धि और उसका विवेक है। यदि वह सजग है तो (आत्मा और मन से युक्त होने से) इन्द्रियाँ विषयों में नहीं भटककर कुशलतापूर्वक अपने स्वामी (आत्मा) को परमात्मा के समीप पहुँचा देती हैं।

आत्मा की विकास यात्रा के लिए इन्द्रियों का उपयोग बुरा नहीं है, पाँचों इन्द्रियों का अपने-अपने विषय में प्रवृत्त होना स्वाभाविक है, आवश्यक भी; बशर्ते कि वे क्षुद्र दुर्विषयों या विकारों में लिप्त एवं आसक्त न हों। कोई भी इन्द्रिय हो, उसके उपयोग की एक सीमा निर्धारित है।

उस सीमा में उसका यथार्थ उपयोग किया जा सकता है। परन्तु यदि उसका अतिक्रमण किया जाएगा तो रोग, शोक एवं दुःख घेर लेंगे। उपकारी इन्द्रियाँ ही तब बन्धन का कारण बन जायेंगी। इसीलिए इन्द्रियनिग्रह के लिए आत्म-संयम की बड़ी आवश्यकता है।

इन्द्रियनिग्रह : राग-द्वेष के रूप में

जैनशास्त्र आचारांग में तथा गीता[2] में निर्देश किया गया है कि प्रत्येक इन्द्रिय के विषय का उपयोग करने से इन्द्रिय रुक नहीं सकती। श्रोत्रेन्द्रिय के कर्णगोचर हुए शुभाशुभ शब्दों को न सुनना, चक्षुरिन्द्रिय के दृष्टिगोचर हुए शुभाशुभ रूपों को न देखना, घ्राणेन्द्रिय के सम्पर्क में आए हुए सुगन्ध और दुर्गन्ध का न सूंघना, रसेन्द्रिय के विषयगोचर हुए शुभाशुभ स्वाद का न चखना, तथा स्पर्शेन्द्रिय के द्वारा शीत, उष्ण, रूक्ष-स्निग्ध, कठोर, कोमल आदि स्पर्शों का अनुभव न होना

---

१ (क) आत्मानं रथिनं विद्धि, शरीरं रथमेव तु।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि, मनः प्रग्रहमेव च॥ —कठोपनिषद् अ. १ वल्ली. ३

२ (क) न सक्का न सोउं सद्दा सोतविसयमागता।
राग दोसा उ जे तत्थ, ते भिक्खू परिवज्जए॥
न सक्का रूवमदट्ठुं, चक्खु विसयमागया। रागदोसा उ जे तत्थ०....।।
न सक्का गंधमग्घाउं, नासा-विसमागयं। रागदोसा उ जे तत्थ....॥
न सक्का रसमस्साउं जीहा विसयमागयं। रागदोसा उ जे तत्थ....।।
न सक्का फासमवेएउं, फासविसयमागयं॥ रागदोसाउ जे तत्थ....।।
—आचारांग २ श्रु ३ चू०

(ख) इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे, रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत् तौ ह्यस्य परिपंथिनौ॥ —गीता अ० ३, श्लो० ३४

शक्य नहीं है; शक्य है उनके साथ लगे हुए या मन में उत्पन्न होने वाले राग-द्वेष के विकल्पों का रोकना। उन्हीं का ब्रह्मचारी भिक्षु त्याग करे।

प्रत्येक इन्द्रिय के अर्थ (विषय) के साथ राग-द्वेष लगे हुए हैं, उन दोनों के वशीभूत न हो, क्योंकि राग और द्वेष ये दो ही जितेन्द्रियता के शत्रु हैं।

इन्द्रियों का सदुपयोग ही सर्वेन्द्रियसंयम का सर्वोत्तम उपाय

इन्द्रियों की प्रबलता आत्म-कल्याण के मार्ग में प्रमुख शत्रु मानी गई है। इन्द्रियों से प्राप्त होने वाले सुखों के प्रति राग और द्वेष मिलकर मनुष्य को दिग्भ्रान्त करते रहते हैं। यही कारण है कि जीवन की नश्वरता को स्वीकार करते हुए भी वह आत्मा के उद्धार की बात नहीं सोच पाता। मन में चंचलता और अन्तर् में मलिनता हो तो आत्म-ज्ञान या आत्मा के उद्धार का विचार संभव नहीं है। और मानसिक चंचलता एवं आन्तरिक मलिनता का उदय इन्द्रियों के असंयम से होता है अतः इन्द्रियों के असंयम से बचना चाहिए। जो इन्द्रियाँ आत्मविकास में रुकावट डालने वाली मानी जाती हैं, वे ही इन्द्रियाँ आत्म-कल्याण की कारण हो सकती हैं, बशर्ते कि उनका सदुपयोग हो।

जब तक इनका उपयोग बाह्य जीवन के सुखोपभोग में किया जाता है, तभी तक वे शत्रु हैं किन्तु जैसे ही इन्हें आत्म-ज्ञान व आत्म-विकास की ओर मोड़ देते हैं, तब इनके सत्परिणाम भी दिखाई पड़ने लगते हैं। परेशानी तभी तक रहती है, जब तक इन्द्रियाँ अपने अर्थों में पूर्ण स्वच्छन्द होती हैं, बहिर्मुखी रहती हैं। किन्तु यदि इनका सदुपयोग करने लगें तो इन्हीं से महत्त्वपूर्ण आध्यात्मिक लाभ प्राप्त कर सकते हैं।

अतः आवश्यकता है, इनकी स्वच्छन्द विचरण की बहुमुखी प्रवृत्ति पर अंकुश रखने की। किसी घोड़े को बेलगाम छोड़ देने पर वह अपने सवार को गड्ढे में गिरा देगा। सवार की सुरक्षा इसी में है कि घोड़े के नियंत्रण को ढीला न छोड़े। यही बात इन्द्रियों के विषय में है। इन्हें स्वच्छन्द छोड़ना अपने संयम की सुरक्षा के लिए खतरा है। विश्व-व्यापी आध्यात्मिक विज्ञान को समझने के लिए इन्द्रियों के विषय-विकारों से दूर रहना आवश्यक है। विषयासक्त मानव आध्यात्मिक विज्ञान के के समुख नहीं हो सकता। उसकी सारी चेष्टाएँ इन्हीं कुत्सित, घृणित, अदूरदर्शी, सुखोपभोग के आस-पास ही चक्कर लगाया करती हैं। गोस्वामी तुलसीदासजी ने सच ही कहा है—

इन्द्रियद्वार झरोखा नाना, तहँ तहँ सुर बैठे करि थाना।
आवत देखहि विषय बयारी, ते हठ देहि कपाट उघारी॥
जब सो प्रभंजन उर गृह जाई, तबहिं दीप विज्ञान बुझाई।
इन्द्रिय सुरन्ह न ज्ञान सोहाई, विषय भोग पर प्रीति सदाई॥

तात्पर्य यह है कि अनियंत्रित इन्द्रियाँ बलात् अपने विषयों की ओर खींच ले जाती हैं। ज्ञान-विज्ञान की बातें एक ओर धरी रह जाती हैं। जब कभी अनुकूल परिस्थिति बन जाती है तो इनमें प्रबल उत्तेजना उठे बिना नहीं रह जाती। ऐसी स्थिति में सारी विचार-शक्ति लड़खड़ा जाती है। मनुष्य एक आवेश के साथ दुर्विषयों-दुष्कर्मों की ओर बलात् खिचा चला जाता है। ऐसी परिस्थिति विचारों की शक्ति क्षीण होने पर उपस्थित होती है। अतः सर्वेन्द्रियसंयम के विचार को एक संकल्प का रूप देना चाहिए। अत्यन्त सूक्ष्मता और चतुराई से देखते रहना चाहिए कि इन्द्रियाँ कहीं स्वेच्छा से अपनी ओर तो हमें नहीं घसीट रही है?

मनुष्य की इन्द्रियाँ रात-दिन उसे अपनी ओर खींचती रहती हैं। जीभ चाहती है कि तरह-तरह के मिष्ठान और स्वादिष्ट व्यञ्जन खाने को मिलें। आँखें सुन्दर दृश्य देखते के लिए लालायित रहती हैं, कान सदैव मधुर संगीत के स्वर सुनने को आतुर रहते हैं। नाक सदैव सुगन्धित पदार्थों को सूँघने के लिए उत्सुक रहती है, और स्पर्शेन्द्रिय सदा कोमल, स्निग्ध स्पर्शों का उपभोग करने के लिए तत्पर रहती है। इन्द्रियों और मन के विषय भी असीम हैं। इनसे मनुष्य की कभी तृप्ति नहीं होती। परन्तु ब्रह्मचर्यनिष्ठ व्यक्ति इन इन्द्रिय-विषयों में सुख नहीं देखता, वह इन्द्रियों की लोलुपता का शीघ्र दमन करता है। अपनी आन्तरिक निर्मलता बनाये रखकर विवेक और विचार से उन्हें नियंत्रण में रखता है। इस प्रकार इन्द्रियों पर संयम करना ही ब्रह्मचर्य का प्राण है।

इन्द्रिय-विषयासक्ति से सर्वनाश

आचार्य हेमचन्द्र ने इन्द्रिय-विषयों में आसक्त होने वाले जीवों की दुर्दशा का वर्णन करते हुए लिखा है—"हथिनी के स्पर्श-सुख में आसक्त हाथी शीघ्र ही गड्ढे में पड़कर बन्धन को प्राप्त हो जाता है। अगाध जल में संचार करने वाली मछली जाल में लगे हुए लोहे के काँटे पर संलग्न मांस की गोली को खाने के लिए ज्यों ही झपटती है त्यों ही वह मच्छीमार के चंगुल में फँस जाती है। गन्ध में आसक्त भौंरा मदोन्मत्त हाथी के कपोल पर बैठता है किन्तु उसके कान की फटकार से शीघ्र ही मरण-शरण हो जाता है। चमकती हुई दीपक की लौ पर मुग्ध होकर पतंगा ज्यों ही दीपक पर गिरता है, त्यों ही वह कराल काल का ग्रास बन जाता है। इसी प्रकार संगीत की मधुर स्वर लहरी सुनकर हरिण भान भूल कर दौड़ा आता है, उसे अपने पीछे आता हुआ शिकारी नजर नहीं आता। वह शीघ्र ही उसके बाणों से विंध जाता है। इस प्रकार पाँचों इन्द्रियों में से जब एक-एक इन्द्रिय का विषय-सेवन मृत्यु का कारण होता है, तब एक साथ पांचों इन्द्रियों का विषय-सेवन सर्वनाश का कारण क्यों नहीं होगा?[1] इसीलिए ब्रह्मचर्य पांचों इन्द्रियों की विषयासक्ति

---

१ कुरंग मातंग पतंग भृंगाः मीना हताः पंचभिरेव पंच।
एकः प्रमादी स कथं न हन्यते यः सेवते पंचभिरेव पंच॥

का त्याग करने से ही चरितार्थ हो सकता है । इस विचार को गहराई तक अपने अन्तःकरण में प्रविष्ट कर लेने पर और निरन्तर चिन्तन-मनन करते रहने से विषय-भोगों के दुर्भाग्यपूर्ण कुपरिणाम दिखाई दे जाते हैं। धीरे-धीरे इनसे विरक्ति होने लगती है, फिर आसक्ति बिलकुल नहीं रह जाती।

इन्द्रियनिग्रह कामनाश के लिए आवश्यक

आचार्य हेमचन्द्र ने बताया है कि ब्रह्मचर्य-पालन करने वाले साधक को अपनी इन्द्रियों पर किसी भी प्रकार से नियंत्रण करना चाहिए। जिस प्रकार हेमन्त ऋतु की भयंकर सर्दी अग्नि के बिना नहीं मिटती, वैसे ही मनुष्य के मन में उत्पन्न कामभाव इन्द्रियनिग्रह के बिना नष्ट नहीं होता।

जिह्वेन्द्रिय ब्रह्मचर्य : रसना-संयम

जिह्वेन्द्रिय भी कम प्रबल नहीं है। शरीर धारण के लिए इस इन्द्रिय का उपयोग अनिवार्य रूप में करना पड़ता है, परन्तु इसकी मांग बहुत ही बढ़ी-चढ़ी होती है। साधक ऐसे समय में असावधान रहे तो जिह्वा बहुत बड़े असंयम का कारण बन जाती है। प्रतिदिन अनिवार्य रूप से प्रायः एक या दो बार तो इसके सम्पर्क में आना पड़ता है। चूंकि इस इन्द्रिय को मौके कम मिलते हैं। आँख या कान की तरह इसे सदैव बार-बार काम नहीं पड़ता। इसलिए जब मौका मिलता है तभी यह इन्द्रिय बड़ा जोर मारती है। किसी मनोज्ञ चटपटी, मसालेदार या स्वादिष्ट वस्तु को देखकर जीभ तुरन्त लुभा जाती है और अविवेकपूर्वक उसे खाने के लिए ललचाती है। ऐसे समय में रसलोलुपता या चटोरेपन के कारण ढिलाई बरती या असावधानी रखी तो जीभ का झुकाव स्वादिष्ट चीजों की ओर हो जाएगा और वह असंयम का कारण बन जाएगा।

जैन शास्त्रों में घी, तेल, मीठा, दूध, दही ये पांचों विगई (विकृतिक) भी ब्रह्मचारी के लिए विकृतिकारक मानी गई हैं। सरस स्वादिष्ट, स्निग्ध एवं पौष्टिक तथा चटपटी चीजें खाने से शरीर में कमोत्तेजना पैदा होती है। अत्यन्त खट्टे, अत्यन्त तीखे, चरपरे और मिर्च मसाले वाले पदार्थ भी ब्रह्मचर्य के लिए घातक है। इसके अतिरिक्त तम्बाकू, अफीम, भंग, गांजा, चरस, शराब आदि सभी नशीले पदार्थ भी कामविकारवर्द्धक है। इनसे शरीर में एक ऐसा तत्व पैदा होता है, जो सारे शरीर को विषाक्त एवं उत्तेजनशील बना देता है। इनके सेवन से ब्रह्मचर्य पर बुरा प्रभाव पड़ता है। उसका पालन कठिनतर हो जाता है। अत्यन्त खट्टे, तीखे, कड़वे, कसैले आदि पदार्थ मानव-मन को विकृत करते हैं। इसलिए ब्रह्मचारी के लिए ये वर्जित है। जिह्वेन्द्रिय ब्रह्मचर्य के लिए रस और भोजन दोनों पर संयम रहना अत्यावश्यक है।

साधारण ब्रह्मचर्य भी आज इसलिए कठिन मालूम पड़ता है कि आज जिह्वेन्द्रिय पर संयम नहीं रखा जाता। जो मनुष्य अपनी जीभ को वश में रख सकता है, उसके लिए ब्रह्मचर्य सुलभ हो जाता है। भागवत पुराण में रसविजय को सबसे अधिक महत्वपूर्ण बताते हुए कहा है—"जब तक व्यक्ति अन्य इन्द्रियों को नहीं जीत लेता, तब तक जितेन्द्रिय नहीं कहलाता, परन्तु मैं कहता हूँ कि जब तक रस को नहीं जीत लेता तब तक व्यक्ति जितेन्द्रिय नहीं हो सकता, क्योंकि रस को जीत लेने पर सबको जीत लिया समझो।"[1]

प्राणिशास्त्रवेत्ताओं का कथन है कि आज जिस हद तक पशु जिह्वासंयम रखता है, उस हद तक मनुष्य नहीं रखता, यह बात स्पष्ट है। इसका कारण मालूम करने पर इसका पता चलेगा कि पशु अपनी जीभ पर पूरा काबू रखते हैं; इच्छा से नहीं, स्वाभाविक रूप से। पशु प्रायः चारा खाकर गुजारा करते हैं। वे उतना ही खाते हैं, जितने से पेट भर सके। वास्तव में वे जीने के लिए खाते हैं, खाने के लिए नहीं जीते; जबकि आज अधिकांश लोग जीने के लिए नहीं खाते, किन्तु खाने के लिए जीते हैं। कोई इसे सीधी तरह से माने या न माने, किन्तु उनके भोज्य पदार्थों को देखने से साफ-साफ पता लग जाता है कि अधिकांश लोग जिह्वेन्द्रियसंयम एवं स्वास्थ्य की कसौटी पर भोजन को नहीं जाँचते, अपितु जिह्वा के स्वाद या आँखों को प्रिय-मनोज्ञ लगने वाले भोजन को कसौटी बनाकर अच्छे-बुरे भोजन की परख करते हैं।

अतः वे स्वास्थ्यनाशक एवं संयमभ्रष्ट करने वाला भोजन स्वयं करते हैं तथा अपने नन्हे-नन्हे बच्चों को भी इसी प्रकार का सरस, स्वादिष्ट, चटपटा एवं मिर्च-मसालेदार भोजन खिलाते हैं, जो उनके स्वास्थ्य और संयम दोनों को चौपट कर देता है। माता-पिता अपने बच्चों को झूठे लाड़-प्यार के वश चटपटी, मसालेदार, पौष्टिक स्वादिष्ट चीजें या मिठाइयाँ खिला-पिलाकर उनकी जीभ को असंयमी बना देते हैं। फिर बड़े होने पर वे जिह्वा पर संयम कैसे रख सकते हैं। वर्तमान-युग में अच्छे-अच्छे घरों में खान-पान का विवेक समाप्त हो गया है। उनकी जीभ पर कोई संयम नहीं है।

वास्तव में अतिभोगी-विलासी व्यक्तियों का अपनी जिह्वा पर कोई संयम नहीं होता, इसलिए वे अधिक से अधिक अस्वास्थ्यकर एवं विकृत भोजन करते हैं। अधिक खाने से, तथा विकृत एवं उत्तेजक खान-पान से वीर्य-विकार होता है, अथवा वीर्यपात होता है।

---

१ यावज्जितेन्द्रियो न स्यात् विजितान्येन्द्रियः पुमान्।
न जायेद् रसने यावत् जितं सर्वं रसे जिते॥ —भागवत, स्कन्ध ११

जिह्वा पर असंयम के कारण शैलक राजर्षि अपने संयमपथ से भ्रष्ट हो गये थे। यह ठीक है कि बाद में उनके सुयोग्य शिष्य पन्थक ने उन्हें जागृत करके पुनः संयमारूढ़ कर दिया था। इसी प्रकार बहुत-से साधक जिह्वेन्द्रिय-संयम की उपेक्षा करके शीघ्र ही ब्रह्मचर्य-पथ से विचलित हो गये और पुनः संयम पथ पर आ पाना कठिन हो गया।

इस विषय में राष्ट्र संत विनोबा के विचार मननीय हैं—"बड़े-बड़े मुनि भी इस व्रत (जिह्वेन्द्रिय-संयम—अस्वाद व्रत) के पालन में असफल हो गये प्रतीत होते हैं। मालूम होता है, प्राचीनकाल में साधु-सन्त ब्रह्मचर्य के साथ अस्वाद का अटूट सम्बन्ध नहीं मानते थे। जो साधु-सन्त एक जगह आश्रम बनाकर रहते थे, उनमें भी स्वादजय की ओर विशेष ध्यान नहीं रहता था, और जो भ्रमणशील रहते थे, उनके लिए अनिवार्य था कि जहाँ जो वस्तु मिले, वही खायें; गीता के चौथे अध्याय में कहे अनुसार उसका नियम था—'यदृच्छालाभसन्तुष्टः' (सहज भाव से जहाँ जो मिले, उसमें सन्तुष्ट रहे, अपने खान-पान के लिए किसी गृहस्थ को प्रेरणा न दे) किन्तु लोग आदर और श्रद्धा के कारण ऐसे साधुओं को विविध प्रकार के व्यंजनयुक्त मिष्ठान भोजन देकर अपने को कृतार्थ मानते थे।....इसी कारण अस्वाद (जिह्वा-संयम) जैसी महत्वपूर्ण बात की तरफ सन्तों का ध्यान नहीं गया, इसका उन लोगों ने विशेष विचार नहीं किया। आज भी सनातनी साधु-संन्यासियों की लगभग यही अवस्था है।"

".... रसनेन्द्रिय ऐसी बलवती है कि यदि आध्यात्मिक दृष्टि से अस्वाद को महत्व न दिया जाए तो इस व्रत (ब्रह्मचर्य) के पालन में साधक-सिद्ध असमर्थ रह जायेंगे। गाँधीजी ने अपने प्रयोगों और अनुभवों से यह निश्चित किया कि ब्रह्मचर्य का स्थूल और सूक्ष्म दोनों प्रकार से पालन अस्वादव्रत (स्वादेन्द्रिय संयम) के पालन के बिना संभव नहीं है।"[1]

"..... ब्रह्मचर्य के साथ स्वादेन्द्रिय का विशेष निकट सम्बन्ध है। अर्थात्—सर्वेन्द्रियसंयम में स्वादेन्द्रियसंयम का स्थान प्रमुख है, क्योंकि स्वादेन्द्रिय को छूट देने पर अन्य इन्द्रियाँ भी बलवान् हो जायेंगी। सभी इन्द्रियों को स्वादेन्द्रिय से पोषण मिलता है। बिना खाये शरीर में काम करने का उत्साह और शक्ति नहीं रह जाती, (किन्तु) भोजन यदि विभिन्न रसों से युक्त हुआ, रसना की लालसा को तृप्त करने की दृष्टि से बनाया गया तो उससे (उसके सेवन से) अन्य इन्द्रियों में भी रजोगुण और तमोगुण प्रबल हो जाते हैं, मन भी लालायित हो उठता है, खाने का परिमाण भी अनियंत्रित हो जाता है।"[2]

---

१ अभंगव्रत विवेचन (संत विनोबा) पृ. १६२-१६३

२ अभंगव्रत विवेचन (संत विनोबा) पृ० १५७

महात्मा गाँधी ने इस विषय में कहा—"मेरा अनुभव तो यह है कि जो व्यक्ति स्वाद को नहीं जीत सका, वह विषयों को नहीं जीत सकता। स्वाद को जीतना सहज नहीं है; किन्तु वासना का संयम जिह्वा के संयम के साथ बँधा है। स्वाद को जीतने का एक नियम तो यह है कि मिर्च-मसालों को बिलकुल ही या जितना हो सके, छोड़ दिया जाय। दूसरा यह है कि इस भावना को सदा ही जाग्रत किया जाए कि हम स्वाद के लिए नहीं, किन्तु शरीर-रक्षा के लिए भोजन करते हैं।"[1]

संत विनोबा जिह्वेन्द्रिय संयम के सन्दर्भ में अस्वादव्रत का स्पष्टीकरण करते हुए लिखते हैं..... "इसका यह अर्थ नहीं कि वस्तुओं में जो नैसर्गिक स्वाद है, वह भी वर्ज्य है। उसका निषेध नहीं है किन्तु सच्ची भूख लगने पर सही स्वाद आता है, और वह स्वाद लेना वर्जित नहीं, वर्जित है—आसक्ति। उसमें भी तटस्थता रखनी है। अनासक्ति के साथ उसका सेवन करना चाहिए। जहाँ कृत्रिम स्वाद की मांग है वहाँ न सच्ची भूख है, न तटस्थता है और न ही इन्द्रिय संयम है।"[2]

वास्तव में स्वाद तो भूख में है। भूख के समय सूखी रोटी भी मीठी लगती है और बिना भूख के लड्डू भी फीके और बेस्वाद मालूम पड़ेंगे। लोग बहुत-सी चीजें खा-खाकर पेट को खूब ठूँसकर भर लेते हैं। फिर कहते हैं, ब्रह्मचर्य का पालन नहीं होता।

वैद्य धन्वन्तरि से पूछा गया था—'कोऽरुक्, कोऽरुक्? कौन नीरोग है, कौन नीरोग है? उन्होंने उत्तर दिया—'हितभुक् मितभुक्! (वही जो पथ्यकारक भोजन करता है, परिमित भोजन करता है)।

चतुर मनुष्य अज्ञात-अपरिचित व्यक्ति को सहसा अपने घर में ठहरने नहीं देता, तब जिस भोजन के गुण-दोष का पता न हो उसे पेट में स्थान देना कहाँ तक उचित है?

जिह्वेन्द्रिय पर संयम एवं विवेक हो तो, उससे स्वास्थ्य रक्षा में बहुत बड़ा सहयोग मिल सकता है, क्योंकि खाद्य या पेय पदार्थों को जब मुख में डाला जाता है, तब सबसे पहले जिह्वा ही उसके अच्छे-खराब, ताजा-बासी, रुचिकर-अरुचिकर, तिक्त-कटु आदि होने की सूचना देती है। वह अनेक अयोग्य-अपथ्य पदार्थों को अस्वीकार करके शरीर-स्वास्थ्य की रक्षा कर सकती है। जिह्वेन्द्रिय ब्रह्मचर्य के लिए यह उचित है कि व्यक्ति उन अयोग्य, अपथ्यकर एवं अवांछनीय पदार्थों को पेट

---

१ आत्मसंयम, पृ. २१

२ अभंगव्रत विवेचन (संत विनोबा) पृ. १५१

में न डाले, जिन्हें जिह्वा अस्वीकार करती है। जिह्वा की आवाज का उचित आदर-सम्मान करने पर ही स्वास्थ्य रक्षा एवं संयम रक्षा, दोनों हो सकती हैं।

अयोग्य एवं अपथ्य भोजन करना या बार-बार खाते-पीते रहना भी जिह्वा का असंयम है। अयोग्य, अवांछनीय एवं प्रकृतिविरुद्ध भोजन का सम्पर्क बार-बार होने से जिह्वा की शक्तियाँ क्षीण हो जाती हैं। कालान्तर में वह अच्छे-खराब, योग्य-अयोग्य भोजन की सूचना देना बन्द कर देती है। इससे अनेक अवांछनीय पदार्थ पेट में जाकर स्वास्थ्य को हानि पहुँचाते हैं, असंयम को बढ़ाते हैं, ब्रह्मचर्य का नाश कर कर देते हैं।

बार-बार खाते-पीते रहने से जिह्वा को अनावश्यक एवं आन्तरिक श्रम करते रहना पड़ता है। फलतः जिह्वा की लारग्रन्थियाँ शिथिल होकर शुष्क रहने लगती हैं, जिसके कारण भोजन के साथ पाचक रस पेट में नहीं जा पाता जिसका परिणाम अजीर्ण, अतिसार आदि रोगों के रूप में भोगना पड़ता है। जिह्वा से अनावश्यक श्रम लेने से शरीर स्वास्थ्य को क्षति पहुँचती है। अधिक तिक्त, तीव्र अथवा रसातिरेक वाले पदार्थ सेवन करने से जिह्वा में एक छटपटाहट पैदा होती है, उसकी लारग्रन्थियाँ घबराकर लाररस का स्रोत एकदम खोल देती हैं, जिससे उसकी वह निधि शीघ्र ही समाप्त हो जाती है। लार का अधिक मात्रा में स्राव होने से उसका पाचन क्रिया पर विपरीत प्रभाव पड़ता है, जोकि समग्र शारीरिक स्वास्थ्य के लिए हानिकारक होता है।

बार-बार खाने-पीने के कारण मुँह हर समय झूठा और जीभ गंदी बनी रहती है। झूठा मुँह रहने से मुख का उच्छिष्ट हर समय बन्द रहने से शीघ्र सड़ने लगता है, मुँह से दुर्गन्ध आने लगती है, मुख के विषैले कीटाणु हर समय लार के साथ पेट में जाते हैं, जिससे पेट तो खराब होता ही है, कंठ आदि की नलियों में में भी विकार पैदा हो जाते हैं। जो आदमी बार-बार खाता है, पान, तम्बाकू, जर्दा, बीड़ी, सिगरेट आदि का बार-बार सेवन करता रहता है, भला उसकी जीभ कैसे साफ रह सकती है? अतः जिह्वेन्द्रियसंयम के सिलसिले में इन बातों का ध्यान रखना भी आवश्यक है।

वाणी का नियंत्रण : जिह्वेन्द्रिय संयम

जिह्वेन्द्रियसंयम का एक और पहलू है—वाणी पर नियंत्रण। कटु, कठोर, गंदे या अप्रिय शब्द बोलने से न केवल सुनने वाले को ही कष्ट देते हैं, बल्कि अपने मानस को विकृत बना डालते हैं। कटु-कठोर शब्दों के पीछे उत्तेजना तथा क्रोध का आवेग रहा करता है, जो मनुष्य की जीवनी शक्ति का शोषण करता है। मधुर, शिष्ट और प्रिय बोलने से सुनने वाले को सुख मिलता है, अपना हृदय भी शीतल होता है, तथा समाज में अज्ञात शत्रुता की वृद्धि नहीं होती है। जो लोग कटु, कुटिल, कठोर

एवं अप्रिय बोलते हैं, वे अपने लिए शत्रु पैदा कर लेते हैं, चिन्ता के रूप में अपने स्वास्थ्य एवं जिह्वा संयम को खो देते हैं।

कहावत है—**'वचनपातो वीर्यपातात् गरीयान्'** बोलने में, लगातार बात करने आदि वाणीप्रधान प्रक्रियाओं में सबसे अधिक वीर्यशक्ति और प्राणशक्ति का व्यय होता है। जितनी थकान दिनभर काम करने में नहीं आती, उससे कहीं अधिक थकान एक घंटे लगातार बात करने में आ जाती है। यही कारण है कि वाणीप्रधान कार्य करने वाले व्यक्तियों, यथा—अध्यापक, प्रचारक, प्रवचनकार, वकील आदि का स्वास्थ्य प्रायः बिगड़ जाता है। अधिक वाचालता तथा आवेगपूर्ण वार्तालाप जिह्वा का असंयम है, स्वास्थ्य के लिए हानिकारक है।

जिह्वेन्द्रिय-ब्रह्मचर्य के लिए जिह्वा के इन सब असंयमों से बचना आवश्यक है।

नेत्रेन्द्रिय-ब्रह्मचर्य : चक्षुरिन्द्रिय-संयम

ब्रह्मचर्य-साधना के लिए नेत्रेन्द्रिय-संयम अत्यन्त आवश्यक है। एक ब्रह्मचारी है वह स्त्रियों का स्पर्श नहीं करता, संगम भी नहीं करता, किन्तु यदि वह उनके रूप, लावण्य, अंग-प्रत्यंग तथा चेष्टाएँ देखकर मन ही मन उनको पाने की लालसा करता है, अथवा उसके मन में सोई हुई काम-वासना उद्दीप्त हो जाती है तो समझना चाहिए उसका ब्रह्मचर्य-भंग हो गया। नेत्रेन्द्रिय का कार्य है—रूप या दृश्य को देखना। दृश्य एवं रूप अगणित हैं। प्रतिदिन अगणित रूप या दृश्य दृष्टिगोचर होते हैं। आँख बड़ी बलवान् इन्द्रिय है। अन्य इन्द्रियों की अपेक्षा आँख का उपयोग अधिक होता है। इसलिए उसकी आदत और उसके दूरगामी प्रभाव की ओर विशेष ध्यान रखने की आवश्यकता है। यदि जरा भी असावधानी हुई तो मन में अपवित्र भाव जड़ जमा लेंगे।

एक मुमुक्षु भक्त अपने में आत्म-संयम की पूर्णता समझता था। एक दिन वह एक मुनि के पास बैठा था। इतने में कुछ महिलाएँ आईं। संयमाभिमानी भक्त से उनकी ओर देखे बिना न रहा गया। पहली बार तो मुनि कुछ न बोले। किन्तु जब यह देखने का क्रम एक से अधिक बार जारी रहा तो मुनि बोले—"वत्स ! प्रायश्चित्त लो।" उसने पूछा "प्रभो ! मेरा अपराध ?" "अपराध करते हुए भी तुम उसे अपराध नहीं समझते ! एक बार तो अनायास किसी की ओर दृष्टि जा सकती है, किन्तु दूसरी बार तो विकारी नेत्र ही उठेंगे। यही ब्रह्मचर्य के पतन का श्रीगणेश है।" मुनि ने समझाया तो मुमुक्षु भक्त ने अपनी भूल मान ली।

वस्तुतः रूपप्रेक्षण की इस लालसा और आसक्ति को जीतना ही नेत्रेन्द्रिय संयम है।

ब्रह्मचारी साधक के समक्ष चाहे नवयौवना सुन्दरी आ जाए, अथवा स्वर्ग की अप्सरा ही क्यों न आ जाए, उस समय अनायास ही कदाचित् उस पर दृष्टि पड़ जाए तो तुरन्त हटा ले, उसे अपनी माता या बहन के समान माने अथवा काष्ठ की पुतली समझे, तभी साधक का ब्रह्मचर्य सुरक्षित रह सकता है। अध्यात्मतत्त्ववेत्ता श्रीमद् राजचन्द्र ने इस सम्बन्ध में उत्तम परामर्श दिया है—

निरखी ने नवयौवना, लेश न विषयनिदान।
गणे काष्ठनां पुत्तली, ते भगवन्त समान॥

अर्थ स्पष्ट है। वास्तव में नेत्र-संयम ब्रह्मचर्य के लिए प्रथम सोपान है। नेत्रेन्द्रिय ब्रह्मचर्य का अर्थ है कि नेत्र से सुन्दर एवं आकर्षक वस्तु देखकर भी उसके प्रति मन में आसक्ति और लालसा उत्पन्न न होने देना, अथवा इतना सामर्थ्य एवं संयम न हो तो काम-विकार पैदा करने वाली वस्तु के इच्छापूर्वक अवलोकन से आँखों को बचाने का प्रयत्न करना।

एक तरुण एवं रूप-यौवनसम्पन्न किन्तु ब्रह्मचारी बौद्ध भिक्षु था। ब्रह्मचर्य के तेज से उसका चेहरा चमक रहा था। एक दिन वह कहीं जा रहा था। मार्ग में एक नवयुवती अपने पति से रूठकर भागी जा रही थी। जब वह भिक्षु के निकट होकर गई तो भिक्षु ने उसकी ओर आँख उठाकर भी नहीं देखा। कुछ ही देर बाद उसका पति उसे ढूँढता-ढूँढता उस भिक्षु के पास आकर पूछने लगा—"महात्मन्! क्या कोई स्त्री इधर से जाती हुई आपने देखी?" भिक्षु ने उत्तर दिया—"हाँ, एक चलती-फिरती छाया-सी मैंने अवश्य देखी थी, किन्तु वह स्त्री थी या और कोई थी, यह मैंने नजर उठाकर नहीं देखी।" यह है नेत्रेन्द्रिय ब्रह्मचर्य का ज्वलन्त उदाहरण!

जैन साधुओं के लिए भिक्षाचरी करने, धर्मसभा में प्रवचन देने, साध्वी को शास्त्र-वाचना देने, किसी दुःखी या रुग्ण महिला को मंगलपाठ सुनाने आदि का विधान है। ऐसे प्रसंगों पर कई जगह माताएँ-बहनें दृश्यपथ में आती हैं। इसलिए ब्रह्मचारी साधु-साध्वी के लिए यह विधान नहीं है कि कोई स्त्री-पुरुष या दृश्य पदार्थ सामने आ रहा है तो वह उसे देखे ही नहीं। ईर्या समिति में साधु-साध्वी के लिए आँखों से देखकर चलने का विधान है। संयम-पालन और जीव-दया के लिए आँखों का उपयोग करने का निषेध नहीं है। निषेध है—आसक्ति या घृणा, मोह या नफरत अथवा विकारीभावना से ताक-ताककर किसी रूप या दृश्य को देखने का; चाहे वह दृश्य या रूप प्रत्यक्ष न हो, चित्र में चित्रित हो; दीवार पर अंकित हो, या उसकी छाया पड़ती हो। क्योंकि इस प्रकार से किसी को देखना असंयम है। ऐसा करने से नेत्रेन्द्रिय ब्रह्मचर्य का भंग समझना चाहिए। दशवैकालिक[1] सूत्र में इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए कहा है—

---

१ दशवैकालिक सूत्र, अ० ८ गा० ५५

चित्तभित्तिं न निज्झाए, नारीं वा सु-अलंकियं ।
भक्खरं पिव दट्ठूणं, दिट्ठिं पडिसमाहरे ॥

अर्थात्—"ब्रह्मचारी साधक के लिए आवश्यक है कि दीवार पर नारी का चित्र खींचा हुआ या टंगा हो, या कोई वस्त्राभूषणों से सुसज्जित नारी हो, उसकी ओर ताक कर न देखे। कदाचित् उस पर दृष्टि पड़ जाए तो वहाँ से शीघ्र ही दृष्टि उसी तरह हटा ले, जैसे सूर्य पर दृष्टि पड़ते ही हटा ली जाती है।"

लगभग पौने दो सौ वर्ष पहले की बात है। जैनाचार्य श्री रत्नचन्द्रजी महाराज, बीकानेर-जोधपुर के आसपास के गाँवों में विहार कर रहे थे। मारवाड़ के किसी प्रसिद्ध शहर में उनका चातुर्मास था। पर्युषण पर्व के निमित्त से आसपास के अनेक गाँवों से उनके दर्शन तथा व्याख्यान श्रवण आदि के लिए भावुक भक्तगण आए, उनमें महिलाओं की संख्या बहुत अधिक थी। पर्वनिमित्त से रीति-रिवाज के अनुसार महिलाएँ वस्त्राभूषणों से सुसज्जित एवं शृंगारित होकर आई हुई थीं। एक भक्त ने आचार्यश्री से पूछा—"गुरुदेव ! वस्त्राभूषणों से सजधज कर शृंगार करके आई हुई इतनी स्त्रियों को देखकर आपका चित्त चलायमान नहीं होता ?"

आचार्यश्री ने युक्ति-पूर्वक समझाते हुए कहा—"भाई ! रक्षाबन्धन-पर्व के दिन अनेक बहन-बेटियाँ तुम्हारे पास वस्त्राभूषणों से सुसज्जित होकर आती हैं और तुम्हारी कलाई पर राखी बाँधती हैं, तब उन्हें देखकर तुम्हारे मन में कैसे भाव उत्पन्न होते हैं ? क्या विकार-भाव पैदा होते हैं ?"

उक्त भाई यह सुनकर कुछ बोला ही नहीं। परन्तु आचार्यश्री ने कहा—"जिस प्रकार तुम उन बहन-बेटियों को देखते हो, उसी प्रकार उसी भाव से हम संसार भर की समस्त नारियों का अवलोकन करते हैं; करते क्या हैं, क्या होता है। तथा सतत शास्त्रों का पठन-पाठन, स्वाध्याय, कठोरचर्या, शरीर-संस्कार का अभाव, उपवास-ऊनोदरी आदि तप, इत्यादि अनेक कारणों से हमारी चित्तवृत्ति को विकारी होने का अवकाश ही नहीं रहता। वास्तव में स्त्रियों का रूप विकार उत्पन्न करने का नियामक कारण नहीं है, चित्त में रही हुई कामादि विकारों की दुष्ट वासनायें ही कारण हैं, जो ब्रह्मचारी साधक को पतित करती हैं। हमारा उन पर सतत पहरा होता है।"

उक्त प्रश्नकर्त्ता भाई के मन का समाधान हुआ। वह प्रसन्न होकर आचार्यश्री को वन्दना-नमस्कार करके चला गया।

कई साधक किसी भी महिला के दृष्टिपथ में आने से पहले ही आँखों पर कपड़ा डाल लेते हैं, ताकि महिला न दीखे। परन्तु इससे क्या यह दावे के साथ कहा जा सकता है कि उन साधकों के चित्त में स्त्री-मात्र के प्रति विकार-भाव आते ही नहीं ?

वस्तुतः मन की आँखों पर पर्दा डालना चाहिए, ताकि मानस-चक्षुओं से किसी भी स्त्री को विकारीभाव से न देखें। स्त्री-साधिका भी किसी पुरुष को विकारीभाव से मन से भी न देखे। आँखों पर वस्त्र या पर्दा डालकर भी मन से पुरुष उस स्त्री का और स्त्री उस पुरुष का चिन्तन करती रहे तो उसे नेत्रेन्द्रिय-ब्रह्मचर्य का चक्षुरिन्द्रिय-संयम नहीं कहा जा सकता।

निष्कर्ष यह है कि जिस प्रकार रागभाव से ब्रह्मचारी पुरुष के लिए नारी के रूप, लावण्य, अंगोपांग, चित्र आदि का दर्शन वर्ज्य है, उसी प्रकार ब्रह्मचारिणी नारी के लिए पुरुष के रूप-लावण्यादि का दर्शन भी वर्जनीय है।

दशवैकालिक सूत्र में तो ब्रह्मचर्य-साधक-साधिका के लिए अपने मुख या देह का दर्पण आदि में अवलोकन करना भी अनाचरणीय बताया गया है, क्योंकि दर्पण में अपने शरीरादि का अवलोकन करने से मन में सौन्दर्य-आसक्ति की भावना उत्पन्न होती है। प्रौढ़ व्यक्ति ही नहीं, भोले-भाले किशोर-किशोरियाँ भी दर्पण में मुख तथा अंगों को देखकर स्वयं के विषय में ऊटपटांग सौन्दर्य-कल्पना करने लगते हैं।

आँखों का कार्य सौन्दर्य-दर्शन तो है, किन्तु ब्रह्मचारी के लिए बाह्य सौन्दर्य के बदले आन्तरिक सौन्दर्य के दर्शन को ही उचित कहा गया है। बाह्य सौन्दर्य देख कर भी वह आन्तरिक सौन्दर्य की भावना का पुट देकर विकारभाव में नहीं फँसता। जो ब्रह्मचर्य-प्रेमी व्यक्ति बाह्य रूप-रंग, चमक-दमक को ही सौन्दर्य मानते हैं, और स्वार्थपूर्ण वासनात्मक दृष्टिकोण अपनाकर आन्तरिक सौन्दर्य की ओर आँख उठाकर भी नहीं देखते, वे नेत्र-असंयम की ओर झुक जाते हैं। आत्मा एवं परमात्मा का अनन्त सौन्दर्य इतना अद्भुत एवं आह्लादमय है कि एक बार भी उसका अनुभव, साक्षात्कार या दिव्य-दर्शन हो जाये तो आँखें सदैव उसे पाने के लिए तरसती रहेंगी। इसी दृष्टि से नेत्रों की उपयोगिता भी है।

नेत्रसंयम-ह्रास के कारण सिनेमा आदि

आज तो अश्लील सिनेमा, नाटक, रामलीला आदि तथा वासनामय-खेल-तमाशों या विवाहों में वेश्याओं का नृत्य अधिकांश लोग धड़ल्ले के साथ देख रहे हैं। शीलवान सद्गृहस्थ भी अपने घर के सभी सदस्यों को भी उन सिनेमा आदि को दिखाने साथ में ले जाते हैं। भला उन अधखिले कोमल नन्हे बालक-बालिकाओं के मन पर कितना बुरा प्रभाव पड़ता है? वर्तमान उदीयमान युवक जिन्हें कम-से-कम २०-२२ वर्ष के होने तक ब्रह्मचर्य-पालन अनिवार्य है, नेत्रसंयम को तिलांजलि देकर मनमाने ढंग से उन विकारवर्द्धक कामोत्तेजक नाटक, सिनेमा, वेश्यावृत्ति, केबरे (अधनंगा) नृत्य आदि को देखते हैं। वे विचार ही नहीं करते कि ये दृश्य हमारे तन, मन, धन एवं संयमधर्म को कितनी हानि पहुँचाते हैं। उनके माता-पिता आदि परिजन

भी उन्हीं ब्रह्मचर्यनाशक कार्यक्रमों में भाग लेते हैं तो उनके पुत्र-पुत्री आदि भी उसी विकृत वासनामय एवं लुभावने पथ के अनुगामी बनते हैं।

सुकरात ने स्पष्ट कहा था—"नाटक, संगीत और वासनामय खेल-तमाशे मनुष्य के मन पर बुरा प्रभाव डालते हैं। अतः मनुष्य को वासना भड़काने वाले नाटक नहीं देखने चाहिए।" वर्तमान सिनेमा के फिल्म या नाटक चाहे कितने ही धार्मिक कहलाते हों, उनमें अश्लीलता का थोड़ा-बहुत अंश अवश्य रहता है, जो खटाई की तरह ब्रह्मचर्य-रूपी दूध में पड़ते ही उसे फाड़ देते हैं, विकृत कर देते हैं। उन्हें देखकर कुसंस्कार अवश्य ही जागते हैं।

गाँधीवाद के प्रखर भाष्यकार काका कालेलकर ने एक बार कहा—"लोग सन्त तुकाराम की फिल्म सिनेमाघर में देखते हैं, लेकिन उसे देखकर क्या कोई तुकाराम का भक्त बना है? सिनेमा-दर्शकों में कई तुकाराम के भक्त भी होंगे, पर तुकाराम की फिल्म देखने से कोई तुकाराम का भक्त नहीं बना है। इसलिए सिनेमा-नाटकों को देखने से आज किसी को भी जीवन में शिक्षा मिलती हो, ऐसा प्रतीत नहीं होता।"

अतः हमारे ऋषि-मुनियों ने ब्रह्मचर्य-साधकों के लिए पहले से ही वासना भड़काने वाले अश्लील नाटक, सिनेमा, चित्रपट, चित्र आदि देखने का निषेध किया है।

निष्कर्ष यह है कि नेत्रेन्द्रिय ब्रह्मचर्य के लिए ब्रह्मचारी स्त्री-पुरुष अपने से विजातीय के रूप को ही नहीं, अपितु समस्त कामवासनावर्द्धक एवं विकारोत्पादक दृश्यों को न देखें। कम से कम कामोत्तेजक दृश्य एवं रूप-दर्शन से कोमलवय के बालक-बालिकाओं को तो अवश्य ही बचाएँ, स्वयं भी बचें।

नेत्रसंयमी अत्यन्त तेजस्वी

नेत्रेन्द्रिय संयम करने वाले व्यक्ति के नेत्रों में अद्भुत तेज आ जाता है, जिससे विरोधी से विरोधी व्यक्ति भी प्रभावित हो जाता है। अत्यन्त कामी व्यक्ति भी ब्रह्मचारिणी महिला के नेत्रों के तेज के सामने देख नहीं सकता।

लोकमान्य तिलक के जीवन संस्मरण में लिखा है—एक रूपराशि सौन्दर्य प्रतिमूर्ति तरुणी तिलक के पास किसी विषय पर विचार-विमर्श के लिए आई। तिलक अपने अध्ययनकक्ष में बैठे, कुछ चिन्तन-मनन कर रहे थे, किसी गम्भीर विषय पर। उसकी ओर देखकर तुरन्त ही उन्होंने अपनी दृष्टि पुस्तक पर टिका दी। वह युवती तीन घंटे तक उनके सामने बैठी रही, किन्तु तिलक ने फिर एक बार भी उसकी ओर नहीं देखा।

श्रवणेन्द्रिय-ब्रह्मचर्य : श्रोत्र-संयम

श्रवणेन्द्रियसंयम श्रवणेन्द्रिय ब्रह्मचर्य के लिए आवश्यक है। श्रवणेन्द्रिय का विषय है—शब्द। श्रोत्र (कान) संसार के अच्छे-बुरे, कर्णकटु और कर्णप्रिय, मधुर

मनोज्ञ और अमनोज्ञ, रुचिकर और अरुचिकर सभी प्रकार के शब्दों को सुनने के लिए हैं। श्रवणेन्द्रिय-ब्रह्मचर्य के साधक के कानों में तरह-तरह के शब्द पड़ेंगे। प्रशंसा के और निन्दा के भी, कामशमनकारक भद्र शब्द भी और कामोत्तेजक अभद्र शब्द भी। प्रिय शब्दों को सुनकर राग या मोह करना तथा अप्रिय शब्दों को सुनकर द्वेष या घृणा करना, ब्रह्मचारी के लिए उचित नहीं है।

कामोत्तेजक अश्लील एवं भद्दे शब्दों को सुनने से सोई हुई कामवासना जागृत होती है। आजकल जहाँ देखो, वहाँ सिनेमा के गंदे और कामवासनाजनक इश्क के गाने कर्णकुहरों में पड़ते हैं। इन गानों को गाने, सुनने एवं बजाने का अधिकार ब्रह्मचर्य-साधक को नहीं है। कदाचित् इस प्रकार के कामवासना उभारने वाले गंदे गायन और वादन के शब्द ब्रह्मचारी के कानों में पड़ भी जाएँ तो उसे तुरन्त ही कान और मन दोनों उधर से हटा लेने चाहिए; अन्यथा, उन गंदे गीतों एवं वादनों में रस लेने पर वह शीघ्र ही ब्रह्मचर्य में स्खलित हो सकता है। श्रवणेन्द्रिय से उत्तेजक गान और अश्लील शब्द तथा विकारजनक किस्से-कहानियाँ सुनते रहें तो कामशमन कैसे होगा? श्रवणेन्द्रिय है तो उसके विषय से सम्पर्क होगा ही। अगर ब्रह्मचर्यसाधक सावधान नहीं रहा तो मन में अच्छे और बुरे भाव पैदा होंगे ही। अच्छे और बुरे शब्द पर राग या द्वेष न करना ही ब्रह्मचर्य साधक का कर्तव्य है। निष्कर्ष यह है कि कानों में कैसे ही शब्द पड़ें, वह उनके साथ मन को न जोड़े। मन में यह दृढ़ संकल्प भी होना चाहिए कि खराब गीत अपनी ओर से स्वयं सुनेंगे नहीं, तथा कामोत्तेजक कहानियों या सिनेमा की अश्लील बातों से भी दूर रहेंगे।

कई लोग कहते हैं कि संगीत तो एक कला है। संगीत के शब्दों का दृढ़ ब्रह्मचारी के मन पर क्या प्रभाव पड़ सकता है? ब्रह्मचारी, चाहे परिपक्व भी हो, तो भी उसे मन में इस बात का गर्व नहीं करना चाहिए कि मेरे मन पर इन शब्दों का क्या असर हो सकता है? अन्तर्मन में पड़े हुए सुषुप्त संस्कार कब उद्बुद्ध होकर ब्रह्मचारी को भी बलात् कामोत्तेजना की ओर बहा ले जाएँगे, कहा नहीं जा सकता।

यदि नैष्ठिक ब्रह्मचारी हो तो भी उसे अपने पीछे आने वाले अपरिपक्व ब्रह्मचर्य-साधकों के लिए ऐसा रास्ता प्रस्तुत करना चाहिए जो कामवासना के गर्त में गिराने वाला न हो। शब्दों का प्रभाव सामान्य मनुष्यों के मन पर तो तत्काल अचूकरूप से पड़ता ही है, बड़े-बड़े साधकों के मन पर भी अनुकूल और प्रतिकूल प्रभाव पड़ सकता है। ग्रीक दार्शनिक प्लेटो ने अपने काल्पनिक राज्य में लिखा है कि "पुरुषों को ही नहीं, स्त्रियों को भी संगीत नहीं सिखाना चाहिए। मैं दो ही प्रकार के संगीत सिखाने के पक्ष में हूँ—एक युद्ध का और दूसरा प्रभु की प्रार्थना का।"

एक मनोवैज्ञानिक का कथन है कि भिन्न-भिन्न प्राणियों, यहाँ तक कि कीट-पतंगों और पक्षियों में संगीत का उद्देश्य एवं परिणाम नर और मादा का परस्पर

आकर्षित होकर मिलन होता है। मधुर शब्दों और गीतों का प्रभाव पक्षियों पर जबर्दस्त पड़ता है। नर-मादा पक्षी परस्पर मिलकर वासना-सेवन करते हैं। अतः जो कामोत्तेजक संगीत क्षुद्र जन्तुओं तथा पशु-पक्षियों पर कामवासना उभारने वाला प्रभाव डाल सकता है, क्या वह संगीत मनुष्यों पर वैसा प्रभाव नहीं डाल सकता। वेश्याओं की तथा राजा-महाराजाओं की महफिल में ऐसे कामवासना उभारने वाले संगीत हुआ करते थे। इसीलिए उत्तराध्ययन सूत्र में ब्रह्मचारी के लिए संगीत ही नहीं, कामविकारवर्द्धक रुदन, हास्य आदि का भी निषेध किया गया है—

'कुइयं रुइयं गीयं हसियं भुत्ताऽसियाणि य।"[1]

'ब्रह्मचारी को स्त्रियों के कामविकारोत्पादक शब्द, रुदन, मोहक गीत, हास्य तथा पूर्व भुक्त भोगों का श्रवण आदि नहीं करना चाहिए।'

अतः श्रवणेन्द्रिय-ब्रह्मचर्य की साधना के लिए श्रवणेन्द्रिय पर संयम अत्यन्त आवश्यक है।

घ्राणेन्द्रिय-ब्रह्मचर्य : नासिका-संयम

घ्राणेन्द्रिय-ब्रह्मचर्य का सम्बन्ध नासिका-संयम से है। नासिका का विषय है—गन्ध। गन्ध दोनों प्रकार की होती है—सुगन्ध और दुर्गन्ध। घ्राणेन्द्रिय श्वास के साथ जुड़ी हुई इन्द्रिय है। इसलिए इसका महत्व भी किसी से कम नहीं है। जब तक प्राण हैं, तब तक घ्राणेन्द्रिय रहने वाली है। सुगन्ध मन को प्रिय लगती है, इसमें आसक्त होकर व्यक्ति कामवासना के वशीभूत हो जाता है। इसीलिए मनुस्मृति आदि धर्मग्रन्थों में[2] ब्रह्मचारी के लिए तेल, फुलेल, इत्र, पुष्पमाला, चन्दन आदि द्रव्यों के उपयोग या सुगन्ध लेने का निषेध किया गया है।

अतः ब्रह्मचारी साधक की नाक में स्वाभाविक रूप से सुगन्ध पड़े या दुर्गन्ध, उसे सुगन्ध के प्रति राग या मोह एवं दुर्गन्ध के प्रति द्वेष, घृणा या जुगुप्सा नहीं करनी चाहिए। ऐसे वातावरण में भी ब्रह्मचारी को नहीं जाना चाहिए, जहाँ सुगन्धित पदार्थों के कारण मोहक वातावरण हो। न ही उसे ऐसे सुगन्धित पदार्थों को लगाना, मलना या लेप करना चाहिए।

शरीरविज्ञानशास्त्रियों ने प्रयोग करके अनुभव के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला है कि नासिका से स्पृष्ट सुगन्ध एवं जननशक्ति में परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। यौवनकाल में युवक-युवतियों की अधिक नकसीर फूटने का कारण नासिका से संस्पृष्ट सुगन्ध और जननेन्द्रिय का सम्बन्ध ही है। अनुसन्धान के पश्चात् अनुभव किया गया कि उस व्यक्ति के जनन-प्रदेश पर बर्फ रखते ही नकसीर बन्द हो गई।

---

१ उत्तराध्ययन अ. १६, गा. १२

२ (क) 'गन्धमाल्यं रस छत्रं वर्जयेद्'..... —सौरपुराण
(ख) "वर्जयेत् मधुमांसं च गन्ध माल्यं रसान् स्त्रियः"।-मनुस्मृति अ. २, श्लो १७५

नासिकारन्ध्र में सुगन्धित पदार्थ रखने पर तुरन्त जननेन्द्रिय का उत्तेजित हो जाना फलतः विवाह के बाद अतिसहवास के कारण स्त्री को नकसीर की बीमारी हो जाना और पुरुष को निरन्तर जुकाम रहने की बीमारी लग जाना भी इस बात को प्रमाणित करता है कि सुगन्ध का जननेन्द्रिय एवं कामवासना के उत्तेजन में बहुत बड़ा हाथ है। इसीलिए भारतीय धर्मों के ग्रन्थों में एक स्वर से स्वीकार किया है कि ब्रह्मचारी को घ्राणेन्द्रिय पर संयम रखना आवश्यक है और घ्राण-संयम के लिए सुगन्धित पदार्थों के प्रति अनासक्ति रखना जरूरी है। सुगन्धित पदार्थों का राग या मोह-(आसक्ति) पूर्वक सेवन ब्रह्मचर्य को नष्ट करने वाला है।

स्पर्शेन्द्रिय-ब्रह्मचर्य : त्वचा-संयम

स्पर्शेन्द्रिय-ब्रह्मचर्य भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। हाथों से कोमल, गुदगुदाने वाली वस्तुओं का या स्त्री आदि के अंगोपांगों का अत्यन्त नाजुक कामनामय स्पर्श करना ब्रह्मचर्य-भंग का कारण है। स्त्री और पुरुष के शरीर में अन्तर तो अत्यल्प है, लगभग दोनों समान हैं। फिर भी कैसा आश्चर्य है कि दोनों का परस्पर स्पर्श होने, विशेषतः स्त्री-शरीर के किसी भी अंग का स्पर्श होने पर उतने ही अन्तर को लेकर काम-विकार का आक्रमण हो जाता है; यहाँ तक कि पुरुष-पुरुष के या स्त्री-स्त्री के पारस्परिक स्पर्श से भी कामविकार उत्पन्न हो जाता है। इसी प्रकार कोमल गुदगुदी शय्या पर शयन, लचीले पलंग, स्प्रिंगदार कुर्सी, खाट या अन्य किसी कोमल शय्या पर सोने-बैठने में जो स्पर्श होता है, वह राग या मोह का कारण बन जाता है, ऐसी शय्या पर शयन करने से या पलग आदि पर बैठने-सोने से कामविकार भड़कने का खतरा है।

वैसे तो त्वचा (स्पर्शेन्द्रिय) जहाँ भी जिस चीज को भी छूती है, उसकी कोमलता-कठोरता, शीतलता-उष्णता, हल्कापन-भारीपन, स्निग्धता-रूक्षता आदि स्पर्शों का अनुभव करती है। अनुभव करे, वहाँ तक तो ठीक है, किन्तु अनुकूल स्पर्श होने पर राग व मोह या आसक्ति और प्रतिकूल स्पर्श होने पर द्वेष या घृणा करती है, यह ब्रह्मचर्य-भंग का कारण है। वैसे तो दूसरी वस्तुओं की तरह मन में किसी प्रकार की कामवासना के बिना स्त्री-पुरुष बालक-बालिका की तरह माता-पुत्र की तरह का निर्दोष स्पर्श हो तो कामविकार के उभरने का कोई खतरा नहीं है। परन्तु बड़ी उम्र में जो वासना की वृत्ति अन्तर्मन में सोई रहती है, वह ऐसे स्त्री आदि के स्पर्श का निमित्त मिलते ही प्रायः उभर जाती है। इसलिए ब्रह्मचर्य-साधक को अपने से भिन्न किसी भी व्यक्ति के कामांगों या कोमल शयनासन आदि का रोगादि किसी विशेष कारण के बिना स्पर्श नहीं करना चाहिए।

डॉ ब्लॉच ने अपनी पुस्तक में लिखा है।[1] स्पर्श से मानसिक विकार उत्पन्न

---

१ The Sexual Life of our Time. P. 30

होने का कारण यह है कि त्वचा के ज्ञानतन्तुओं की तथा शरीर के प्रजनन-अवयवों के तन्तुओं की रचना एक ही पदार्थ हुई है। इसलिए प्राणिमात्र के अन्य समस्त अवयवों की अपेक्षा जननेन्द्रिय या कामांगों का स्पर्श बहुत ही शीघ्र कामोत्तेजना उत्पन्न कर देता है। इसलिए जननेन्द्रिय-स्पर्श या कामांगों के स्पर्श से प्रत्येक ब्रह्मचर्य साधक को बचना अनिवार्य है। उपनिषदों में बताया गया है कि ब्रह्मचारी को अपने या दूसरे किसी के भी गुप्तांगों का न तो स्पर्श करना चाहिए और न ही देखना चाहिए।

स्त्रीस्पर्श-परित्याग : ब्रह्मचर्य का अपूर्ण लक्षण

समस्त विषयों में सबसे अधिक निषेध स्पर्श का है। स्पर्श की तो भावना या कामना भी ब्रह्मचारी के लिए निषिद्ध है। यही कारण है कि कुछ विचारकों ने ब्रह्मचर्य का लक्षण किया है—'स्त्री-पुरुष के संयोग, सहवास या स्पर्श का परित्याग।'[1] इसके लिए मनीषियों ने नारी को अग्निज्वाला और नर को घृतकुम्भ की तथा चुम्बक को युवक की और सुई को युवती की उपमा देकर दोनों को एक जगह रहने या सटकर बैठने या स्पर्श करने का निषेध किया है।[2] महात्मा टाल्स्टाय ने भी कहा है—"स्त्री-पुरुष सम्बन्ध में एकान्त, शरीरस्पर्श (सजातीय या विजातीय नौजवानों या किशोरों का एक दूसरे से लिपटना, एक दूसरे पर गिरना, या दूसरी तरह से लाड़भरे नखरे करना), काम को भड़काने वाले दृश्यों, नाटकों, पुस्तकों संगीत आदि में साथ-साथ भाग लेना, भाई-बहन, माँ-बाप जैसे कौटुम्बिक सम्बन्ध न होने पर भी वैसे सम्बन्ध कायम करने की बात मन को समझाकर··· ऐसे लाड़ या घनिष्ठता (Intimacy) की छूट लेना—आदि, मलिनता या खतरे के स्थान माने जा सकते हैं।"[3]

"धर्म का (भाई-बहन या पिता-पुत्री का) नाता जोड़ने वाले को यह सोचना चाहिए कि यह नाता धर्म के नाम पर जोड़ना है। अर्थात् उसमें परमार्थता की, पवित्रता की, कुलीनता की एवं गम्भीरता की बुद्धि होनी चाहिए। यह सम्बन्ध एकान्त में गप्पें मारने की, साथ-साथ में घूमने-फिरने की, पीठ या सिर पर हाथ रखते रहने की, एक दूसरे के साथ सटकर बैठने की या कारण-अकारण किसी न किसी बहाने से एक दूसरे को स्पर्श करने की छूट लेने के लिए नहीं होना चाहिए।

---

१ अनुभूतांगनास्मरण-कथाश्रवण-स्त्रीसंसक्तशयनासनादि वर्जनाद् ब्रह्मचर्यं परिपूर्णमवतिष्ठते।" —तत्त्वार्थ; सर्वार्थसिद्धि ९।६।४।१३।३

२ अग्नि ज्वाला समा नारी, घृतकुम्भ समोनरः।
तस्मादग्नि घृता चैव नैकत्र स्थापयेद् सुधी॥ —भक्तवामन
लोह कान्तो युवा नूनं, सूची च युवतिर्मता।
तस्मादुभयमे कत्र न कदा स्थापयेद् बुधः॥ —कवि मुकुन्दराम

३ स्त्री पुरुषमर्यादा (संस्थाओं का अनुशासन) पृ. १६५-१६६

यह एक दूसरे की आबरू रखने और बढ़ाने के लिए होना चाहिए और समाज में उसका ऐसा परिणाम आना ही चाहिए।"[1]

कई बार स्त्री के सान्निध्य से, उसका रूप देखने, शब्द सुनने या बार-बार सम्पर्क करने, एकान्त में वार्तालाप करने से, एकाकी स्त्री के साथ-साथ घूमने-फिरने से पुरुष का चित्त चंचल हो उठता हो तो यह भी एक प्रकार का स्पर्श ही है। फिर भी ब्रह्मचारी के लिए स्त्री के प्रत्यक्ष स्पर्श का विशेष रूप से निषेध है, वह इसलिए कि स्त्री-स्पर्श स्पर्शेन्द्रिय को उत्तेजित करता है, कामवासना भड़काता है और इससे ब्रह्मचर्य भंग होता है।

परन्तु स्त्री-स्पर्श या स्त्रीसम्पर्क—सहवास का त्याग ब्रह्मचर्य के लक्षण को पूर्णतया स्पष्ट नहीं करता, क्योंकि स्त्रीस्पर्श या सहवास से पहले कामोत्तेजना से ब्रह्मचर्य-भंग के कई निमित्त हैं, जिन्हें हम आगे बतायेंगे, उन सबसे बचना भी ब्रह्मचर्य-साधक के लिए आवश्यक है।

एक तथाकथित ब्रह्मचर्य-साधक स्त्री का स्पर्श भी नहीं करता, न ही स्त्री के साथ सहवास करता है, परन्तु उसके मानस में स्त्री सहवास की वासना उभरती रहती है, वह किसी भी नारी को देखकर कामविह्वल हो जाता है, किसी भी नारी के विषय में पढ़ने-सुनने और स्मरण करने से काम-पीड़ा से आक्रान्त हो उठता है, उसका मन कामज्वर से ग्रस्त रहता है। ऐसी स्थिति में केवल स्त्रीस्पर्शत्यागी या स्त्री-संयमत्यागी को हम ब्रह्मचर्य-साधक नहीं कह सकते हैं।

वस्तुस्थिति यह है कि केवल स्त्री से दूर रहने से वासना क्षीण नहीं होती। एक बीमार बच्चे को लड्डू न खाने देने के लिए माँ ने उससे दूर, एक आलमारी में रख दिया। अलमारी से ताला लगा है। अलमारी के शीशे में से बच्चा लड्डू देख रहा है। उसका जी ललचाता है, लड्डू को पाने के लिए। आँखों से तो वह लड्डू को निरन्तर खा रहा है, नाक से उसकी सुगन्धि भी ले रहा है। दूसरे हमजोली बालक के समक्ष वह लड्डू को खाने व पाने की उत्कण्ठा वाणी से व्यक्त भी कर रहा है।

यद्यपि बच्चे को लड्डू से दूर, अलग कर दिया गया मगर लड्डू पाने की उसकी लालसा और उत्कण्ठा और भी बढ़ जाती है। इसी प्रकार स्त्री-सम्पर्क एवं स्त्रीस्पर्श से केवल शरीर से दूर रहने वाले उस ब्रह्मचारी का ब्रह्मचर्य भी कच्चा है, उसकी भी कामवासना क्षीण नहीं हुई, जिसके मन में स्त्री को पाने की वासना मौजूद है, वह विकारों से ग्रस्त है इतना ही नहीं, वह मन ही मन स्त्री को किसी भी प्रकार से पाने के लिए लालायित एवं उत्कण्ठित है। अतः ब्रह्मचर्य-साधक का सच्चे माने में

---

१ स्त्री-पुरुषमर्यादा (धर्म के भाई बहन) पृ. १६७-१६८

ब्रह्मचर्य तभी कहा जा सकता है, जब आँख, कान, नाक और मन से भी स्वैच्छिक रूप से भी कामविकार पैदा न हो।

स्त्री-स्पर्श ब्रह्मचारी के लिए कब बाधक, कब साधक ?

ब्रह्मचर्य-साधक के लिए किसी विशेष परिस्थिति में स्त्रीस्पर्श ब्रह्मचर्य-बाधक है या ब्रह्मचर्य-साधक ? इसका निर्णय ब्रह्मचर्य-साधक की निर्विकार मनोदशा पर निर्भर है। रुग्ण-सेवा, अशक्ति, विपत्ति, गुण्डों से रक्षा, विक्षिप्तता अथवा ऐसी ही किसी गाढ़ संकटापन्न परिस्थिति में यदि पुरुष-साधक निर्विकार भाव से मातृ भगिनी-भाव या पुत्रीभाव से स्त्री का स्पर्श करता है, इसी तरह स्त्री-साधिका निर्विकार भाव से पिता, भाई या पुत्रभाव से पुरुष का स्पर्श करती है, तो उसे ब्रह्मचर्य-भंग नहीं कहा जा सकता।

स्त्रीस्पर्शत्याग का फलितार्थ महात्मा गांधी के शब्दों में देखिये—"ब्रह्मचर्य का वास्तविक अर्थ यह है कि पुरुष और स्त्री एक-दूसरे से (किसी भी इन्द्रिय या मन द्वारा विषय) भोग न करें और न एक-दूसरे को विकार की दृष्टि से देखें। उनके मन में स्वप्न में भी कामविकार के विचार न उठें। वे एक-दूसरे को कामुकता की दृष्टि से न देखें।"[1]

महात्मा गांधी ने ब्रह्मचर्यव्रत अंगीकार करने पर अपनी गृहस्थाश्रमी अवस्था में ब्रह्मचर्य का अनुभव लिखा है—"ब्रह्मचारी रहने का यह मतलब नहीं है कि मैं किसी स्त्री को (निर्विकार भाव से) छू न सकूं या अपनी बहन का भी (विशेष परिस्थिति में) स्पर्श न करूँ। परन्तु (मेरी दृष्टि में) ब्रह्मचारी रहने का अभिप्राय यह है कि स्त्री का स्पर्श करने से किसी तरह का विकार ऐसे न पैदा हो, जैसे कि कागज को छू लेने से नहीं होता। मेरी बहन बीमार हो और ब्रह्मचर्य के कारण उसकी सेवा करने या छूने में मुझे हिचकना पड़े तो ऐसा ब्रह्मचर्य तीन कौड़ी का है। हम मुर्दा शरीर को छूकर जिस प्रकार निर्विकार दशा का अनुभव करते हैं, उसी प्रकार किसी सुन्दर युवती को (विशेष परिस्थिति में) छूकर निर्विकार दशा में रह सकें, तभी हम ब्रह्मचारी हैं।"[2]

साधु-साध्वी को आपत्काल में आपवादिक रूप में निर्विकार भाव से एक-दूसरे को स्पर्श करने, हाथ का सहारा देने, उठाने, बिठाने तथा परिचर्या करने का जैन शास्त्रों में विधान है। एक साध्वी नदी में डूब रही है, साधु नदी के किनारे-किनारे जा रहा है, यदि वह तैरना जानता है तो नदी के प्रवाह में बहती या डूबती हुई साध्वी को भुजाओं से पकड़कर या पीठ पर उठाकर बाहर ला सकता है। एक-दूसरे की विक्षिप्तता, असाध्य बीमारी, शील पर विपत्ति, लुटेरों आदि द्वारा हैरान करने की शंका हो, उस समय साधु-साध्वी, अन्य कोई साध्वी या साधु सेवा करने वाला न

---

१ आत्मसंयम, पृ. ४८

२ आत्मसंयम (महात्मा गांधी) पृ. ६

हो तो साधु भगिनीभाव या मातृभाव से साध्वी की और साध्वी भ्रातृभाव या पुत्र-भाव से साधु की सेवा करे।

इतना होने पर भी उनकी ब्रह्मचर्य-मर्यादा का अतिक्रमण नहीं समझा जाता। आचारांग, बृहत्कल्पसूत्र उठाकर देखने से यह बात स्पष्टतः प्रतीत हो जायगी। साधु-साध्वी का ब्रह्मचर्य भंग तो तब माना जाता है, जब वे भातृभाव या भगिनीभाव की पवित्र, निर्विकार भावना का उल्लंघन कर देते हैं, उनके मन में जरा-सा भी वासना का अंकुर उत्पन्न हो जाता है; तब वे ब्रह्मचर्य से भ्रष्ट एवं कठोर प्रायश्चित्त के भागी माने जाते हैं।

इससे यह स्पष्ट है कि उत्सर्ग रूप में साधु या साध्वी को एक-दूसरे का स्पर्श करने की जरा भी छूट नहीं है, उन्हें विकारभाव से स्वच्छन्दरूप से अकारण एक-दूसरे का या स्त्री-पुरुष का स्पर्श करने का सर्वथा निषेध है; क्योंकि उच्छृंखलरूप से, विकार भाव से एक-दूसरे का स्पर्श होने पर सोई हुई कामवासना के जाग्रत होने की संभावना है। अतः ब्रह्मचारी स्त्री-पुरुष को कामविकारभाव की उत्पत्ति हो जाने की दृष्टि से एक-दूसरे के शरीरस्पर्श या सम्पर्क का निषेध है।

निष्कर्ष यह है कि कामविकार को उत्पन्न एवं उत्तेजित करने के साधनभूत इन्द्रिय-विषयों के प्रति आसक्ति या रागद्वेष का त्याग करना, इन्द्रियों को नियन्त्रण में रखना और इन्हें सुमार्ग में लगाना ब्रह्मचर्य का व्यापक लक्षण है। □

३

ब्रह्मचर्य-साधना का मंत्र : मनोनिग्रह

ब्रह्मचर्य की सकुशल साधना के लिए इन्द्रिय-संयम का महत्व पिछले प्रकरण में बताया, इन्द्रिय-संयम द्वारा ब्रह्मचर्य सिद्ध होता है किन्तु इन्द्रिय-संयम साधने के लिए मन को साधने की आवश्यकता है। मनःसंयम सधने पर इन्द्रियाँ स्वतः संयम एवं ब्रह्मचर्य में लीन हो जाती हैं। इसलिए अब मनोनिग्रह का महत्व एवं उसकी ब्रह्मचर्य साधने में उपयोगिता पर चिन्तन करना है।

मनोनिग्रह : ब्रह्मचर्य-लक्षण का मूल

ब्रह्मचर्य का लक्षण सर्वेन्द्रिय-संयम तथा स्त्री-स्पर्श-संसर्ग त्याग किया गया। किन्तु इस साधना में सिद्धि प्राप्त करने के लिए इन्द्रिय-संयम की अपेक्षा मनोनिरोध को मनीषियों ने अधिक महत्व दिया है। क्योंकि मन ही इन्द्रियों का गुरु या कमांडर है। वह इन्द्रियों को जिधर घुमाना चाहे घुमा सकता है। इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों में स्वच्छन्द रूप से प्रवृत्त हो रही हों उस समय मन अगर उनके प्रवाह में बह जाए, इन्द्रियों को रोके नहीं तो ब्रह्मचर्य-साधना खटाई में पड़ जाएगी। ब्रह्मचर्य-साधक यदि इन्द्रियों को निश्चेष्ट बनाकर बैठ जाता है, आँखें बन्द कर लेता है, कान में भी डाटा लगा देता है, नाक में भी कपड़ा लगा देता है, जीभ को बन्द कर लेता है, मौन होकर हाथ-पैर आदि को स्पर्शेन्द्रिय को भी चेष्टारहित कर लेता है, क्या इतने पर से ब्रह्मचर्य सिद्ध हो जाएगा ? कदापि नहीं। यह बात निश्चित है कि कई बार इन्द्रियों के साथ विषयों का सम्पर्क न होने पर भी ब्रह्मचर्य के सामान्य साधक का अपरिपक्व मन दुर्विषयों के बारे में संकल्प-विकल्प करता रहता है। विषय-भोग्य वस्तु उपस्थित न होने पर भी मन उन-उन मनोज्ञ विषयों को प्राप्त करने के लिए संकल्प-विकल्प करता रहता है। अगर ब्रह्मचारी साधक बाह्यरूप से सभी इन्द्रियों को बन्द करके बैठ जाए, किन्तु मन से विषयों का स्मरण करता रहे, मन में विषय प्राप्ति के लिए उधेड़बुन करता रहे तो भगवद्गीता में उसे मिथ्याचारी (दम्भी) कहा गया है।[1]

---

१ कर्मेन्द्रियाणि संयम्य स आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते॥ —भगवद्गीता ३/६

अर्थात्—एक ओर, मन में उत्पन्न होने वाले विकारों के साथ यानी विषयाधीन मन के साथ सहकार किया जाता है और उसमें आनन्द मनाया जाता है, तथा बाहर से इन्द्रियनिग्रह किया जाता है और ऐसा दिखावा किया जाता है कि हम ब्रह्मचर्य का पालन कर रहे हैं तो वह कपटाचरण और ढोंग है, मिथ्याचार है।

यदि इन्द्रियों पर नियन्त्रण कर लेने के साथ-साथ मन को निर्विकार बनाने के लिए प्रयत्न किया जाता है तो इसमें किसी प्रकार का विसंवाद नहीं है, इसे मिथ्याचार नहीं कहा जा सकता। चूंकि मन पर नियन्त्रण लम्बे अर्से तक प्रयत्न करते रहने पर ही सम्भव है। इन्द्रियों पर संयम करना भी आसान नहीं है। उसके लिए भी बहुत प्रयत्न करना पड़ता है। फिर भी मन को वश में करने की अपेक्षा इन्द्रिय-संयम आसान है यह समझकर जो (इन्द्रियसंयम) आसान है, उसे पहले साधना फिर कठिन (मनोजय) को साधने का प्रयत्न करना, विसंवाद नहीं है, अन्तर्विरोध नहीं है। इन्द्रियों और मन को नियन्त्रण करने की गति में दूरी भले हो विरोध नहीं होना चाहिए, दिशा भी भिन्न नहीं होनी चाहिए, यही सत्याचार है। मिथ्याचार तो तब होता है, जब इन्द्रियों को तो काबू में कर लिया जाए, परन्तु मन को काबू में करने का जरा भी प्रयास न हो, उसे खुली छूट दे दी जाए, मन से विषय-भोग का रस चखा जाए, ऐसी विसंगति ही मिथ्याचार है।

इसलिए मनोनिरोध प्रयत्न-मूलक सर्वेन्द्रियसंयम ही ब्रह्मचर्य का यथार्थ लक्षण घटित होता है।

आचार्य हेमचन्द्र ने भी ब्रह्मचर्य को परिपक्व साधना के लिए कहा है—"इन्द्रिय विजय के लिए मन की शुद्धि आवश्यक है। साधक का कर्त्तव्य है कि वह मनःशुद्धिपूर्वक इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करे। मन की शुद्धि के बिना केवल यम-नियमों का पालन करने से साधक को अपने साध्य की प्राप्ति नहीं हो सकती।" यद्यपि मन का निग्रह करना आसान कार्य नहीं है; क्योंकि मानव-मन अत्यन्त प्रबल एवं वेगवान् है। संकल्प-विकल्प करना मन का स्वभाव है। उसे गठड़ी में बाँधकर बंद नहीं किया जा सकता। वह तो अपनी उछल-कूद मचाएगा ही। एक क्षण के लिए भी वह निष्क्रिय होकर रह नहीं सकता। स्वप्न में, जागृति-अवस्था में, और सुषुप्ति अवस्था में भी इन्द्रियाँ भले ही सो जाएँ, मन बराबर जाग्रत रहता है और संकल्प-विकल्पों के ताने-बाने बुनता रहता है। इस जगत में कोई भी ऐसा पदार्थ नहीं है जो गति में और वेग में मन की तुलना कर सके। मन की इस अपार एवं आश्चर्यजनक शक्ति को देखते हुए कई कच्चे साधक कहने लगते हैं—"मन तो कभी वश में हो ही नहीं सकता। फिर इन्द्रियों को या देह को दण्डित या दमन करने से क्या लाभ?" ऐसा विचार करना यथार्थ नहीं है। मन का निग्रह करना कठिन होते हुए भी असाध्य नहीं है। लम्बे समय तक लगातार सत्कार एवं एवं श्रद्धापूर्वक प्रयत्न करने से मनोनिग्रह सम्भव है; प्रयत्न छोड़ना ठीक नहीं। यों तो योगी आनन्दघनजी, संत कबीर, आदि सब मनोनिग्रह को कठिन बताते हैं, पर वे पस्तहिम्मत नहीं होते। वे जानते थे कि मनुष्य जीवन की जय और पराजय मन

की जय-पराजय पर आधारित है। भयंकर शत्रुओं से लड़ने वाला योद्धा अपने शत्रुओं से पराजित तभी होता है, जब उसका मन दुर्बल हो जाता है। मनुष्य के मन में विजय न हो तो बाहर की विजय उसके अन्तर्मन को हर्षित नहीं कर सकती। भगवद्गीता में अर्जुन ने कर्मयोगी श्रीकृष्ण से पूछा—"हे कृष्ण! मन तो अत्यन्त चंचल है, वह बहुत प्रमाथी है, बलवान और सुदृढ़ है। उसका निग्रह करना हवा को हाथों में पकड़ने के समान दुष्कर मानता हूँ। ऐसे मन को निग्रह करने का उपाय बताइए।"[1]

इस पर श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा—"हे अर्जुन! अभ्यास और वैराग्य से मन का निग्रह हो सकता है।"[2]

इसका तात्पर्य यह है कि मानवात्मा में मन की शक्ति से अधिक शक्ति विद्यमान है। यदि मानव अपनी आत्मशक्ति को ठीक तरह से पहचान ले तो फिर उसके लिए मन का निग्रह, निरोध या नियंत्रण अथवा मन पर विजय पाना कुछ भी कठिन नहीं, दुष्कर नहीं। मन पर विजय पाने के दो उपाय हैं आत्मा के पास—(१) अभ्यास और (२) वैराग्य। अभ्यास का मतलब है—सतत मन पर विजय प्राप्त करने का प्रयत्न एवं परिशीलन तथा जागरूक रहने का प्रयास करना। एक ही कार्य को कई बार करने से मनुष्य उस विषय में दक्ष एवं परिपक्व हो जाता है। एक पाश्चात्य विचारक कहता है—

Practice makes a man perfect.

अभ्यास मनुष्य को प्रवीण—परिपूर्ण बना देता है।

इन्द्रियों और मन को जीतने का श्रद्धाभक्तिपूर्वक, निष्ठा और लगन से अभ्यास किया जाये तो परिपक्वता आ सकती है।

स्कॉटलैण्ड का राबर्ट ब्रूस नामक अंग्रेज योद्धा युद्ध में पाँच बार हार कर निराश हो चुका था। वह हताश होकर अपने बिछौने पर पड़ा-पड़ा करवटें बदल रहा था। आँखों में नींद नहीं आ रही थी। अचानक उसका ध्यान एक मकड़े की ओर गया, जो बार-बार अपना जाला बनाता और वह टूट जाता था। चार-पाँच बार जाला टूट जाने पर भी मकड़ा हताश नहीं हुआ। इस बार वह दुगने उत्साह और वेग से जाला बनाने लगा और सचमुच इस बार वह जाला बनाने में पूर्ण सफल हो गया।

राबर्ट ब्रूस मकड़े की इस सफलता को देखकर बिस्तर से उठा और मन ही मन सोचा—'जब मकड़े ने बार-बार असफल होने के बावजूद भी अपना प्रयत्न नहीं छोड़ा और अन्त में सफल हो गया तो क्या मैं मनुष्य होकर निराश-हताश एवं निरु-

---

१ चंचलं हि मनः कृष्ण ! प्रमाथि बलवद् दृढम्।
तस्याऽहं निग्रहं मन्ये, वायोरिव सुदुष्करम्॥ —भगवद्गीता ६/३४

२ **अभ्यासेन तु कौन्तेय ! वैराग्येण च गृह्यते।** भगवद्गीता ६/ ३५

त्साहित बनकर बैठ जाऊँ ? नहीं, मैं इस बार फिर जोर-शोर से युद्ध करूँगा, विजय क्यों नहीं मिलेगी ? सचमुच, छठी बार राबर्ट ब्रूस प्रबल उत्साह के साथ लड़ा और उसने युद्ध में विजय प्राप्त की।

इसी प्रकार विविध मनोविकारों के साथ बार-बार युद्ध में सफलता न मिले तो भी साधक को हतोत्साह नहीं होना चाहिए। मन के इन कामादि विकारों के साथ सतत युद्ध करते रहने से एक दिन इन पर अवश्य ही विजय प्राप्त होगी।

मनोनिग्रह का दूसरा उपाय है—वैराग्य ! देखे, सुने, (प्रत्यक्ष परोक्ष) एवं जाने हुए इन्द्रिय-विषयों के प्रति वितृष्णा (लालसारहित) हो जाना, उनसे अरुचि हो जाना, उन्हें अपनाने का विचार न होना विरक्ति या वैराग्य है।[1] योगदर्शन में भी अभ्यास और वैराग्य को मनोनिरोध[2] का उपाय बताया है।

ब्रह्मचर्य-साधक की प्रयत्नावस्था में विकारों का बार-बार मन पर आक्रमण होना सम्भव है। परन्तु विकारों का प्रथम आक्रमण होते ही ब्रह्मचर्यव्रत का निश्चय और विकारों को जीतने का प्रयत्न छोड़ देना उचित नहीं। साधक यह सोचे कि 'विकार आत्मा के धर्म—स्वभाव नहीं, विभाव हैं, परभाव हैं, उनमें मुझे रमण नहीं करना है, रस नहीं लेना है। इनमें रस लेने से आत्मा को कोई लाभ नहीं। मैं परमात्मस्वरूप हूँ, शुद्ध आत्मा हूँ, देह और इन्द्रियों से भिन्न हूँ।' इस प्रकार का विवेक एवं वैराग्य का बल विकारों को परास्त करने में सहायक होगा।

दूसरे, साधक विकारों के पैदा होने से घबराए नहीं, उनसे लड़ने और उन्हें हटाने-मिटाने का अपना प्रयत्न छोड़े नहीं। वह दृढ़निश्चयपूर्वक यह सोचे कि 'विकारों के पैदा होने मात्र से मेरा (आत्मा का) कुछ भी नहीं बिगड़ता। विकारों से मैं रुख नहीं मिलाऊँगा, या विकारों से सदैव असहकार करता रहूँगा तो वे अपने-आप भग जायेंगे। विकारों को प्रश्रय देने से ही वे आगे बढ़ते हैं। मैं विकारों को कदापि प्रश्रय या सहकार नहीं दूंगा।'

विकार इतने बलवान होते हैं कि साधक, चाहे सामान्य ब्रह्मचारी हो या नैष्ठिक ब्रह्मचारी, उसके मन को बलात् खींच लेते हैं। साधक की इच्छा न होते हुए भी पूर्वजन्म के या इसी जन्म के पिछले संस्कारों के कारण विकार पैदा होते हैं, और अपना बल दिखाते हैं। मन जब तक अभ्यास और वैराग्य में परिपक्व नहीं होता तब तक वह विवश होकर विषयों के प्रति दौड़ जाता है।

अगर साधक एक बार भी उन विकारों में रस लेकर विषय-सेवन कर लेता है तो फिर उसके अन्तर्मन में कुसंस्कार का बीज पड़ जाता है और वह निमित्त मिलते

---

१ दृष्टानुश्रविक विषय वितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्। —योगदर्शन

२ अभ्यास-वैराग्याभ्यां तन्निरोधः। —योगदर्शन

ही कभी भी उभर सकता है। इसलिए विषय-सेवन के प्रति घृणा (विरक्ति) हो जाने पर भी पूर्वसंस्कारवश कभी विकार पूरे बल के साथ मन पर आक्रमण करे तो साधक को उसके साथ असहकार का प्रयत्न नहीं छोड़ना चाहिए। यदि उस समय विकाराधीन मन के साथ सहकार किया तो साधक का पतन निश्चित है।

महात्मा गांधी के आश्रम में एक नैष्ठिक ब्रह्मचारी थे। बचपन में ही उनके ध्यान में आ गया कि उनके मन में विकार का अस्तित्व है, लेकिन वे उसे प्रश्रय नहीं देते थे, रस नहीं लेते थे, इसलिए वह आगे नहीं बढ़ पाया। घर का वातावरण भी पवित्र एवं सात्त्विक था। १६ साल की उम्र में वे महात्मा गांधी के आश्रम में आये। वहाँ दिन-रात सत्कर्मों में लगे रहते थे। सुबह-शाम प्रार्थना एवं सत्संग में वे सुविचारों से युक्त रहते थे। इसलिए विकारों को पोषण नहीं मिलता था। लेकिन जब वे ३२ वर्ष की उम्र में बीमार पड़े तो शरीर दुर्बल हो गया, शरीर में अधिक कार्य करने की शक्ति न रही। ऐसी स्थिति में एक दिन उनके मन में प्रबल विकार पैदा हुआ, वह आसानी से हटा नहीं। उसे तुरन्त हटते न देख उक्त ब्रह्मचारी साधक को बड़ा डर लगा कि 'यदि यह मनोविकार शान्त न हुआ तो क्या होगा? मैं बर्बाद हो जाऊँगा।' दिन-रात बेचैनी रहती थी, नींद नहीं आती थी। दस महीने तक उक्त साधक की ऐसी अतिदयनीय दशा रही। किन्तु वे हारे नहीं, विकार से लड़ते रहे, फिर भी विजय प्राप्त नहीं हो रही थी। एक दिन संत विनोबा ने उनकी व्यथा देखकर पूछा—"क्या आपने विद्यारण्य स्वामी की लिखी हुई 'पंचदशी' पढ़ी है। न पढ़ी हो तो उसे मनोयोगपूर्वक पढ़ें। आपका मन शान्त एवं समाहित हो जाएगा।" उन्होंने पुस्तकालय से पंचदशी ग्रन्थ लाकर पढ़ना शुरू किया, ज्यों ही उन्होंने उसका चौथा प्रकरण—'जीवसृष्टि और ईश्वर-सृष्टि का विश्लेषण' पढ़ा, उन्हें अपने मनोविकार पर काबू पाने की चाबी हाथ लग गई। उन्हें प्रतीति होने लगी कि 'मन में जो कुछ चलता है, रूप सताता है, वह तो काल्पनिक है। काल्पनिक वस्तु तो मन के बाहर ही रहती है, वह भीतर नहीं घुस सकती। अतः मन में विकार पैदा करने वाली काल्पनिक वस्तु से घबराने की आवश्यकता नहीं।' यह विचार मस्तिष्क में जमते ही उक्त साधक का अन्तर्युद्ध आधा कम हो गया। फिर उन्होंने इसी विचार का सतत रटन करके इसे हृदयंगम करने तथा अन्तर् में रमाने का अभ्यास किया। इस प्रकार के सतत अभ्यास और वैराग्य से उन्होंने अपने मन पर विजय प्राप्त कर ली। अगर ये पहले से ही हार कर दीन बन जाते और प्रयत्न छोड़ बैठते तो यह विजय कैसे मिलती?

पंजाबी में एक गीत है—**'कदी नहीं हारना, भावे साड़ी जान जाए'**।

मलिन संस्कार मन में कितना ही जोर क्यों न मारे, उससे हारना नहीं, सतत भिड़ते रहना चाहिए। अन्त में विजय मिलेगी ही। मन पर जोर अजमाने की

अपेक्षा विवेक, वैराग्य और अभ्यास की कुञ्जी द्वारा खोलने से मनोविजय का ताला आसानी से खुल जाता है।

अतः मनोनिरोध या मनोनिग्रह का सरल उपाय यही है कि अपना अधिकांश समय आत्म-स्वभाव या परमात्मा के चिन्तन-मनन में सतत लगाए रखें। मन आन्तरिक विचारों के क्षेत्र में डूबा रहेगा तो इन्द्रिय-विषयों का विचार नहीं आएगा। आन्तरिक पवित्रता रखने से इन्द्रिय-विषयों पर स्वतः नियंत्रण रहेगा। द्वेष, घृणा, ईर्ष्या, क्रोध, काम, मोह, आदि से मन मलिन एवं अपवित्र बनता है और वात्सल्य, आत्मीयता, सौजन्य, दया, क्षमा, सहानुभूति और उदारता आदि भावों से पवित्र और निर्मल रहता है। मन इन्द्रियों का संचालक है इसलिए पवित्र मन इन्द्रियों को दुर्विषयों की ओर जाने ही नहीं देगा, वह इन्द्रियों को शुभकार्यों में लगाएगा।

इस प्रकार मन सध गया तो सब सध जाएगा। मन की साधना ही वास्तव में इन्द्रियविजय की साधना है। मनोविजय का लक्ष्य बनाये बिना जो इन्द्रियविजय या ब्रह्मचर्य-योग की साधना करने जाता है, वह उस पंगु की तरह हास्यास्पद बन जाता है, जो पर्वतशिखर पर चढ़ना चाहता है। जो साधक इन्द्रियनिग्रह नहीं कर पाता, वह मन पर भी विजय नहीं कर पाता और जो मन पर विजय नहीं कर पाता, वह इन्द्रियनिग्रह भी नहीं कर पाता। और जो मनोविजयमूलक सर्वेन्द्रिय संयम नहीं कर सकता, वह ब्रह्मचर्य का पालन नहीं कर सकता। इसीलिए ब्रह्मचर्य-साधना का मंत्र है—समस्त इन्द्रियों और मन को विषय-विकारों से विरक्त रखना।

□□

४

वीर्य-रक्षा और ब्रह्मचर्य

ब्रह्मचर्य के सम्बन्ध में जितने विचार हमारे सामने आते हैं उनमें एकरूपता के साथ विविधता भी है। इस विविधता में रोचकता और ज्ञान की स्फुरणा भी है।

पिछले प्रकरणों में हमने इन्द्रिय-संयम तथा मनोनिग्रह के सम्बन्ध में चिन्तन किया। वास्तव में सर्वइन्द्रिय-संयम ही ब्रह्मचर्य की सम्पूर्ण साधना है और इस इन्द्रिय-संयम का आधार है मनोनिग्रह। मनोनिग्रह का अभ्यास सधने पर इन्द्रिय-संयम सध जाता है और तब ब्रह्मचर्य की आराधना समग्र रूप में सफल होती है।

ब्रह्मचर्य के सम्बन्ध में अध्यात्मवादी चिन्तक जहां इन्द्रियसंयम को महत्व देते है वहां शरीरशास्त्री ब्रह्मचर्य का सम्बन्ध वीर्यरक्षा[1] से जोड़ते हैं। उनके विचार अधिकतर शरीर विज्ञान पर आधारित हैं और शरीरशास्त्र की दृष्टि से ही वे ब्रह्मचर्य की व्याख्या करते हैं। अतः यह आवश्यक और उचित लगता है कि हम वीर्य-रक्षा की दृष्टि से भी ब्रह्मचर्य पर चिन्तन व चर्चा करें और अध्यात्म तथा शरीरशास्त्र के समन्वय का सूत्र खोज निकालें।

आज के अधिकांश शरीरशास्त्री ब्रह्मचर्य की सीमा वीर्य-रक्षा तक मानते हैं, परन्तु चिन्तन करने पर पूर्णरूप से वीर्य-रक्षा का फलितार्थ यही निकलेगा कि सभी इन्द्रियों और मन को विकार भाव से दुर्विषयों की ओर प्रवृत्त न होने देना।

मान लो, एक व्यक्ति वचन से कामवासना भड़काने वाले शब्द बोल रहा है, मन ही मन कामसेवन का चिन्तन करता है, तथा शरीर से भी कई प्रकार की काम-चेष्टाएँ करता है, इतने से प्रायः वीर्यस्खलन नहीं होता, इससे वीर्य-रक्षण तो हो गया परन्तु क्या इन वाचिक-मानसिक-कायिक प्रवृत्तियों से ब्रह्मचर्य-रक्षा हो गई? इन चेष्टाओं के करते रहने पर वीर्य-रक्षा भले ही हो जाती हो, परन्तु ब्रह्मचर्य-रक्षा नहीं होती। अलबत्ता, वीर्य-रक्षणरूप अपूर्ण ब्रह्मचर्य की साधना के द्वारा पूर्ण ब्रह्मचर्य तक पहुँचा जा सकता है। इसलिए वीर्य-रक्षा का भी बहुत बड़ा महत्त्व है, ब्रह्मचर्य पालन में।

वीर्य-रक्षा के महत्त्व को समझने के पूर्व वीर्य क्या है? उसकी रचना कैसे

---

१ वीर्यधारणं हि ब्रह्मचर्यम्।

होती है? उसकी रक्षा क्यों अनिवार्य है ? उसका नाश होने से क्या हानि है ? इस पर भारतीय आयुर्वेद तथा पाश्चात्य चिकित्साशास्त्र, दोनों की दृष्टियों से विचार कर लेना चाहिए।

वीर्योत्पत्ति का क्रम

भारतीय आयुर्वेद शास्त्र की दृष्टि से—मनुष्य के शरीर का सर्वोत्तम तत्त्व भाग वीर्य है। श्री सुश्रुताचार्य ने लिखा है कि खाये-पीये हुए पदार्थों से सर्वप्रथम जो तत्त्व बनता है, उसे 'रस' कहा जाता है। रस से रक्त, रक्त से मांस, मांस से मेद, मेद से अस्थि, अस्थि से मज्जा और मज्जा से वीर्य बनता है।[1]

वीर्य, शरीर रूपी यंत्र में सबसे अन्त में बनने वाला शक्तिशाली सातवाँ धातु है। प्राचीन आयुर्वेद शास्त्र का अभिप्राय यह है कि स्वाभाविक क्रम के अनुसार आहार किये गये पदार्थों का वीर्य में रूपान्तरण होने में ३० या ४० दिन लग जाते हैं।

आचार्य भोज के अनुसार मनुष्य जो कुछ भोजन करता है उससे सर्वप्रथम जठर में रस बनता है, अर्थात्—भोजन करने के बाद उसके सार भाग के तो शरीर में रहकर रसादि बनते हैं, शेष असार भाग मल-मूत्र, पसीना, नख, बाल आदि के रूप में बाहर निकल जाता है। रस से ५ दिन तक पाचन होकर रक्त बनता है, रक्त से ५ दिन तक पाचन होकर मांस बनता है, यों क्रमशः पाँच-पाँच दिन के अनन्तर मांस से मेद, मेद से अस्थि, अस्थि से मज्जा और मज्जा से सारभूत पदार्थ वीर्य तैयार होता है। इस प्रकार रस से वीर्य बनने तक में ३० दिन लग जाते हैं। निष्कर्ष यह है इस शक्तिशाली सारभूत पदार्थ को तैयार करने में शरीर यंत्र को जीवन के लिए आवश्यक अन्य पदार्थों की अपेक्षा अधिक प्रयत्न करना पड़ता है। रस की अपेक्षा रक्त में तत्त्व भाग अधिक है। क्रमशः उत्तरोत्तर सार भाग बढ़ता ही जाता है। शरीर की भौतिक शक्तियों का अन्तिम सारभूत पदार्थ पुरुष में 'वीर्य' और स्त्री में 'रज' है।[2]

आयुर्वेदाचार्य पुनर्वसु का कथन है कि खान-पान के पदार्थों का असली सत्त्व वीर्य है और वीर्य की रक्षा करना प्रत्येक मनुष्य का परम धर्म है क्योंकि दो मन खुराक से दो सेर रक्त बनता है और दो सेर रक्त से सिर्फ दो तोले वीर्य उत्पन्न होता है।

अमेरिका के प्रसिद्ध शरीरवृद्धिशास्त्री मैकफेडन ने अपनी पुस्तक 'Manhood and Marriage में लिखा है—४० औंस रक्त से एक औंस वीर्य बनता है। डॉ० कोवन

---

१ रसाद् रक्तं ततो मांसं, मांसान्मेदः प्रजायते।
मेदसोऽस्थि ततो मज्जा, मज्जायाः शुक्रसम्भवा॥ —श्री सुश्रुताचार्य

२ (क) एवं मांसेन रसः शुक्रो भवति पुंसां, स्त्रीणां चार्तवम्। —सुश्रुत
(ख) धातौ रसादौ मज्जान्तं प्रत्येकक्रमतो यतः।
अहोरात्रात्स्वयं पंच सार्द्धं दण्डं च तिष्ठति॥ —भोज

ने भी अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'The Science of a New Life'[1] में लिखा है—शरीर के किसी भाग में से ४० औंस रक्त निकाल लिया जाए तो वह १ औंस वीर्य के बराबर होता है।

एनसाइक्लोपीडिया ऑफ फिजिकल कल्चर[2] के अनुसार १ औंस वीर्य की शक्ति ६० औंस रक्त के बराबर है।

यद्यपि इस विषय में अभी तक निश्चित रूप से पूर्णतया अनुसन्धान नहीं हो सका है, फिर भी इतना तो निःसन्देह कहा जा सकता है कि थोड़े-से वीर्य को उत्पन्न करने में रक्त की अत्यधिक मात्रा खर्च होती है। भारतीय आयुर्वेदाचार्यों का तो स्पष्ट मत है कि थोड़े-से वीर्य के बनने में ४०, ५० या ६० गुना रुधिर काम में आ जाता है। थोड़े से वीर्य का नष्ट हो जाना अत्यधिक रक्त के नष्ट हो जाने के समान है। समग्र शरीर में सबसे अधिक मूल्यवान सारभूत एवं प्राणदायक तत्त्व वीर्य है। रक्त में शरीर को मृत या जीवित रखने की शक्ति है, तब उसके सर्वाधिक मूल्यवान सारभूत तत्वों से बने हुए वीर्य में वह शक्ति निश्चित रूप से कई गुनी होनी चाहिए। इसीलिए भारतीय तत्त्वज्ञों ने एक सूत्र में कह दिया—**मरणं बिन्दुपातेन, जीवनं बिन्दुधारणात्**।"[3]

वीर्य का स्थान और अत्यन्त महत्व—आयुर्वेद शास्त्र के अनुसार वीर्य का स्थान समग्र शरीर में है। आयुर्वेद के प्रसिद्ध विद्वान वाग्भट का कथन है कि "रस से लेकर वीर्य (शुक्र) तक सातों धातुओं का सर्वश्रेष्ठ जो तेज है, वह ओज है। ओजस् मुख्यतया हृदय में व्याप्त होते हुए भी सामान्यतया सारे शरीर में व्याप्त रहता है। शरीर में वह जैसे-जैसे बढ़ता है, वैसे-वैसे तुष्टि, पुष्टि और शक्ति उत्पन्न होती जाती है। ओजस् के नाश से मनुष्य का जीवन समाप्त हो जाता है, क्योंकि ओजस् के रहते ही जीवन रहता है।[4] देह के आश्रित विविध भाव ओजस् से ही निष्पन्न होते हैं, जैसे कि उत्साह, प्रतिभा, धैर्य, लावण्य, सुकुमारता आदि।"

शार्ङ्गधर का मत है कि "ओजस् समग्र शरीर में रहता है। वह स्निग्ध, शीतल,

---

१ पृष्ठ १०६ पर।

२ पृष्ठ २७७२ पर।

३ शिवसंहिता।

४ ओजश्च तेजो धातूनां शुक्रान्तानां परं स्मृतम्।
हृदयस्थमपि व्यापि देहस्थितिनिबन्धनम्॥
यस्य प्रवृद्धौ देहस्य, तुष्टि-पुष्टि बलोदयाः।
यन्नाशे नियतं नाशो यस्मिंस्तिष्ठति जीवनम्॥
निष्पद्यन्ते यतो भावा विविधा देहसंश्रयाः।
उत्साह-प्रतिभा-धैर्य-लावण्य-सुकुमारताः॥

—वाग्भट्ट कृत सुश्रुत ११/३७ से ३९

स्थिर, श्वेत और सोमात्मक होता है। यह शरीर को शक्ति और पुष्टि देने वाला है।"[1]

'भाव प्रकाश' में कहा गया है—यह वीर्य सबके शरीर में उसी प्रकार व्याप्त रहता है—"जैसे दूध में घी और ईख के रस में गुड़। जिस प्रकार दूध को मथने से घी निकल आता है, तथा ईख को पेरने से रस निकलता है, उसी प्रकार वीर्य वाले शरीर के मथन करने से वीर्य निकल आता है।"[2] जैसे दूध में से घी निकालने और ईख में से रस निकालने के बाद वे सारहीन एवं खोखले (निःसत्त्व) हो जाते हैं, वैसे ही शरीर में से वीर्य शक्ति निकल जाता है, तब वह शरीर भी निःसत्त्व, खोखला, निस्तेज एवं सारहीन हो जाता है। वीर्य-पतन के बाद शरीर की सभी नाड़ियाँ शिथिल हो जाती हैं, शरीर का अंग-अंग ढीला हो जाता है।

चरकसंहिता में भी यही कहा गया है कि जिस प्रकार इक्षु में रस, दही में घी और तिल में तेल रहता है, वैसे ही सारे शरीर में और त्वचा में वीर्य व्याप्त होकर रहता है, जैसे भीगे हुए कपड़े को निचोड़ने से पानी निकलता है, वैसे ही स्त्री-पुरुष के संयोग से, काम-चेष्टा, संकल्प एवं क्रीड़ा से वीर्य अपने स्थान से स्खलित हो जाता है।[3]

वाग्भट्टाचार्य का कथन है कि शरीर को यथार्थरूप से कार्य करने की जो शक्ति देता है, वह वीर्य है। वीर्य एवं प्राण का अतिनिकट सम्बन्ध है। अतः इस प्राणदायक तत्त्व को नष्ट करने से प्रत्येक इन्द्रिय शिथिल और निर्बल हो जाती है। पुरुष का बदन तेजोहीन हो जाता है। उसका बुद्धिबल लुप्त हो जाता है, उसकी स्मरण शक्ति का ह्रास हो जाता है, उसमें कायरता अपना अड्डा जमा लेती है। जली हुई लकड़ी को छूते ही उसका चूरा-चूरा हो जाता है, वैसे ही वीर्यहीन पुरुष थोड़ा-सा शारीरिक और बौद्धिक श्रम करते ही थककर चूर-चूर हो जाता है। जवानी में ही बुढ़ापे की-सी अशक्ति उसे घेर लेती है।

पाश्चात्य चिकित्सा विज्ञान की दृष्टि से

पाश्चात्य चिकित्साविज्ञानशास्त्री भी वीर्य की अद्भुत शक्ति एवं उसके महत्व से इन्कार नहीं करते, परन्तु भारतीय आयुर्वेदाचार्यों की तरह वे वीर्य को

---

१ ओजः सर्व शरीरस्थं, स्निग्धं शीतं स्थिरं सितम्।
सोमात्मकं शरीरस्य बलपुष्टिकरं मतम्॥ —सूत्र स्थान १४/१०

२ यथापयसि सर्पिस्तु गुडश्चेक्षौ यथा रसः।
एवं हि सकले काये शुक्रं तिष्ठति देहिनाम्॥ —भावप्रकाश, श्लोक २४०

३ चरकसंहिता, चिकित्सास्थान, अ० २

४ वाग्भट्टाचार्य

सप्तधातुओं का सार नहीं मानते, न ही वे वीर्य को सम्पूर्ण शरीरस्थ मानते हैं। उनका कथन है कि मनोविकार उपस्थित होने पर अण्डकोश अपनी क्रिया द्वारा एक द्रव उत्पन्न करते हैं। यही द्रव उत्पादक वीर्य कहलाता है। जिस प्रकार (धूँआ, नीबू आदि) उत्तेजक पदार्थ के सम्मुख आने पर आँखों से आँसू निकलते हैं तथा मुख से लार टपकती है, उसी प्रकार कामोत्तेजक पदार्थ को देखकर वृषण ग्रन्थियों (अण्डकोशों की ग्रन्थियों—ग्लैण्ड्स) में से वीर्य निकलता है।

इन अण्डकोशों के रस (वीर्य) का स्राव भीतर और बाहर दोनों ओर होता है। भीतरी स्राव को अन्तःस्राव (इण्टरनल सिक्रीशन) और बाहरी स्राव को बहिःस्राव (एक्सटरनल सिक्रीशन) कहते हैं। अन्तःस्राव तो बचपन से ही प्रारम्भ हो जाता है, यह प्रतिक्षण अण्डकोशों से होता रहता है और लिम्फ एवं रक्त द्वारा शरीर में अंदर ही अंदर खपता रहता है। इन्हीं के द्वारा यह मस्तिष्क तथा मेरुदण्ड में जाकर शरीर को अपूर्व शक्ति प्रदान करता है, हृष्ट-पुष्ट एवं तेजस्वी बनाता है। यह रस समग्र शरीर में व्याप्त होकर आँखों को तेज, मुख को कान्ति, तथा अंग-प्रत्यंग को सुडौलपन देता है। इसी अन्तःस्राव के कारण घोड़ा, बैल (सांड़) और पहलवान एक दूसरे से बढ़-चढ़कर शक्ति दिखलाते हैं। यदि अन्तःस्राव सतत होता रहे और शरीर में खपता रहे तो शरीर के अंगों का सम-विकास होता है। अन्तःस्राव ही शरीर का भोजन है। स्वयं शरीर में खपता है। अन्तःस्राव से भद्दा चेहरा भी सुन्दर दिखाई देता है। काला-कुबड़ा मनुष्य भी आकर्षक लगता है। कहते हैं, अष्टावक्र का शरीर आठ स्थानों से टेढ़ा-मेढ़ा था, किन्तु इसी अन्तःस्राव के कारण उसके मुखमण्डल पर अपूर्व तेजस्विता थी, जिसे देखकर महाराज जनक भी हतप्रभ हो जाते थे। अन्तःस्राव की ही चमक सन्तों, महात्माओं के चेहरों पर देखी जा सकती है। यही पुरुषों के शरीर में पुरुषत्व और स्त्रियों के शरीर में स्त्रीत्व को बनाये रखता है। आयुर्वेद की भाषा में इसी अन्तःस्राव को 'ओज' एवं 'तेज' या 'अन्तर्वीर्य' कहा गया है। यह वीर्य रूपी रसायन का एक प्रकार का 'प्लाज्मा' होता है, जो सारे शरीर में ओज और तेजस् की भाँति छाया रहता है। यदि बहिःस्राव न हो तो वही तत्त्व अन्तःस्राव के रूप में शरीर को तेजस्वी तथा ओजस्वी बना देगा।

निष्कर्ष यह है कि अन्तःस्राव की धारा रक्त के साथ मिलकर शरीर में दीप्ति, मस्तिष्क में शक्ति, उत्साह आदि पैदा करती है। वीर्याशय भरा रहे तो यह धारा रक्त में अधिक जाती है, जिससे वह शारीरिक और मानसिक दोनों प्रकार के स्वास्थ्य को लाभ पहुँचाती है।

दूसरी धारा बहिःस्राव की है जो वीर्याशय में (मूत्राशय और मलाशय के मध्य में) जाती है। बहिःस्राव में शुक्र कीटाणुओं के साथ-साथ जनन प्रदेश के अन्य अनेक स्थानों से उत्पन्न हुए स्राव भी मिल जाते हैं। उत्पादक अंगों का दुरुपयोग करने से अन्तःस्राव में बाधा पड़ती है, फलतः उस व्यक्ति की शारीरिक, मानसिक एवं आत्मिक शक्ति को

उन्नति रुक जाती है। काम-भाव से अथवा उन सब बुराइयों से जो कामुकता उत्पन्न करके अन्तःस्राव में बाधा डालती हैं और उत्पादक ग्रन्थियाँ बहिःस्राव उत्पन्न करने लगती हैं। बहिःस्राव के लिए आयुर्वेद में बीज, शुक्र, या रेतस् शब्द है। बहिःस्राव होने पर मनुष्य तेजोहीन हो जाता है।

जैसा कि पहले कहा गया था कि अन्तःस्राव तो जन्म के साथ ही शुरू हो जाता है, किन्तु बहिःस्राव तभी शुरू होता है जब शुक्रकीट (स्पर्मेटोजोआ) बनने लगें। बहिःस्राव होता रहने पर वीर्याशय खाली होता रहता है, जिससे अन्तःस्राव के लिए वीर्य पर्याप्त रूप से संचित नहीं हो पाता। परिणामस्वरूप बहिःस्राव से शारीरिक-मानसिक दोनों प्रकार के स्वास्थ्य को हानि पहुँचती है। शुक्र कीटाणुओं की उत्पत्ति अण्डकोषों में होती है, जिनके साथ अन्य स्राव मिल जाते है, जो वीर्य का रूप धारण कर लेते हैं। ये ही सन्तानोत्पत्ति के कारण हैं। शराब, तम्बाकू, चाय, कॉफी, अफीम, आदि पदार्थों के सेवन से जीवाणु निष्क्रिय हो जाते है।

शरीर से बाहर न निकलने पर ये शुक्र कीटाणु शरीर में खप जाते हैं या नहीं ? इस विषय में, विद्वानों में मतभेद है। डॉ० आरथर कीथ एम० डी० अपने 'मनुष्य शरीर' नामक ग्रन्थ में लिखते हैं "कि वीर्य शिराओं के सम्बन्ध में अन्तिम खोज यह है कि इन शिराओं की रचना ऐसी है, कि वे दो प्रकार का काम करती हैं (१) वीर्य उत्पन्न करने का और (२) रक्ताभिसरण करके शरीर के तमाम भागों को एक प्रकार का अत्यन्त पौष्टिक पदार्थ पहुँचाने का, जो अत्यन्त शक्तिदायक है और शरीर की वृद्धि को उत्तेजन देता है। अर्थात्-यदि स्त्रीसंग से वीर्यपात न किया जाए तो इन्हीं शिराओं द्वारा वह शुक्र शरीर में खप कर शरीर को हृष्ट पुष्ट बना देता है।"

डॉ० कोबन तथा अन्य अनेक विद्वानों का भी यही मत है, कि "यदि इन जीवाणुओं को कुविचारों द्वारा शरीर से बाहर न फैंक दिया जाए तो वे ही जीवाणु जो नये जीवन को उत्पन्न करने का सामर्थ्य रखते हैं, शरीर में ही खप कर व्यक्ति के शारीरिक-मानसिक बल को अद्भुत रूप से बढ़ा सकते हैं।" डॉ० गार्डनर महोदय की भी यही मान्यता है कि "शुक्र कीटाणु रक्त का सारतम भाग है। प्रकृति ने इसे जीवनदात्री शक्ति ही नहीं दी, अपितु इसमें वैयक्तिक जीवन को समृद्ध करने का जादू भी भर दिया है। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि शुक्र कीटाणु के शरीर में खप जाने से समग्र शरीर में संजीवनी शक्ति का संचार हो जाता है।"

बहिःस्राव वीर्यकोश में जाकर या तो वहाँ से शरीर में खपता रहता है, अन्यथा वीर्यकोश के भर जाने पर निकलने की कोशिश करता है। यह निकास तीन प्रकार से होता है—(१) या तो व्यक्ति स्वेच्छा से वीर्यनाश कर देता है। स्वेच्छा से वीर्यनाश के कई कारण हैं। (२) या वह स्वयं निकल जाता है। वीर्यकोश की स्थिति

ऐसी है कि इसके एक ओर मलाशय है तो दूसरी ओर मूत्राशय। दोनों के भर जाने पर शुक्राशय पर इतना जोर पड़ सकता है कि उत्तेजना होकर वीर्य स्खलित हो जाए। (३) या जब शुक्राशय भरा हो, तब गन्दा स्वप्न आने से या शुक्राशय न भी भरा हो तो भी दिन में गंदे उपन्यास या अश्लील दृश्य आदि से संचित गंन्दे विचारों के कारण स्वप्न में कामुकता उत्पन्न होकर स्वप्नदोष हो जाता है, जिससे वीर्यपात हो जाए।

वृषण ग्रन्थियों का अन्तःस्राव (ओज) तो निःसन्देह शरीर में स्वतः ही खपता रहता है, फिर बहिःस्राव (शुक्र या बीज) अभ्यास से क्यों नहीं खप सकता है, और फिर बहिःस्राव भी तो अन्तःस्राव का ही काम-भाव से बाहर निकल जाना है। बहिःस्राव के शरीर में खप जाने के परिणाम चमत्कारी होते हैं। अर्थात्—बहिःस्राव को भी अन्तःस्राव में बदल देने से अदम्य शक्ति का स्रोत फूट पड़ता है।

जो व्यक्ति अब्रह्मचर्य (कामवासना) में अत्यासक्त होता है, उसको वृषण ग्रन्थियों में आने वाले रस-रक्त का उपयोग बहिःस्राव उत्पन्न करने वाले अवयव कर लेते हैं। इसका फल यह होता है कि अन्तःस्राव उत्पन्न करने वाले अवयव उचित सामग्री के अभाव में अपना कार्य करने में अक्षम रह जाते हैं। फलतः सर्व धातुओं और सर्वांग पर होने वाले अन्तःस्राव के महत्त्वपूर्ण प्रभावों से वह वंचित रह जाता है और अनेक प्रकार के विकार उसके शरीर में उत्पन्न होते हैं। वीर्यनाश करने से अन्तःस्राव में बाधा उत्पन्न हो जाती है जो किशोर को किशोर नहीं रहने देती, युवक के यौवन और पुरुष के पुरुषत्व को चाट जाती है। किन्तु यदि अन्तःस्राव (ओज) तथा बहिःस्राव (शुक्र) को शरीर में धारण कर लिया जाए तो किशोरावस्था, यौवन और पुरुषत्व इन तीनों अवस्थाओं का क्रमिक विकास सुचारु रूप से होता है।

एक तीसरा विचार—वीर्य की अवस्थिति एवं स्वरूप के सम्बन्ध में आयुर्वेद और पाश्चात्य शरीर विज्ञान के अतिरिक्त एक तीसरा विचार और है। उसका मन्तव्य है कि वीर्य के नाश से ज्ञानतन्तु निर्बल हो जाते हैं। इसलिए वीर्य का नाश मस्तिष्क का नाश है, क्योंकि वीर्य और मस्तिष्क दोनों एक ही पदार्थ हैं। वीर्यनाश का मस्तिष्क पर सीधा प्रभाव पड़ता है। इसलिए वे कहते हैं कि उत्पादक वीर्य (स्पर्मेटोजोआ) की उत्पत्ति रक्त या अण्डकोषों से नहीं, बल्कि सीधे मस्तिष्क से होती है।

यद्यपि यह निःसन्देह कहा जा सकता है कि वीर्य तथा मस्तिष्क को बनाने वाले रासायनिक पदार्थ एक ही हैं। जिसके वीर्य कीटाणु आवश्यकता से अधिक व्यय हो जाते हैं, उसकी मस्तिष्कीय और चिन्तन शक्ति दुर्बल हो जाती है। शारीरिक, मानसिक श्रम एवं अन्य किसी एक कार्य में ही निरन्तर लगे रहने से शुक्र कीटाणु मस्तिष्क में ही खप जाता है, इसे ही भारतीय आयुर्वेदशास्त्र में ऊर्ध्वरेता कहा जाता है। डॉ० शैलिंग का मन्तव्य है कि "मस्तिष्क अण्डकोषों के रस से निर्मित है।"[१]

---

१. Natural Philosophy

डॉ० हॉल भी इसी मत का समर्थन करते हुए कहते हैं—"अण्डकोषों से एक पदार्थ उत्पन्न होकर मस्तिष्क में पहुँचता है। वहाँ से वह यौवनावस्था में सभी शारीरिक और मानसिक परिवर्तनों को प्रकट करता है।"

डॉ० कोवन का मत है कि "एक द्रव मानवीय मस्तिष्क से उत्पन्न होता है और वह उसी ओर प्रवाहित होने लगता है, जिस ओर मानव के मनोभाव होते हैं।"

डॉ० ब्लॉच का कथन है कि मस्तिष्क और वीर्य का पारस्परिक सम्बन्ध चिरकाल से माना जाता रहा है।

आयुर्वेद ग्रन्थ का मिलता-जुलता मत—आयुर्वेद शास्त्र में वीर्य को सात धातुओं में से गुजर कर बना हुआ माना गया है, जबकि आयुर्वेद के ही कुछ ग्रन्थों में वीर्य को सात धातुओं में से गुजर कर बनने के सिद्धान्त को नहीं माना गया है। वे यही मानते हैं कि 'केदार कुल्या-न्याय' से रक्त ही शरीर के भिन्न-भिन्न अंगों को विविध रस देता रहता है। जैसे बगीचे में पानी सब जगह क्यारियों द्वारा बहता रहता है और उसमें से भिन्न-भिन्न वृक्ष भिन्न-भिन्न रस खींच लेते हैं, इसी प्रकार रक्त भी अंग प्रत्यंग को सींचता हुआ सम्पूर्ण शरीर को पुष्ट करता है। जब रक्त अण्डकोशों में पहुँचता है तब वे रक्त में से वीर्य खींच लेते हैं। यह विचार पाश्चात्य शरीर विज्ञान के विचार के साथ अक्षरशः मिलता है।

तीनों मुख्य विचारों में वीर्य रक्षा का महत्त्व

वीर्य के स्वरूप और कार्य के सम्बन्ध में हमने यहाँ तीनों मुख्य विचारों का विश्लेषण इसलिए कर दिया है कि वीर्य की असाधारण शक्ति और प्रभाव से प्रत्येक व्यक्ति परिचित हो सके और वीर्यरक्षा के महत्त्व को समझ सके। यद्यपि तीनों विचारधाराओं में यत्किंचित् मतभेद है, किन्तु समन्वय किया जाये तो तीनों लगभग एक-सी प्रतीत होंगी। तीनों का स्वर वीर्यरक्षा के महत्त्व के विषय में समान है। जीवन-रक्षा के लिए वीर्यरक्षा करना तीनों आवश्यक ही नहीं, परम आवश्यक मानते हैं। भला जिस वीर्य को आयुर्वेदिक विद्वानों के मतानुसार उत्पन्न करने में मनुष्य शरीर जैसे सूक्ष्म यंत्र को सतत ४० दिन तक अहर्निश भगीरथ प्रयत्न करना पड़ता है, उस अत्यन्त कीमती दुर्लभ पदार्थ को, तथा पाश्चात्य चिकित्सा विज्ञानवेत्ताओं के अनुसार रक्त का सारतम भाग होने से अत्यन्त सारभूत वस्तु को क्षणिक विषयानन्द के आवेश में नष्ट कर देना कहाँ की बुद्धिमत्ता है।

आयुर्वेदशास्त्रियों का कथन है कि नीरोग और सशक्त मनुष्य के एक बार के वीर्यपात में कम से कम डेढ़ तोला वीर्य नष्ट हो जाता है और इतने वीर्य में चार करोड़ सजीव जन्तु होते हैं। यदि सन्तानोत्पत्ति के लिए वीर्य का उपयोग न हो तो उन जीवों की हिंसा होनी सम्भव है। साथ ही वह ४० दिन में भुक्त भोजन के सत्त्व की आहुति दे देता है। इस प्रकार कामी पुरुष स्त्री-संगजनित क्षणिक आनन्द मनाने

के लिए वीर्यपात करके अपने आरोग्य और जीवन की आहुति दे देता है। अगर पुख्ता उम्र का मनुष्य ब्रह्मचर्य पालन करके वीर्य की रक्षा करे तो वृषण में से वीर्य धीरे-धीरे पैदा हो, और वह वीर्य-नल में पहुँचे तो तुरन्त वह खप जाता है, वीर्य स्थिर रह जाता है, उससे शरीर सुदृढ़ और स्वस्थ हो जाता है, मस्तिष्क स्वच्छ हो जाता है, और विचार शक्ति मजबूत होती है।

वीर्य और उसका उपयोग

वीर्य का रासायनिक विश्लेषण करते हुए शरीरविज्ञानशास्त्रियों ने बताया कि वीर्य एक प्रकार का श्वेत, विलक्षण गन्ध वाला, चिकना पारदर्शक रसायन है। वह ठोस कणों और तन्तुओं से बना हुआ है। शुद्ध वीर्य में ७५ प्रतिशत जल आदि तरल पदार्थ, ५ प्रतिशत फास्फेट आफ लाइम, ४ प्रतिशत चिकनाई, ३ प्रतिशत प्रोटीन ऑक्साइड, और शेष भाग आल्बुमिन, केल्शियम, फास्फेट, फास्फोरस, सोडियम क्लोराइड आदि क्षार पदार्थ होते हैं।

वीर्य तन्तु सूक्ष्म एवं लम्बे होते हैं। बिन्दुओं (वीर्य के परमाणुओं) में एक खास विलक्षणता देखी जाती है कि वे सदैव गतिशील होते हैं। इन वीर्य जन्तुओं में चेतना का सर्वाधिक सूक्ष्म अंश होता है। इनमें इतना प्रबल चैतन्य होता है कि वीर्यपात के बाद सूक्ष्मदर्शक यंत्र से देखने पर वे सजीव मालूम हुए हैं। सूक्ष्मदर्शक यंत्र से देखने पर इनकी लम्बाई $\frac{1}{1000}$ से $\frac{1}{170}$ इंच मालूम होती है, जिसमें न केवल मनुष्य शरीर के, बल्कि विराट् विश्व के शक्ति बीज छिपे होते हैं। उनके सिर लम्ब-गोल, पूंछ पतली और लम्बी होती है।

डॉ० मेरीस्टोपीस एम० डी० लिखते हैं कि "यह मानना भयंकर भूल होगी कि वीर्य बाहर निकालने जैसा पदार्थ है। वीर्यपात के समय होने वाले आवेश से जीवन शक्ति और तन्तु बल का क्षय होता है तथा वीर्य में जो रासायनिक पदार्थ रहे हुए हैं, उनका जीवन के अन्य हितकर कार्यों में उपयोग करना अधिक श्रेयस्कर है।"

वीर्य के संचय और विचय के परिणाम

शरीर में वीर्य की दो प्रकार की स्थितियाँ रहती हैं—संचय और विचय। शरीर की प्रारम्भिक अवस्था में संचय शक्ति प्रधान रहती है। जन्म के समय बालक के मस्तिष्क (ललाट) में १० रत्ती शुद्ध वीर्य होता है। यही कारण है कि बच्चा विशुद्ध परमहंस जैसी प्रकृति का विशुद्ध आनन्दी, निश्चिन्त और केवलोऽहं होता है। उस समय शरीर में वीर्य का संचय होता जाता है। एक हाथ का नन्हा-सा शरीर, बढ़ते-बढ़ते छह फीट लम्बा और डेढ़ मन का नौजवान हो जाता है। आँखें, नाक, कान, अंग-प्रत्यंग आदि वही हैं, किन्तु वे बढ़ते जाते हैं, छोटी चीज बड़ी और हल्की चीज भारी हो जाती है। इस आश्चर्यजनक परिवर्तन का कारण है—शरीर में वीर्य की संचय शक्ति। किन्तु देह की यह उन्नति और समृद्धि प्रायः चिरस्थायिनी नहीं होती;

वही हट्टा कट्टा शरीर क्षीण होने लगता है, वजन भी कम होने लगता है, इसका कारण है विचय । संचय का अर्थ है वीर्य-शक्ति की अभिवृद्धि होते रहना और विचय का अर्थ है वीर्य का ह्रास। संचय के बाद विचय का कारण है—प्रजा-प्रजनन या वीर्य पात का प्रारम्भ । प्रजा-प्रजनन या वीर्यपात होने के कारण मनुष्य की शक्ति का ह्रास होने लगता है । शरीर की अभिवृद्धि में कमी होने लगती है ।

प्रजोत्पत्ति के बाद अधिक शारीरिक उन्नति की सम्भावना नहीं रहती; क्योंकि जिस तत्त्व से शारीरिक उन्नति हो सकती थी, वह अब सन्तानोत्पत्ति में लग जाता है । सन्तानोपत्ति के प्रारम्भ होते ही शारीरिक शक्तियों का ह्रास प्रारम्भ हो जाता है । तब संचय की शक्तियों को विचय की शक्तियाँ आ घेरती हैं । शरीर की संजीवनी शक्ति के बीज (वीर्य) का शरीर से बाहर जाना जीवन की अवनति है ।

डॉ० बाणफर एम. डी. कहते हैं कि "मानव-शरीर का सम्पूर्ण विकास शरीर में वीर्य के संचय पर निर्भर है । जब स्त्री-संग से या अन्य किसी प्रकार से वीर्यपात न करके वीर्य को शरीर में ही खपाया (संचित किया) जाता है, तब वह मनुष्य की वृद्धि करने तथा उसे शक्तिशाली बनाने में सहायता करता है।" तात्पर्य यह है कि वीर्य का शरीर में ही संचय (शोषण) होने से आन्तरिक शक्ति बढ़ती है तथा इस अद्भुत शक्ति से शरीर का उत्तमोत्तम विकास होता है ।

वास्तव में वीर्य को शरीर में शोषित (जज्ब) कर देने से प्राणबल का संचय होता है । वीर्य में संजीवन शक्ति का आश्चर्यजनक पुञ्ज होता है । ऐसे वीर्य का संचय करने वाले का शरीर कभी क्षीण नहीं होता, वह पूर्ण नीरोग रहता है, उसका चेहरा ब्रह्मचर्य के तेज से चमकता रहता है, वह सदैव युवक जैसा दिखाई देता है ।

चिकित्साशास्त्र और शरीरविज्ञानशास्त्र का मन्तव्य है कि रक्त का सारतम पदार्थ ही नर और नारी की जननेन्द्रियों की शक्ति का मूल उत्पादनकारण है । पवित्र एवं निर्दोष जीवन वाले नर-नारीगण संयमी एव नियमवान होते हैं, वे स्वेच्छाचारी या व्यभिचारी नहीं होते, उनके रक्त का सारतम सत्व वीर्य शरीर में शोषित (संचित) होता है । वही संचित वीर्य रक्तप्रवाह में मिलकर मनुष्य के मस्तिष्क, स्नायु और मांसपेशियों को पुष्ट बनाता है । इसी संचित वीर्य के परिणामस्वरूप मनुष्य पुरुषत्वसम्पन्न, दृढ़काय, तेजस्वी, उद्यमी, वीर्यवान् और प्रतापी बनता है ।

प्रसिद्ध विदेशी डॉ० लोरेंजो का कथन है कि "वीर्य में बड़ी भारी उत्पादक शक्ति निहित है । यदि कोई व्यक्ति किसी भी प्रकार से इसे शरीर में संचित कर ले तो उसका बल जीवन के रूप में परिवर्तित हो जाता है । वह नये प्राणी को जन्म देने के बदले अपने ही शरीर को नया जीवन अर्पण करता है । यदि युवकों के मन-मस्तिष्क में यह तथ्य जम जाए तो वे अनेक विपत्तियों और कष्टों की परम्परा से बच सकते है ; तथा अपने मन, बुद्धि और धर्म, इन सबसे सम्बन्धित बातों में अपना कल्याण कर सकते हैं ।"

प्राचीनकाल में ५ वर्ष की आयु में ही बालक को गुरुकुल में पहुँचा देने का उद्देश्य था—उसे गृहस्थों के अनुचित खान-पान से बचाकर उसके वीर्य को शुद्ध रूप में संचित होने देना। इससे उसके शरीर में शक्ति का संचार बढ़ता जाता था, तथा अलोना आहार तथा फलाहार, दुग्धाहार आदि पर रखे जाने से उसका बौद्धिक-मानसिक विकास भी तेजी से होता था। फलतः १० वर्ष की आयु तक वीर्य दोनों भौहों के बीच में आ जाता था। १० से १२ वर्ष तक वीर्यशक्ति बच्चे के भौहों से उतर कर कण्ठ में आ जाती थी, जिससे बालक के स्वर में भारीपन और बालिका के स्वर में सुरीलापन आ जाता है। इसके पश्चात् ११ से १६ तक की आयु में वीर्य मेरुदण्ड से होता हुआ उपस्थ की ओर बढ़ता है और धीरे-धीरे मूलाधार चक्र में अपना स्थान जमा लेता है। १६ की आयु में विपरीत लिंग का आकर्षण पैदा होने लगता है; और यहीं से विकार या वासना का प्रारम्भ होता है।

अतएव बालक-बालिकाओं का सम्पर्क (वीर्यरक्षा की दृष्टि से) अलग-अलग कर दिया जाना चाहिए। सहशिक्षा तो बालक के जीवन में कुठाराघात है। परस्पर समीपता से अथवा कुसंगति, बाल-विवाह, अप्राकृतिक मैथुन आदि से कच्चा वीर्य मंथन प्रारम्भ होने लगता है जिसके कारण उनके जीवन में स्वप्नदोष, वीर्यपात और शीघ्र-स्खलन की बीमारियाँ लद जाती हैं। काम-विकार जब मन में आता है तो तुरन्त ही ही मूलाधार चक्र उत्तेजित हो उठता है। उसके उत्तेजित हो जाने से वह सारा ही क्षेत्र, जिसमें कि कामेन्द्रिय भी सम्मिलित है, उत्तेजित हो उठता है। ऐसी स्थिति में ब्रह्मचर्य को सम्भालना अर्थात्—वीर्य की रक्षा करना कठिन हो जाता है। १७ से २४ वर्ष तक की आयु में यह वीर्य मूलाधार चक्र में से सारे शरीर में तिल में तेल की तरह व्याप्त हो जाता है। अगर २५ वर्ष की आयु तक आहार-विहार को दूषित न होने दिया गया, वीर्य को शरीर में भली-भाँति पचा लिया गया और ब्रह्मचर्य खण्डित न हुआ तो इस आयु में शक्ति की मस्ती, विचारों की प्रफुल्लता, मानसिक उन्मुक्तता, साहस, स्वस्थता, निर्भयता, वाक्‌विनोद आदि उसके जीवन में आ जाते हैं, जो जीवन भर रहते हैं। यह सब वीर्य की संचयशक्ति का सुपरिणाम है। परन्तु यदि शरीर-वृद्धि अथवा संचय की अवस्था (२५ वर्ष तक) में वीर्य का किसी भी रूप में विचय (नाश) कर लिया तो फिर शरीर की अवनति है, शक्ति का ह्रास है, जीवन का नाश है। अतः मानव को दीर्घदृष्टि से सोचकर महामूल्यवान् वीर्यरूपी प्राणशक्ति तत्त्व को आत्मशक्ति द्वारा शरीर में पचाकर समस्त शारीरिक-मानसिक शक्ति तथा दीर्घायु-प्रदायिनी जीवन शक्ति में रूपान्तर करके आत्म-कल्याण कर लेना चाहिए।

वीर्य का क्षय : जीवन का क्षय

पहले कहा गया था—सन्तानोत्पत्ति के साथ ही वीर्य का विचय होता है, वही जीवन की अभिवृद्धि के क्षय का चिह्न है। वीर्यक्षय का प्रारम्भ ही जीवन-क्षय का प्रारम्भ है। वीर्य के क्षय का बदला प्रत्येक प्राणधारी को देर-सबेर से—यथाशीघ्र

मृत्यु के रूप में चुकाना पड़ता है। इस सम्बन्ध में प्रसिद्ध कामविज्ञानवेत्ता हैवलॉक एलिस ने अपनी पुस्तक[1] में लिखा है—

"वीर्यनाश होने से ज्ञान तन्तुओं में जो तनाव होता है, और उससे शरीर को जो हानि पहुँचती है, वह इतनी भयंकर होती है कि उसके (सहचार के) पश्चात् अनुभव होने वाले दुष्परिणामों का होना सर्वथा स्वाभाविक है। पशुओं में भी यह देखने में आया है कि प्रथम संभोग के बाद (१) बड़े-बड़े बलिष्ठ बैल (सांड), घोड़े और घोड़े बेहोश होकर गिर पड़ते हैं, (२) सूअर संज्ञाहीन हो जाते हैं, (३) मधु-मक्खियाँ प्रथम आलिंगन के समय ही मरण-शरण हो जाती हैं, (४) पतंगों का श्वास सम्भोग के साथ ही समाप्त हो जाता है, (५) चींटियों की भी यही दशा है, (६) मछलियाँ सन्तानोत्पत्ति के बाद अत्यन्त क्षीण होकर मृत्यु के निकट पहुँच जाती हैं, (७) चूहे, छछूंदर और खरगोश सन्तानोत्पत्ति के बाद प्रायः प्राण गंवा बैठते हैं। कई बार बेहोश होकर एक ओर निढाल होकर गिर जाते हैं। पक्षियों में संभोग के बाद प्रायः कण्ठ मधुर स्वर निकलने बन्द हो जाते हैं, पंखों के रंग उड़ जाते हैं, पैर शिथिल हो जाने से नाचना भी प्रायः भूल जाते हैं।

"मनुष्यों में वीर्यक्षरण के बाद मौत तो देखी ही गई है। परन्तु उसके साथ ही संभोग के बाद की थकान से अनेक उपद्रव भी उत्पन्न हो जाते हैं। कभी-कभी कई दुर्घटनाएँ होती देखी गई हैं। नवयुवकों में प्रथम सम्भोग में बेहोशी तथा कै आदि होती पाई गई है। कई बार मिरगी, फेफड़े की बीमारी तथा पैरों में शिथिलता हो जाती है। अंग भी ढीले पड़ जाते हैं। तिल्ली फट जाती है। रक्त के दबाव को न सह सकने के कारण कई व्यक्तियों के दिमाग की नस फट जाती है। पक्षाघात भी हो जाता है। वृद्ध पुरुषों के वेश्याओं के साथ अनुचित सम्बन्ध के फलस्वरूप कई बार मृत्यु होती देखी गई है। अनेक पुरुष नवविवाहिता के आलिंगन के आवेग को न सह सकने के कारण उसी अवस्था में प्राणविहीन होगए।"

इसी प्रकार 'जनन शास्त्र' नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ में स्त्री-संग से अनेक वृद्धों की मृत्यु की घटनाओं की उल्लेख है। वीर्यपात की कैसी भयंकर विडम्बनाएँ हैं!

इन्हें देखते हुए निःसन्देह यह कहा जा सकता है कि वीर्य शरीर में स्थित अत्यन्त मूल्यवान उपयोगी एवं शक्ति प्रदायक तत्व होने से उसकी सदैव रक्षा करनी चाहिए।

वीर्यनाश से होने वाली भयंकर हानियां

मानव शरीर के विकास के लिए दो मुख्य तत्त्व हैं—वीर्य और तन्तु। वीर्य, जो कि अति उत्तम सत्व है, रक्त से उत्पन्न होता है, जन्म लेने वाले बच्चे के लिए प्राणदाता है, तथा वह रक्त में पुनः शोषित हो जाए तो जीवन वृद्धि करने वाला

---

१ एरोटिक सिम्बोलिज्म, पृ. १६८

है। दूसरा महत्वपूर्ण तत्व है—तन्तु। तन्तुओं का अधिकतर रस स्त्रीसंग करने से समाप्त हो जाता है। इसी तन्तुरस का नियमपूर्वक उपयोग किया जाए तो वीर्याशय में से शोषित होता हुआ वीर्य उसकी क्षतिपूर्ति कर देता है। वीर्यक्षय से, 'स्त्रीसंग से मनुष्य का संरक्षण करने वाले जीवन तत्व अत्यन्त निर्बल हो जाते हैं। स्वस्थ एवं बलवान सन्तान उत्पन्न करने की शक्ति का ह्रास हो जाता है। शरीर अशक्त हो जाने से उसे अनेक प्रकार के चेपी, शोथ आदि के रोग लग जाते हैं। उसकी जिंदगी निकम्मी और दुःखमयी हो जाती है, और अकाल में वह कालकवलित हो जाता है।

मनुष्य-जीवन की अन्तिम सम्भाव्य शक्ति उसका वीर्य है। उसे दूषित करना अथवा उसका दुरुपयोग करना, वीर्य का अपमान है। वीर्य को बर्बाद करना कीमती इत्र को गटर में डालने के समान भयंकर कृत्य है। मनुष्य में जो कुछ भी शक्ति, साहस, शान्ति एवं पुरुषार्थ है, वह वीर्य की बदौलत है। अगर वीर्य न हो तो मनुष्य का चलना-फिरना, गमनागमन, यहाँ तक कि चिन्तन-मनन एवं जीभ से बोलना आदि सब क्रियाएँ बन्द हो जाती हैं। इस परम उपकारी, जीवनत्राता वीर्य की रक्षा का कार्य अतीव महत्वपूर्ण एवं अनिवार्य है।

रक्त से वीर्य बनता है, इसलिए जो वीर्यनाश करता है, वह वास्तव में अपने शरीर में से रक्त बाहर बहाकर रक्ताल्पता के रोग का शिकार बन जाता है। कई बार ऐसे व्यक्ति के शरीर पर रक्त कमी के कारण अनेक रोग आक्रमण कर देते हैं। उसके सिर के बाल कम हो जाते हैं। आँखों में तेज नहीं रहता, वे अन्दर धँस जाती हैं। चेहरे की चमक फीकी पड़ जाती है। आँखों के अगल-बगल में काली छाया का चक्र बन जाता है। दाँत खराब हो जाते हैं। छाती संकड़ी हो जाती है। कन्धे झुक जाते हैं। पाचन शक्ति बिगड़ जाती है। आहार का पाचन ठीक न होने से कभी दस्तें लगने लगती हैं, कभी कब्ज हो जाती है। हृदय में पर्याप्त रक्त न पहुँचने से धड़कन बढ़ जाती है। रक्त की कमी के कारण फेफड़े ठीक काम करना बन्द कर देते हैं। आंतों में लोहो को तंगी हो जाती है, इस कारण वे भी अपनी क्रिया ठीक से नहीं करतीं। शरीर के दूर के अवयवों तक पूरा रक्त पहुँचता नहीं, फलतः वे अंग ठंडे हो जाते हैं। शारीरिक जोड़ (सांधे), मस्तिष्क, गर्दन, कंधे, कुहनी, घुटने आदि में पीड़ा होने लगती है। ये सब दुष्परिणाम वीर्यनाश के कारण शरीर में होने वाली रक्त की कमी के हैं। रक्त की कमी की पूर्ति बाजीकरण की औषधियों, भस्मों आदि के सेवन से नहीं हो सकती। पूर्ति होती है—वीर्य के दुरुपयोग को बन्द करने और हर-सम्भव तरीके से वीर्य की सुरक्षा करने से। वीर्यपात से सभी अंग-प्रत्यंग, स्नायु और जोड़ कुपित हो जाते हैं। शारीरिक-मानसिक बल विशेष रूप से कम हो जाता है।

निष्कर्ष यह है कि वीर्यनाश से, वीर्य के दुरुपयोग से धातुक्षय आदि रोग, रक्त-विकार, शिरोरोग, दृष्टिहीनता, अजीर्ण, बंधकोश, ग्रन्थिवात, राजयक्ष्मा, पक्षाघात, फेफड़ों का रोग, दमा, उन्माद आदि कष्टदायी रोग पैदा हो जाते हैं।

वीर्यनाश से मनुष्य पर पद-पद पर अनेक संकट आते हैं। उनके कारण वह तेलरहित दीपक के समान बुझ जाता है। वीर्यनाश धर्म और धन का नाश करने वाला तथा असंख्य जीवों की हिंसा करने वाला महापातक है, जिससे बड़े-बड़े महान् आत्मा भी पतित होकर अधमाधम अवस्था में गिर गये हैं।

गर्भाधान के लिए भी वीर्यस्राव हानिकारक

वीर्यपात, चाहे किसी भी रूप, किसी भी कारण से हो, थोड़ा हो या अधिक, समय में हो या कुसमय में, विषय-सुख के लिए हो या गर्भाधान के रूप में, शरीर और मन के लिए हानिकारक है। अग्नि में हाथ डालने से ठंडे स्पर्श का अनुभव होना असम्भव है, उसी तरह वीर्यपात होने से शरीर को हानि न पहुँचना अशक्य है। यह तो सामान्य व्यक्ति भी समझ सकता है कि जिस क्रिया से शरीर के सभी अंगों को आघात पहुँचता है, शरीर का सत्त्व निचुड़ जाता है, उससे तन और मन की हानि न हो यह कैसे हो सकता है? गर्भाधान क्रिया में भी अपनी ही जीवन शक्ति का व्यय होने से उस व्यक्ति के आयुष्य, बल, बुद्धि आदि सभी की कमी हो जाती है।

ईरान के एक प्रसिद्ध हकीम ने ५० वर्ष की उम्र तक ब्रह्मचर्य का पालन किया, तत्पश्चात् उसने शादी की। एक पुत्र हुआ। हकीम की पत्नी ने कामासक्तिवश, अपने लड़के को सिखाकर भेजा कि तू अपने पिता से कह कि "मेरे एक भाई हो तो कितना अच्छा!" लड़के ने अपने पिता से जाकर यह बात कही तो हकीम ने उसे कहा—"तुझे उत्पन्न करने में मेरा आधा बुद्धिबल नष्ट हो गया तो फिर तेरे भाई को उत्पन्न करने में मेरी कितनी बर्बादी होगी, यह तू समझता तो ऐसी मांग नहीं करता।"

निष्कर्ष यह है कि सन्तानोत्पत्ति की (पुरुषों में विषयभोग की और स्त्रियों में प्रसव की) क्रिया के साथ-साथ शक्ति क्षय होता ही है और महाकवि गेटे के अनुसार "सन्तानोत्पत्ति करने वाला उसके अवश्यम्भावी परिणाम, मृत्यु से बच नहीं सकता।"

वीर्यस्राव : आवश्यक या अनावश्यक ?

कई लोग इस भ्रान्ति के शिकार हैं कि शरीर में वीर्य ईश्वर ने पैदा किया है, उसे बाहर न निकाला जाए तो शरीर में रोग उत्पन्न हो जाता है, अतः विषय वासना तृप्त करके वीर्यस्राव करना आवश्यक है। किन्तु यह एक भ्रम है। ईश्वर ने न वीर्य पैदा किया है, न मल-मूत्र और न ही रक्त आदि धातु। शरीर में जो पदार्थ स्वाभाविक रूप से उत्पन्न होते हैं, उनके मुख्यतया दो विभाग हैं—(१) एक तो इस प्रकार के पदार्थ हैं जो शरीर की वृद्धि के लिए आवश्यक है जिन्हें अगर निकाल दिया जाए तो शरीर को हानि पहुँचती है, जैसे वीर्य, रक्त आदि (२) दूसरे ऐसे पदार्थ हैं जिन्हें अगर निकाला न जाए तो शरीर में रोग उत्पन्न हुए बिना नहीं रहते। जैसे—मल, मूत्र, पसीना आदि। वीर्य को शरीर से बाहर न निकालने से कदापि नुकसान नहीं होता, इसके समर्थन में हमारे शास्त्रों के अतिरिक्त पाश्चात्य डॉक्टरों के अभिप्राय भी हैं।

डॉ० लिडस्टन एम० डी० कहते हैं—"आजीवन या अति दीर्घकाल तक ब्रह्मचर्य-पालन करके वीर्य-रक्षा करने से प्रजोत्पत्ति के अवयव को किसी प्रकार की हानि नहीं होती बल्कि उस अवयव को उपयोग रहित रखा जा सकता है। आहार, निद्रा, मलत्याग, आदि जिस प्रकार आरोग्य की दृष्टि से आवश्यक हैं, उस प्रकार वीर्यस्राव कदापि आवश्यक नहीं है। जिस प्रकार न रोने से रुदन शक्ति का नाश नहीं होता, इसी प्रकार वीर्य रक्षा करके ब्रह्मचर्य-पालन से जनन-शक्ति का नाश नहीं होता, न ही शरीर को किसी प्रकार की हानि होती है। विषय-भोग को मनुष्य जीवन के लिए आवश्यक मानना गंभीर भूल है।"

डॉ० ट्रोल एम० डी० कहते हैं—"मनुष्य सौ वर्ष तक जीए, तो भी युवावस्था से अन्तिम वृद्धावस्था—जीवन के अन्तिम क्षण तक एक बार भी आरोग्य की दृष्टि से उसे वीर्यपात करना आवश्यक नहीं है। वीर्य-रक्षा सदैव लाभदायक है, उससे आरोग्य और सुख की वृद्धि होती है, वह हानि या व्याधि का कारण नहीं होती।"

इसीलिए भारतीय धर्म-नायकों ने ब्रह्मचर्य का लक्षण वीर्य-रक्षण या वीर्य-धारण किया है।

ब्रह्मचर्य : वीर्य का ऊर्ध्वीकरण

वीर्य के दो मार्ग हैं—जननेन्द्रिय और मस्तिष्क। भोगी तथा रोगी व्यक्ति के कामवासना की उद्दीप्ति तथा वायु विकार आदि शारीरिक रोग होने पर वीर्य का व्यय जननेन्द्रिय द्वारा होता है।

योगी लोग वीर्य का प्रवाह ऊपर की ओर मोड़ देते हैं। अतः उनके वीर्य का व्यय मस्तिष्क में होता है। वीर्य का प्रवाह नीचे की ओर होने से कामवासना बढ़ती है और वीर्य-क्षरण होता है तथा वीर्य का प्रवाह ऊपर की ओर होने से कामवासना घटती है और वीर्य का रक्षण होता है। इसे ही शास्त्रीय भाषा में वीर्य का ऊर्ध्वीकरण कहते हैं। वीर्य का ऊर्ध्वीकरण करना ही ब्रह्मचर्य है।

ब्रह्मचर्य का उद्देश्य भी यही है कि जिस वीर्य में नये प्राणी को उत्पन्न करने की प्रत्यक्ष शक्ति है, उसे अपने देह में खपाकर अपने तन-मन में अभूतपूर्व प्रचण्ड शक्ति उत्पन्न करना। अर्थात्—वीर्य की भौतिक शक्ति को साधना के द्वारा आध्यात्मिक शक्ति में रूपान्तरण करना। जैसा कि योगी अरविन्द कहते हैं—रेतस् (वीर्य) के जिस तत्त्व का रतिकार्य में उपयोग करके व्यय कर दिया जाता है, वही तत्त्व जितेन्द्रिय होने से प्राण, मन और शरीर की शक्तियों के पोषक एक अन्य महत्त्वपूर्ण तत्त्व में परिवर्तित हो जाता है। इस प्रकार आर्यों के ब्रह्मचर्य का आदर्श है—रेतस् का ओजस् में रूपान्तर होना, जिसे वीर्य को ऊर्ध्व गति करना कहते हैं। जहाँ निम्न कोटि के प्राणी अपने वीर्य से अपने सजातीय अन्य प्राणियों को उत्पन्न करते हैं, वहाँ नैष्ठिक एवं ऊर्ध्वरेता ब्रह्मचारी इस उत्पादक शक्ति—वीर्य की गति को बदल कर उसे शरीर में खपाकर अलौकिक शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक बल प्राप्त

कर सकता है। इस प्रचण्ड दिव्य शक्ति का उपयोग अभागा कामासक्त मनुष्य-नहीं कर सकता, वह निम्न कोटि के प्राणियों की तरह कामवासना-पूर्ति में ही उसका उपयोग करता है, जबकि वीर्यरूपी महाबलशाली चैतन्य शक्ति का विषय वासना में दुरुपयोग न करके ब्रह्मचारी अपने शरीर में ही उसको संचित कर, रमा कर पचा कर ऊर्ध्वरेता बन जाता है। ऐसी स्थिति में वह अद्भुत, और अलौकिक पराक्रम करने की शक्ति प्राप्त कर लेता है। ऐसे नैष्ठिक ब्रह्मचारी के शरीर में वीर्य का निरन्तर संचय होता जाता है, और वह वीर्यरक्षण से ऊर्ध्वरेता बन जाता है। प्रज्ञावान् आत्माएँ वीर्य को अधोमुखी न होने देकर उसे ऊर्ध्वगामी बनाने का प्रयत्न करती रहती हैं। वे वीर्य-रक्षा के लिए प्रतिपल सचेष्ट रहती हैं। वे अपने वीर्य को एक बूँद भी बर्बाद नहीं होने देते। वे अपने अंदर शक्ति के अक्षय-भण्डार का अनुभव करते हैं और कुछ भी कर सकने की क्षमता रखते हैं।

प्राचीन काल में योगविद्या द्वारा योगी लोग उपस्थ में आए हुए स्थूल वीर्य को अभ्यास से ऊर्ध्वरेता बनाकर पुनः उसी ललाट में ले आते थे, जहाँ से वह मूलाधार चक्र तक ला सकते थे। ऐसे अभ्यास द्वारा वीर्य के बहिःस्राव को शरीर के रक्त में पुनः संचित करके उसे सारे तन-मन में व्याप्त कर लिया जाता है। ऐसे महात्मा को 'ऊर्ध्वरेता' या 'आदित्य ब्रह्मचारी' कहा जाता था। वे किसी आध्यात्मिक गुरु के संरक्षण में रहकर कम से कम ४८ वर्ष तक अखण्ड ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए वीर्य के ऊर्ध्वीकरण का शिक्षण प्राप्त करते थे। वे अखण्ड शक्ति के भण्डार परमात्मा की या शुद्ध आत्मा की खोज में जीवन व्यतीत कर देते थे। कुण्डलिनी साधना में ऐसा ब्रह्मचर्य साधक विभिन्न प्राणायाम साधनाओं द्वारा सूर्य चक्र की उष्मा को प्रज्वलित कर (ईंधन बनाकर) जब वीर्य को पकाता है—उसे सूक्ष्म शक्ति का रूप देता है, तब इसकी प्रवृत्ति ऊर्ध्वगामी होकर मेरुदण्ड से ऊपर चढ़ने लगती है फिर इसे अन्य चक्रों में ले जाता हुआ फिर से ललाट में पहुँचाता है। शक्ति बीज का मस्तिष्क में पहुँच जाना और सहस्रार चक्र की अनुभूति कर लेना ही ब्रह्मनिर्वाण है—वीर्य ऊर्ध्वीकरण की श्रेष्ठ प्रक्रिया है, ब्रह्मचर्य की पराकाष्ठा है। यह शक्ति और सिद्धि ही साधक को समर्थ और अपराजेय बनाती है। अखण्ड आनन्द की प्राप्ति कराती है। इसलिए ब्रह्मचर्य का योगविद्यासम्मत लक्षण है—वीर्य का ऊर्ध्वीकरण करना। यही वास्तविक ब्रह्मचर्य है।

□□

५

ब्रह्मचर्य और शील

ब्रह्मचर्य : सर्वांगीण शील

सामान्यतया जैन और बौद्ध-ग्रन्थों में ब्रह्मचर्य का लक्षण शील[1] किया है। शील शब्द यद्यपि दोनों परम्पराओं में ब्रह्मचर्यप्रधान सदाचार अर्थ में प्रयुक्त होता है, तथापि शील का अर्थ कहीं तो पूर्ण ब्रह्मचर्य है और कहीं गृहस्थजीवन में स्वपत्नी/स्वपति में मर्यादित ब्रह्मचर्य अर्थ भी प्रसंगवश होता है। शील शब्द का सर्वमान्य प्रचलित अर्थ है— सदाचार या सच्चरित्रता। सदाचार के गर्भ में अहिंसा, सत्य, अस्तेय (अचौर्य), ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह वृत्ति का समावेश हो जाता है। यही कारण है कि बौद्धधर्म में ये पांचों व्रत पंचशील के नाम से प्रसिद्ध हैं। वहाँ पाँचवाँ शील अपरिग्रह वृत्ति के बदले मादक वस्तु-त्याग है। जो व्यक्ति शील पालन करना चाहता है, उसके लिए इन पाँचों व्रतों या मर्यादाओं का पालन अपनी-अपनी भूमिका के अनुसार करना लाजिमी होगा। जो साधु पूर्णरूप से शील को अंगीकार करेगा, वह अगर जीव-हिंसा करेगा, असत्य बोलेगा, परिग्रह वृत्ति रखेगा अथवा ब्रह्मचर्य-भंग करेगा तो कोई भी व्यक्ति उसे शीलवान् नहीं कहेगा। इसी प्रकार जो गृहस्थ शील को स्वीकार करेगा, वह स्वपत्नीसंतोषव्रत का पालन करने के साथ-साथ परस्त्रीगमन एवं वेश्यागमन से भी सर्वथा दूर रहेगा। अपनी मर्यादा में अहिंसा, सत्य, अचौर्य, परिग्रहपरिमाण आदि अणुव्रतों का भी पालन करेगा। ऐसी स्थिति में यदि वह अहिंसा सत्य आदि की मर्यादाओं का उल्लंघन करेगा तो जनता उसे शीलपालक या सच्चरित्री नहीं कहेगी। शील का स्वीकार करके यदि कोई गृहस्थ पराई स्त्रियों की ओर ताकता है, वेश्याओं का अड्डा चलाता है, शराब, मांस, जुआ, हत्या आदि दुर्व्यसनों में लिप्त है, बूचड़-खाना चलाता है या मांस, अण्डों आदि का व्यापार करता है, चोरी करता-करवाता है, समाज में फूट फैलाता है, राष्ट्र में दंगे-फसाद, लूटपाट, आगजनी, हत्या आदि करवाता है तो उसे शास्त्रीय परिभाषा में शीलवान् नहीं कहा जाएगा। राष्ट्रीय सदाचार संहिता के अन्तर्गत भी अनाक्रमण (अखण्डता), अहस्तक्षेप, सार्वभौमत्व, सहअस्तित्व एवं प्रभुसत्ता (स्वराष्ट्र स्वातंत्र्य); इन पाँच शीलों को स्वीकार किया गया है।

---

१ शीलं ब्रह्मचर्यम् —समवायांग वृत्ति

इसके अतिरिक्त शील का अर्थ सच्चरित्रता की मर्यादाएँ या सदाचार मर्यादाएँ भी होता है, इन्द्रियों और मन की सुन्दर आदतों को भी शील कहा जाता है, तथा सद्व्यवहार भी शील शब्द का लक्षण माना जाता है।

पारिवारिक-सामाजिक आचार संहिता को शील कहा जा सकता है।

इसीलिए शील पाहुड में जीवदया, दम, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, सन्तोष, सम्यग्दर्शन, ज्ञान और तप इन सबको शील का परिवार—अंग कहा है।[1] शील कहने से मनुष्य का चरित्र (Character) और जीवनचर्या (Career) अर्थ भी ध्वनित होता है। 'शील पाहुड' में शील का एक विशेष लक्षण भी दिया गया है—इन्द्रिय-विषयों से विरक्त रहना शील है। इन्द्रिय-विषयों से विरक्त होने का अर्थ है—प्रत्येक इन्द्रिय-विषय में राग-द्वेष रहित होकर अनासक्त भाव से, अत्यन्त आवश्यक हो तभी प्रवृत्त होना, अन्यथा नहीं। यही गार्हस्थिक शील की मर्यादा है।

इस अर्थ के अनुसार शीलवान् व्यक्ति इन्द्रिय-विषयों में आसक्तिपूर्वक, अमर्यादित रूप से या प्रमत्त होकर प्रवृत्त नहीं होगा। इन्द्रिय-विषयों में होने वाले राग, मोह या द्वेष-घृणा आदि से विरक्त रहेगा। शील का एक अर्थ स्वभाव भी है। स्वभाव यानी प्रकृति, रुचि, आदत या टेव। स्वभाव आदि अच्छे भी होते हैं, बुरे भी। अच्छे स्वभाव आदि से युक्त व्यक्ति को सुशील और बुरे स्वभाव आदि से युक्त को कुशील कहा जाता है।

जैनागमों में एक शील-सम्पन्न एवं श्रुतसम्पन्न की चतुर्भंगी का निरूपण है।[2] वहाँ शीलसम्पन्न का अर्थ—चारित्रसम्पन्न है। अतः सुशील का अर्थ विनय चारित्रादि-सम्पन्नता घटित होता है। 'विसुद्धिमग्गो' में शील के दो विलक्षण अर्थ दिये गये हैं—

'सिरट्ठो सीलट्ठो, सीतलट्ठो सीलट्ठो'[3]

अर्थात्—शिरार्थ—सिर के समान उत्तम होना, शील का अर्थ है, तथा शीतल—शान्त रहना, शील का अर्थ है।

इस प्रकार ब्रह्मचर्य भी शील शब्द के इन विराट् अर्थमार्गों से सुदूर यात्रा करता रहा है।

ब्रह्मचर्य का एक लक्षण : कुशलकर्म

आवश्यक सूत्र में कुशल अनुष्ठान को ब्रह्मचर्य कहा है।[4] अथवा अब्रह्म

---

१ जीवदया-दम-सच्चं अचोरियं बंभचेरसंतोसे।
समद्दंसण-नाणे तओ (तवो) य सीलस्स परिवारो॥ —शील पाहुड गाथा १६

२ स्थानाग चतुर्थ स्थान

३ विसुद्धिमग्गो १।१६

४ कुशलानुष्ठाने —आवश्यक ६ अ.

अर्थात् अकुशल कर्म का त्याग भी ब्रह्मचर्य कहलाता है। इस दृष्टि से भी हिंसादि पांचों पापकर्मों का त्याग ब्रह्मचर्य-पालन के सन्दर्भ में करना जरूरी है।[1]

इसके अतिरिक्त मनुस्मृति में शीलवान (ब्रह्मचारी) के लिए कतिपय अकुशल कर्म गिनाये हैं, जिनका त्याग करना ही एक प्रकार से ब्रह्मचर्य है। उसमें बताया गया है कि 'ब्रह्मचारी मधु, मांस, सुगन्धित पदार्थ, सुगन्धित माला, स्निग्धरस का अत्यधिक सेवन, स्त्रीसंग, तेल आदि का मर्दन या पीठी आदि उबटन, पैरों में जूता पहनना, आँखों में अंजन, छत्र-धारण, सभी प्रकार के अश्लील दृश्य, अश्लील गायन-वादन तथा नृत्य का त्याग करे। इसी प्रकार काम, क्रोध, लोभ, प्राणिहिंसा, जुआ, पर-परिवाद, (निन्दा-चुगली), असत्य, स्त्रियों की ओर विकारी दृष्टि से देखना, आलिंगन करने तथा किसी स्त्री पुरुष को ठेलने या संघट्टा करने व धक्का-मुक्की करने आदि अकुशल कर्मों का त्याग करे, यही ब्रह्मचर्य कहलाता है।[2]

जिसे पूर्ण या मर्यादित ब्रह्मचर्य पालन करना है उसे इन्हीं सब अकुशल कर्मों का त्याग करना आवश्यक है।

ब्रह्मचर्य : जीवनस्पर्शी सम्पूर्ण संयम

ब्रह्मचर्य की विशाल व्याख्या सूत्रकृतांग एवं आचारांग आदि शास्त्रों में मिलती है। सूत्रकृतांग में उक्त ब्रह्मचर्य की व्याख्या के अनुसार ब्रह्मचर्य का लक्षण है—जीवन-स्पर्शी पूर्ण संयम। इस संयम में केवल आस्रवनिरोध का अथवा पापवृत्तियों पर अंकुश रखने का ही समावेश नहीं होता बल्कि इसमें (सम्पूर्ण संयम में) सत्य, तप, भूतदया, इन्द्रिय-निरोध, सम्यग्ज्ञान-दर्शन-चारित्र आदि स्वभाविक सद्वृत्तियों एवं मोक्षमार्ग के हेतुओं के विकास का समावेश हो जाता है। इसका तात्पर्य यह है कि काम-क्रोधादि प्रत्येक असद्वृत्ति को जीवन में उत्पन्न होने से रोक कर, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, तथा क्षमा, दया, निर्भयता, तपस्या आदि सद्वृत्तियों—ऊर्ध्वगामी धर्मों को जीवन में प्रकट करके उनमें तन्मय हो जाना ब्रह्मचर्य है।[3]

---

१ अब्रह्म—अकुशलं कर्म तत्त्यागो ब्रह्मचर्यम्। —स्थानांग वृत्ति

२ वर्जयेन्मधु-मांसं च गन्धं माल्यं रसान् स्त्रियः।
अभ्यंगमंजनं चाक्ष्णोरुपानच्छत्रधारणम्॥
शुक्तानि यानि सर्वाणि प्राणिनां चैव हिंसनम्।
कामं क्रोधं च लोभं च, नर्तनं गीतवादनम्॥
द्यूतञ्च जनवादं च परीवादं तथाऽनृतम्।
स्त्रीणाम्प्रेक्षणा लम्भमुपघातं परस्य च॥
—मनुस्मृति अ० २

३ सूत्रकृतांग श्रु. २ अ. ५ उ० १, गा. ३२ की टीका—ब्रह्मचर्यं—सत्यतपोभूत-दयेन्द्रियनिरोध लक्षणं तच्चर्यते—अनुष्ठीयते यस्मिन् तन्मौनीन्द्रं प्रवचनं ब्रह्मचर्य-मित्युच्यते।

दूसरी व्याख्या के अनुसार—जिसमें मोक्ष के लिए ब्रह्म—सब प्रकार के संयम की चर्या—अनुष्ठान हो, वह ब्रह्मचर्य है। इसमें समस्त मूलगुणों एवं उत्तरगुणों की चर्या का समावेश हो जाता है।[1]

तात्पर्य यह है कि आचारांग के ब्रह्मचर्य नामक नौ अध्ययन प्रवचन के साररूप हैं और उनमें मोक्ष के उपाय का वर्णन है। इस तरह ब्रह्मचर्य शब्द की व्याख्या में मोक्ष-प्राप्ति के लिए आवश्यक सारे प्रशस्त मूलोत्तर गुणों के आचरण का समावेश हो जाता है।

इसी की व्याख्या भाव-ब्रह्मचर्य की दृष्टि से करते हुए निर्युक्तिकार कहते हैं—भाव-ब्रह्म दो प्रकार का होता है—(१) मुनि का बस्ति- (उपस्थ-) संयम और (२) मुनि का समग्र संयम।[2]

बस्तिसंयम की व्याख्या, निर्युक्ति के टीकाकार इस प्रकार करते हैं—समस्त दिव्य तथा औदारिक काम एवं रति सुखों से मन-वचन-काय से, कृत, कारित और अनुमोदित रूप से विरति (अर्थात् अठारह प्रकार के अब्रह्मचर्य—असंयम से विरति) ब्रह्मचर्य है।

उत्तराध्ययन सूत्र में ब्रह्मचर्य की इस व्यापक व्याख्या को ध्यान में रखते हुए कहा गया है—जो ऐसे श्रामण्य (ब्रह्मचर्य) को ग्रहण करता है, उसे सहस्रों गुण धारण करने पड़ते हैं। इसमें जीवन-पर्यन्त विश्राम नहीं है। यह लोहभार की तरह गुणों का बड़ा भार है।[3]

इस प्रकार ब्रह्मचर्य के अनेक लक्षण हैं और उसकी अनेकविध व्याख्याएँ हैं, उन सबको हृदयंगम करके जीवन में चरितार्थ करना चाहिए।

□

---

१ (क) णवबंभचेरमइओ अट्ठारस पयसहस्सिओ वेओ।
हवइ य सपंच चूलो बहुबहुतरओपयग्गेणं॥ —आचारांग निर्युक्ति गा. ११
(ख) नवाऽप्यध्ययनानि मूलोत्तरगुणस्थापकानि निर्जरार्थमनुशील्यन्ते।
—आचा. नि. गा. ३० की टीका
(ग) **गुणचरणे पसत्थेण बंभचेरा नव हवंति।** —आचा. निर्युक्ति गा. ३०

२ भावब्रह्म तु साधूनां बस्तिसंयमः अष्टादशभेदरूपोऽन्यं संयम एव, सप्तदश विधसंयमा भिन्नरूपत्वादस्येति। अष्टादशभेदास्त्वमी—
दिव्यात् कामरति सुखात् त्रिविधं विरतिरिति नवकम्।
औदारिकादपि तथा, तद् ब्रह्माऽप्यष्टादशविकल्पम्॥
—आचा. निर्युक्ति गा० २८ की टीका

३ उत्तराध्ययन अ. १६, गा. २५, ३६

६

ब्रह्मचर्य बनाम मैथुन-विरमण

'ब्रह्मचर्य' 'ब्रह्म' की तरह व्यापक और विशाल है। इसका स्वरूप जितना सहज है, उतना ही गहनीय है। प्राचीन ऋषियों तथा चिन्तनशील साधकों ने विभिन्न दृष्टियों से इसके स्वरूप का व्याख्यान किया है और एक-एक पक्ष पर विचारपूर्वक चिन्तन किया है।

पिछले प्रकरण में ब्रह्मचर्य को इन्द्रिय-संयम, मनोनिग्रह तथा वीर्यरक्षा के रूप में प्रस्तुत किया है अब उसके जैनागम प्रसिद्ध 'मैथुन विरति' स्वरूप पर चिन्तन करना है। साथ ही मैथुन या व्यभिचार के विभिन्न अंगों व कारणों का आज के शरीर विज्ञान तथा अनुभवी चिकित्सकों के विचारों पर भी ध्यान देना है। हो सकता है, यह 'गोप्य' माना जाने वाला विषय बहुत स्पष्ट हो जाय, पर मैं मानता हूँ कि यह 'गुह्य' का पर्दा या अज्ञान हटाये बिना ब्रह्मचर्य की मूल भूमिका उजागर नहीं हो सकती। युवक वर्ग के लिए यह विषय समझने और विचारने की खूब सामग्री देगा, उन्हें आत्म-निरीक्षण की प्रेरणा भी देगा।

ब्रह्मचर्य : सर्व-मैथुनविरमण

जैनसाधु जब मुनिदीक्षा अंगीकार करता है तब वह पाँच महाव्रतों की प्रतिज्ञा लेता है। इन पाँच महाव्रतों में चौथा महाव्रत ब्रह्मचर्य है। इसका स्वरूप इस प्रकार है—

'सव्वाओ मेहुणाओ वेरमणं'[1]

"मैं समस्त मैथुनों से विरमण (विरति) रूप ब्रह्मचर्य का अंगीकार करता हूँ।"

इसका फलितार्थ यह हुआ कि जितने भी प्रकार के मैथुन—अब्रह्मचर्य हैं, उनसे सर्वथा विरत होना ब्रह्मचर्य है। यह महाव्रत अब्रह्म से विरति रूप कहा गया है। श्रमणदीक्षा ग्रहण करते समय अन्य महाव्रतों के साथ ब्रह्मचर्य-महाव्रत को अंगीकार करना पूर्वोक्त उपस्थ-संयम रूप ब्रह्मचर्य का धारण करना है।

दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, आचारांग, स्थानांग, समवायांग, औपपातिक

---

१ आवश्यक सूत्र : **'सव्वाओ मेहुणाओ वेरमणं'**।

आदि शास्त्रों[1] में ब्रह्मचर्य-महाव्रत की सर्व-मैथुन-विरमणरूप प्रतिज्ञा का उल्लेख किया है। ब्रह्मचर्य महाव्रतग्रहण की प्रतिज्ञा की शब्दावली इस प्रकार है—

हे भदन्त ! इसके बाद चौथे महाव्रत में मैथुन से विरमण करना होता है। मैं सर्व-मैथुन का प्रत्याख्यान (त्याग) करता हूँ। देव सम्बन्धी, मनुष्य सम्बन्धी अथवा-तिर्यञ्च सम्बन्धी, जो भी मैथुन है, उसका मैं (सर्वथा) स्वयं सेवन नहीं करूँगा, दूसरे से उसका सेवन नहीं कराऊँगा और न मैथुन-सेवन करने वाले का अनुमोदन करूँगा—त्रिविध-त्रिविध रूप से अर्थात् मन-वचन-काया से, करने, कराने और अनुमोदन रूप से—मैथुनसेवन का मुझे यावज्जीवन के लिए प्रत्याख्यान है।

हे भदन्त ! मैंने अतीत में मैथुन-सेवन किया, उससे अलग होता हूँ और पाप का सेवन करने वाली आत्मा का त्याग करता हूँ। मैं सर्व-मैथुन से विरति रूप चौथे महाव्रत में अपने को उपस्थित करता हूँ।[2]

इस रूप में मैथुनसेवन का मन-वचन-काया से कृत, कारित और अनुमोदित रूप से त्याग करना, नवविध मैथुन विरमण-रूप ब्रह्मचर्य का स्वरूप है। इन्हीं नौ प्रकार के मैथुन-विरमण को औदारिक और दिव्य मैथुन विरमण—इन दो से गुणा करने पर १८ भेद हो जाते हैं। अथवा दैविक, मानुषिक और तिर्यंच सम्बन्धी मैथुन-विरमण—इन तीन से गुणा करने पर २७ प्रकार के मैथुन से विरमणरूप ब्रह्मचर्य होता है।

इसके अतिरिक्त 'पाक्षिकसूत्र' में द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से मैथुन-सेवन-विरमण का विश्लेषण किया गया है। द्रव्य की अपेक्षा से सजीव या निर्जीव किसी भी वस्तु से मैथुन-सेवन न करना, क्षेत्र की अपेक्षा से ऊर्ध्व, अधो अथवा तिर्यग् लोक में कहीं भी मैथुन सेवन न करना, काल की अपेक्षा से दिन या रात में किसी भी

---

१ (क) दशवैकालिक सूत्र अ. ४ (षट्जीवनिकाय)
(ख) उत्तरा—१६/२६, ३१; आचारांग श्रु. २, सू. १५; स्थानांग० स्था. ५ सू. ३८६, समवायांग ५, औप. सू. ५७

२ अहावरे चउत्थे भंते ! महव्वए मेहुणाओ वेरमणं। सव्वं भंते ! मेहुणं पच्चक्खामि, से दिव्वं वा माणुस्सं वा, तिरिक्खजोणियं वा नेव सयं मेहुणं सेवेज्जा, नेवन्नेहिं मेहुणं सेवाविज्जा मेहुणं सेवंते वि अन्ने न समणुजाणेज्जा, जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि, न कारवेमि करंतं पि अन्नं न समणुजाणामि तस्स भंते ! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि। चउत्थे भंते ! महव्वए उवट्ठिओमि सव्वाओ मेहुणाओ वेरमणं।

—दशवैकालिक अ. ४

समय मैथुन-सेवन न करना और भाव की अपेक्षा से राग या द्वेष किसी भी भाव से मैथुन-सेवन न करना ब्रह्मचर्य है।[1]

इस प्रकार सर्व-मैथुन में पूर्वोक्त सभी विकल्पों का समावेश हो जाता है। इन सब प्रकार के मैथुनों से विरमण ही ब्रह्मचर्य का समग्र रूप बनता है।

मैथुन शब्द का अर्थ एवं भावार्थ

मैथुन शब्द का व्युत्पत्ति की दृष्टि से अर्थ इस प्रकार है—स्त्री और पुरुष का युगल (जोड़ा) मिथुन कहलाता है। मिथुन (युगल) के भावविशेष या कर्मविशेष को मैथुन कहते हैं। मैथुन ही अब्रह्म है, अतः मैथुन-सेवन अब्रह्मचर्य है।[2]

प्रसिद्ध ग्रन्थ धवला में 'मैथुन' के अर्थ को परिष्कृत करते हुए कहा गया है—स्त्री और पुरुष के मन-वचन-कार्य रूप विषय-व्यापार को मैथुन कहा जाता है।[3]

यहाँ एक शंका होती है कि कई जगह कई बार मजदूर स्त्री और पुरुष अथवा भाई-बहन या माता-पुत्र भी साथ-साथ एक कार्य को करते हैं, अथवा कोई विचार करते हैं, योजना बनाते हैं, तो क्या यहाँ भी पूर्वोक्त अर्थ (मिथुन का भाव-विशेष या कर्म-विशेष मैथुन है) के अनुसार मैथुन हो जायगा ?

इस शंका का समाधान करते हुए राजवार्तिक में कहा गया है कि आभ्यन्तर चारित्रमोहोदयरूपी परिणाम के अभाव में बाह्य कारण निरर्थक हैं। अर्थात्—आभ्यन्तर चारित्रमोहोदय के अभाव में बाह्य में रति-परिणामरहित दो द्रव्यों (व्यक्तियों) के रहने पर भी मैथुन का व्यवहार नहीं होता। इस दृष्टि से स्त्री और पुरुष के सहकर्म पक्ष में पाकादि क्रिया या वन्दनादि क्रिया में मैथुनत्व का प्रसंग उचित नहीं है।[4]

यही कारण है कि आचार्य पूज्यपाद ने इस अर्थ का परिष्कार करते हुए लिखा है—चारित्रमोहोदय होने पर राग (मोह) परिणाम से आविष्ट स्त्री और पुरुष में जो परस्पर संस्पर्श आदि की इच्छा होती है, वह मिथुन है और उसका कार्य (अर्थात् सहचार, आलिंगनादि क्रिया) मैथुन है। दोनों के पारस्परिक सर्वभाव या

---

१. से मेहुणे चउव्विहे पन्नते, तंजहा—दव्वओ, खित्तओ, कालओ, भावओ। दव्वओ णं मेहुणे रूवेसु वा रूवसहगएसु वा। खित्तओ णं मेहुणे उड्ढलोए वा, अहोलोए वा, तिरियलोए वा। कालओ वा मेहुणे दिवा वा राओ वा। भावओ णं मेहुणे रागेण वा दोसेण वा। —पाक्षिक सूत्र

२. मैथुनमब्रह्म। स्त्री पुंसयोर्मिथुनभावो मिथुनकर्म वा मैथुनं तदब्रह्म। —तत्त्वार्थ. ७/११ भाष्य

३. **स्त्री-पुरिस-विसयवावारो मण-वयण-कायसरूवो मेहुणं"** —धवला १२।४।२।८।५।२८२।५

४. राजवार्तिक अ. ७/१६ सू./६/५४४/१४

सर्वकर्म मैथुन नहीं, मैथुन है—दोनों की राग-परिणाम के निमित्त से होने वाली चेष्टा।[1]

मैथुन के इस अर्थ पर फिर आपत्ति उठाई जाती है कि हस्तमैथुन आदि में एक व्यक्ति की ही मोहोदयजनित चेष्टा होती है, फिर भी उसे मैथुन कहा जाता है, ऐसा क्यों? आचार्य अकलंकदेव इसका समाधान करते हुए कहते हैं—"हस्त, पाद, पुदगल-संघट्टनादि से एक व्यक्ति का अब्रह्मसेवन भी मैथुन ही है, क्योंकि इस क्रिया में एक व्यक्ति ही मोहोदयवश प्रकट हुए काम-पिशाच के सम्पर्क से दो हो जाता है और दो के कर्म को मैथुन कहने में कोई बाधा नहीं। आगे उन्होंने यह भी कहा कि इसी तरह पुरुष-पुरुष या स्त्री-स्त्री की परस्पर रागभावजनित अनिष्ट कामचेष्टा भी अब्रह्म (मैथुन) है।[2] इस विषय में हम आगे विस्तार से चर्चा करेंगे।

मन-वचन-काया से सदा सर्वत्र मैथुनत्याग : ब्रह्मचर्य

मैथुन के पूर्वोक्त परिष्कृत अर्थों के सन्दर्भ में वैदिक धर्मपरम्परानुसार याज्ञवल्क्य स्मृति में भी ब्रह्मचर्य का स्वरूप बताया गया है कि "मन, वचन और काया से सभी अवस्थाओं में सर्वदा एवं सर्वत्र मैथुन त्याग को ब्रह्मचर्य कहते हैं।"[3]

ब्रह्मचर्य के इस स्वरूप में मन, वचन और काया तीनों से मैथुन त्याग को ब्रह्मचर्य कहा गया है, किन्तु इसके साथ ही तीन शर्तें और जोड़ दी गई हैं—(१) सभी अवस्थाओं में (२) सदा और (३) सर्वत्र। अतः इन तीन शर्तों के कारण ब्रह्मचर्य का लक्षण व्यापक और जैन दृष्टि के समकक्ष हो गया है। पाक्षिकसूत्र में द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से मैथुन-सेवन के त्याग को ब्रह्मचर्य कहा गया है। यहाँ सदा शब्द से सभी काल में (रात, दिन, पक्ष, सप्ताह, मास आदि), 'सर्वत्र' शब्द से सभी क्षेत्रों में एवं 'सर्वावस्थाओं में' इस विशेषण से द्रव्य और भाव की अपेक्षा से मैथुन-त्याग विहित है।

प्रश्न होता है कि अब्रह्म-सेवन तो काया से होता है, सर्वसाधारण जनसमूह में यही धारणा प्रचलित है कि शरीर से किसी प्रकार के मैथुन-सेवन से ही ब्रह्मचर्य-

---

१. स्त्रीपुंसयोश्च चारित्रमोहोदये सति रागपरिणामाविष्टयोः परस्परस्पर्शनं प्रति इच्छा मिथुनम्। मिथुनस्य कर्म मैथुनमित्युच्यते। न सर्वकर्म.....
—तत्त्वार्थ सर्वार्थसिद्धि ७।१६

२. (क) एकस्य द्वितीयोपपत्तौ मैथुनत्वसिद्धेः। तथैकस्यापि चारित्रमोहोदयाविष्कृत-कामपिशाच-वशीकृतत्वात् स द्वितीयत्वसिद्धेर्मैथुनव्यवहारसिद्धिः।
(ख) "हस्तपादपुद्गलसंघट्टनादिभिरब्रह्मसेवमाने एकस्मिन्नपि मैथुनमिष्यते।"
—तत्त्वार्थ० राजवार्तिक ७।१६।८-९

३. कायेन मनसा वाचा, सर्वावस्थासु सर्वदा।
सर्वत्र मैथुनत्यागो, ब्रह्मचर्यं प्रचक्षते॥ —याज्ञवल्क्य स्मृति

भंग होता है, वचन से या मन से नहीं होता ; और मन में अब्रह्मचर्य-सेवन के विचार को पकड़ा भी नहीं जा सकता। अधिकांश व्यक्ति कायिक रूप से मैथुनत्याग-रूप ब्रह्मचर्य पाल सकते हैं, वे वाचिक या मानसिक रूप से ब्रह्मचर्य पालन नहीं कर सकते, और न ही वे पालन करने का प्रयत्न करते हैं, इसलिए वे समाज में प्रायः प्रचलित रूढ़ि के अनुसार अपनी धारणा यह बना लेते हैं कि कायिक रूप से ब्रह्मचर्यभंग (मैथुन-सेवन) करने से ही ब्रह्मचर्य व्रत का भंग होता है, मानसिक या वाचिक रूप से ब्रह्मचर्य भंग करने से कोई पाप नहीं होता। किन्तु उनकी यह धारणा भ्रान्त और गलत है। ऐसे लोग यह नहीं जानते कि मन, वचन और काया का परस्पर अत्यन्त निकट सम्बन्ध है। विषय-सेवन का विचार जब मन में उठता है, तभी वह वचन में आता है और तभी यथाशीघ्र काया से चेष्टा हो जाती है। अतः ऐसी गलत धारणा वाले लोग अल्पसमय में ही ब्रह्मचर्य से भ्रष्ट हो जाते हैं।

बीभत्स बोलने से ब्रह्मचर्य-भंग न होने से कुछ भी हानि नहीं होती, इस प्रकार मानने वाले लोग मनोविज्ञान (काम-मनोविज्ञान) से अनभिज्ञ होते हैं। वाचिक ब्रह्मचर्य से भ्रष्ट होने के फलस्वरूप एक दिन उनका कायिक ब्रह्मचर्य भी नष्ट हो जाता है। अतः जो व्यक्ति वाचिक ब्रह्मचर्य का पालन नहीं कर सकता, वह कायिक ब्रह्मचर्य का भी पालन नहीं कर सकता और जो व्यक्ति मानसिक ब्रह्मचर्य का पालन नहीं कर सकता, वह वाचिक और कायिक ब्रह्मचर्य से भी भ्रष्ट हो जाता है; क्योंकि मनुष्य जैसा विचार करता है, वैसा ही वह बोलता है; और जैसा बोलता है, वैसा ही आचरण करने लगता है। अर्थात्—जिस प्रकार के विषय का मन में चिन्तन होता है, वही वाणी द्वारा बाहर आता है और जैसा वाणी द्वारा अभिव्यक्त होता है वैसा ही काया द्वारा कर्म होता है और जैसा कर्म होता है, वैसा ही फल मिलता है। मन, वचन और काया, तीनों का परस्पर अभिन्न सम्बन्ध है। अतः विचार, वाणी और आचरण, तीनों से मैथुनत्यागरूप ब्रह्मचर्य का पालन होना चाहिए। इन तीनों पर संयम रखना पूर्ण ब्रह्मचर्य के लिए आवश्यक है।

मानसिक, वाचिक और कायिक इन तीनों में परस्पर कर्ता, कर्म और क्रिया का सम्बन्ध है। एक के अभाव में, दूसरे और तीसरे का सहसा नहीं तो, धीरे-धीरे अभाव होना स्वाभाविक है।

वास्तव में ब्रह्मचर्य के इन तीनों प्रकारों में मुख्यता मानसिक ब्रह्मचर्य की है। पुराण, उपनिषद्, वेद आदि में मानसिक ब्रह्मचर्य को ही वाचिक और कायिक ब्रह्मचर्य का मूल माना है; क्योंकि मन शरीर का राजा है। मन की प्रेरणा से ही पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ, वाणी एवं सभी अंगोपांग कार्य करते हैं। मन जिस अवयव से जो काम लेना चाहता है, उसे फौरन उस कार्य में लगा देता है। मानसिक विकार ही वाचिक एवं कायिक विकारों का उत्पत्तिस्थान है। यदि मन में ब्रह्मचर्य नहीं है; तो वचन

और शरीर में कहाँ से आएगा ? इसलिए मानसिक ब्रह्मचर्य पालन करने वाला ही वाचिक और कायिक ब्रह्मचर्य का पालन कर सकता है। जो व्यक्ति मन को संयमित नहीं रख सकता, वह ब्रह्मचर्य साधना में सफल नहीं हो सकता। भक्त वामन ने मानसिक ब्रह्मचर्य को विशुद्ध ब्रह्मचर्य बताते हुए कहा है—

संरक्षेद् वीर्यवृद्ध्यर्थं चित्तं दृष्टिं तथा श्रुतिम्।
मनसा रक्षितं शुद्धं ब्रह्मचर्यं प्रकीर्तितम्॥

अर्थात्—"वीर्य की शुद्धि एवं वृद्धि के लिए चित्त को सुरक्षित रखना चाहिए। चित्त की रक्षा के लिए दृष्टि एवं श्रोत्र को ठीक संभालना चाहिए। वस्तुतः मन से रक्षित ब्रह्मचर्य ही शुद्ध ब्रह्मचर्य कहा गया है।"

यह तो अनुभवसिद्ध बात है कि केवल शरीर को अंकुश में रखकर मन को विषय-चिन्तन में मुक्त छोड़ देने से हानिकारक परिणाम यह होता है कि शरीर मन के पीछे चला जाता है। मन पर लगाम नहीं लगाने से तथा विकारों का मन ही मन पोषण करते रहने से बाह्य दमन बहुत समय तक टिक नहीं सकता, बाहरी अंकुश टूट जाता है।

एक व्यक्ति शरीर को संयम में रखता है, ऊपर-ऊपर से निग्रह करता रहता है, लेकिन वृत्ति—चित्त को स्वच्छन्द छोड़ देता है, अर्थात् बाहर से विषय-सेवन बन्द कर दिया, किन्तु मन में विषय-चिन्तन चलता रहा तो विकार पैदा होंगे ही, अब्रह्मसेवन हो ही जाएगा और केवल विकारों को मन ही मन पोषण देने से और आनन्द लेते रहने से गीता की भाषा में वह 'मिथ्याचार' कहलाएगा।

देह को वश में करना उतना कठिन नहीं, जितना मन को वश में करना। उसी प्रकार वचन को भी वश में रखना कोई कठिन नहीं है, लेकिन मन में कामवासना को उत्पन्न न होने देना कठिन है।

चित्त को हर परिस्थिति में, सर्वत्र और सदैव शान्त और अनुद्विग्न बनाये रखना सहज साध्य नहीं है। प्रायः शरीर से सम्बद्ध इन्द्रियों का विषयों के साथ सम्पर्क होते ही मन में उनके प्रति अनुकूल या प्रतिकूल प्रतिक्रिया पैदा होती है। साधारण व्यक्ति उस मन के अधीन हो जाता है। जबकि देह को या वचन को वश में करना आसान है। इसलिए इन दोनों को तो वश में करना ही है। 'अतः देह से ब्रह्मचर्य में बाधा डालने वाली कोई भी मैथुन-सम्बन्धी चेष्टा नहीं होने दूँगा, तथा मुँह से भी कोई कामोत्तेजक वचन नहीं बोलूँगा।' इस प्रकार का दृढ़ निश्चय करने के साथ-साथ मन को भी निर्विकार बनाने तथा मैथुन-सम्बन्धी चिन्तन, स्मरण एवं मनन न करने का दृढ़ता से प्रयत्न करना चाहिए।

इसलिए ब्रह्मचारी चाहे नैष्ठिक हो, पूर्ण हो या गृहस्थ हो, ब्रह्मचर्य का पालन जब तक तन और वचन से मैथुन-त्याग के रूप में होगा, तब तक वह

पूर्ण और यथार्थ ब्रह्मचर्य नहीं होगा। ब्रह्मचर्य का पूर्णतया और सही पालन तभी होगा जब वह काया, वाचा और मन से—यानी तीनों अंगों से सर्वत्र, सर्वदा और समस्त परिस्थितियों में मैथुनत्याग के रूप में हो। अतः मानसिक, वाचिक और कायिक तीनों ब्रह्मचर्य मिलकर ही पूर्ण ब्रह्मचर्य कहा गया है।

एक आचार्य ने केवल कायिक ब्रह्मचर्य को अधम, वाचिक को मध्यम और मानसिक को उत्तम ब्रह्मचर्य माना है। अतः मानसिक, वाचिक और कायिक तीनों रूप में सर्वमैथुन त्याग को ही ब्रह्मचर्य का सर्वांगीण स्वरूप बताया गया है।

त्रिविध ब्रह्मचर्य के लिए अष्टांग मैथुनत्याग अनिवार्य

ब्रह्मचर्य के पूर्वोक्त सर्वांगीण स्वरूप को देखते हुए यह स्पष्ट कहा जा सकता है कि कायिक, वाचिक और मानसिक तीनों के समवायिक संयमी प्रयत्नों एवं अध्यवसायों से पूर्ण ब्रह्मचर्य सफल होता है। अतः तीनों का स्वरूप समझ लेना आवश्यक है। कायिक ब्रह्मचर्य वह है, जिसके होने पर शरीर द्वारा अब्रह्मचर्य की कोई भी चेष्टा न हो; वाचिक ब्रह्मचर्य वह है, जिसके रहते कोई भी विकारवर्द्धक या कामोत्तेजक वचन न निकाला गया हो; और मानसिक ब्रह्मचर्य वह है, जिसके सद्भाव में मन में किसी भी प्रकार के दुर्विषयों का, कामवासना का चिन्तन या अब्रह्मचर्य का भाव उत्पन्न न होता हो।

दक्षस्मृति में मैथुन (अब्रह्मचर्य—ब्रह्मचर्यभंग) के आठ अंग बताये गये हैं। इनसे सर्वथा विरत होना ही ब्रह्मचर्य है। मैथुन के वे आठ अंग इस प्रकार हैं—

स्मरणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम्,
संकल्पोऽध्यवसायश्च, क्रियानिष्पत्तिरेव च।
एतन्मैथुनमष्टांगं प्रवदन्ति मनीषिणः,
विपरीतं ब्रह्मचर्यमेतदेवाष्टलक्षणम्॥

(१) स्मरण, (२) कीर्तन, (३) क्रीड़ा, (४) प्रेक्षण, (५) गुह्य (एकान्त) भाषण, (६) संकल्प, (७) अध्यवसाय और (८) क्रियानिष्पत्ति (सहवासक्रिया), ये मैथुन के आठ अंग मनीषियों ने बताये हैं। इन आठों से बचना ब्रह्मचर्य है।

अब हम क्रमशः इनका विश्लेषण करेंगे, जिससे पाठकों को यह मालूम हो जाये कि ब्रह्मचर्य-भंग होने के किस-किस दुश्चिन्तन, दुर्ध्यान, कुत्सित वचन एवं कुत्सित चेष्टा से ब्रह्मचर्य-साधक को बचना आवश्यक है।

(१) **स्मरण**—किसी जगह पढ़ी हुई, सुनी हुई या देखी हुई (चित्र में या प्रत्यक्ष) स्त्री का ध्यान, चिन्तन एवं स्मरण करना, काम-भोगों का पुनः पुनः चिन्तन करना, पूर्वकृत कामकृत्यों का पुनः-पुनः स्मरण करना। अपने प्रेमपात्र पर मन ही मन आसक्त होकर उसके दर्शन, स्पर्शन, चुम्बन, आलिंगन या उपभोग के लिए बार-बार चिन्तन करना, और इसी प्रकार दुर्विषयों की उधेड़बुन में डूबे रहना, एक प्रकार का मानसिक मैथुन (अब्रह्मचर्य) है।

जिन्हें इस प्रकार के दुर्विषयों के चिन्तन की धुन हो जाती है, वे उनमें ऐसे जकड़ जाते हैं कि फिर उन्हें न खाने-पीने की सुध रहती है, न सोने-बैठने की। उनका मस्तिष्क उसी को बार-बार स्मरण करके पाने में निमग्न रहता है। ऐसे लोगों का मन इतना अस्थिर और मलिन हो जाता है कि फिर किसी भी अच्छे काम में नहीं लगता। वे फिर उस प्रेमपात्र को पाने के लिए रोते-चिल्लाते, विलाप करते या विक्षिप्त होकर फिरते और मजनू बनकर बर्बाद होते देखे जाते हैं।

कभी-कभी ऐसे स्त्री-पुरुष प्रायः रीति-नीति, मर्यादा, लज्जा, शिष्टाचार, भलमनसाहत या समाज-भय को भी ताक में रखकर अपने दुश्चिन्तन के अनुसार अपने प्रेमपात्र को पाकर विषयवासना में फँस जाते हैं। अतः ऐसे दुश्चिन्तन (विषय-स्मरण) के मन में उत्पन्न होते ही उसे किसी न किसी सात्विक उपाय से रोकने का प्रयत्न करना चाहिए। ऐसा दुश्चिन्तन यदि मन में कुछ काल के लिए रह जाता है, तो वह मस्तिष्क में अमिट रूप से निवास कर लेता है। अतः प्रारम्भ में ही ऐसे दुश्चिन्तन को कुचल देना आसान है, बाद में अभ्यास होने पर उसको दूर करना बहुत ही कठिन है। कामवासना या स्त्री के दुश्चिन्तन से शरीर एवं हारमोन्स में सनसनी और उष्णता उत्पन्न होकर वीर्य रक्त से पृथक् हो जाता है। इसीलिए इसे मैथुन का सर्वप्रथम अंग बताया है।

(२) **कीर्तन**—स्त्रियों के रूप, रंग, यौवन, हाव-भाव, शृंगार, वेश-भूषा, अंग-प्रत्यंग आदि का वर्णन करना, स्त्रियों की प्रशंसा करना, शृंगार रस की कविता पढ़ना, कामोत्तेजक वर्णन करना, अश्लील उपन्यास, नाटक आदि पढ़ना, विषयवासना पर गोष्ठी या वार्तालाप करना, स्त्री विकथा या कामकथा करना, वैसे ही दृष्टान्त सुनाना, कीर्तन नामक द्वितीय मैथुनांग है।

कहावत है—

यन्मनसा ध्यायति तद्वाचा वदति, यद्वाचा वदति तत्कर्मणा करोति।

अर्थात्—मन में जो चिन्तन करता है, वही वाणी से बोलता है, और जो वाणी से बोलता है वही चेष्टा शरीर के अंगों से की जाती है।

जब मन में कामकौतुक के बुरे विचार उठते हैं, तो फिर उसी ढंग की बात-चीत या गन्दे एवं लज्जाजनक विषय की चर्चा अपने कुछ खास मित्रों में की जाती है। धीरे-धीरे वह व्यक्ति इस प्रकार की चर्चा करने में, कुत्सित वचन बोलने, ऐसी भद्दी गन्दी गालियाँ या अपशब्द हर समय मुँह से निकालने में अभ्यस्त हो जाता है, पराई बहन-बेटियों को देखकर उनके प्रति अवाच्य शब्द कहने या आवाजें कसने लगता है। कुमित्र-मण्डली में बैठकर कामुक स्त्रियों सम्बन्धी गप्पें हाँकता है। इस प्रकार का कामोत्तेजक कीर्तन शरीर में एक प्रकार की उत्तेजना—उष्णता उत्पन्न करके वीर्यस्राव कर देता है। इसलिए इसे मैथुन का द्वितीय अंग कहा है।

(३) केलि—क्रीड़ा—स्त्रियों के साथ (स्त्रियों को पुरुषों के साथ) गेंद, ताश, शतरंज, कैरम, होली आदि खेल खेलना, आँख-मिचौनी, हुतूतुतू आदि खेलना, खेल के बहाने अंग स्पर्श करना, भांगड़ा आदि नृत्य करना, हीजड़ों की तरह नाचना, क्लबों में नृत्य करना, अभिनय करना, स्त्रियों के अर्द्धनग्न नृत्य, अभिनय आदि देखना। इन सब क्रीड़ाओं से इन्द्रियों में कामोत्तेजना भड़क उठती है, और प्रायः वीर्यपात हो जाता है। यह मैथुन का तीसरा अंग है।

महात्मा गांधी ने अपनी 'आत्मकथा' में लिखा है कि 'विदेश में मेहमान या परपुरुष के साथ स्त्रियाँ ताश खेलती हैं। खेल-खेल में ही विषय-चेष्टा प्रारम्भ हो जाती है तथा व्यभिचार का भाव भर जाता है।' इसी तरह क्लबों में अर्द्धनग्न स्त्री-पुरुष मिल कर नृत्य करने का, तथा विवाहों में भले घर के स्त्री-पुरुषों के नाचने का रिवाज तो आम हो गया है। यह सब क्रीड़ाएँ कामोत्तेजक होती हैं, ब्रह्मचर्य को नष्ट कर देती हैं। मन को उत्तेजित तो करती ही हैं।

कुछ अविचारी कामुक स्त्रियाँ भी ऐसी होती हैं, जो बड़े-बड़े महान् आत्माओं को अपने हावभाव, नृत्य, आदि करके भ्रष्ट कर देती हैं, पुरुषों को अपने अधीन बनाकर उनसे अनुचित कार्य करवाती हैं। अतः इस मैथुनांग से भी दूर रहना चाहिए।

(४) प्रेक्षण—स्त्री के (या स्त्री द्वारा पुरुष के) अंगोपांग, शरीर-सौष्ठव, सौन्दर्य, कामांग, हाव-भाव, चाल-ढाल, आदि को कामदृष्टि से देखना, अथवा किसी की ओर गिद्ध या ऊँट की तरह गर्दन उठाकर या घुमाकर पापदृष्टि से, या चोर-दृष्टि से देखना, टकटकी लगाकर काम-विकार की दृष्टि से देखना। अपने गुप्तांगों या शरीर सौष्ठव को देखने से भी प्रायः कामविकार जागृत होता है।

सृष्टि की समस्त सुन्दरताएँ मन को आकर्षित करती हैं, स्त्री का सौन्दर्य और शृंगार भी; किन्तु देवीमाता, जगदम्बा तथा माता, बहन एवं पुत्री का सौन्दर्य और शृंगार देखकर प्रायः कामभाव उत्पन्न नहीं होता, किन्तु कामुक व्यक्ति की तरह किसी स्त्री के सौन्दर्य और शृंगार को देखकर अपवित्र काम-वासना और विषय-लालसा उत्पन्न होना कुत्सित है।

कामवासनापूर्वक सौन्दर्य या अंगोपांग-निरीक्षण दूषित दृष्टिराग है, यह भयानक मानसिक व्यभिचार है, सुलगाने वाली भयंकर आग है। जिन लोगों को ऊँट की तरह गर्दन उठाकर स्त्रियों को घूरने का चस्का पड़ जाता है, उनकी बुद्धि तो प्रथम ही भ्रष्ट हो जाती है, शर्म-लिहाज से फिर उनका कोई सरोकार नहीं रहता। कई बार तो ऐसे लोग गाली खाते हैं, पिटते हैं फिर भी धृष्ट बनकर हँसते रहते हैं।

यह दृष्टिदोष, यह विकार, या काम-चिन्तन किसी भी संक्रामक रोग से कम भयंकर नहीं है। हैजा, प्लेग, फ्लू, क्षय, चेचक, जैसी बीमारियाँ तो स्पष्ट दीखती हैं,

इसलिए उनका इलाज भी हो जाता है, परन्तु विकार-दृष्टि का अदृश्य रोग ऐसा है, जो न पकड़ में आता है, और न उसका इलाज किसी अस्पताल में किया जाता है। सिनेमा, अर्द्धनग्न स्त्रियों के अश्लील चित्र, अश्लील कामोत्तेजक फिल्म, भड़कीले मोहक शृंगार, प्रायः प्रत्येक वस्तु के लेबल पर फेशनेबल स्त्री का चित्र, गंदे नाटक, रामलीला आदि के रूप में काम-लीला के दृश्य इत्यादि वासना की आग बुरी तरह भड़काने में लगे हुए हैं। फलस्वरूप समाज का शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य, संयम, मर्यादा आदि सब चौपट होते जा रहे हैं। प्रायः वासना की दूषित दृष्टि का रंगीन चश्मा आँखों पर चढ़ा होता है, तथा विकारपूर्ण अनैतिक ढंग से सोचने की और वैसी ही चेष्टाओं का अवसर ढूँढ़ने की प्रवृत्ति मन में भरी रहती है। फलस्वरूप शारीरिक वीर्य एवं मानसिक ओज का निरन्तर क्षरण होता रहता है।

भाई-बहन की या पिता-पुत्री की दृष्टि से आज कितने नर-नारी आपस में एक-दूसरे को देखते हैं? दाम्पत्य जीवन पर भी इस दृष्टिदोषरूप रोग का बुरा प्रभाव पड़ता है। गृहस्थ की नींव इस बुराई के कारण खोखली हो जाती है। अपने बुजुर्गों की इन दुष्प्रवृत्तियों का बच्चों के कोमल मन पर कितना घातक प्रभाव पड़ता है? यह बहुत ही गम्भीर विचारणीय प्रश्न है। दृष्टि में कामविकार आने पर देर-सबेर एक दिन वह शारीरिक संयोग के रूप में परिणत होता है, क्योंकि विचार ही तो अन्त में कार्यरूप में परिणत होते हैं।

भड़कीला शृंगार भी इस दृष्टिदोषरूप व्यभिचार को भड़काने वाला है। वेश्याएँ, सिनेमा की तारिकाएँ, नर्तकियाँ आदि इसी अस्त्र के आधार पर लोगों में विकार उत्पन्न करके उन्हें अपनी ओर आकर्षित करती हैं। वेशभूषा का उद्धत प्रदर्शन, तड़क-भड़क के लिए अपनाया जाने वाला वेशविन्यास और फैशन के नाम पर अपनाया हुआ भड़कीला शृंगार भी युवक-युवतियों की दृष्टि में काम-विकार पैदा करता है, साथ ही शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य को भी बुरी तरह बर्बाद करता है।

आजकल जो बारीक या तंग कपड़े पहने जाते हैं, वे शरीर पर इस तरह मढ़े होते हैं कि उनको देखकर कामांगों के प्रति लोगों का आकर्षण बढ़ता है, लोगों में मनोविकार उत्पन्न होते हैं। उन तंग-कपड़ों तथा मिनी स्कर्ट आदि अस्वाभाविक वस्त्र पहनने से शारीरिक विकास में भी बाधा उत्पन्न होती है। उनमें स्नायविक तनाव एवं मस्तिष्क में घबराहट आदि अस्वास्थ्यकर परिणाम भी निकलते हैं। अतः दृष्टिदोष पैदा करने वाली इन पूर्वोक्त कामोत्तेजक बातों का समावेश मैथुन के के चतुर्थ अंग—प्रेक्षण में होता है। इनसे ब्रह्मचारी को बचना बहुत ही आवश्यक है।

(५) गुह्यभाषण—स्त्री और पुरुष का एकान्त में छिपकर बातें करना, स्त्रियों में बार-बार आना-जाना, स्त्रियों से संकेत द्वारा एकान्त में मिलना या मिलने की

इच्छा प्रकट करना, मिलने पर काम सम्बन्धी अभिसन्धि प्रकट करना, मैथुन का पंचम अंग है।

मनुस्मृति में कहा है "अपनी माता या माता के समान कोई महिला हो, सगी बहन हो या बहन के तुल्य हो, फिर भी ब्रह्मचारी को एकान्त में बैठकर उनसे बातचीत नहीं करनी चाहिए, क्योंकि चाहे उनका कितना ही पवित्र सम्बन्ध हो फिर भी इन्द्रियाँ बड़ी बलवान हैं, वे बड़े-बड़े विद्वानों को भी खींच लेती हैं।"[1]

कितना ही पवित्र सम्बन्ध हो, फिर भी एकान्त में स्त्री-पुरुष का मिलन, परस्पर वार्तालाप, लोगों की शंका का कारण बन जाता है। कोई यह समझता हो कि मैं विद्वान् हूँ, शास्त्रज्ञ हूँ, धर्माचार्य हूँ या पहुँचा हुआ सन्त हूँ, किन्तु किसी स्त्री से बार-बार मिलन या एकान्त में संभाषण अनिष्ट परिणाम लाता ही है।

एक तो इसमें लोकनिन्दा और लोकापमान की मात्रा इतनी जबर्दस्त है कि ब्रह्मचारी साधक को इस प्रपंच में समय और शक्ति लगाने के बजाय अपने आत्म-चिन्तन में लगाना हितावह है। बहुधा ऐसा होता है इस प्रकार किसी स्त्री के साथ एकान्त भाषण से प्रायः दुष्ट मनोरथ सफल नहीं होता, आखिर उस घटना को लेकर भयानक काण्ड हो जाता है, मार-पीट, खून-खराबी और हत्या तक की नौबत आ जाती है। ऐसा न भी हो, तो भी किसी सीधी-सादी पवित्र नारी या कन्या के मन में वासना की आग भड़का कर उसे अपने पति या परिवार से अविश्वसनीय और झूठी बना देना, कितना पापकार्य है।

अतः गुप्त-भाषण भी मैथुन का अंग है, यह अनेक अनिष्टों का जनक है।

(६) **संकल्प**—शृंगार रस पूर्ण अश्लील उपन्यास पढ़कर, अथवा स्त्रियों के भद्दे फोटो या चित्र देखकर अथवा नाटक-सिनेमा में अश्लील कामचेष्टापूर्ण दृश्य देखकर उन्हीं के संकल्प-विकल्प में डूबते-उतराते रहना, अथवा कामवासनापूर्ण विचारों या विकारों से प्रेरित होकर नीच कामवासना तृप्ति के लिए मन में दृढ़ संकल्प या पापपूर्ण निश्चय करना कि 'चाहे जो हो, मैं अमुक स्त्री से तो विषय-सेवन करूँगा ही,' ऐसी धारणा ही संकल्प है।

पूर्वोक्त पांचों मैथुनांगों की वृत्तियाँ जब भीतर ही भीतर जोर पकड़ती हैं और उनका निरोध नहीं होता, तब दशा यहाँ तक आ पहुँचती है। यह वह दशा है, जहाँ आदमी अन्वेषन की दशा को पहुँच जाता है। चोरी, हत्या, अपहरण, नदी-नालों का उल्लंघन, छल-कपट, अपनी जान हथेली पर रखकर ऐसे अनिष्ट कर्म के लिए भाग-दौड़ करना आदि सब उसके लिए नगण्य हो जाता है। इश्क का नशा मद्य के नशे से भी बढ़कर है, वह चैन से बैठने नहीं देता।

---

१. मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा, न विविक्तासनो भवेत्।
बलवानिन्द्रियग्रामो, विद्वांसमपि कर्षति॥ —मनुस्मृति

तुलसीदासजी को जब काम का नशा चढ़ा था, तो वे इतने बेभान हो गये कि उफनती हुई नदी भी मुर्दे की ठठरी पर बैठकर पार की और ससुराल के बन्द द्वार पर लटकते हुए साँप को रस्सी बनाकर घर में प्रविष्ट हुए, पत्नी (रत्नावली) से मिले। परन्तु पत्नी ने ऐसी फटकार लगाई कि तुलसीदासजी का काम का नशा उतर गया और रामभक्ति का नशा चढ़ गया, जो उन्हें आत्मिक उन्नति की ओर ले गया।

परन्तु काम के संकल्प का नशा इतना भयानक है कि इसका पूर्ण होना भी खतरनाक है और निष्फल होना भी भयावह है। ऐसा पापी संकल्प पूर्ण होने पर तो पतन और पातक का परिपूर्ण कुण्ड है और निष्फल होने पर क्रोध, सम्मोह (बुद्धि-मूढ़ता), स्मृतिभ्रष्टता, प्रतिहिंसा और उसके राक्षसी परिणाम सामने आते हैं।

अतः संकल्प नामक मैथुनांग से भी बचना चाहिए।

(७) **अध्यवसाय**—पापी संकल्प के अनुसार उक्त स्त्री या उक्त पुरुष को पाने का गुप्त या अधम प्रयत्न करना, पापपूर्ण उपाय अजमाना। कई बार कामवासना-ग्रस्त पुरुष किसी अप्राप्य स्त्री (या स्त्री किसी अप्राप्य पुरुष) को पाने के लिए व्यर्थ पापपूर्ण प्रयत्न करता है, उस स्त्री को अपने जाल में फँसाने के लिए फुसलाता है, बहकाता है; उसके माता-पिता, भाई या पति आदि के प्रति उसके मन में घृणा पैदा करके या उनसे मनोमालिन्य या कलह करवाकर उसे अपनी ओर आकर्षित करता है।

ऐसे कामुक स्त्री या पुरुष एक दूसरे को पाने के लिए या कामवासना पूर्ति के लिए हत्या, झूठ-फरेब एवं निष्ठुरता को अपना लेते हैं। ऐसी कामुक नारी पति, भाई, पिता या पुत्र तक को समाप्त कर देती है, मासूम बच्चे का गला घोंट डालती है। कामान्ध पुरुष अनेक सती-साध्वी स्त्रियों के प्राण तक ले लेते हैं, अपने पुत्र और पिता की भी हत्या कर बैठते हैं। ऐसे कामान्ध व्यक्ति राक्षस, पापी एवं हत्यारे होकर अनुचित कुकृत्य भी कर बैठते हैं। कामवासना का यह दुरध्यवसाय इतना गन्दा है कि इसमें धर्म-कर्म, रीति-नीति, आचार-विचार, विवेक बुद्धि, मर्यादा आदि सबको ताक में रख दिया जाता है। इस दुष्ट प्रयत्न के फलस्वरूप मनुष्य परिवार में तिरस्कृत हो जाता है, समाज से बहिष्कृत हो जाता है, उसकी प्रतिष्ठा, कीर्ति आदि सब धूल में मिल जाती है। ऐसे व्यक्ति को सभी नीच एवं निन्द्य मानते हैं।

(८) **क्रियानिष्पत्ति**—प्राकृतिक या अप्राकृतिक किसी भी तरह से मैथुन सेवन कर लेना, स्त्री सहवास कर लेना, या किसी भी तरीके से ब्रह्मचर्य भंग करके वीर्य-पात करना क्रियानिष्पत्ति या मैथुन क्रिया में प्रत्यक्ष प्रवृत्ति करना है। मैथुन की यह अन्तिम परिणति है, जो स्मरण से प्रारम्भ होती है। स्मरण से लेकर क्रियानिष्पत्ति तक के मैथुन के ये आठ अंग हैं, जो उत्तरोत्तर प्रबल-प्रबलतर हैं। क्रियानिष्पत्ति तो सबसे प्रबल है, क्योंकि इसमें शरीर से प्रत्यक्ष सहवास होता है।

आठों अंगों से बचना आवश्यक

मैथुन का दूसरा नाम अब्रह्मचर्य है, जो ब्रह्मचर्य का विरोधी है। जहाँ मैथुन है, वहाँ ब्रह्मचर्य टिक नहीं सकता। इसलिए ब्रह्मचर्य की सुरक्षा एवं स्थायित्व के लिए मैथुन के इन आठों अंगों से बचना चाहिए। मैथुन के इन आठ अंगों में से किसी भी एक अंग के सेवन से ब्रह्मचर्य नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है, फिर सभी अंगों से मैथुन सेवन करने पर तो ब्रह्मचर्य का पूर्णरूप से नाश—सर्वनाश होना स्वाभाविक है। क्योंकि मैथुन के पूर्वोक्त किसी भी अंग के सेवन से कोई न कोई इन्द्रिय दुर्विषय-लोलुप बनेगी ही, और यह बात निश्चित है कि किसी भी एक इन्द्रिय के दुर्विषय-लोलुप बनने पर अन्य सभी इन्द्रियाँ भी दुर्विषयलोलुप बन जाती हैं। उदाहरणार्थ—यदि कान स्त्री के शब्द श्रवण में सुख मानते हैं, तो नाक उसके शरीर की गन्ध में, जीभ उससे संभाषण करने में, नेत्र उसका रूप देखने में और त्वचा (स्पर्शेन्द्रिय) उसके स्पर्श में सुख मानेगी।

अष्टविध मैथुनांग से विरति : ब्रह्मचर्य

दक्षस्मृतिकार ने श्लोक के अन्त में बताया है, इन मैथुनांगों के विपरीत अर्थात् अष्टविध मैथुनांगों से विरति—ब्रह्मचर्य है। इन अष्टविध मैथुनांगों से विरति में कायिक, वाचिक और मानसिक, तीनों प्रकार के ब्रह्मचर्य आ जाते हैं। उदाहरणार्थ—हाव-भाव, कटाक्ष, आलिंगन, चुम्बन, अंगमर्दन, स्पर्श, प्रत्यक्ष सहवास या किसी भी प्रकार से मैथुनक्रिया में प्रवृत्ति, स्त्री-पुरुषों की सहक्रीड़ा, स्त्री प्राप्ति का प्रयत्न, कामदृष्टि से प्रेक्षण, आदि से दूर रहना **कायिक ब्रह्मचर्य** होगा। इसी प्रकार प्रेमालाप, दुर्विषयभोग सम्बन्धी चर्चा, स्त्रियों के रूप, अंगोपांग, लावण्य आदि का सकाम दृष्टि से वर्णन, एकान्त में संभाषण, कामोत्तेजक कथावार्ता आदि से विरत रहना **वाचिक ब्रह्मचर्य** हुआ; तथा दुर्विषय-चिन्तन, स्त्री का ध्यान, चिन्तन, स्मरण, स्त्री की प्राप्ति या सहवास का मनोरथ, कामोत्तेजक साहित्य पढ़कर मन में कामवासना के परिणाम या मनोविकार आदि का त्याग **मानसिक ब्रह्मचर्य** हुआ।

त्रिविध मैथुनत्याग : एक विश्लेषण

पूर्व में हम अष्टविध मैथुनांगों का वर्णन कर चुके हैं, जिनसे दूर रहना ब्रह्मचर्य-पालन के लिए आवश्यक है। पूर्वोक्त अष्टविध मैथुनांगों को हम त्रिविध मैथुन अर्थात् —व्यभिचार में समाविष्ट कर देते हैं, जिनका त्याग करना भी ब्रह्मचर्य-पालन के लिए अनिवार्य है। वे त्रिविध मैथुन अथवा व्यभिचार इस प्रकार हैं—(१) मानसिक मैथुन, (२) वाचिक मैथुन, और (३) कायिक मैथुन।

मानसिक मैथुन—मानसिक मैथुन प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर नहीं होता, किन्तु प्लेग के कीटाणु की तरह अदृश्य और भयंकर होता है। अनेकों युवक-युवतियाँ और बड़ी उम्र के स्त्री-पुरुष भी इस मानसिक मैथुन रूपी पिशाच के चंगुल में फँसे हैं। किसी भी स्त्री या पुरुष को किसी पुरुष या स्त्री को पाने की मन में कामना पैदा होने पर,

उसके न मिलने पर मन में तरह-तरह के विकार और कामचेष्टाएँ पैदा होती हैं। कई लोगों के मस्तिष्क में भयंकर कामोन्माद पैदा हो जाता है। कई विक्षिप्त हो जाते हैं। कामशास्त्र में जो दश दशाएँ बताई है, वे मानसिक मैथुन का परिणाम है। यथा—

(१) आँख से विजातीय प्रेम-पात्र को कामदृष्टि से देखना, विजातीय के प्रति मन में आसक्ति या मोह पैदा होना।

(२) पुरुष के द्वारा स्त्री को, स्त्री द्वारा पुरुष को पाने या मिलने का संकल्प-विकल्प होना।

(३) उस कल्पना में रात-रात जागना, नींद न आना।

(४) प्रलाप करना।

(५) खाना-पीना छोड़ देने के कारण शरीर कृश हो जाना।

(६) किसी भी काम में मन न लगना (अरति)।

(७) निर्लज्ज होकर घूमना।

(८) कामज्वर और कामोन्माद हो जाना।

(९) मूच्छित (बेहोश) हो जाना, और

(१०) कभी-कभी प्रेम-पात्र के वियोग आदि के कारण मृत्यु हो जाना।

ये दस काम की दशाएँ हैं[1] जो मानसिक मैथुन से सम्बन्धित हैं। प्रत्यक्ष कायिक सहवास की अपेक्षा कई गुनी अधिक हानि मानसिक मैथुन (अब्रह्मचर्य) से होती है; क्योंकि मानसिक मैथुन में स्वाभाविक मनोद्वेग शान्त नहीं होता, धातु उत्तेजित हो जाती है; समस्त स्नायुओं और मांसपेशियों में सनसनी पैदा हो जाती है, सहवास सम्बन्धी विचार मस्तिष्क में अनुचित गर्मी पैदा कर देते हैं, जिसके कारण रक्तवाहिनी शिरा और ज्ञानतन्तु अत्यधिक उत्तेजित हो जाते हैं।

इसके कारण शरीर के भीतरी यंत्र—गुर्दे, हृदय और यकृत आदि के कार्यों में बहुत ही उथल-पुथल हो जाती है। मस्तिष्क में लगातार अनुचित गर्मी के रहने से तथा विषयवासना सम्बन्धी विचारों के तूफान से चित्तवृत्ति भड़की हुई रहती है। सारे शरीर का वीर्य गर्मी से पिघल-पिघल कर वीर्यवाहिनी शिराओं द्वारा अण्डकोशों की ओर बहने लगता है। रक्त संचार और हृदय की गति बढ़ जाती है। इन यन्त्रों को जल्दी-जल्दी काम करना पड़ता है। फलस्वरूप रात्रि को वह शुक्राशय में पड़ा हुआ धातु स्वप्नदोष द्वारा निकल जाता है, तब उस मानसिक व्यभिचारी का सारा शरीर सुस्त, निस्तेज और कोल्हू में पीला हुआ जैसा हो जाता है। बार-बार स्वप्न-दोष हो जाने से व्यक्ति दुर्बल और धातुक्षय का रोगी हो जाता है। निरन्तर काम-वासना का चिन्तन करने वालों का वीर्य तो इतना पतला पड़ जाता है कि वह मूत्रमार्ग

---

१ "चक्षुःप्रीतिर्मनःसंगः संकल्पोऽथ प्रलापिता।
जागरःकार्श्यमरतिर्ह्रीत्यागोऽथ संज्वरः।
उन्मादो मूर्च्छनं चैव, मरणं दशमं विदुः॥" —कामशास्त्र (वात्स्यायन)

से निकलने लगता है। यहाँ तक कि निरन्तर धातु को इस प्रकार का निरर्थक उत्ताप पहुँचने से वह स्वप्नदोष और मूत्रमार्ग से जाने के अतिरिक्त प्रतिक्षण रिसने लगता है, अर्थात् बार-बार शीघ्र ही कच्ची-पक्की अवस्था में ही वीर्य बाहर निकल पड़ता है। फलस्वरूप उन लोगों के यकृत, हृदय और मसाने कमजोर हो जाते हैं जिनका बुरा प्रभाव आमाशय और पाचन क्रिया पर पड़ता है, भोजन अच्छी तरह हजम नहीं होता। पौष्टिक पदार्थ शरीर में न पहुँचने से, अथवा पहुँचने पर भी उसका रस न बनने से, पाचन न होने से शरीर अन्त में क्षीण हो जाता है। क्षीणशरीर राजयक्ष्मा, दमा, हृदय रोग, रक्तचाप, प्रमेह, मधुमेह आदि अनेक रोगों का घर बन जाता है। असमय में ही वृद्धावस्था के चिह्न शरीर में प्रकट हो जाते हैं।

मानसिक व्यभिचार प्रारम्भ होने के दो कारण मुख्य हैं—(१) सच्ची शिक्षा का अभाव और (२) सत्संगति से विरति। वर्तमान स्कूलों और कॉलिजों में सच्ची शिक्षा—चरित्र निर्माण की शिक्षा प्रायः नहीं मिलती। कोर्स की पुस्तकें नीरस विषयों की होती हैं जिन्हें रट-रटाकर या परीक्षा में नकल करके विद्यार्थी उत्तीर्ण होते हैं। अच्छी संगति में आजकल के उच्च शिक्षा पाने वाले लड़के-लड़कियों की प्रायः रुचि नहीं होती, प्रायः दुश्चरित्र लड़कों की कुसंगति के कारण थोड़े ही दिनों में लड़के-लड़कियों के मन में काम-विकार की भावनाएँ घुड़दौड़ लगाने लगती हैं। फलतः वे मन में गंदे विचार करते-करते मानसिक व्यभिचार के शिकार हो जाते हैं।

बालक-बालिकाओं के माता-पिता प्रायः अपनी संतानों का चरित्र निर्माण करने के लिए सत्साहित्य या सत्संगति देते नहीं, उनके जीवन की ओर ध्यान नहीं देते। बालक में अनजाने ही इस शैतान का प्रवेश हो जाता है। माता-पिता लड़के-लड़कियों के समक्ष 'तेरी वधू कैसी लाएँ ?' या 'तेरा वर कैसा लाएँ ?' इस प्रकार की रसीली बातें करके उनके दिमाग में मानसिक व्यभिचार का जहर भर देते हैं। अकसर लड़कियों के मन में दूल्हे-दुलहिन के रस-रंग की बातें, गीत और सहेलियों के नवपरिणय की कथा सुनकर कामरस जागृत हो जाता है। जो आगे चलकर उनमें मानसिक व्यभिचार की सृष्टि कर देता है।

मानसिक व्यभिचार को कई लोग तो पाप ही नहीं समझते। उनके लिए रामचरितमानस का श्रीराम के कुँआरेपन का उदाहरण विचारणीय है। राजा जनक की वाटिका में प्रथम बार श्रीराम द्वारा सीताजी को देखते ही उनके मन में सीता के प्रति जो प्रीतिभाव उत्पन्न हुआ, उस पर उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ। श्रीराम ने बहुत सरल भाव से अपने छोटे भाई लक्ष्मण से कहा—

"मोहि अतिशय प्रतीति जिय केरी।
जिन सुपनेहु परनार न हेरी॥"

कितनी मानसिक पवित्रता थी श्रीराम में !

जो लोग पराई बहू-बेटियों या स्त्रियों के प्रति मन में बुरे भाव लाते हैं, मन

में परस्त्री को पाने की योजनाएँ बनाते रहते हैं, योजना कामयाब न होने पर मन ही मन झुरते रहते हैं, दूसरों की सुन्दर स्त्रियों को देखकर ईर्ष्या करते रहते हैं, वैसे ही स्वप्न देखते रहते हैं, मित्रों और सगे सम्बन्धियों की स्त्रियों के प्रति दुर्भावना रख कर उन्हें पाने का प्लान रचते रहते हैं; उनके उस पाप का, मानसिक व्यभिचार के दुर्गुण का तो कहना ही क्या ? यहाँ तक कि कई लोग तो भाभी और साली के प्रति भी मन में दुर्विचार लाते रहते हैं, जो कि माता तथा बहन के समान हैं।

इस प्रकार के गंदे विचार मानसिक व्यभिचार का रूप है, जिसके दुष्परिणाम हम ऊपर बता आये हैं।

विकृत मानसिक मैथुन : स्वप्नदोष

एक और मानसिक मैथुन है, जो सोते-सोते स्वप्न में होता है, और उस काम-विकारपोषक स्वप्न के फलस्वरूप वीर्यस्खलन हो जाता है, तब वह मानसिक न रह कर कायिक मैथुन का रूप ले लेता है। स्वप्नदोष का अर्थ है—सोते-सोते कामुक स्वप्न देखते या स्वप्न में किसी कामिनी के प्रति मन में कुविचार उत्पन्न होकर वीर्यपात हो जाना। कई चिकित्सकों का मत है—यदि दो-तीन सप्ताहों में एक बार स्वप्नदोष हो जाए तो उससे कुछ भयंकर हानि नहीं होती; बशर्ते कि उस स्वप्न-दोष के पीछे सिरदर्द, भारीपन आदि न हों। जिस स्वप्नदोष के पीछे मनुष्य स्वयं को खोखला, थका हुआ-सा एवं सुस्त अनुभव करे, वह चाहे महीनों में एक बार ही क्यों न हो, अस्वाभाविक है, रोग का सूचक है। कई अन्य चिकित्सकों का मत है कि स्वप्नदोष चाहे किसी प्रकार भी क्यों न हो, अस्वाभाविक है, रोग का सूचक है, वीर्यपात होने से अब्रह्मचर्य का सूचक है, किसी भी प्रकार से स्वाभाविक नहीं है।

इन दोनों मतों में दूसरा मत ही ठीक लगता है। प्रकृति में इतनी फिजूल-खर्ची नहीं हो सकती कि वह जीवन के सारभाग को इस प्रकार लुटाने लगे। जिन निस्सार पदार्थों की शरीर को आवश्यकता नहीं होती, उन्हें प्रकृति शरीर के खास-खास रास्ते से निकाल देती है। मलाशय और मूत्राशय में मल-मूत्र संचित होता रहता है और मनुष्य सुविधानुसार प्रकृति की सहायता से उन्हें जानबूझ कर निकालता है। यदि कोई समझदार बालक बैठा-बैठा अनजाने ही टट्टी या पेशाब कर दे तो समझा जाता है कि उसे कोई बीमारी है, उसका इलाज कराया जाता है। जब मल-मूत्र भी अनजाने नहीं निकलते, तो वीर्य जैसे अमूल्य तत्त्व का सोते या जागते किसी समय भी अनजाने निकल जाना क्या कभी स्वाभाविक हो सकता है ? और फिर मल-मूत्र का तो वेग होता है, जिसे रोकना कठिन होता है, फिर भी इनका यों ही निकल जाना रोग का सूचक है; वीर्य का तो तब तक कोई वेग नहीं होता, जब तक कि मनुष्य अपने को कामवासना की धारा में बहा न दे। अतः स्वप्नदोष के द्वारा वीर्यपात हो जाना स्वाभाविक नहीं है; वह कामवासनाजन्य है; यह एक प्रकार का विकृत मानसिक मैथुन है और शरीर को जर्जर करने वाली बीमारी है।

वस्तुतः स्वप्नदोष से होने वाला वीर्यनाश अस्वाभाविकता एवं रुग्णता का सूचक है। स्वस्थ एवं सशक्त व्यक्ति भले ही स्वप्नदोष के पश्चात् कोई शारीरिक हानि महसूस न करे; किन्तु वह बेचैनी दूर होने का अनुभव करे, यह असम्भव है। ऐसा पुरुष, जिसने शारीरिक एवं मानसिक अपवित्रता से अपने अन्दर काम-भाव उत्तेजित कर लिया हो, जिसने गन्दे विचारों को ला-लाकर स्नायु-तन्तुओं में तनाव उत्पन्न कर लिया हो, जो मनोविकारों में उद्वेलित हो उठा हो, परन्तु कामवासना को पूर्ण न कर सका हो, स्वप्नदोष से उसकी बेचैनी कैसे दूर हो सकती है; क्योंकि उसने अपने कामतन्तुओं को कृत्रिम उपायों से उत्तेजित करके उनमें काम-भाव की बेचैनी पैदा कर दी है। स्वप्नदोष से जब सारा स्नायुचक्र अस्त-व्यस्त हो जाता है, तब वीर्यपात से बेचैनी कुछ क्षणों के लिए दूर होती-सी मालूम होती है, किन्तु कुछ मिनटों के बाद वह दुगुने-तिगुने वेग से उठ खड़ी होगी। कुछ मिनटों के बेचैन और दीवाने को उम्रभर का बेचैन और दीवाना बना देती है। अतः स्वप्नदोष से बेचैनी दूर नहीं होती, बल्कि बढ़ती है।

वर्तमान युग का बालक अपने पूर्वजों के कुसंस्कारों, कुटेवों एवं रोगों की गठरी सिर पर लाद कर पैदा होता है। उसका पालन-पोषण भी प्रायः स्वास्थ्य के नियमानुसार नहीं होता। चरित्रभ्रष्ट पतित साथियों के साथ उसे बेरोक-टोक छोड़ दिया जाता है। ब्रह्मचर्य के प्रत्येक नियम को प्रायः तोड़ा जाता है। यदि ऐसी विकृत परिस्थिति में पला हुआ बालक १४-१५ वर्ष की आयु में ही स्वप्नदोष की शिकायत करने लगे तो आश्चर्यजनक नहीं; क्योंकि उस आयु में शरीर में युवावस्था के लक्षण प्रकट होने लगते हैं। युवक-युवतियों को अपने शरीर में गजब की सनसनी और स्फूर्ति मालूम होने लगती है। वीर्य के महत्व तथा उसके नाश से होने वाली भयंकर हानियों का प्रायः उसे ज्ञान नहीं होता।

भारतीय समाज में उदीयमान तरुण को स्वस्थ कामविज्ञान का ज्ञान मिल सके, ऐसी कोई व्यवस्था नहीं है। जो कुछ ज्ञान मिलता है, वह दुष्कृत्यरत मित्रों से, निम्न स्तर के कामोत्तेजक साहित्य से विकृत ज्ञान ही मिलता है। जिससे युवक संदेह और भ्रम में फँसकर सर्वनाश के पथ पर चढ़ जाता है। बुरी संगति के कारण वह कामोत्तेजना तथा उससे सम्बन्धित दुश्चेटाओं में गहरा उतर जाता है। उसमें ही वह अद्भुत आनन्द मानने लगता है। उस युवावय के प्रारम्भ में प्रायः हस्तमैथुन आदि में पड़ जाने के कारण वीर्यनाश होते रहने से वीर्यधारण करने की शक्ति कम हो जाती है। फलतः स्वप्नदोष का प्रारम्भ हो जाता है। फिर स्वप्नदोषों का सिलसिला बार-बार होने से वीर्य शीघ्र ही स्खलित होने लगता है। इस प्रकार बहिःस्राव जल्दी-जल्दी होने से कामवासना बढ़ती है। उसकी माँग बढ़ती जाने के साथ-साथ बहिःस्राव भी बढ़ता जाता है। फलतः सप्ताह में एक बार, दो दिन में एक बार, हर रोज और हर रात में कई बार यों माँग के पैदा होने और पूरी होने का चक्र भयंकर

वेग से चलने लगता है। बहिःस्राव जितना बढ़ता है; अन्तःस्राव उतना ही घटता है। अन्तःस्राव के सूख जाने से जो हानियाँ होती हैं, वे स्वप्नदोषरूप विकृत मैथुनग्रस्त व्यक्ति के चेहरे पर झलकने लगती हैं। स्नायुशक्ति के लिए यह अत्यन्त घातक है। स्वप्नदोष का रोगी कमजोर और चिड़चिड़ा होता जाता है। अधिक स्वप्नदोष से स्वस्थ मनुष्य में भी नपुंसकता और वीर्यहीनता आती है और अन्त में स्वप्नदोष का रोगी जीवन से ऊबकर आत्महत्या तक करने पर उतारू हो जाता है। उसका जीवन ग्लानि एवं कुण्ठा से अंधकारमय बन जाता है।

स्वप्नदोष के कारण

यद्यपि स्वप्नदोष से होने वाले वीर्यनाश के भौतिक और मानसिक कारणों को पृथक्-पृथक् करना दुःशक्य है, तथापि हम इन दोनों पर पृथक्-पृथक् विचार करेंगे। स्वप्नदोष से होने वाले कारणों के विषय में प्रायः किशोर और युवक नहीं जानते, न ही जानने का प्रयत्न करते हैं। कई व्यक्ति ऐसे भी होते हैं, जो जानते हैं कि दिन में किये गये मलिन विचारों के कारण रात्रि में स्वप्नदोष होगा, फिर भी वे मलिन विचारों का आनन्द छोड़ नहीं सकते, और चाहते यह हैं कि स्वप्नदोष न हो तो अच्छा। कई लोगों में दीर्घकाल से स्वप्नदोष के रोग के कारण वीर्यधारण करने की शक्ति नहीं रहती।

मानसिक कारण

(१) **कामुकता के स्वप्न**—मनुष्य का मन जाग रहा हो, तो वह खाली नहीं रह सकता, वह अवश्य ही ऊटपटांग विचार किया करता है। बस, नींद न आने पर भी बिस्तर पर पड़े रहने वाले व्यक्ति का खाली मन, स्वप्न लेने लगता है। प्रायः स्वप्न मन की अर्द्धजागृत और अर्द्धसुप्त अवस्था में हुआ करते हैं। ऐसे कुस्वप्न में मन कामुकता के विचारों में विहरण करने लगता है। स्वप्न लेने वाले के मन में अपना कोई प्रेमपात्र होता है, उसी को लक्ष्य में रखकर स्वप्न चलता रहता है। फिर स्वप्नदोष होते भी देर नहीं लगती। स्वप्नदोष से वीर्यस्राव होते ही आकस्मिक घटना से व्यक्ति की आँख खुलती है, ऊँघ टूटती है। स्वप्नदोष के मूल स्रोत प्रायः दिन में जागृत अवस्था में हुए कुविचार हैं, जो रात को सुप्त अवस्था में मनुष्य के सामने नये-नये रूप धारण करके आते हैं।

(२) **चिन्ताजनक स्वप्न**—चिन्ता का अभिप्राय है—बेचैनी; और बेचैनी से सारा स्नायुमण्डल तना रहता है। चिन्ताग्रस्त रहने से भी स्वप्नदोष हो जाता है क्योंकि चिन्ता से एक ओर स्नायुमण्डल का ह्रास होता है, और दूसरी ओर वीर्यनाश होकर जीवनी का ह्रास होता है। चिन्ता से भय का भाव चारों ओर से आक्रमण कर देता है तो स्वप्नदोष एवं वीर्यस्खलन हो जाता है।

(३) **कामभाव के विचार**—पुरुषों तथा स्त्रियों, दोनों को स्वप्नदोष होता है और दोनों को इससे अत्यन्त हानि पहुँचती है। शरीरविज्ञान के अनुसार यद्यपि

स्वप्नदोष में स्त्री का वीर्य जैसा कोई तत्व स्खलित नहीं होता, तथापि उसकी स्नायु शक्ति का भारी ह्रास होता है। कामुकता का स्वप्न एक प्रकार का अनजाने हस्त-मैथुन ही है। सीढ़ियों से नीचे उतरते समय, कोई चूक हो जाए और पैर अनजाने में एक डण्डा और नीचे चला जाए तो शरीर को जबर्दस्त धक्का लगता है। शरीर के लिए जैसे यह धक्का है, वैसे ही स्नायुमण्डल के लिए कामुकता का स्वप्न धक्का है। उस समय शरीर के प्रत्येक अंग में से स्नायुशक्ति एकत्र होकर बड़े वेग से एक ऐसे व्यक्ति के आलिंगन में लगती है, जिसकी कोई सत्ता ही नहीं। वह शक्ति स्वप्नदोष के रूप में बाहर निकल जाती है। परन्तु उसकी प्रतिकारक शक्ति दूसरे व्यक्ति की ओर से नहीं मिलती क्योंकि उसकी सत्ता तो मनःकल्पित ही है।

(४) **अश्लील साहित्य आदि से**—गंदे उपन्यास पढ़ने से, अश्लील सिनेमा-नाटक आदि देखने से, पतित साथियों के साथ अत्यधिक सम्पर्क से, मन के खाली रहने से तथा जागते हुए मुख से निकाले गये अश्लील शब्द से भी मन को स्वप्नावस्था के लिए काफी मसाला मिल जाता है। ऐसे मसाले को पाकर मन उसे छोड़ना भी नहीं चाहता। मन स्वप्न में उन अपवित्र स्मृतियों को जगा देता है। फलतः स्वप्न-दोष होकर वीर्यपात हो जाता है। जिसका दिन का समय गंदे विचारों में बीता है, कामोद्दीपन हो चुका है, उसे रात में स्वप्नदोष अवश्य हो जाता है।

भौतिक कारण

स्वप्नदोष के भौतिक कारण मुख्यतया ये हैं—

(१) **भोजन**—अत्यन्त पौष्टिक, दुष्पाच्य, तामसिक एवं नशीले खान-पान से, अत्यधिक ठूँस-ठूँसकर खाने से स्वप्नदोष हो जाता है। जिह्वालोलुपतावश भूख से ज्यादा खा लेने से या दुष्पाच्य आदि भोजन से भोजन का जो भाग नहीं पचता, वह पेट में सड़ता है। पाचन-प्रणाली में वह गड़बड़ी मचा देता है। पाचन-प्रणाली का जनन-प्रणाली के साथ गहरा सम्बन्ध है। पाचन-प्रणाली में सड़ान पैदा होकर जलन होने लगती है तो जनन-प्रणाली में भी जलन होती है। फलस्वरूप उत्तेजना पैदा होती है और मनुष्य की मानसिक अवस्था बिगड़ जाती है। इस जलन से सोते-सोते स्वप्नदोष हो जाता है। अपचन से जनन-प्रणाली की दुरवस्था मिर्च-मसालों, बाजारू मिष्टान्न, अचार आदि से अत्यधिक होती है इसका सीधा असर उत्पादक अंगों पर होता है।

(२) **मूत्राशय तथा मलाशय का भरा रहना**—अस्वाभाविक जीवन जीने से छोटी आयु में ही वीर्य शुक्रकोश में संचित होने लगता है। शुक्रकोश के आमने-सामने मूत्राशय तथा मलाशय हैं। इन दोनों के भर जाने से शुक्रकोश पर दबाव पड़कर शुक्र के निकल जाने की संभावना है। कभी-कभी शौच के समय ज्यादा दबाव पड़ने से भी शुक्र निकल जाता है। रात को सोते समय प्राकृतिक आवेगों (कुदरती हाजतों) को आलस्यवश रोकने से निद्रावस्था में दबाव पड़ने से वीर्यपात हो जाता है। पेशाब

की हाजत नींद उड़ा देती है, फिर भी आलसी व्यक्ति पेशाब को रोककर फिर सो जाए तो नींद तो उसे आएगी नहीं, किन्तु तन्द्रावस्था चालू रहकर स्वप्नदोष हो जाता है।

(३) **हस्तमैथुन तथा अतिमैथुन**—यह एक मनोविज्ञानिक तथ्य है कि मनुष्य जिन कामों को जान-बूझकर बार-बार करता है, वे उसकी अन्तरात्मा के अंग बन जाते हैं। उनके करने में इच्छाशक्ति को लगाने की जरूरत नहीं पड़ती। हस्तमैथुन तथा अतिमैथुन दोनों ऐसे दुष्कृत्य हैं कि मनुष्य इन्हें बार-बार करता है। अतः इनके बार-बार होने के ही परिणामस्वरूप स्वप्नदोष अनजाने सोते-सोते हो जाता है।

मेकफेडन महोदय अपनी पुस्तक '**एनसाइक्लोपीडिया आफ फिजिकल कल्चर**' में लिखते हैं—"यदि कोई व्यक्ति, जिसे हस्तमैथुन की लत पड़ चुकी हो, एकदम इस आदत को छोड़ देता है तब उसे पूर्व संस्कारवश कुछ ही दिनों बाद स्वप्नदोष होने लगता है। उसका शरीर बलात् वीर्यस्राव का आदी हो जाता है। विवाहित गृहस्थ, जिन्हें अत्यधिक विषय-भोग की लत पड़ जाती है, वे यदि कभी अकेले हो जाते हैं या जिन्हें विवशतापूर्वक संयम पालना पड़ता है तब कुछ दिनों तक वे स्वप्नदोष के शिकार रहते हैं। शरीर को नई परिस्थितियों के अनुसार स्वयं को ढालने में कुछ अर्सा तो लग ही जाता है।" अतः अतिमैथुन तथा हस्तमैथुन भी स्वप्नदोष के कारण हैं।

(४) **गंदगी, खुजली, जलन**—कभी-कभी मूत्राशय में गंदे पदार्थ एकत्रित होकर जलन पैदा कर देते हैं। यह जलन मूत्रप्रणाली में से होती हुई शुक्रकोश तक पहुँचती है। उत्पादक अंगों में मैल इकट्ठा हो जाता है। उनकी सफाई न होने से जलन और खुजली दोनों उत्पन्न होते हैं। फलतः स्वप्नदोष और हस्तमैथुन दोनों ही हो सकते हैं। जननेन्द्रिय की तथा पेशाब की घातक बीमारियों से भी स्वप्नदोष हो जाता है।

(५) **अतृप्त कामेच्छा**—कभी-कभी जागृत अवस्था की अतृप्त या दबाई हुई कामेच्छा सोते समय अपना रास्ता बना लेती है। अतृप्त कामेच्छा मस्तिष्क में एक बार प्रविष्ट हो जाने पर स्नायुतन्तुओं में घोर संग्राम मचा देती है। यह अत्यन्त भयानक है। ऐसी इच्छा जो तृप्त नहीं की जा सकती, उसे उत्पन्न ही न होने देना चाहिए।

(६) **शारीरिक निर्बलता**—कई लोगों में शारीरिक अशक्तता एवं निर्बलता अत्यधिक होती है। यौवनवय में उनके शरीर में वीर्य नहीं पचता। अतः स्वप्नदोष होकर वीर्यस्खलन हो जाता है। इस प्रकार शरीर में स्तम्भनशक्ति का न होना भी स्वप्नदोष एवं वीर्यपात का कारण है।

(७) **अतिशय जागरण, अत्यधिक शयन आदि**—अत्यन्त जागना, अत्यधिक सोना तथा शरीर-श्रमरहित आलसी जीवन बिताना भी स्वप्नदोष का कारण है।

(८) **विजातीय व्यक्ति का विकारपूर्वक प्रेक्षण**—विजातीय व्यक्ति को बार-बार काम-वासना की दृष्टि से देखना, उसकी अनुपस्थिति में उसी का चिन्तन करना; यह चिन्तन कामोत्तेजना पैदा करके रात्रि में स्वप्नदोष का कारण बनता है।

(९) **कामुकता से पूर्ण बातों में**—रुचिपूर्वक भाग लेना, उन्हीं विचारों में तन्मय हो जाना भी स्वप्नदोष का कारण है।

इस प्रकार स्वप्नदोष भी विकृत मानसिक मैथुन है, उसकी परिणति कल्पित कायिक मैथुन में होती है। इस प्रकार के मानसिक मैथुनों का त्याग करना ही मानसिक ब्रह्मचर्य है।

कायिक मैथुन और उसके प्रकार

कायिक मैथुन—विजातीय या विपरीत लिंगी के साथ प्रेक्षण, स्पर्शन, आलिंगन आदि से लेकर सहचार तक की प्रक्रिया का समावेश कायिक मैथुन में होता है। यद्यपि व्यापक अब्रह्मचर्य को एक पत्नी में केन्द्रित करने से अब्रह्मचर्य से बहुत अंशों में मनुष्य निवृत्त हो सकता है, परन्तु स्वस्त्री के साथ मर्यादित सहचार भी है तो अब्रह्मचर्य ही। उसके सम्बन्ध में हम 'साधनाखण्ड' में विश्लेषण करेंगे। यहाँ तो उन अनैतिक एवं मर्यादाविरुद्ध कायिक मैथुनों का वर्णन करेंगे जिन्हें कायिक व्यभिचार कहा जा सकता है और कायिक ब्रह्मचर्य के लिए जिनसे विरत होना अनिवार्य है। कायिक व्यभिचार (अनैतिक मैथुन) को हम ६ भागों में विभक्त कर सकते हैं—

(१) आत्म-व्यभिचार,
(२) स्वपत्नी-व्यभिचार,
(३) गुप्त-व्यभिचार,
(४) परस्त्री-व्यभिचार,
(५) वेश्या-व्यभिचार, और
(६) धार्मिक व्यभिचार।

हम क्रमशः इनका विश्लेषण करेंगे।

(१) **आत्म-व्यभिचार**—आजकल जिन अस्वाभाविक एवं दमघोंटू परिस्थितियों में लड़के-लड़कियाँ रखे जाते हैं, उनके दुष्परिणाम शरीर और मन पर हुए बिना नहीं रहते। यही नहीं, बड़े-बड़े सभ्य एवं सज्जन किन्तु भोगी-विलासी लोगों की संकल्प शक्ति हृदय में उठने वाले मानसिक विकारों को रोकने में अत्यन्त निर्बल होती है। उनके जीवन में ऐसे क्षण आते हैं, जब वे कामवासना में अन्धे हो जाते हैं, उनकी बुद्धि ठिकाने नहीं रहती। अन्तरात्मा में छिपा हुआ दानव मोह का पर्दा डाल देता है। जिससे वे और कोई विचार न करके घृणित से घृणित पाप करके आत्मविनाश करने पर तुल जाते हैं। जिस समय स्मृतिभ्रंश और बुद्धिनाश होने से **मनुष्य हस्तमैथुन आदि पैशाचिक कुकृत्यों में प्रवृत्त होकर अपनी आत्मा का हनन कर बैठता है उसे ही आत्मव्यभिचार का नाम दिया गया है।**

संक्षेप में, कृत्रिम साधनों से या हस्तस्पर्श आदि से, किसी भी प्रकार से दबाव डालकर जननेन्द्रिय को उत्तेजित करके शक्ति के असीम भण्डार—वीर्य को खो देना, ऐसे महापातक द्वारा अपनी आत्मा का गुप्तरूप से घात करना आत्म-व्यभिचार है। जो बालकों युवकों, प्रौढ़ों, एवं सभ्य लोगों के जीवन का, स्वास्थ्य का एवं नैतिकता का सर्वनाश करने वाला घुन है, घातक कार्य है।

(२) **स्वपत्नी-व्यभिचार**—बहुत-से अज्ञ लोग यह समझते हैं कि विवाह के बाद पत्नी पर पति का एकाधिकार या स्वामित्व हो जाता है, फिर अपनी विवाहिता स्त्री से चाहे जितनी बार, चाहे जिस ढंग से इन्द्रियों की विषय-वासना तृप्त की जाए कोई बुराई नहीं। विवाह के बाद पुरुष जो कुछ भी चाहें, करें, उन्हें मनचाहा करने के लिए कानूनी परवाना मिल गया है।

दुराचारी और अजितेन्द्रिय मनुष्यों ने पवित्र वैवाहिक जीवन को भी व्यभिचार के घृणित कीचड़ से सर्वथा लथपथ कर रखा है। अपनी स्त्री को व्यभिचार के लिए सबसे सुगम और सस्ती वस्तु समझना महापाप है। परन्तु वे भोले लोग नहीं समझते कि संयमहीन जीवन चाहे विवाह करके बिताया जाए, चाहे बिना विवाह के, नैतिक या प्राकृतिक नियमों के सम्मुख दोनों अवस्थाओं में वह व्यभिचार है।

अक्सर मूर्ख लोग समझते हैं कि विवाह विषय-भोग के लिए ही है। विवाह के बाद अविवेकी स्त्री-पुरुष दोनों कामाग्नि को प्रचण्ड करके उसमें कूद पड़ते हैं। उन्हें पता नहीं कि प्रचण्ड लपटों के बाद आग शान्त हो जाती है, कुछ ही देर में राख का ढेर लग जाता है। प्रारम्भ में आया हुआ तूफान, थोड़ी ही देर में शान्त हो जाता है। तूफान में पति-पत्नी दोनों को कुछ भी आगा-पीछा नहीं सूझता। शुरू-शुरू में प्रेम के नाम पर जो वासना का तूफान उमड़ता है, बाद में वास्तविक प्रेम की एक बूँद भी नहीं बची रहती; क्योंकि पुरुष वर्ग प्रायः विषय-भोग को ही प्रेम समझता है। वास्तव में प्रेम संकुचित वस्तु नहीं है, जो रात्रि के पापमय एकान्त में ही प्रकट हो सके, इस प्रकार का प्रेम तो क्षणिक वासना का विलास है, जो टिकता नहीं है। मगर वास्तविक प्रेम तो चौबीसों घण्टे प्रकट हो सकता है और इसमें हृदय कुण्ठित नहीं, प्रफुल्लित रहता है।

अस्वस्थ समाज की भूलभरी मान्यता के कारण प्रायः पुरुषवर्ग अपनी बेवकूफी से समझने लगा कि स्त्री का सन्तोष कामभाव से ही हो सकता है, या उसमें कामेच्छा पुरुष से अधिक होती है। इसलिए स्त्री के विषय में गन्दे विचारों का भूत उसके दिमाग में ऐसा घुस गया है कि उससे अवकाश के समय प्रायः कामचर्चा ही करता है। अधिकांश पुरुष इन्हीं गन्दे विचारों से प्रेरित होकर कामभाव में लिप्त रहते हैं। वे यह नहीं समझते कि स्त्री भी पुरुष के समान अपने शरीर की स्वामिनी है। स्त्री की इच्छा के बिना पुरुष का उसे हाथ लगाना भी बलात्कार है। अनियन्त्रित विषयभोग से प्रेम नष्ट हो जाता है, बल्कि स्त्री-पुरुष को एक-दूसरे से घृणा पैदा हो जाती है। जीवन उद्देश्यशून्य एवं आत्मलक्ष्य से हीन हो जाता है।

इस प्रसंग में, डॉ० कोवन की निम्नलिखित पंक्तियाँ विचारणीय हैं—"नई शादी करके पुरुष तथा स्त्री विषयभोग की दलदल में जा धँसते हैं। विवाह के प्रारम्भ के दिन तो मानो, नैतिक व्यभिचार के दिन होते हैं। उन दिनों में ऐसा जान पड़ता है, मानो विवाह जैसी उच्च तथा पवित्र प्रथा भी मनुष्य को पशु बनाने के लिए गढ़ी गई हो।.....विवाह के पर्दे में छिपे इस व्यभिचार से क्या शान्ति, सन्तोष और बल मिल सकते हैं ? विषय-वासना में इस प्रकार पड़ जाने से शरीर और आत्मा दोनों गिरते हैं, आनन्द, बल और प्रेम खतरे में पड़ जाते हैं।" स्मृतिशास्त्र के अनुसार ऋतु-काल में सन्तानोत्पत्ति के नियम का उल्लंघन करके केवल विषयवासना की तृप्ति के लिए पुरुष का अपने अधिकार की दृष्टि से स्त्री-सहवास करना व्यभिचार ही कहा जाएगा। ऐसा स्वपत्नी-व्यभिचार मन और आत्मा के लिए तो घातक है ही, इसके अतिरिक्त पुरुष के मस्तिष्क पर वैसा ही परिणाम होता है, जैसा हस्तमैथुन का। बल्कि इस घरू व्यभिचार का पुरुष की अपेक्षा स्त्रियों पर और उनकी सन्तानों पर अत्यधिक भयंकर प्रभाव पड़ता है। पुरुषवर्ग में अधिकांश व्यक्ति मासिकधर्म के दिनों में भी स्त्री पर बलात्कार करते रहते हैं, इसका परिणाम भी भयंकर आता है। उस समय रक्ताभिसरण की अव्यवस्था के कारण स्त्री की पाचनशक्ति बिगड़ जाती है, जो दवाइयों के सेवन से भी सुधरनी कठिन है। पुरुष भी रोगग्रस्त हो सकता है।

गर्भावस्था के प्रारम्भ से लेकर प्रसवकाल तक स्त्री की इच्छा पुरुषसंग की कतई नहीं होती, परन्तु अविवेकी और कामवासना का शिकार पुरुष स्त्री की गर्भावस्था में भी स्त्री पर वैसा ही बलात्कार करता रहता है। ऐसे समय में सहवास के प्रति घोर तिरस्कार होते हुए भी स्त्री विवश होकर पति की कामेच्छा के अधीन हो जाती है। ऐसा पुरुष अपनी निर्दोष और सहृदय पत्नी की शारीरिक-मानसिक अधोगति का कारण बनता है। सगर्भावस्था का स्त्रीसंग पति, पत्नी और गर्भस्थ बालक, तीनों के लिए दुःखदायक एवं पीड़ाकारक है, क्योंकि स्त्री को गर्भावस्था में अपने गर्भ को अपने उदर में रखकर अपने रक्त से उसका पालन-पोषण करना होता है, अगर वह इस समय पति की भ्रष्ट विषयवासना के अधीन हो जाती है तो उस समय का पुरुषसंग, बालक की गर्भवृद्धि को रोकता है, इस कृत्य से स्त्री अपने मातृ-धर्म को और पुरुष पितृधर्म को भंग करके अपनी सन्तान का कट्टर शत्रु और तिरस्कार-पात्र बनता है। इससे स्त्री के समस्त ज्ञानतन्तुओं को अपार हानि होती है। स्त्री का स्वभाव चिड़चिड़ा हो जाता है। पुरुष भी जीवन से ऊब जाता है। गर्भावस्था में गर्भिणी के आचार-विचार, खान-पान आदि समस्त क्रियाओं का प्रबल प्रभाव गर्भस्थ शिशु पर पड़ता है, ऐसे समय में गर्भिणी के संरक्षण के लिए अनेक नियम स्मृति आदि धर्मशास्त्रों ने निर्धारित किये हैं और गर्भवती स्त्री-संग करना महापाप बताया है; क्योंकि गर्भिणी के साथ गर्भावस्था में जब चाहे तब व्यभिचार किया जाए तो गर्भस्थ शिशु को वह कामासक्त मनुष्य व्यभिचारी बनाता है, उक्त विषयानन्द को गर्भस्थ बालक भी ग्रहण करता है और यदि गर्भस्थ शिशु कन्या हुई तो वह भी पिता के

उस विषयानन्द को ग्रहण करती है। यह एक प्रकार का पुत्री-व्यभिचार का महा-पातक हुआ। यह गर्भावस्था में व्यभिचार करने का प्रभाव है, जिसके कारण बच्चों की प्रकृति में ही लम्पटता और व्यभिचार की रुचि उत्पन्न हो जाती है।

गर्भावस्था में स्त्री को जो उल्टियाँ आदि होती हैं, उनका मुख्य कारण उस समय का अस्वाभाविक स्त्री-संग है। इसी कारण विवाह के पूर्व की शान्त, सौम्य, प्रसन्नचित्त कन्या विवाह के बाद कर्कशा, क्रोधी, चिड़चिड़ी और अशान्त तथा उदास हो जाती है।

बालक का प्रसव होने के पश्चात् बालक माँ का दूध पीता हो, तब तक अर्थात्—प्रसूतिकाल के पश्चात् ऋतु प्राप्ति हो, तब तक यानी ८ महीने तक स्त्रीसंग करना पत्नी-व्यभिचार है। क्योंकि बालक के स्तनपान काल में स्त्री संग करने से स्त्री को विषयभोग से अनुप्राणित रजोदर्शन होता है, इससे बालक के शरीर के पोषक माता के दूध में कमी हो जाती है। माता जो आहार करती है, उसका सार-भाग दूध हो जाता है, किन्तु इस समय में विषयभोग करने से वह सारभाग रज बनकर रजोधर्म द्वारा बाहर निकल जाता है, वह दूध रूप में परिणत होकर बालक को नहीं मिलता। दूध की कमी के कारण बालक निःसत्व हो जाता है। इसके अतिरिक्त बालक स्तनपान करता हो, उस समय माता की जीवनी-शक्ति बालक के लिए दूध उत्पन्न करने में लगी रहती है, इसलिए स्त्री की कामवासना उस समय में शान्त होती है। ऐसे समय में भी पुरुष को कदापि स्त्रीसंग नहीं करना चाहिए।

बहुधा मूर्ख स्त्री-पुरुष साल-डेढ़ साल से लेकर तीन-चार साल तक के बच्चों को सर्वथा अबोध समझकर उनके सम्मुख ही अपनी कामचेष्टाएँ करते रहते हैं, किसी तरह का कोई पर्दा नहीं करते। यह भी पत्नी-व्यभिचार का एक प्रकार है, जो अतीव खतरनाक है। बालक चाहे अबोध है, नकल न कर सकता हो, परन्तु उस कुचेष्टा का प्रभाव बालक के मन पर अवश्य पड़ता है। ज्योंही बालक बड़ा या सशक्त हो जाता है, त्यों ही वैसी चेष्टा कर दिखाता है। अतः इसे भी त्याज्य समझना चाहिए।

इसी प्रकार पति या पत्नी दोनों में से किसी को भी भयंकर जननेन्द्रिय का रोग हो, वैसी अवस्था में कामाचार नहीं करना चाहिए। ऐसे समय में कामान्ध पुरुष का स्त्री-संग व्यभिचार है, जो उसे शारीरिक दुःखों के समुद्र में धकेल देता है।

विवाह के समय पुष्ट, विकसित पुष्प के समान प्रसन्नचित्त जवान कन्याएँ ससुराल जाती हैं, परन्तु वहाँ प्रायः पुरुष-पशुओं के अत्याचार के कारण दो-तीन वर्ष में ही वे पीली, मुर्झाई हुई, एवं रोगिणी होकर अपने मैके आती हैं। बहुत-सी कन्याएँ तो ४-५ वर्ष में ही क्षय, दमा, हृदय का दौरा आदि रोगों की शिकार होकर मर जाती हैं। इन रोगों का कारण प्रायः प्रसव की गड़बड़ी है। स्त्रियों के अपने भीरु स्वभाव के कारण वे छोटे-मोटे कष्ट, पीड़ा या संकट को प्रकट नहीं करती, घर के

कठोर श्रमयुक्त कार्यों को करती रहती हैं। पुरुष दिनभर अपने व्यापार-धन्धे या नौकरी में व्यस्त रहने के कारण मिल नहीं पाते और न ही अपनी पत्नी की तबियत को देखने-पूछने की उन्हें परवाह होती है। रात को ही प्रायः मिलते हैं, तब काम का भूत उन पर सवार होता है। फिर समाज में यह गन्दे विचारों का भूत भी उसके दिमाग में ठसाया जाता है कि स्त्री में कामभाव पुरुष से कई गुना ज्यादा होता है, इसलिए अगर वह स्त्री की कामवासना सन्तुष्ट न करेगा तो स्त्री उसे नाकारा या नामर्द समझकर घृणा करेगी। इस प्रकार के सत्यानाशी विचारों के चक्कर में आकर जब चाहे तब स्त्री-सहवास करना खतरनाक है। ऐसे निर्दय व्यभिचार के फलस्वरूप स्त्रियों की हड्डियों में बहुधा जीर्णज्वर बैठ जाता है और वे क्षय रोग की शिकार हो जाती हैं। 'चित्रमय जगत्' नामक मासिक पत्र के एक अंक में एक अनुभवी चिन्तक ने स्वपत्नी-व्यभिचार' शीर्षक एक मननीय लेख में बताया है कि—"पति को विषय-वासना तृप्त करके पत्नी को अकाल में विनाश करने का हक हिन्दू धर्मशास्त्र नहीं देता।"

इसलिए स्त्री और पुरुष दोनों परिपक्व हुए बिना अर्थात् दोनों का शारीरिक और मानसिक पूरा-पूरा विकास या समस्त अंगों की पूर्णता हुए बिना कच्ची उम्र की विवाहिता कन्या के साथ अथवा कच्ची उम्र वाले लड़के को बड़ी उम्र की महिला के साथ सहवास करना अनुचित है। वह भी एक प्रकार का पत्नी-व्यभिचार है। अव्वल तो शास्त्रानुसार शरीर के सुप्त नौ अंग जागृत या पुष्ट हुए बिना विवाह करना या गृहस्थाश्रम में प्रवेश करना भी निन्द्य एवं शास्त्रविरुद्ध है, क्योंकि अशक्त अवयस्क और कच्चे शरीर वाले पति या पत्नी से स्वस्थ एवं बलवान सन्तान पैदा नहीं होती। ऐसा नियमविरुद्ध कार्य करने से आयुष्यबल एवं कार्यशक्ति कम हो जानी स्वाभाविक है।

इस प्रकार स्त्री को जहाँ जब, जहाँ और जिस प्रकार से भी कामवासना-तृप्ति का साधन समझा जाता है, वहाँ स्वपत्नी-व्यभिचार है, जिसमें वह (पति) उस पापी की तरह आचरण करता है, जो आत्मघात करता हुआ दूसरे की भी निर्दयता-पूर्वक हत्या कर डालता है। अपनी जीवनसंगिनी पत्नी को विषय-वासनातृप्ति का साधनमात्र बना लेना संसार का सबसे बड़ा पाप है और स्त्री के प्रति किया हुआ सबसे बड़ा अन्याय है। इसलिए पत्नी-व्यभिचार महापाप है।

(३) **गुप्त-व्यभिचार**—स्वदारसन्तोष या स्वपतिसन्तोष व्रत का उल्लंघन कर जब कोई पुरुष या स्त्री; छिपे-छिपे पुरुष किसी स्त्री से या स्त्री किसी पुरुष से व्यभिचार करती है, तो वह गुप्त-व्यभिचार कहलाता है। गुप्त-व्यभिचार सब प्रकार के व्यभिचारों से रसीला और कीमती है। किसी अनुभवी ने कहा—स्वस्त्री-व्यभिचार टके सेर है, वेश्या-व्यभिचार रुपये सेर है, किन्तु गुप्त-व्यभिचार तो प्राणों के भाव बिकता है। इस गुप्त-मैथुन में फँसे हुए स्त्री-पुरुषों को इज्जत, प्रतिष्ठा, सम्मान-

सत्कार, जान, धन-दौलत एवं सर्वस्व का बलिदान देना पड़ता है। यह व्यभिचार जान की जोखिम से कम खतरनाक नहीं है। गिरफ्तार होने पर जब उसकी धुनाई और पिटाई होती है अथवा रंगे हाथों पकड़े जाने पर जो जानलेवा संकट पैदा हो जाता है, तब तो यह व्यभिचार बहुत महंगा पड़ता है। मगर जिन भले आदमियों या परस्त्री-लम्पट महाशयों को इसका चस्का लग जाता है, उसके समक्ष इस गुप्त व्यभिचार के बदले में इज्जत, धन-दौलत, या प्राण आदि संसार के समस्त वैभव तुच्छ है। सच पूछा जाए तो संसार के समस्त भयंकर पापों में से आधे पाप इस गुप्त-व्यभिचार के कारण होते हैं।

(४) **परस्त्री-व्यभिचार**—परस्त्रीगमन इन गुप्त व्यभिचारों का मुखिया है। परस्त्रीगमन सन्देहों का भँवर, अविनय का घर, साहस का नगर, दोषों का खजाना, कपट का शतगृह, अविश्वास का क्षेत्र, बड़े-बड़े पुरुषसिंहों को पछाड़ने वाला और माया का पिटारा है। परस्त्री-सेवन इतना भयंकर पाप क्यों है ? इसका कारण बताते हुए एक विचारक ने कहा है—

"परनारी पैनो छुरी, तीन ठौर ते खाय।
धन छीजे, जोबन हरे, मुए नरक ले जाय॥"

परस्त्री-गमन और गुप्त-व्यभिचार के कई कारण हैं—

घनी बस्तियाँ, तंग मकान—बड़े शहरों में घनी बस्तियों में तंग मकानों में अनेक परिवारों के स्त्री-पुरुष एकत्रित रहते हैं। स्त्रियों को मर्दों से उचित और आवश्यक पर्दा करने की जरूरत होती है। परन्तु तंग मकानों में कपड़े या सिर्की का नाममात्र का पर्दा या ओट हो, वहाँ मर्यादा कैसे सुरक्षित रह सकती है ? इसी में एक-दूसरे की घनिष्ठता निकट सम्पर्क और परस्पर आकर्षण, इस गुप्त-व्यभिचार का कारण है। उच्च श्रेणी के प्रतिष्ठित स्त्री-पुरुषों में भी यह दोष पाया जाता है। बड़े-बड़े नगरों में मकानों की तंगी से ऐसी लाचारी उत्पन्न हो जाती है और उसी में गुप्त-व्यभिचार के बीज बोये जाते हैं।

बहकाहट और प्रलोभन—जिन स्त्रियों के पति बूढ़े, रोगी और गरीब होते हैं, अथवा जो परिवार खाने-पीने का मोहताज होता है, उनकी स्त्रियाँ बहुत करके इस कुमार्ग में फँस जाती हैं। ऐसी स्त्रियों को कंघा, सुर्मा, इत्र, वस्त्र एवं कुछ मिठाइयाँ एवं नकद रुपये के प्रलोभन से ही शीलधर्म से डिगा दिया जाता है। एक बार भ्रष्ट होने के बाद फिर उठना मुश्किल हो जाता है। उन स्त्रियों को बहकाकर गिराने वाले पुरुष तो समाज में रुपये देकर बच जाते हैं, पर उस अभागिनी स्त्री का भण्डाफोड़ हो जाने पर कहीं ठौर-ठिकाना नहीं रहता। यह गुप्त-व्यभिचार बहुत ही चलता है।

कई बेचारी विधवाएँ इस गुप्त-व्यभिचार में फँस जाती हैं। घर में प्रायः उन्हें सात्विक एवं सम्मानपूर्ण जीवन बिताने का अवसर नहीं मिलता, बल्कि कई घरों

में तो विधवाओं का हद से ज्यादा अनादर होता है। इसी से तंग आकर वे किसी न किसी ऐरे-गैरे के साथ भाग जाती हैं और किसी तरह जीवन-यापन करती है।

कई लोग कुमारी एवं पवित्र कन्याओं को बहका-फुसलाकर इस कुकर्म में फँसा देते हैं। अधिकांश धनिक लोग मजदूरनी, नौकरानी, चमारी, भंगन और रसोईदारिन आदि को सुन्दर देखकर रख लेते हैं, और फिर उनसे अनुचित सम्बन्ध जोड़ लेते हैं।

कई राजा, ठाकुर, जमींदार, उद्योगपति, सत्ताधीश आदि अत्यन्त व्यभिचारी होते हैं। वे हर एक सुन्दर स्त्री को धन और सत्ता के बल पर भ्रष्ट करने की कोशिश करते हैं। सुना है, पटियालानरेश ऐसे ही घोर व्यभिचारी थे।

आज तो घोर कलियुग छा गया है, वातावरण इतना बिगड़ गया है कि कुछ लोग अपने शिक्षक, पड़ौसी और मित्रों की स्त्री एवं कन्याओं तक पर हाथ साफ कर बैठते हैं। कई शिक्षक, अधिकारी, नेता आदि भी सम्बन्धित घरों की लड़कियों या युवतियों को पढ़ाने या नौकरी दिलाने के बहाने अथवा अन्य किसी प्रलोभन से इस कुचक्र में फँसा लेते हैं। इनके स्केण्डल आये दिन पत्रों की सुर्खियों में आप पढ़ते ही रहते हैं।

(५) **धार्मिक व्यभिचार**—यद्यपि धार्मिक व्यभिचार शब्द कटु है, तथा इसे भी गुप्त-व्यभिचार के अन्तर्गत माना जा सकता है। तथापि धर्म की ओट में, धर्म के नाम पर जो गुप्त व्यभिचार होता है, उसे धार्मिक व्यभिचार या धार्मिक मैथुन कहा जाता है, जो गुप्त-व्यभिचार से भी निन्द्य और घोर पाप है। यह धार्मिक व्यभिचार प्रायः धर्मस्थानों में, मन्दिरों में या देवी-देवों के नाम पर चलता है। तथाकथित धर्म के अनुयायियों में उस धर्म के महन्तों या पण्डे-पुजारियों द्वारा चलाया जाता है। वैदिक पुराणों में तथाकथित देवों को प्रायः इस प्रकार के व्यभिचार में लिप्त बताया गया है।

दक्षिण भारत के देवमन्दिरों में देवदासियाँ रहती थीं। बचपन में ही इन कन्याओं के माता-पिता इन्हें देवता के मन्दिर में चढ़ा जाते थे। वहीं ये बड़ी होती थीं। ये उस देवता के साथ विवाहित मानी जाती थीं। इनका मुख्य कार्य होता था—देवप्रतिमा के सम्मुख नाचना-गाना। इनमें से कुछ सुन्दर स्त्रियाँ पण्डे-पुजारियों के व्यभिचार की सामग्री होती थीं। शेष देव-दर्शनार्थ आए हुए यात्रियों की कामवासना पूर्ण करके निर्वाह करती थीं।

ईसा-पूर्व पाँचवीं शताब्दी में यूरोप में एक धार्मिक व्यभिचार प्रचलित था। काबुल के लोगों की देवी माईलिट्टा के मन्दिर में प्रत्येक स्त्री को जीवन में एक बार उक्त देवी के मन्दिर में उस परदेशी पुरुष को अपना शरीर सौंप देना पड़ता था, जो भेंटस्वरूप सर्वप्रथम उस देवी की गोद में पैसा फेंकता था। इस धार्मिक व्यभिचार के पीछे यह मान्यता थी कि देवी में मानवीय उत्पादक शक्ति को बढ़ाने

की अद्भुत और प्रचुर क्षमता है। कालान्तर में यह भी समझा जाने लगा कि देवी-देवता के पुजारियों के साथ सहवास करने से स्त्री के बाँझ होने का भय नहीं रहता। भगवत् पूजा से सहवास की पवित्रता में किसी को आपत्ति नहीं थी।

बहुत-से लोग तीर्थ स्थानों में अपनी विवाहिता पत्नी का दान भी कर देते थे और फिर कुछ रुपये देकर उसे वापस खरीद लेते थे। यह बात स्त्रियों के लिए तो घोर अपमानजनक थी ही, साथ ही अपनी स्त्री को स्वयं व्यभिचारिणी बनाने का दुष्प्रयास था।

शाक्तसम्प्रदाय में भैरवीचक्र, नैशोत्सव एवं पंचमकार आदि का मध्यकाल में बहुत जोर था। इस सम्प्रदाय में 'शिव उवाच,' 'पार्वती उवाच,' 'भैरव उवाच' आदि वाक्य लिखकर उनके नाम से नीति, धर्म और सभ्यता के विरुद्ध बहुत-सी ऊटपटांग बातें लिखी गई हैं, जो धार्मिक व्यभिचार का प्रचार करती हैं।

जब भी ऐसे उत्सव होते हैं तो भैरवीचक्र में शराब, मांस, नग्ननृत्य और फिर भैरव-भैरवी बन कर चाहे जिस पुरुष का, चाहे जिस स्त्री (फिर वह किसी भी जाति-कुल की हो, चाहे जिसकी बहन, कन्या, स्वपुत्री या अपने से बड़ी ही क्यों न हो) के साथ मतवाले होकर संगम किया जाता है। इस घृणित और अपवित्र दुष्कर्म को धर्म के नाम पर पवित्रकर्म माना जाता है। मारवाड़ में 'कुण्ठापंथ', 'कांचलियापंथ' में इसी प्रकार के गुप्त धार्मिक व्यभिचार के प्रचार का दौर चलता था। ये और, इस प्रकार के तथाकथित धार्मिक व्यभिचारों के प्रचार से मनुष्य के मन में व्यभिचार की प्रवृत्ति किस कदर बढ़ जाती है? यह सोचना चाहिए।

कतिपय धार्मिक आचार्य अपने-आपको 'कृष्ण' और शिष्या स्त्री को 'राधा' कहकर, तथा राधाकृष्ण के प्रेमरहस्य के पाठ सिखाकर या रासलीला रचाकर स्त्रियों के मन में क्या भाव उत्पन्न कर सकते हैं? यह विचारणीय है।

रामलीलाओं तथा कृष्ण-रासलीलाओं में जो लड़के सीता-राम और राधा-कृष्ण बनाये जाते हैं, उन्हीं के साथ अनैसर्गिक, अनैतिक व्यभिचार का दौर चलता है, यह कितनी नीच प्रवृत्ति है? आज भी कहना होगा कि इस प्रकार के निन्दनीय धार्मिक व्यभिचार घोर दुष्कर्म हैं, महापाप हैं।

(६) **वेश्या-व्यभिचार**—गुप्त व्यभिचार, धार्मिक व्यभिचार या अनैसर्गिक व्यभिचार की तरह वेश्या-व्यभिचार भी मानव-जाति के लिए सबसे अधिक भीषण, कुत्सित अभिशाप और निन्द्य है। जैसे सांप का सौन्दर्य और संखिये की उज्ज्वलता मनोमोहक है, किन्तु दोनों वस्तुओं के स्पर्श एवं सेवन का परिणाम त्रासदायक एवं घातक है, उसी प्रकार मानवजाति में—सभी राष्ट्रों में वेश्याएँ बहुत ही लुभावनी और आकर्षक वस्तु हैं, लेकिन उनके सेवन—गमन का परिणाम बहुत ही त्रासदायक, निन्द्य तथा तन-मन-धन और धर्म की दृष्टि से विनाशकारी है। आश्चर्यजनक बात तो यह है कि प्राचीन काल में भारत में कई जगह यह प्रथा थी कि स्वयं माता-

पिता अपने पुत्रों को चतुर और कामकुशल बनाने के लिए वेश्या के यहाँ भेजा करते थे। प्रारम्भ से ही जब माता-पिता अपने बालक को काम-वासना के अग्निकुण्ड में झोंक दें तो फिर उसका ब्रह्मचर्य और वीर्य कैसे सुरक्षित रह सकता है?

जो स्त्रियाँ कोमलता और मधुरता की मूर्ति होती हैं, उदारता और सेवा-भावना, श्रद्धा और भक्ति की जिनमें प्रबलता होती है, वे ही स्त्रियाँ इतनी निष्ठुर, कठोर, छलयुक्त, पापिनी और पाखण्डिनी तथा धनलोलुप होकर अपने शील, सौन्दर्य और शरीर को बेचने वाली कैसे हो जाती हैं?

धर्मशास्त्रों में ऐसी सतियों के उदाहरण मिलते हैं कि जिन्होंने अगणित कष्ट, विरोध और यातनाएँ सहकर आजीवन गरीबी की चक्की में पिसकर अपने शील और सतीत्व की रक्षा की है, अपने देह को कामदृष्टि से परपुरुष का स्पर्श (अपनी सन्तान के सिवाय) तक नहीं होने दिया। आश्चर्य की बात है, कि स्त्रियाँ क्यों इस प्रकार से पुरुषों को लुभाकर व्यभिचार के अग्निकुण्ड में गिरने को विवश कर देती हैं? वे वेश्याएँ क्यों और किस लिए बनती हैं?

वेश्याएँ क्यों बनती हैं—

वेश्यावृत्ति का प्रारम्भ होता है—परिवार और समाज द्वारा स्त्रियों पर किये गये अत्याचारों से। यदि कोई नरपिशाच बहका-फुसला कर धन आदि का प्रलोभन देकर या बलात्कार करके किसी अबला का सतीत्व नष्ट कर देता है या अपहरण करके ले जाता है तो उस निर्दोष अबला को उस परिवार और समाज से धक्के देकर निकाल दिया जाता है, परन्तु उस असहाय अबला के सामने अपना पेट पालने, अन्न, वस्त्र और आवास का प्रश्न आता है, फिर वह सम्मानपूर्वक जीना चाहती है? मगर समाज इस बात की परवाह नहीं करता, फलतः समाज के द्वारा दुःखों की सताई, आफत की मारी और अन्यायपूर्ण अत्याचारों से पीड़ित वह महिला झुंझला उठती है और लज्जा को ताक में रखकर खुलेआम चौराहे पर अपने शरीर को बेचने के लिए विवश हो जाती है और घृणित कर्म करके छल-बल और अन्य उपायों से कामान्ध पुरुषों की कामवासना पूर्ण करके धन कमाती है।

भारत में वेश्यावृत्ति का सम्बन्ध प्रायः विधवाओं या परित्यक्ताओं से घनिष्ठ रहा है, उन पर जब ऐसे अत्याचार होते हैं, या परपुरुष उन पर बुरी नजर रखते हैं, उन्हें येन-केन-प्रकारेण भ्रष्ट करके स्वयं बच जाते हैं और बेचारी अबला, परिवार एवं समाज से निन्दित, घृणित, पीड़ित और बहिष्कृत होकर जीती है। इन्हीं में से कई महिलाएँ वेश्या बनने पर उतारू हो जाती हैं, इस नरक में कूद पड़ती हैं। समाज अपने व्यवहार को बदलने की अपेक्षा इस भयंकर पाप को पालना अधिक पसंद करता है। नहीं तो, कौन ऐसी वेश्या नहीं होगी, जिसे अपने इस घृणित पेशे से, अपनी अस्मत लुटाने से घृणा न हो।

वेश्याओं के कोठे पर प्रायः गरीब से लेकर धनाढ्य एवं सत्ताधारी तक, युवक से लेकर प्रौढ़ और वृद्ध तक, यहाँ तक कि रोगी, अंगविकल और कृशकाय व्यक्ति भी आते हैं और पैसे देकर अपनी कामज्वाला को शान्त कर जाते हैं। कई धनाढ्य मनचले लोग जिनकी पत्नी मर चुकी होती है, अथवा पत्नी जीवित होती है, फिर भी किसी सुन्दरी युवती को मासिक, पाक्षिक या साप्ताहिक वेतन पर रख लेते हैं और अपनी हविस पूरी करते हैं।

वेश्या-व्यभिचार का कितना भयंकर परिणाम आता है ? कई लोग इस पर सोचते-समझते ही नहीं। वेश्यागामी को वर्तमान समाज में अत्यन्त निन्द्य, घृणित और हेय दृष्टि से देखा जाता है, वेश्या-कर्म करने वाली स्त्री तो अतीव निन्दित, घृणित एवं हेय है ही। किन्तु वेश्या-व्यभिचार से स्वयं वेश्या और वेश्यागामी अनेक संक्रामक रोगों का शिकार बन जाते हैं। वेश्यागमन के पीछे लाखों रुपये फूँककर अन्त में, दरिद्र एवं असहाय बन जाते हैं या अकाल में मौत के मेहमान बन जाते हैं। जैसे पेट पर अत्याचार करने वालों को भयंकर बीमारियों का सामना करना पड़ता है, वैसे ही उत्पादक अंगों पर अत्याचार करने से भी शरीर अनेक रोगों का घर बन जाता है। उत्पादक अंगों की रचना तो पेट से भी कोमल है और यदि उनका दुरुपयोग किया जाए तो उनकी बीमारी अत्यधिक भयंकर एवं दुःसाध्य होती है, जिसका कोई ठिकाना नहीं। अत्यधिक विषयासक्ति से प्रदर, गर्भपात, गुह्य अंगों में जलन, सुजाक आदि रोगों का प्रकोप एवं उनमें विष भर जाना स्वाभाविक है। जब कोई स्त्री पैसे मिलने पर किसी को भी अपने पास आने दे, एक ही दिन-रात में कई कामान्धों की काम-पिपासा मिटाए; जिनसे वह घृणा करती है, जिनका अपने पास आना भी पसंद नहीं करती, उन्हें अपने पास आने दे तो उस अभागिनी के गुह्य अंगों में विष भर जाना और अनेक रोगों का शिकार होना स्वाभाविक है। फिर जो भी उससे संसर्ग करेगा, उसका भी उस विष एवं रोग से आक्रान्त हो जाना, स्वाभाविक है। अधिकांश वेश्याएँ प्लेग और हैजे के कीटाणुओं को फैलाने वाले चूहों और मक्खियों की तरह गन्दे-गन्दे अनेक संक्रामक रोगों की वाहक हैं, जिन्हें वे अपने ग्राहकों के शरीर में प्रविष्ट करा देती हैं।

प्रो० टारनौस्की का कथन है कि "एक वेश्या ने १० महीनों में ३०० पुरुषों को उपदंशरोग से पीड़ित कर दिया। ये पुरुष आगे चलकर कितनी सन्तति को रोगाक्रान्त कर देंगे ? इसका हिसाब लगाया जाए तो कुछ समझ में आ सकता है कि वेश्या-व्यभिचार मानव जाति के लिए कितना घृणित, घातक एवं भयंकर बीमारियों को फैलाने वाला है। वेश्यागृह में प्रविष्ट होकर जो युवक या प्रौढ़ वेश्याओं के इन विषयुक्त संक्रामक कीटाणुओं की गठरी अपने साथ बाँध लाता है, वह घर में अपनी निष्कलंक पत्नी में उसी विष का संचार कर देता है। फिर वे उसके इस अधःपतन का खुलेआम ढिंढोरा पीटते हैं। यहाँ तक कि कई पीढ़ियों तक को उसके ये रोग विरासत में मिलेंगे, इसका कोई हिसाब नहीं। वेश्यागामी स्वयं

रोगपीड़ित हो जाता है, उसकी पत्नी उसके पापों को भुगतती है, उसके बच्चे भी जन्म से ही उन पापों को लेकर पैदा होते हैं।"

इस प्रकार वेश्या-व्यभिचार सर्वाधिक निन्द्य, घृणित, पापमय और हानिकारक होने से सर्वथा त्याज्य है।

वाचिक मैथुन

वाचिक मैथुन भी कायिक मैथुन का पूर्वरूप और मानसिक मैथुन का उत्तररूप है। यह मैथुन भी कम हानिकारक और खतरनाक नहीं है। जब कोई व्यक्ति किसी स्त्री को देखकर उसके प्रति भद्दी-भद्दी असभ्य आवाजें कसता है, जब देखो, तब मुँह से अश्लील गालियाँ बकता है, अपशब्द बोलता है, अथवा किसी भद्र महिला को फँसाने के लिए तरह-तरह से बहकाने-फुसलाने का प्रयत्न करता है, किसी युवती को अपने मोहक जाल में फँसाने के लिए अपने कथन को प्रेम-पत्र द्वारा, अथवा सिनेमा आदि दिखाने के बहाने साथ-साथ घूमता है, उसका अपहरण करने और बहकाकर भगा ले जाने का प्रपंच रचता है तब ऐसी अनैतिक एवं धर्मविरुद्ध कार्यवाही को वाचिक मैथुन कहा जा सकता है। कई बार फैशनेबल युवतियाँ भी शृंगार रस के, विरह के या कामोत्तेजना पैदा करने वाले गीत, नृत्य एवं प्रेमपत्र आदि द्वारा भावुक लड़कों के जीवन में व्यभिचार का बीज बो देती हैं। यह वाचिक मैथुन ही आगे चलकर प्रायः कायिक मैथुन के रूप में परिणत हो जाता है। विवाह से पूर्व कन्या का किसी युवक के साथ एकान्त में घूमना-फिरना, हँसी-मजाक करना, होली खेलना, प्रेमपत्र लिखकर अपना गर्हित मन्तव्य प्रकट करना, भारतीय समाज में नीतिविरुद्ध और निन्दनीय माना जाता है। इसीलिए वाचिक मैथुन भी मानसिक मैथुन की तरह दण्डनीय समझा जाता है। किसी लड़की के साथ छेड़खानी करना, उस पर आवाजें कसना अपराध है, जिसका भयंकर दण्ड या तो तत्काल मिल जाता है, या उसका काला मुँह करके अपमानित किया जाता है, समाज में भी उसकी अप्रतिष्ठा होती है।

इस प्रकार कायिक, मानसिक और वाचिक, पूर्वोक्त सभी प्रकार के मैथुन या व्यभिचार सभी दृष्टियों से हानिकारक और त्याज्य है। प्रमेह, आतशक, (गर्मी), सुजाक, मस्सा, भगन्दर, कोढ़, नपुंसकता, मूत्रकृच्छ, शुक्रस्राव, मूत्रग्रन्थिप्रदाह, शीघ्रपतन, बहुमूत्र, शर्करावृद्धि (कारबंकल), गठिया, गुर्दे का दर्द आदि भयंकर रोग उपर्युक्त व्यभिचारों की देन हैं। इसलिए ब्रह्मचर्य के लिए इन सब मैथुनों का त्याग करना आवश्यक है। □

३

ब्रह्मचर्य विज्ञान

साधना-दर्शन

ब्रह्मचर्य की साधना के हेतु, उद्देश्य,
मार्ग, दृढ़ता के सूत्र, यौगिक प्रक्रियाएँ
विविध अनुभूत प्रयोग,
तथा सुरक्षा के नव बाड ।

भाव विरदो दु विरदो
ण दव्वविरदस्स सुग्गई होई ।
विसयवणरमणलोलो
धरियव्वो तेण मणहत्थी ॥
—मूलाचार ९९५

जो अन्तरंग (भाव) से विरत है वही वास्तव में विरत है। बाह्य रूप से विरक्त होने वाले को सद्गति की प्राप्ति नहीं होती। इसलिए विषय-भोगों में रमण करने के इच्छुक मनरूपी हाथी को वश में करना चाहिए।

दुज्जए कामभोगे य निच्चसो परिवज्जए ।
संकट्ठणाणि सव्वाणि वज्जेज्जा पणिहाणवं ॥
—उत्तराध्ययन १६/१४

एकाग्र मन वाला ब्रह्मचारी दुर्जय काम-भोगों का सदा वर्जन करे और ब्रह्मचर्य के लिए जो स्थान विघ्नकारक हों, उनसे दूर रहे।

१

ब्रह्मचर्य-साधना : उद्देश्य और मार्ग

ब्रह्मचर्य-साधना : जीवन-निर्माण-कला

ब्रह्मचर्य साधक को यह नहीं भूलना चाहिए कि ब्रह्मचर्य-साधना जीवन-निर्माण की कला है। कला वस्तु को सुन्दर बनाती है, किन्तु उसकी सुन्दरता के साथ सत्यं और शिवं का भी ध्यान रखती है। वह कला वास्तविक कला नहीं है, जो सौन्दर्य की चकाचौंध में 'सत्यम् और शिवम्' को तिलांजलि दे दे।

ब्रह्मचर्य-साधना मानव जीवन के विचार, आचार और व्यवहार को बदलने और सिद्धान्त (सत्य) के अनुरूप कल्याणमय और सुन्दर बनाने की कला है। दूसरे शब्दों में कहें तो ब्रह्मचर्य से शरीर भी सुन्दर बनता है, मन भी सुन्दर बनता है, और वचन तथा व्यवहार भी सुन्दर बनता है; किन्तु ये सब सुन्दर बनते हैं—सत्यं और शिवं के सन्दर्भ में।

एक व्यक्ति ब्रह्मचर्य के सिद्धान्त को छोड़कर केवल पौष्टिक पदार्थों के सहारे, या वस्त्राभूषण या सौन्दर्य प्रसाधन के सहारे शरीर को सुन्दर बना ले, किन्तु उस शरीर से निर्दोष अबलाओं पर बलात्कार करता है तो उसे कला नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार एक व्यक्ति ब्रह्मचर्य की शारीरिक रूप से साधना करता है, बलात्कार व्यभिचार आदि से दूर रहता है, किन्तु मन में कामवासना, दुर्विषय-भोगों की लालसा बनाये रखता है, अथवा ब्रह्मचर्य की साधना केवल शरीर को पुष्ट एवं सुन्दर बनाने, अथवा किसी मंत्र-तंत्र की सिद्धि करने या मल्लयुद्ध में विजयी बनने की दृष्टि से करता है, आत्म-कल्याण की दृष्टि से वह ब्रह्मचर्य-साधना नहीं करता। ऐसी स्थिति में भी उसकी ब्रह्मचर्य-साधना कलारूप नहीं हो सकती, क्योंकि उसके साथ 'शिवं' का तत्त्व नहीं है। ब्रह्मचर्य-साधना तन से होने वाले आचरणों, कार्यों, चेष्टाओं आदि को भी सुन्दर और कल्याणकारी बनाती है, मन से होने वाले विचारों को कामवासना या विकारों के विचारों से बचाकर पवित्र, शुद्ध, सुन्दर और कल्याण-कर बनाती है, और वचन एवं अन्यान्य व्यवहारों को भी पवित्र, सुन्दर, मधुर एवं कल्याणकारी बनाती है। इसीलिए ब्रह्मचर्य-साधना को जीवन-निर्माण की कला कहने में कोई अत्युक्ति नहीं है।

जिस ब्रह्मचर्य-साधना के साथ सत्यं, शिवं और सुन्दरम् के तत्त्व हों; अपने मन, इन्द्रिय, वचन एवं तन पर नियंत्रण रखने का, उन्हें संयम एवं तप से अभ्यस्त

करने का माद्दा हो, तथा जहाँ आचरण, विचार, आहार-विहार एवं व्यवहार की, तथा रहन-सहन की श्रेष्ठता अपनाई जाती हो, उसे ही जीवन-निर्माण की कला समझो। यही ब्रह्मचर्य साधना के जीवन-निर्माण कला की होने कसौटी है

ब्रह्मचर्य-साधना रूपी कला की पहचान यही है कि ब्रह्मचर्य के द्वारा साधक के मन में पवित्रता जागे। जहाँ मानसिक पवित्रता होगी, वहाँ विचार भी पवित्र, स्वच्छ, सुलझे हुए और निर्मल होंगे। सोचने का ढंग भी साफ होगा और ब्रह्मचर्य सम्बन्धी निर्णय करने की स्फुरणा एवं प्रेरणा भी बलवती होगी तथा उसके वचन और तन में भी पवित्रता होगी, जिससे उसकी वाणी से भी पवित्र, त्याग-वैराग्य-प्रेरक, आत्मकल्याणलक्षी उद्गार निकलेंगे, शरीर से भी पवित्र कार्य, चेष्टा और व्यवहार होंगे। ऐसा ब्रह्मचर्य कलावान् व्यक्ति व्यावहारिक क्षेत्र में भी महान् होगा, आध्यात्मिक क्षेत्र में भी।

ब्रह्मचर्य-साधना जब कलारूप बनती है, तब आत्मा की जो शक्तियाँ वासनाओं के कारण दबी हुई हैं, अथवा अज्ञान, मोह, राग-द्वेष एवं कषाय आदि विकारों के कारण कलुषित हैं, उन्हें दूर कर देती है। अर्थात्—ब्रह्मचर्यसाधनारूपी कला आत्मा पर या आत्म-शक्तियों पर लगे हुए विकारों के जंग को साफ कर देती है। जैसे—किसी धातु के बर्तन को जंग लग जाती है, तो उसकी चमक कम हो जाती है। चमक लाने के लिए मांजने वाला उसे घिसता और जंग को मिटाता है। ऐसा करके वह उसमें कोई नई चमक पैदा नहीं करता, किन्तु उस धातुपात्र में जो चमक विद्यमान थी, जो जंग आदि के कारण दब या छिप गयी थी, उसे प्रकट कर देता है। जैसे—कीचड़ में लथपथ हुए सोने को सोना साफ करने वाला साफ करके उसे चमका देता है। ऐसा करके वह नया सोना नहीं बनाता, क्योंकि सोना तो वह पहले से था ही, उसमें चमक पहले भी थी, बाद में भी है, किन्तु कीचड़ लगने के कारण दबी हुई थी, उसे ही वह साफ करके चमका देता है। इसी प्रकार आत्मा में जो गुणों की चमक-दमक विद्यमान थी, उसे काम-क्रोधादि विकारों ने दबा दिया था, ब्रह्मचर्य कला का साधक उन विकारों को हटा देता है, इससे वे दबे हुए आत्मगुण चमक उठते हैं। इसी कारण ब्रह्मचर्य की साधना साधक की आत्मा को—आत्मगुणों को चमकाने की, कुण्ठित आत्म-शक्तियों को तीव्र करने की कला है। वह आत्मा के सौन्दर्य का विकास करती है, जीवन के उज्ज्वल गुणों को चमकाती है।

ब्रह्मचर्य : उग्र, दुष्कर एवं सर्वोत्कृष्ट अध्यात्म-साधना

भारतीय धर्म और संस्कृति में आध्यात्मिक साधना के अनेक मार्ग विहित हैं। अहिंसा, सत्य, समता, क्षमा, दया, आत्मौपम्य, मैत्री, वत्सलता, प्रमोद, कारुण्य, माध्यस्थ्य, निर्लोभता, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, तपस्या, त्याग आदि एक से एक बढ़कर आध्यात्मिक साधना के प्रकार हैं।

किन्तु कहना होगा कि ब्रह्मचर्य-साधना उन सभी साधनाओं में अपने-आप में सबसे अनूठी, श्रेष्ठ और प्रखर है। इस साधना में जितनी सावधानी, जागृति, अप्रमत्तता और सुरक्षा की आवश्यकता है, शायद ही अन्य किसी साधना में हो। इसका कारण यह है कि अहिंसा, सत्य, अस्तेय आदि महाव्रतों की साधना में अपवाद भी हैं, किन्तु ब्रह्मचर्य की साधना निरपवाद है। इसका मतलब यह है कि अहिंसा आदि महाव्रतों का साधक सामान्यतया उत्सर्ग मार्ग पर चलता है, किन्तु विशिष्ट लाभ के उद्देश्य से इनकी साधना में कदाचित् अपवाद मार्ग का भी आश्रय लेता है, फिर भी उसके उक्त व्रत का भंग नहीं माना जाता; बशर्ते कि उसके उक्त आपवादिक मार्ग का अनुसरण करने के कार्य में सत्यता (ईमानदारी) हो, आपवादिक प्रसंगों में विहित वास्तविक कारण हों। सच्चे माने में ऐसा अपवाद-सेवन करने वाला साधक जिनाज्ञा का आराधक कहलाता है, विराधक नहीं।

परन्तु ब्रह्मचर्य-साधना में ऐसा अपवाद नहीं है। ब्रह्मचर्य-साधना जिस रूप में, जिस प्रकार से स्वीकार की गई है, वह उसी रूप में निरपवाद रूप से पालन करनी पड़ती है। दूसरों के आध्यात्मिक हित की दृष्टि से अहिंसादि में अपवादमार्ग का आश्रय लेने वाला साधक मध्यस्थ रह सकता है, उसका महाव्रत सामान्य प्रायश्चित्त से अक्षुण्ण रह सकता है, परन्तु ब्रह्मचर्य-साधना में अपवाद मार्ग का आश्रय लेकर साधक कदापि मध्यस्थ नहीं रह सकता, क्योंकि ब्रह्मचर्य-साधना में अपवाद मार्ग का आश्रय राग, द्वेष और मोहवश ही होता है। इसके अतिरिक्त वैसा अब्रह्मचर्य-सेवन का प्रसंग किसी के आध्यात्मिक हित में सम्भव नहीं हो सकता। इसी कारण ब्रह्मचर्य की साधना में अपवाद की कतई गुंजाइश नहीं रखी गई है, बल्कि ब्रह्मचर्य का निरपवाद पालन करने के लिए प्रत्येक प्रकार के कठोर नियमोपनियमों और ब्रह्मचर्य की सुरक्षा के लिए कठोर गुप्तियों एवं साधनों का विधान किया गया है। ब्रह्मचर्य का भंग करने वाले साधक के लिए उसके पद के अनुसार कठोर, कठोरतर और कठोरतम प्रायश्चित्त का भी विधान किया गया है। जैसे—कोई सामान्य अगीतार्थ साधु अज्ञान और मोहवश ब्रह्मचर्य की विराधना करे तो उसका तीव्र प्रायश्चित्त उसके पद के अनुसार निर्धारित किया गया है, जबकि उसी प्रकार से ब्रह्मचर्य की विराधना यदि कोई गीतार्थ स्थविर (सिद्धान्त-पारगामी या सर्वमान्य), आचार्य या उपाध्याय करता है तो उसका प्रायश्चित्त सामान्य अगीतार्थ साधु की अपेक्षा कई गुना अधिक विहित है। अतः यह निर्विवाद कहा जा सकता है कि ब्रह्मचर्य की साधना अपनी भूमिका के अनुसार सर्वांगपूर्ण, निरपवाद एवं निष्कलंक सर्वश्रेष्ठ आध्यात्मिक साधना है। पूर्ण या मर्यादित ब्रह्मचर्य का साधक अपनी-अपनी भूमिका में सफेद चादर की तरह बेदाग रहना चाहिए। ब्रह्मचर्य की साधना वह साधना है, जो मन, वचन एवं काया में जरा-सा विकार आने पर खण्डित—विराधित हो जाती है। मन के किसी भी कोने में अब्रह्मचर्य का जरा-सा विकार आते ही ब्रह्मचर्य की मर्यादा भंग हो जाती है। इसीलिए अन्य

आध्यात्मिक साधनाओं की अपेक्षा ब्रह्मचर्य की साधना को आगमों में उग्र, सुदुष्कर एवं दुःखरूप बताया गया है।

उत्तराध्ययन सूत्र में बताया गया है कि "जो कामभोग के रस को जान चुका है, उसके लिए अब्रह्मचर्य से विरति और यावज्जीवन के लिए उग्र ब्रह्मचर्य महाव्रत का धारण (साधना) करना अत्यन्त दुष्कर है।"[1]

महान् आत्मा के लिए भी घोर ब्रह्मचर्य व्रत का धारण करना दुःखरूप है।"[2]

एक दूसरे पहलू से भी युगद्रष्टा मनीषियों एवं ऋषियों ने अपने-अपने दृष्टिकोण से भी ब्रह्मचर्य-साधना को अत्यन्त उत्कट एवं विकट बताया है। उसका सारतत्व यही है कि ब्रह्मचर्य की साधना वासनाजय की साधना है।

अनेक मनुष्य एकान्त, शान्त एवं पवित्र स्थल पर रहकर कठोर से कठोर तप की साधना कर सकते हैं, कई बार आवेश में आकर अपनी दुर्विषय में प्रवृत्त होने वाली इन्द्रियों को काट सकते हैं, अपने उन अंगों का भी छेदन कर सकते हैं जो विषय-भोग में प्रवृत्त होते हैं, और जब देखो तब, अनेक व्रत, त्याग, नियम एवं प्रत्याख्यान की आराधना कर सकते हैं, किन्तु जिस समय चित्त में काम-वासना की लहरें उमड़-घुमड़ कर उठती हैं, उस समय बड़े-बड़े जप-तप करने वालों, योगियों और साधकों के पैर उखड़ जाते हैं, वे ब्रह्मचर्य के साधना पथ पर टिक नहीं पाते।

उत्तराध्ययनसूत्र में ब्रह्मचर्य साधना की दुष्करता को देखकर एक बार मन-वचन से पथभ्रष्ट होने वाले, साधक रथनेमि और उसे पुनः ब्रह्मचर्य-साधना पथ पर स्थिर करने वाली महासती राजीमती का वर्णन आता है, जो ब्रह्मचर्य-साधना के लिए अत्यन्त प्रेरणाप्रद है। अपने युग का कठोर साधक रथनेमि गुफा के एकान्त स्थान में साधना कर रहा था, किन्तु राजीमती के अद्भुत रूप और सौन्दर्य को देख कर उसका मन कामवासना से उद्वेलित हो उठा। उसने अपनी तप-जप, संयम की साधना का कुछ भी विचार किये बिना काम वासना के आवेश में आकर राजीमती से वासनापूर्ति की याचना की, किन्तु उस तेजस्वी नारी ने उसकी ब्रह्मचर्यभ्रष्टता की भर्त्सना की और कहा कि इस थोड़े-से क्षणभंगुर जीवन के लिए वमन किये हुए (परित्यक्त) काम-भोगों को पुनः अपनाने की अपेक्षा मृत्यु को अपनाना अच्छा है। जिस किसी नारी के रूप को देखकर मन में भी आसक्ति उत्पन्न होने से तुम्हारी

---

१. विरइ अबंभचेरस्स, कामभोगरसन्नुणा।
उग्गं महव्वयं बंभं धारेयव्वं सुदुक्करं॥ —उत्तरा० १९।२८

२. दुक्खं बंभवयं घोरं, धारेउं अ महप्पणो। —उत्तरा० १९।३३

आत्मा अस्थिर हो जाएगी। अतः कामवासना पर विजय पाये बिना ब्रह्मचर्य साधना में अभीष्ट सिद्ध प्राप्त नहीं हो सकती।"[1]

वस्तुतः राजीमती का ब्रह्मचर्य-साधना में निष्ठा और स्थिरता का यह उपदेश केवल रथनेमि के लिए ही नहीं, समस्त ब्रह्मचर्य-साधकों के लिए प्रेरणाप्रद है।

इसी प्रकार ब्रह्मचर्य-साधना को कठिनतम बताते हुए योगिराज राजर्षि भर्तृहरि ने स्पष्ट शब्दों में कहा है—

मत्तेभकुम्भदलने भुवि सन्ति शूराः,
केचित् प्रचण्डमृगराजवधेऽपि दक्षाः।
किन्तु ब्रवीमि बलिनां पुरतः प्रसह्य,
कन्दर्प-दर्प-दलने विरला मनुष्याः॥[2]

—इस भूमण्डल पर बहुत-से शूरवीर हैं, जो मतवाले हाथियों का मद उतारने में शूरवीर हैं, कई प्रचण्ड सिंह के वध में भी दक्ष हैं; किन्तु इन सब बलिष्ठों के आगे साहसपूर्वक कहता हूँ कि काम के दर्प को चूर-चूर करने में बहुत विरले मनुष्य हैं।

वस्तुतः बहुत-से लोग बाह्यरूप से बहुत ही बहादुर होते हैं और जहाँ-तहाँ अपनी बहादुरी की डींग हाँकते रहते हैं, लेकिन कामवासना के आगे वे भी पराजित हो जाते हैं। मनुष्य के चित्त में जब कामोद्रेक हो जाता है, उस समय वह अपने-आपको संभाल नहीं सकता।

इसीलिए ब्रह्मचर्यमहाव्रत की साधना का स्वरूप नियमसार में बताया गया है—"स्त्रियों का (स्त्रियों के लिए पुरुषों का) रूप देखकर उनके प्रति वांछाभाव से निवृत्ति अथवा मैथुन संज्ञारहित परिणाम चतुर्थ (ब्रह्मचर्य) महाव्रत है।"[3]

कार्तिकेयानुप्रेक्षा की टीका में बताया गया है कि उसी "मुनि के मन-वचन-काय से और कृत-कारित-अनुमोदित के भेद से नौ प्रकार की ब्रह्मचर्य-साधना सफल होती है, जो उक्त प्रकार से स्त्री-संग (स्त्री के प्रति आसक्ति) का त्याग करता है।"[4]

---

१. (क) उत्तराध्ययन अ. २२, गा. ३६ से ४६
(ख) दशवैकालिक सूत्र अ. २, गा. ६ से ११

२. भर्तृहरि—वैराग्यशतक

३. **दट्ठूण इत्थिरूवं वांछाभावं णिवत्तदे तासु।**
मेहुणसण्णविवज्जियपरिणामो अहव तुरीयवदं॥" —नि. सा. ५६

४. तस्यमुनेर्ब्रह्मचर्यं भवेत् नवप्रकारैः कृतकारिताऽनुमतगुणितमनोवचःकायैः कृत्वा स्त्रीसंगं वर्जयतीति ब्रह्मचर्यं स्यात्। —कार्तिकेयानुप्रेक्षा टीका ४०३

ब्रह्मचर्य-साधना : अकेले या समूह के साथ

कई लोग यह तर्क प्रस्तुत करते हैं कि ब्रह्मचर्य जैसी साधना तो समूह के साथ सफल हो सकती है, क्योंकि अनेक व्यक्ति मिलकर जब ब्रह्मचर्य की प्रतिज्ञा लेकर साधना करते हैं तो एक माहौल बन जाता है; ब्रह्मचर्य का। प्रायः देखा जाता है कि जब व्यक्ति को दूसरे का आधार प्राप्त होता है, तब उसे भय नहीं होता। साधना में अकेला साधक न जाने कितने भयों की सृष्टि कर लेता है। वैसे सामूहिक साधना बुरी नहीं है, किन्तु ब्रह्मचर्य-साधक जब अकेला होता है, तभी उसकी साधना की परीक्षा होती है। किन्तु ब्रह्मचर्य साधना का सम्बन्ध अपनी आत्मा से है। समूह में ब्रह्मचर्यसाधक का असली चेहरा छिप भी सकता है। ब्रह्मचर्य-साधक एकाकी हो या समूह के साथ, उसे अपने-आपको एकाकी समझकर अपनी साधना में सतत आगे बढ़ना है। अकेला होने से ब्रह्मचर्य-साधक को निर्भयता का भी अभ्यास हो जाता है। उस समय वह अपने साथ परब्रह्म वीतराग परमात्मा को (द्रष्टारूप) मानकर ही साधना करता है ताकि एकान्त में भी मन में अब्रह्मचर्य का विचार न आये, क्योंकि वहाँ भी अन्तर्यामी प्रभु उपस्थित हैं, उनसे साधक की कोई भी बात छिपी है। अतः ब्रह्मचर्य-साधक को अपने साथ प्रतिक्षण अर्हन्तदेव को साक्षीरूप में उपस्थित समझना चाहिए। फिर उसे भय कहाँ ?

ब्रह्मचर्य-साधना की पूर्णता कब और कब नहीं ?

धर्मशास्त्रों की भाषा में साधु-साध्वी का ब्रह्मचर्य पूर्ण माना जाता है, परन्तु साधु जीवन में दीक्षित होते समय जो ब्रह्मचर्य महाव्रत स्वीकार किया जाता है, वह संकल्प-स्वीकार है। संकल्पज-स्वीकार से ब्रह्मचर्य-साधना का प्रवेशद्वार खुला है, किन्तु उसमें सिद्धि अभी नहीं मिली। ब्रह्मचर्य में सिद्धि के लिए उसे काफी लम्बे समय तक साधना करनी पड़ेगी। यद्यपि साधु स्व और पर स्त्री दोनों का (स्त्रीमात्र का) ही त्याग करके चलता है; उसकी ब्रह्मचर्य-साधना में गृहस्थ श्रावक के समान स्वस्त्री की भी छूट नहीं रहती, इसी दृष्टि से साधु के ब्रह्मचर्य को पूर्ण कहा जाता है। फिर भी क्या यह कहा जा सकता है कि प्रतिज्ञा लेते ही उसमें ब्रह्मचर्य की पूर्णता आ गई ? क्या उसके जीवन में कामवासना के अन्तर्द्वन्द्व समाप्त हो गए ? क्या उसके जीवन में कामवासना सूख गई ? ऐसा कुछ तो नहीं हुआ है। अभी तो वह पूर्ण ब्रह्मचर्य-साधना की प्राथमिक कक्षा में है, अभी वह स्नातक नहीं हुआ है। अभी उसे अनेक उतार-चढ़ावों में से गुजरना है। काम-विकारों के साथ एक लम्बी लड़ाई लड़नी है। ऐसा नहीं होता कि जिस दिन उसने अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य आदि पंच महाव्रतों की प्रतिज्ञा ली। उसी दिन उसकी साधना पूर्ण हो गई। यदि साधुत्व की साधना पूर्ण हो चुकी, तब तो आगे के लिए उसे कुछ भी करना नहीं है, वह कृतकृत्य हो चुका, उसे अब कुछ भी पाना शेष नहीं है। जो कुछ भी पाना था, वह प्रतिज्ञा लेने के साथ ही पा लिया। यदि प्रतिज्ञा

लेते ही जीवन में ब्रह्मचर्य की पूर्णता आ गई, तब तो कोई अशुद्धि जीवन में रही ही नहीं, फिर वह किनसे लड़ता है ? किसलिए साधना करता है ? और क्यों वह साधना के पथ पर संभल-संभल कर कदम रखता है ? यदि साधुत्व की प्रतिज्ञा लेते ही सभी महाव्रतों में पूर्णता आ गई, तो इसका अर्थ हुआ—उसके चारित्र में पूर्णता आ गई। अतः प्रतिज्ञा लेते ही साधु का ब्रह्मचर्य संकल्पज-ब्रह्मचर्य होता है, सिद्ध ब्रह्मचर्य नहीं। सिद्ध ब्रह्मचर्य की भूमिका तक पहुँचना उसका लक्ष्य होता है।

शास्त्रों में 'घोर बंभयारी' (घोर ब्रह्मचारी) शब्द आता है। वह एक विशेष प्रकार की लब्धि (योगज शक्ति) है, जो दीर्घकालिक साधना से उपलब्ध होती है। जो स्वप्न में अणुमात्र भी ब्रह्मचर्य से स्खलित नहीं होता, उसे घोर ब्रह्मचर्य की लब्धि प्राप्त होती है। 'राजवार्तिक' में बताया गया है कि जिसका वीर्य स्वप्न में भी स्खलित न हो, वह 'घोर ब्रह्मचारी' होता है। शुभ-संकल्प एवं विधि-पूर्वक दीर्घकाल तक ब्रह्मचर्य की साधना के द्वारा इस भूमिका पर पहुँचा जा सकता है।

संकल्पज ब्रह्मचर्य का साधक अभी सिद्ध ब्रह्मचर्य की भूमिका से बहुत दूर है। उसने ब्रह्मचर्य-महाव्रत की प्रतिज्ञा ली है, उसके पश्चात् उसे जीवन भर प्रतिज्ञा के अनुसार निरन्तर दीर्घकाल तक चलना है। पूर्वकालीन कामवासना के चिरसंचित संस्कार बीच-बीच में उभर सकते हैं और उसकी साधना को मलिन भी बना सकते हैं, उसे अपनी साधना से विचलित भी कर सकते हैं, यदि वह सावधान न रहे तो। जब तक वह परिपक्व साधक नहीं बना है, तब तक चारित्रमोह के प्रबल अन्धड़ उसके ब्रह्मचर्य-दीप को बुझा सकते हैं, मन्द कर सकते हैं। इसीलिए तो उसे अभी साधना के लम्बे मार्ग से गुजरना होगा।

ब्रह्मचर्य साधना का ध्येय, उद्देश्य और लक्ष्य

जैन दृष्टि से ब्रह्मचर्य-साधना जब एक आध्यात्मिक साधना है, तब एक प्रश्न होता है कि ब्रह्मचर्य-साधना का ध्येय क्या है ? ब्रह्मचर्य साधना क्यों और किस उद्देश्य से करनी चाहिए ? ब्रह्मचर्य-साधना का अन्तिम लक्ष्य क्या है ?

जैन दृष्टि से जब हम विचार करते हैं तो अन्य सभी व्रत-नियमों की भाँति, ब्रह्मचर्य-साधना का ध्येय, साध्य अथवा अन्तिम लक्ष्य मोक्ष है। मोक्ष का अर्थ है—समस्त कर्मों—आत्मा के कर्मजनित राग-द्वेषादि विकारों का सर्वथा क्षय, आत्मा की पूर्ण विशुद्धि। मोक्ष का तात्पर्य है—आत्मा पर कर्म का, विकार का लेशमात्र भी न रहना, आत्मा का सर्वथा शुद्ध हो जाना। यद्यपि ब्रह्मचर्य-साधना से सांसारिक सर्वोच्च सुख (विषयसुख) तथा सांसारिक दृष्टि के महत्वपूर्ण मानी जाने वाली गति, (स्वर्ग प्राप्ति), स्थिति (इन्द्रादि पद) अथवा पुण्यवृद्धि प्राप्त हो सकती है; अथवा लौकिक दृष्टि से शरीर-स्वास्थ्य, समाज-बल, यश-कीर्ति की प्राप्ति, आर्थिक लाभ आदि भी ब्रह्मचर्य-साधना द्वारा संभव हैं, तथापि ये ब्रह्मचर्य जैसी आध्यात्मिक लोको-

स्तर साधना के ध्येय नहीं हो सकते। ब्रह्मचर्य-साधक के समक्ष तो ब्रह्मचर्य-साधना का ध्येय मोक्ष ही रहेगा। मोक्ष प्राप्ति—आत्मा की पूर्ण विशुद्धि की दृष्टि से ही वह ब्रह्मचर्य-साधना करेगा। स्वर्ग-प्राप्ति, सुख-प्राप्ति, पुण्यवृद्धि, शरीर-स्वास्थ्य, समाज-बल, आर्थिक लाभ, यश-कीर्ति-प्राप्ति आदि साधन तो सच्ची मोक्षसाधक आदर्श ब्रह्मचर्य-साधना से आनुषंगिक रूप में स्वतः सिद्ध हो जाते हैं। ब्रह्मचर्य-साधना का ध्येय इन तुच्छ वस्तुओं को प्राप्त करने का नहीं है। मोक्ष प्राप्ति की अपेक्षा सभी उपलब्धियाँ तुच्छ हैं।

वैदिक धर्म के मूर्धन्य ग्रन्थ भगवद्गीता में भी परमात्मभाव की प्राप्ति को ही ब्रह्मचर्य-साधना का उद्देश्य बताते हुए कहा है—

'यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति'[1]

"जो साधक परमात्मभाव को प्राप्त करना चाहते हैं, उन्हें ब्रह्मचर्य की साधना (आचरण) करनी चाहिए।"

ध्येय या अन्तिम लक्ष्य बड़ा और दूरगामी होता है, जबकि उद्देश्य या हेतु उससे छोटा; उसका पूरक और निकटगामी होता है। इस दृष्टि से ब्रह्मचर्य-साधना का उद्देश्य जैनधर्म ने आत्महित या आत्मविशुद्धि बताया है।

दशवैकालिक सूत्र में सर्वप्राणातिपात-विरमण, सर्वमृषावाद-विरमण, सर्व-अदत्तादान-विरमण, सर्वमैथुन-विरमण, सर्व-परिग्रह-विरमण और रात्रिभोजन-विरमण—इन महाव्रतों एवं व्रत की प्रतिज्ञा लेने के पश्चात् साधक (साधु-साध्वी) स्वयं आत्म-संतोष प्रकट करता है—"इन पाँच महाव्रतों और छठे रात्रिभोजन-विरमण व्रत को मैं 'आत्महित' के लिए अंगीकार करके विचरण करता हूँ।"[2]

इससे स्पष्ट है पाँच महाव्रतों में से चतुर्थ ब्रह्मचर्य महाव्रत भी 'आत्महित' के उद्देश्य से ही ग्रहण किया जाता है। ब्रह्मचर्य-साधना एक आचार है, चारित्र का एक अंग है। चतुर्विध आचार समाधि के प्रसंग में दशवैकालिक सूत्र में कहा गया है—"आचारसमाधि चार प्रकार की होती है—(१) इहलोक के लिए आचार का पालन न करे, (२) परलोक (स्वर्गादि-प्राप्ति) के लिए आचार का पालन न करे, (३) कीर्ति, वर्ण, शब्द और श्लाघा के लिए आचार का पालन न करे, (४) केवल

---

१. भगवद्गीता, अध्याय ८, श्लोक ११

२. '... इच्चेयाइं पंच महव्वयाइं राइभोयणवेरमण छट्ठाइं अत्तहियट्ठयाए उवसंपज्जित्ताणं विहरामि।' —दशवैकालिक, अ. ४/६

अरिहन्त निर्दिष्ट हेतु—निर्जरा (आत्मशुद्धि) के सिवाय अन्य किसी प्रयोजन (उद्देश्य) से आचार का अनुष्ठान (साधना) न करे।"[1]

इससे भी स्पष्ट है कि ब्रह्मचर्यरूप आचार-पालन का उद्देश्य केवल आत्म-शुद्धि (कर्म-क्षय—कर्मनिर्जरा) ही है।

वैदिक धर्मपरम्परा में भी छान्दोग्य उपनिषद्[2] में ब्रह्मचर्य साधना के उद्देश्य से सम्बन्धित एक संवाद आता है।

"हम आत्मा को जानना चाहते हैं, जिसे जानने पर जीव सम्पूर्ण लोकों और समस्त भोगों को प्राप्त कर लेता है"—ऐसा निश्चय कर देवताओं का राजा इन्द्र और असुरों का राजा विरोचन, ये दोनों परस्पर स्पर्धा से हाथों में समिधाएँ लेकर प्रजापति के पास आये और बत्तीस वर्ष तक ब्रह्मचर्यवास किया। प्रजापति ने पूछा "ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए तुम किस चीज की इच्छा करते हो?" इन्द्र और विरोचन बोले—"जो आत्मा निष्पाप, जरारहित, मृत्युरहित, शोकरहित, क्षुधा-रहित, तृषारहित, सत्यकाम और सत्यसंकल्प है, उसका अन्वेषण करना चाहिए और उसे विशेषरूप से जानने की इच्छा करनी चाहिए, यह आपका वाक्य है। आत्मा को जानने की इच्छा से हम यहाँ ब्रह्मचर्यवास में हैं।"

उपर्युक्त संवाद से स्पष्ट है कि ब्रह्मचर्य-साधना का उद्देश्य आत्मप्राप्ति है। साथ ही यहाँ यह भी बताया गया है कि आत्मा ब्रह्मचर्य-साधना से ही प्राप्त होती है।

संत विनोबा[3] ने भी जैनदृष्टि के समान ब्रह्मचर्य का उद्देश्य बताते हुए कहा है—साक्षात् ब्रह्म की प्राप्ति के लिए देह से (सदा के लिए) मुक्त होने के साधन के माने ही ब्रह्मचर्य है।.....साक्षात् ब्रह्म के लिए जो ब्रह्मचारी रहेगा वही आदर्श होगा।.....भीष्म ने अपने पिता के लिए ब्रह्मचर्य व्रत का पालन किया। उनको ब्रह्म की उपासना की प्रेरणा उससे पहले नहीं हुई थी। वे तो शादी करने वाले थे। फिर भी उन्होंने ब्रह्मचर्य-व्रत को अच्छी तरह से निभा लिया।"

भले ही भीष्मपितामह ने पिता को सन्तुष्ट करने के लिए ब्रह्मचर्य प्रतिज्ञा ली अथवा महात्मा गांधी ने देश-सेवा या जन-सेवा की दृष्टि से ब्रह्मचर्यव्रत

---

१. "चउव्विहा खलु आयारसमाही भवइ, तं जहा—नो इहलोगट्ठयाए आयारमहिट्ठेज्जा, नो परलोगट्ठयाए आयारमहिट्ठेज्जा, नो कित्तिवन्नसद्दसिलोगट्ठयाए आयारमहिट्ठेज्जा, नन्नत्थ आरहंतेहिं हेऊहिं आयारमहिट्ठेज्जा, चउत्थं पयं भवइ।" —दशवै. अ. ९/४/५

२. 'छान्दोग्योपनिषद् ८, ७/२-४

३. कार्यकर्तावर्ग (संत विनोबा)

ग्रहण किया, किन्तु पूर्ण ब्रह्मचर्य-साधना का उनका उद्देश्य तो परमात्मप्राप्ति ही था। जैसा कि गांधीजी ने 'आत्मसंयम' में बताया—ब्रह्मचर्य का वास्तविक अर्थ है—"ब्रह्म की खोज करना।.....ध्यान, धारणा और आत्मानुभव से उसे अपने अन्तःकरण में खोजना चाहिए।"[1]

अतः ब्रह्मचर्य-साधना का अन्तिम लक्ष्य या साध्य तो मोक्ष-प्राप्ति, ब्रह्म-प्राप्ति या परमात्मभाव-प्राप्ति ही होना चाहिए। यह सत्य है कि ब्रह्मचर्य-साधना का प्रारम्भिक या मूल लक्ष्य—आत्मशुद्धि, आत्महित या आत्मजागरण ही होना चाहिए। आत्महित या आत्मशुद्धि भी व्यापक शब्द हैं, इसकी कई शाखाएँ हैं, अनेक स्तर हैं—कोई तपश्चर्या द्वारा करता है, कोई स्वाध्याय, वैयावृत्य, ध्यान, प्रायश्चित, विनय, कायोत्सर्ग, बलिदान, आत्मजागरण आदि में से किसी के द्वारा भी आत्महित या अथवा आत्मशुद्धि (निर्जरा) करता है। जैसे—मनुष्य शरीर-स्वास्थ्य के लिए दवा लेता है। शरीर-स्वास्थ्य यह व्यापक शब्द है। किन्तु जब घुटने, दांत, आँख, कान, आदि में दर्द होता है, तो अलग-अलग दर्द की दवा लेकर उस-उस अंग को स्वस्थ बनाता है। ब्रह्मचर्य-साधना का समग्र उद्देश्य तो आत्महित या आत्मशुद्धि है, किन्तु उसके विभिन्न स्तर हैं। कोई ब्रह्मचर्य साधना द्वारा आत्मजागृति करता है, कोई पूर्ण चेतना को जगाता है, कोई शक्ति के स्रोतों को जगाता है, कोई ज्ञान-दर्शन की धारा में अवगाहन करता है, कोई आनन्द के महासागर में समतायोग आदि के द्वारा डुबकी लगाता है। कोई दश प्रकार के ब्रह्मचर्य-समाधिस्थानों का आचरण करके आत्मशुद्धि करता है।

ब्रह्मचर्य-साधना का उद्देश्य : अध्यात्म उपलब्धि

ब्रह्मचर्य-साधना प्रारम्भ करने से पूर्व साधक को यह भी विचार कर लेना आवश्यक है कि मैं जो यह साधना कर रहा हूँ, वह स्थूल शरीर के लिए ही नहीं कर रहा हूँ। स्थूल शरीर को तो इससे लाभ होगा ही, परन्तु मेरा उद्देश्य इससे आगे है, गहरा है। स्थूल (औदारिक) शरीर से परे एक सूक्ष्म शरीर है, जिसे तैजस शरीर कहते हैं, तथा इस सूक्ष्म शरीर से भी परे एक अति सूक्ष्म शरीर है, जिसे कार्मण शरीर कहते हैं।

थियोसोफिस्टों ने इन शरीरों को विभिन्न नाम दिये हैं। वे स्थूल शरीर को फिजिकल बॉडी कहते हैं, सूक्ष्म शरीर को एथेरिक बॉडी और अतिसूक्ष्म शरीर को एस्ट्रल बॉडी कहते हैं। ब्रह्मचर्य-साधना के द्वारा जब तक तैजस और कार्मण शरीर को प्रभावित नहीं किया जाता, अर्थात्—इन दोनों शरीरों को जागृत करके इनके माध्यम से रागद्वेष, काम, मोह, कषायादि क्षुद्र विकारों को ध्वस्त करके अध्यात्म

---

१. 'आत्मसंयम' (गांधीजी) पृ० १७.

की—शुद्ध आत्मा की उपलब्धि नहीं की जाती, तब तक ब्रह्मचर्य-साधना को सफल नहीं माना जा सकता। इन दोनों सूक्ष्म-सूक्ष्मतर शरीरों को जागृत करने के लिए तप, शुक्लध्यान, स्वाध्याय, अनुप्रेक्षा, कायोत्सर्ग, शरीरात्म-भेद विज्ञान आदि का आलम्बन आवश्यक होता है। इसकी चर्चा हम आगे करेंगे।

निष्कर्ष यह है कि तप आदि के द्वारा मन-वचन-काययोग के परमाणु तथा सूक्ष्म एवं अतिसूक्ष्म शरीर के परमाणु उत्तप्त होते हैं तब वे अपने मलिन परमाणुओं का त्याग करके निर्मल बनते हैं; इस प्रक्रिया से आत्मा की शुद्धि होती है, और उस स्थिति में ब्रह्मचर्य साधना के अध्यात्म उपलब्धि उद्देश्य में सफलता मिलनी प्रारम्भ हो जाती है। अतः ब्रह्मचर्य-साधना का उद्देश्य स्थूल (औदारिक) शरीर, तथा सूक्ष्म, अतिसूक्ष्म शरीर को जागृत करके उनसे परे अध्यात्म के नये-नये पर्यायों को उद्घाटित करते हुए अन्त में पूर्ण-शुद्ध आत्मा को उपलब्ध करना है।

एक राजा के चार रानियाँ थीं। राजा एक बार विदेश गया। विदेश से लौटने के समय एक रानी ने हार, दूसरी ने कंगन और तीसरी ने नूपुर; पत्र लिख कर मंगाए। परन्तु चौथी रानी ने पत्र में लिखा—मुझे आपके सिवाय कुछ नहीं चाहिए। राजा जब विदेश से आया तो तीनों रानियों को उनकी मनोनीत वस्तुएँ दे दीं और चौथी रानी को अपना सर्वस्व दे दिया। राजा से किसी ने पूछा कि चौथी रानी को अपने कुछ भी लाकर नहीं दिया तो उसने कहा—"वाह! कैसे नहीं दिया? तीनों रानियों की अलग-अलग चीजों की माँग थी, वह मैंने पूरी कर दी। मगर चौथी रानी को मेरी जरूरत थी, उसे मैं मिल गया। मेरे साथ-साथ मेरा जो कुछ भी है, वह सब उसे सहज ही मिल गया है।"

इस कहानी का तथ्य यह है कि चौथी रानी की बड़ी उपलब्धि की माँग थी, इसलिए उसमें हार, कंगन, नूपुर आदि सभी छोटी उपलब्धियों की माँगें आ गईं। इसी प्रकार जिसे शुद्ध आत्मा या परमात्मा की उपलब्धि की मांग है उसे स्थूल-सूक्ष्म शरीर, मन-प्राण आदि से सम्बन्धित सभी छोटी उपलब्धियाँ मिल ही जाती हैं।

वस्तुतः ब्रह्मचर्य साधना किसी भी कामनापूर्ति या मांग के लिए नहीं है, वह कामना या इच्छा को ही समूल नष्ट कर देने वाली साधना है। जब ब्रह्मचर्य साधक की ऊर्ध्वचेतना या अन्तश्चेतना जागृत होती है, तब उसे यह स्पष्ट बोध हो जाता है कि संसार की सबसे बड़ी उपलब्धि वही है, जिससे कामना और इच्छा का अभाव हो सके। तब वह कामनापूर्ति के पीछे नहीं दौड़ता, इच्छा-पूर्ति का प्रयत्न नहीं करता। वह उसकी (आत्मा या परमात्मा की) उपलब्धि करता है, या उसकी खोज करता है, जिसे पाने पर कामनाओं और इच्छाओं का स्रोत ही सूख जाए, जो कामना और इच्छा को ही काट दे या मिटा दे। जहाँ व्यक्ति निष्काम और निरीह बन जाता है,

कामना के धरातल से ऊपर उठ जाता है, वहाँ उसका आत्मा या परमात्म स्वरूप सर्वांगरूप से जाग जाता है। कामनापूर्ति या इच्छापूर्ति का स्तर बहुत नीचे रह जाता है। यही ब्रह्मचर्य साधना का मूल उद्देश्य है।

ब्रह्मचर्य-साधना को सरलतम बनाने के उपाय

जिस साधक के समक्ष ब्रह्मचर्य साधना का उच्चतर उद्देश्य या ध्येय स्पष्ट नहीं होता, बृहत्तर आदर्श दृष्टि के समक्ष नहीं होता, जो क्षुद्र कामनाओं, नामनाओं और वासनाओं के घेरे में आबद्ध रहता है, उसके सामने ब्रह्मचर्य-साधना का भी प्रयोजन प्रशंसा, प्रसिद्धि या किसी प्रकार के चमत्कार, अर्थ, आदि की कामना होती है। वह एक बार उन चीजों को छोड़ देने पर भी, उनके त्याग के लिए प्रतिज्ञाबद्ध होने पर भी मन ही मन उन चीजों की लालसा, वासना और कामना संजोता रहता है, उसके मन में अमुक वस्तु को पाने की ललक उठती है, और उसका मन संसार की क्षुद्र वासनाओं की गलियों में भटकता रहता है। उसे बार-बार उपभुक्त भोगों की याद आती रहती है, कदम-कदम पर वासनाओं का अन्धकार उसको आगे बढ़ने से रोकता रहता है, उसका मन ब्रह्मचर्य-जीवन की ऊँचाइयों से खाली पड़ा है, उसके लिए ब्रह्मचर्य-साधना कठिन ही नहीं, कठिनतम हो जाती है। वह ब्रह्मचर्य-साधना की ऊँची दूकान लेकर तो बैठ जाएगा मगर उसमें मिलेंगे फीके पकवान ही। उसे ब्रह्मचर्य-साधना में रस नहीं आएगा, वह उसमें श्रद्धापूर्वक तन्मय और भावविभोर नहीं होगा। उसके ब्रह्मचर्य-साधना से भटक जाने की संभावना प्रबल है।

अतः ब्रह्मचर्य-साधना, जो कि बहुत ही उग्र, घोर, कठोर और दुष्कर है, उसको सरलतम बनाने, अनायास ही सफल करने के लिए दो उपाय हैं—(१) विशाल उदात्त विकल्प और (२) विराट् भावना।

(१) **विशाल उदात्त विकल्प**—साधकों के मन में नाना प्रकार के विकल्प उठते हैं, वे विकल्प उदात्त, प्रशस्त, शुभ, विराट् या आत्महितकर नहीं होते। अतः जहाँ जरा-सी अशुभ विकल्पों की लपटें आईं कि ब्रह्मचर्य-साधना या तो प्रतिज्ञा के शब्दों में रह जाती है अथवा केवल शारीरिक रहती है; मानसिक रूप से वह साधक वासनाओं के अन्धड़ में बह जाता है। क्षुद्र काम-भोगों का भूकम्प उसे झटका देकर नीचे गिरा देता है। अतः सर्वप्रथम उपाय यही है कि साधक के मन में जब भी किसी प्रकार का अशुभ विकल्प उठे, मन को एक विशाल, उदात्त और शुभ विकल्प दे दो, अथवा ब्रह्मचर्य सम्बन्धी 'ॐ ब्रह्मचर्याय नमः,' या 'ब्रह्मचर्यं रक्षतु, वीर्यं रक्षतु पार्श्वः' इस प्रकार का कोई मंत्र दे दो, जिससे उस समय उठने वाले सारे अशुभ विकल्प शीघ्र ही पलायित हो जाएँ।

छोटा बच्चा जब मिट्टी खाने लगता है तो माँ उसे रोकती है। फिर भी जब बच्चा नहीं मानता, तब माँ उसके हाथ में बंशलोचन दे देती है। तभी बच्चा

मिट्टी खाना छोड़ देता है। यह एक विकल्प है। ब्रह्मचर्य-साधना के विषय में भी यही बात है। मन में उठने वाले नाना विकल्पों से कच्चा ब्रह्मचर्य-साधक प्रभावित होता रहता है। जब तक कोई उदात्त, पवित्र, शुभ विकल्प या मंत्र उसके समक्ष प्रस्तुत नहीं किया जाता, तब तक वह पहले वाले असंस्कृत, अशिष्ट आचरण को या उस संश्लिष्ट पूर्व धारणा को नहीं छोड़ता। अतः मन को सुन्दर, स्वस्थ एवं विधायक विकल्प देकर साधक के मन के भटकाव को कम कर देना अनिवार्य है जिससे विषय-वासना के विकल्पों में उसका मन नहीं भटककर शुद्ध, पवित्र विकल्प या मंत्र में तल्लीन हो जाये। अतः विशाल उदात्त विकल्प ब्रह्मचर्य-साधना को सरल बनाने का एक अनूठा उपाय है।

(२) **विराट् भावना**—ब्रह्मचर्य का साधक जब प्रारम्भ से ही किसी-न-किसी विराट् भावना, बृहत् कल्पना या विशाल उद्देश्य या आदर्श को लेकर चलता है, उसी में तल्लीन हो जाता है, तब उसके लिए ब्रह्मचर्य-साधना सरलतम हो जाएगी, वह ब्रह्मचर्य में अटल निष्ठा प्राप्त कर सकेगा। ब्रह्मचर्य का एक अर्थ भी विराट् बनना, विराट् भाव में रमण करना है। जिस ब्रह्मचर्यसाधक के समक्ष समाजसेवा, देशसेवा, राष्ट्रसेवा या विश्ववत्सलता या विज्ञान के आविष्कार या प्रयोग द्वारा जन-सेवा की भावना रहती है, उसे वासना की याद ही नहीं आएगी, विषयभोगों की ओर उसका मन कदापि नहीं जाएगा, क्योंकि वह अपनी बृहत्तर कल्पना या विराट् भावना को लक्ष्य बनाकर उसी की ओर गति-प्रगति करता है, उसकी उपलब्धि के लिए सारी शक्ति लगा देता है, सारा का सारा जीवन उसी के पीछे सहर्ष होम देता है, वासना तो दूर रही—किसी पदार्थ की कामना या प्रसिद्धि-प्रशंसा की तमन्ना अथवा अपनी सुख-सुविधा की इच्छा भी उसके पास नहीं फटकती।

संसार में जितने भी अखण्ड ब्रह्मचर्य-साधक महापुरुष हो चुके हैं, वे सांसारिक पदार्थों तथा समस्त सम्बन्धों का परित्याग करके जब ब्रह्मचर्य-साधना के पथ पर आए तो फिर उन्हें कभी भी भोगी हुई चीजें याद नहीं आयीं। पूर्वभुक्त विषय-भोगों की भी कभी स्मृति नहीं हुई। क्यों नहीं हुई? उसका एकमात्र कारण था—स्वपर-कल्याण की विराट् भावना। अर्थात्—उनके समक्ष जीवन की बृहत् धारणा थी, अपने आत्मकल्याण और जनकल्याण की विराट् भावना थी। इस पवित्र उच्च भावना की साधना में उनकी सारी शक्तियाँ निरन्तर इतनी व्यस्त रहती थीं, कि उन्हें घर की, पूर्वभुक्त विषय-भोगों की अथवा सांसारिक पदार्थों को याद करने का अवकाश ही नहीं था।

यदि वे पूर्ण ब्रह्मचर्य-साधक ब्रह्मचर्य महाव्रत की साधना अंगीकार करने के बाद अपने समक्ष पूर्वोक्त विराट् भावना या उच्चतम आदर्श न रखते और क्षुद्र विचारों में लिपटे रहते तो उन्हें अपने-पराये के स्वार्थी चिन्तन में, अपने शरीर और शरीर से

सम्बन्धित सजीव-निर्जीव पदार्थों को प्राप्त करने का या अपनी सुख-सुविधाओं या भुक्त भोगों का चिन्तन-स्मरण अवश्य होता। वे वैषयिक सुख-दुःख के दलदल में फँस जाते। उनकी ब्रह्मचर्य-साधना शिथिल या खण्डित हो जाती। किन्तु वे महान् आत्मा विचारों की इतनी ऊँचाई पर पहुँच चुके थे, कि उनका तन और वचन तो जाता ही क्या, उनका मन भी संसार की क्षुद्र वासनाओं या पूर्वभुक्त भोगों अथवा देहपिण्ड की सुख-सुविधाओं के चक्कर में कभी नहीं पड़ा। एकमात्र शुद्ध एवं सर्वोच्च बृहत् लक्ष्य का सूर्य ही उनके मन-मस्तिष्क में सतत चमकता रहा। इसी कारण ब्रह्मचर्य-साधना उनके जीवन में अनायास ही सफल हो गई। संसार की वासनाएँ उन्हें सता नहीं सकीं, सुख और दुःख में वे एकरस रहे। सुख-सुविधाओं की ओर तनिक भी ध्यान न देकर वे अपनी मस्ती से ब्रह्मचर्यपूर्वक आगे से आगे बढ़ते ही गए।

ये महापुरुष ही क्यों, संसार के महान् वैज्ञानिक, साहित्यकार, विचारक, लेखक, विद्यार्थी, महान् आचार्य, उपाध्याय एवं योगीजन भी अपने समक्ष बृहत्तर आदर्श, विशाल, विराट् भावना या धारणा को लेकर चले हैं, और ब्रह्मचर्य जैसी कठोरतम, उग्र एवं घोर साधना उनके लिए सरलतम एवं अनायास सिद्ध हो गई।

यूरोप के एक महान् वैज्ञानिक के विषय में कहा जाता है कि वह यौवनावस्था से पहले ही विज्ञान की किसी शाखा की साधना में जुट गया और अहर्निश लगा रहता। उसने जनजीवन को सुखमय बनाने के लिए अनेक वैज्ञानिक आविष्कार किये। इसी विज्ञान के प्रयोग में उसकी जवानी समाप्त हो गई, बुढ़ापा आ गया। इसी दौरान किसी ने उस वैज्ञानिक से पूछा—"आपके परिवार का क्या हालचाल है?"

उसने उत्तर दिया—"परिवार की क्या पूछते हो? मेरा परिवार तो मैं ही हूँ या मेरे ये यन्त्र हैं, जो चुपचाप रहकर मेरा मन बहलाया करते हैं।"

उस वैज्ञानिक से पूछा क्या—"क्या आपने विवाह नहीं किया?"

वैज्ञानिक ने आश्चर्यमुद्रा में कहा—"मैं तो बस तुम्हारे कथन से ही विवाह को आज स्मरण कर रहा हूँ। मैं जिस साधना में लगा हुआ था, उसमें इतना ओतप्रोत रहा कि मैं विवाह या अपने शरीर की सुख-सुविधा की ओर कोई भी ध्यान न दे सका। किन्तु मैं जो वस्तुएँ संसार के समक्ष प्रस्तुत कर सका हूँ, वह अपने एक ही महत्वपूर्ण कार्य में एकाग्रतापूर्वक समस्त संकल्प शक्तिपूर्वक डूबे रहने के कारण ही। मैं दूसरे किसी क्षुद्र संकल्प की ओर ध्यान देता तो इतना महान् कार्य नहीं कर सकता था।"

अगर वह महान् वैज्ञानिक साधारण व्यक्ति की तरह क्षुद्र संकल्पों की ओर चला जाता तो वासना की आँधियाँ उसे घेर लेतीं और वैज्ञानिक प्रयोगों की उपलब्धि के माध्यम से जो ब्रह्मचर्य साधना कर सका, वह नहीं कर पाता।

प्रसिद्ध चित्रकार 'माईकेल एंजेलो' से किसी ने कहा—तुम विवाह कर लो, तो उसने उत्तर दिया—"चित्रकारी मेरी ऐसी पत्नी है, जो सौत का रहना सहन नहीं कर सकेगी।"

वास्तव में जो व्यक्ति किसी महान् उद्देश्य की पूर्ति के लिए आजीवन अविवाहित या पूर्ण ब्रह्मचारी रहकर ब्रह्मचर्य का निश्चय कर लेते हैं, वे अपने मन में अपने या परमात्मा के सामने प्रतिज्ञा कर लेते हैं कि "जो ध्येय हमने चुन लिया, उसी पर डटें रहेंगे, उसमें फिर विवाह की बात करना व्यभिचार होगा।"

इसी प्रकार किसी चिकित्सक ने रोगियों और दुःखियों की सेवा में अपना सारा जीवन अर्पण करके ब्रह्मचर्य साधना को सहज सुलभ बना लिया।

प्रसिद्ध दार्शनिक वाचस्पति मिश्र विवाह के अगले दिन से ही 'ब्रह्मसूत्र' के शांकर भाष्य पर टीका लिखने बैठ गये। वे अहर्निश चिन्तन करने और लिखने में तल्लीन रहते थे। उन्हें अपने विवाह, नवोढ़ा पत्नी या अन्य सुख-सुविधा, राग-रंग आदि का ध्यान बिलकुल नहीं था। परन्तु चतुर पत्नी ने भी उनके इस कार्य में कुछ भी बाधा न डाली, वह भी उनके इस कार्य में सहायिका बन गई। मिश्रजी के लिए समय पर भोजन थाली में परोस कर रख जाती। समय पर दीपक जला जाती। मिश्रजी तो तन्मयतापूर्वक लिखने में मग्न रहते थे। कौन आया-गया, इसका उन्हें पता ही नहीं था। यों क्रमशः बारह वर्ष बीत गये। यौवन की तूफानी हवा बह गई। इसी माध्यम से उनकी ब्रह्मचर्यसाधना अनायास ही हो गई।

टीका की समाप्ति के दिन, जब उनकी पत्नी दीपक जलाने आई तो सारा रहस्य खुला। उनकी पत्नी ने कहा—"मैं आपके पवित्र उद्देश्य के लिए बारह वर्ष से साधारण नारी की तरह चुपचाप अपना दैनिक कर्तव्य करती रही।" मिश्रजी गद्गद होकर बोले—"सचमुच, तुम्हारी साधना के बल पर ही मैं इस महान् ग्रन्थ पर सम्पूर्ण टीका लिख सका हूँ। अगर सांसारिक वासना में हम फँस जाते तो यह महान् कृति संसार को नहीं दे सकते थे। अतः मैं इस टीका का नाम, तुम्हारे नाम पर 'भामती' रखता हूँ।"

निष्कर्ष यह है कि अगर वाचस्पति मिश्र के समक्ष ऐसी उच्च भावना न होती तो न तो वे इतना महान् कार्य कर सकते थे, और न ही ब्रह्मचर्य की सहज साधना कर सकते थे।

अतः जिसे ब्रह्मचर्य की कठोर एवं उग्र साधना सहज, सरल और सुकर बनानी है, उसे अपने समक्ष कोई न कोई महान् उद्देश्य अवश्य रखना चाहिए। ऐसा महान् या विराट उद्देश्य—ज्ञान की अर्जना, दर्शन एवं चारित्र की आराधना, तपश्चरण, योग उपलब्धि आदि के रूप में आध्यात्मिक भी हो सकता है; धर्म संघ की, साधु-साध्वियों की, तपस्वी मुनियों की या रुग्ण साधुओं की सेवा की विराट् भावना से भी ब्रह्मचर्यसाधना सुगम बनाई जा सकती है। ऐसा बृहत् आदर्श समाजसेवा, जनसेवा, राष्ट्रसेवा, समाजसुधार, निःस्वार्थ शिक्षण कार्य, लोकशिक्षण, आदि के रूप में सामाजिक भी हो सकता है तथा राष्ट्रीय और धार्मिक भी हो सकता है।

जब व्यक्ति के सामने उच्च एवं विराट् आदर्श या उद्देश्य होगा और वह उसी में ओत-प्रोत हो जाएगा, अपने मन को उसी रंग में रंग देगा, उसके मन में वासना की स्मृति आ नहीं सकती, संसार के सुख-भोगों की क्षुद्र कामनाएँ उसे रोक नहीं सकेंगी; उसका जीवन भी विराट् बनेगा और ब्रह्मचर्य साधना भी सरलतम बन जाएगी।

जैनशास्त्रों में ब्रह्मचर्यसाधना को सरल बनाने के लिए साधु-साध्वियों को जगह-जगह स्वाध्याय, ध्यान, आत्मभाव, तपस्या आदि में सतत रत रहने की प्रेरणा की गई है।[1] यदि साधक अपने तीनों (मन-वचन-काय के) योगों को सेवा आदि किसी शुभ-प्रशस्त कार्य में, सत्कर्म में, धर्मक्रिया में, स्वाध्याय, सुध्यान, तप, आदि किसी में लगा दे अथवा आत्मचिन्तन एवं आत्मसाधना में प्रवृत्त कर दे तो वासना का तूफान स्वतः शान्त हो जाएगा, विषय-विकार का चिन्तन करने या वासनाओं की ओर भागने का अवकाश ही न रहेगा। तभी वह ब्रह्मचर्य-साधना में पूर्णतः सफल हो सकेगा। बृहद् उद्देश्य या विराट् लक्ष्य में अपने मन-वचन-काया के योग को ओत-प्रोत किये बिना काम-वासना पर विजय पाना बहुत दुष्कर होगा। हजारों-लाखों सुभटों पर विजय पाना सरल है, किन्तु वासना पर विजय पाना महादुष्कर है। वासना के आगे बड़ों-बड़ों के छक्के छूट जाते हैं।

कलिकालसर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्र, सिद्धसेन दिवाकर, आचार्य समन्तभद्र, हरिभद्र आदि सभी महान् आचार्य अपनी मनोनीत विराट् भावना या बृहत्तर उद्देश्य में तन्मय होकर ही ब्रह्मचर्य-साधना में सफल एवं पारंगत हो सके थे तथा संसार को अपने महान् ग्रन्थ दे सके।

ब्रह्मचर्य साधना में पवित्र सद्दृष्टि आवश्यक

कई स्थूल दृष्टि वाले लोग कहते हैं कि आजकल शहरों में प्रायः कामोत्तेजक वातावरण होता है। विजातीय सुन्दर शरीर का आकर्षण प्रबल होता है। सर्वथा स्त्री-परिचय, या स्त्री-सम्पर्क (स्त्रियों को पुरुष सम्पर्क या पुरुष-परिचय) से दूर रहना प्रायः असम्भव है और स्त्री-पुरुष में एक दूसरे के लिए आकर्षण इतना प्रबल है कि सहसा एक दूसरे से परिचय, सम्पर्क या सम्बन्ध को टाला नहीं जा सकता। ऐसी स्थिति में ब्रह्मचर्य-साधना कैसे सफल हो सकती है?

इसका समाधान यह है कि मानव-जीवन में दो धाराएँ रहती हैं—एक मोह की और दूसरी शुद्ध प्रेम की। मोह में वासना, विषय-विकार और अब्रह्मचर्य है। स्त्री-पुरुष में परस्पर एक-दूसरे के प्रति वासनाजन्य आकर्षण होता है, जब कि विशुद्ध प्रेम में भी आकर्षण तो होता है किन्तु सात्त्विक मनुष्य सामाजिक प्राणी है। अपने

---

१. "सज्झाय-सुज्झाणरयस्स ताइणो अपावभावस्स तवे रयस्स।" —दशवै. ८/६३

आप में वह अकेला पड़ कर न रह जाए इसलिए वह दूसरों के साथ सम्बन्ध, प्रायः वात्सल्य सम्बन्ध जोड़ना चाहता है।

इस प्रकार मोह और शुद्ध प्रेम में ऊपर से दिखाई देने वाला आकर्षण समान है, किन्तु वास्तव में दोनों के आकर्षण भिन्न-भिन्न प्रकार के हैं। उनकी भिन्नता आक के दूध के और गाय के दूध के समान है। दोनों ही दूध कहलाते हैं, मगर दोनों में आकाश-पाताल-सा अन्तर है। आक के दूध में विष भरा है और गाय के दूध में अमृत। अमृतोपम गो-दुग्ध शरीर में शक्ति का संचार करता है, जबकि आक का दूध जहर का काम करता है। इसी तरह मोह और विशुद्ध प्रेम दोनों के आकर्षण में रात-दिन का सा अन्तर है। मोह का आकर्षण एक का दूसरे पर चलता है, तब वह दोनों का जीवन वासना में डाल देता है, विषाक्त विकार वासना की लहरें दोनों के जीवन में फैल जाती हैं। विशुद्ध प्रेम का आकर्षण ऐसा नहीं होता, वह विषय-विकार से रहित, पवित्र एवं कर्तव्य से ओतप्रोत होता है, वासनाजन्य भोग के तमस् से उसका जरा-सा भी वास्ता नहीं होता।

सीता के प्रति एक ओर रावण के हृदय में भी आकर्षण था, दूसरी ओर लक्ष्मण के हृदय में भी आकर्षण था; किन्तु रावण का आकर्षण कामवासना के विष से परिपूर्ण था, जबकि लक्ष्मण का आकर्षण मातृत्वभावना की पवित्र दृष्टि से ओतप्रोत था। सीता की सेवा जिस प्रकार प्राणप्रण से, अपनी सुख-सुविधाओं को ठोकर मारकर लक्ष्मण ने की थी, क्या यह बिना आकर्षण के सम्भव थी? परन्तु वह आकर्षण पवित्र, मातृभाव से था, उसमें वासना या विषय-विकार को रंचमात्र भी अवकाश नहीं था। लक्ष्मण के अन्तर-जीवन की उज्ज्वलता एवं पवित्रता जैसे अन्तर् में थी वैसे ही बाह्य व्यवहार में भी चमक रही थी। जब श्रीराम की दृष्टि सीता के गहनों पर पड़ी तो उन्होंने लक्ष्मण से पूछा—"लक्ष्मण! देखना ये आभूषण सीता के ही हैं न?"

लक्ष्मण ने ब्रह्मचर्य-साधना के प्राणरूप मातृत्वदृष्टि की भावना से ओतप्रोत होकर कहा—"भैया! ये केयूर सीता-माता के है या नहीं, अथवा ये कुण्डल भी सीता-माता के हैं या नहीं? मैं नहीं जानता। मैं तो केवल उनके नूपुरों को पहचानता हूँ क्योंकि जब मैं उनके चरणों में वन्दन करता था, तब नूपुरों पर मेरी दृष्टि पड़ती थी।"

लक्ष्मण का सीता के प्रति जो आकर्षण है वह विशुद्ध मातृत्वभाव का है, इसमें जीवन की ऊँचाई, मधुरता और पवित्रता झलकती है।

अतः विजातीय (स्त्री-शरीर या पुरुष-शरीर) परिचय, सम्पर्क या दर्शन से जो विषय-विकार या वासना पैदा होती है, यह मनुष्य की भ्रान्त दृष्टि का परिणाम है। विजातीय शरीर के सम्बन्ध में मनुष्य ने अपनी दृष्टि पहले से ही विकारी बना ली है। वास्तव में स्त्री-शरीर या पुरुष-शरीर अपने-आप में कोई विकार या वासना की उत्पत्ति का कारण नहीं है। वह तो मात्र निमित्त कारण है। अगर स्त्री-शरीर ही

विकार का कारण होता तो सीताजी के प्रति लक्ष्मण को भी विकार पैदा होता। अतः विजातीय आकर्षण के प्रति अपनी दृष्टि पवित्र रखी जाय, यानी स्त्री के प्रति मातृत्व दृष्टि या पुरुष के प्रति स्त्री की पवित्र दृष्टि हो तो विकार या वासना उत्पन्न होने का कोई कारण ही नहीं।

पंचमहाव्रतधारी मुनि स्त्री-शरीर के सम्बन्ध में अपने मानसिक संस्कार बदल डालते हैं। वे इस विषय में जागृत होते हैं, इसलिए उन्हें स्त्री से या वैसे वातावरण से विकार या वासना पैदा नहीं होती। स्त्री या समग्र विश्व को वे तटस्थता से, साक्षीभाव से देखते हैं। स्त्री-परिचय या कामोत्तेजक वातावरण से पैदा होने वाली मानसिक विकृति के पीछे मूल उपादान कारण तो मनुष्य के अन्तर् की गहराई में पड़ी हुई मलिन वृत्ति है। अगर इस मलिन वृत्ति या दृष्टि को प्रयत्नपूर्वक दूर किया जाए तथा स्त्रीदर्शन के प्रति मातृत्वभाव, भगिनी-भाव या आत्मभाव सिद्ध किया जाय तो बाहर का सारा वातावरण मनुष्य को ब्रह्मचर्य साधना में कहीं भी बाधक अनुभूत नहीं होता।

आज हम देखते हैं कि विजातीय व्यक्ति के दर्शनमात्र से विकारी बनने वाला सामान्य पामर मानव घर में अपने साथ रहने वाली भाभी, बहन या माता आदि के गाढ़ सम्पर्क में रहता हुआ भी उनके प्रति तो विकारी नहीं बनता। यह अनुभव सिद्ध करता है कि किसी का शरीर विकार की स्मृति का कारण नहीं है, किन्तु उसके पीछे मनुष्य की मनोभावना या दृष्टि ही सब कुछ है। स्त्रीमात्र के प्रति मातृभाव या भगिनीभाव की दृष्टि को विश्वव्यापी एवं निर्मल (पवित्र) बना लिया जाए तो जगत् की समस्त अन्य स्त्रियों के परिचय में आने पर भी ब्रह्मचारी साधक निर्विकारी रह सकता है।

अतः यह निश्चित है कि बाह्य निमित्त से वास्तव में हमें कोई लाभ-हानि नहीं है, क्योंकि उसका कारण अन्तर् में होता है। इसलिए अगर किसी बाह्य निमित्त से साधक को मोहजनित आकर्षण होता है तो उसका कारण अपने अन्तर् में ही है ऐसा मानकर व्यक्ति को अन्तर्मुख बनकर अपने अन्तर् की मलिनता और दृष्टि की अपवित्रता को दूर करने के लिए कटिबद्ध होना चाहिए। जब तक व्यक्ति की दृष्टि पवित्र न हो, तब तक बाह्य वातावरण या निमित्त को दोष न देकर अपने उपादान कारणरूप मन को पवित्र बनाने तथा अन्तःशुद्धि करने का पुरुषार्थ करते रहना चाहिए। सफलता अवश्य मिलेगी। दूसरी ओर से अच्छे निमित्त या वातावरण को प्राप्त करने का भी पुरुषार्थ करते रहना चाहिए। उपादान को शुद्ध करने का प्रबल पुरुषार्थ जारी रहे तो उसके योग्य अच्छा निमित्त भी मिल जाता है।

अतः विजातीय के प्रति मोहजनित विकारी आकर्षण को शुद्ध प्रेमजनित पवित्र आकर्षण में बदला जा सकता है; जरूरत है, केवल दृष्टि बदलने की।

ब्रह्मचर्य-साधना में विवेक

ब्रह्मचर्य-साधना मन, वचन और काया के द्वारा होती है। परन्तु इस साधना का स्थूल दृष्टिगोचर होने वाला मुख्य केन्द्र शरीर है। शरीर है, तभी इसके साथ वचन और मन संलग्न है। जब तक साधक शरीर में है, तभी तक वह ब्रह्मचर्य या अन्य महाव्रतों या अणुव्रतों की साधना कर सकता है। शरीर के बिना अकेली आत्मा ब्रह्मचर्य की क्या, किसी भी व्रत, नियम, संयम या तप की साधना नहीं कर सकती। यह मनुष्य के विवेक पर निर्भर है कि वह शरीर का उपयोग ब्रह्मचर्य आदि की साधना में करता है, या विषय-वासना में लगाता है; अथवा अब्रह्मचर्य-सेवन द्वारा शरीर को निचोड़ देता है। ब्रह्मचर्य-साधकों के लिए जैन धर्म ने शरीर के उपयोग का विवेक बताया है कि "हे साधक! तू ब्रह्मचर्यादि की साधना के लिए शरीर को तपा, इसकी सुकुमारता को छोड़। साथ ही, कामों (इच्छा-काम और मदन-काम) पर विजय प्राप्त कर। द्वेषवृत्ति को छेद डाल और रागवृत्ति को दूर कर। इस प्रकार करने से ही तू इस संसार में सुखी होगा।"

कितना सुन्दर और स्पष्ट विवेक बताया है—ब्रह्मचर्य-साधकों के लिए। उसे पूर्वकालीन अब्रह्मचर्य, काम, विषयभोग आदि के कुसंस्कारों को नष्ट करने के लिए, तथा शरीर पर मोह, आसक्ति या राग के वश होने वाली सुकुमारता, कामना तथा विकारी पौष्टिकता आदि को घटाने के लिए शरीर को तपाना है। किन्तु यह ध्यान रहे कि मन को तपाने के लिए ही तन को तपाना है। तन को इतना नहीं तपाना है या इतना अधिक अत्याचार उस पर नहीं करना है कि वह नष्ट हो जाए, ब्रह्मचर्य आदि की साधना से स्व-पर कल्याण के लिए इस शरीर को साधना है, सशक्त एवं कार्य-तत्पर रखना है।

अतः सिद्धान्त यह हुआ कि तपस्या या अन्य साधना के द्वारा इस शरीर को तपाया अवश्य जाए, किन्तु इसे न तो नष्ट किया जाए और न ही कामवासना, विषय-भोग आदि में व्यर्थ ही इसकी शक्ति को खर्च किया जाए।

घी में छाछ का अंश हो तो उसे शुद्ध करने के लिए तपाया जाता है। परन्तु घी को तपाने के लिए सीधे आग में नहीं झोंका जाता, क्योंकि घी को सीधा आग में डालने पर वह शुद्ध क्या होता है, सारा ही नष्ट हो जाता है। इसलिए किसी बर्तन में घी को डालकर उस बर्तन को आग से तपाया जाता है, ताकि बर्तन में रहा हुआ घी तपकर शुद्ध हो जाए, उसमें से छाछ एवं कचरा निकल जाए। बर्तन को तपाने का प्रयोजन घी को शुद्ध करना है; न तो पात्र को नष्ट करना है और न घी को ही। अर्थात् पात्र को इतना ही तपाया जाता है, जितने से घी और छाछ अलग-अलग हो जाएँ।

यही बात ब्रह्मचर्य आदि की साधना के लिए शरीर को तपाने के विषय में समझिए। मनरूपी या आत्मारूपी घी के साथ काम-वासना, विषय-भोग आदि का कुसंस्काररूपी छाछ-कचरा मिला हुआ है। उसे शुद्ध करने और मन और आत्मा में आए हुए विकारों को इनसे अलग-थलग करने के लिए शरीर को तप आदि से तपाना है। इसी में शरीर की सार्थकता है। शरीर को इतनी मात्रा में तपाना या कष्ट देना है, जितना आवश्यक हो। शरीर को व्यर्थ कष्ट देना, उस पर अत्याचार करना या नष्ट कर देना अथवा अंगोपांगों को भंग कर देना धर्म नहीं है, यह अज्ञान-कष्ट है, बालतप है। ऐसा करने से न तो ब्रह्मचर्य आदि की साधना ही हो सकती है और न ही धर्म का पालन या आत्मकल्याण हो सकता है।

भगवान् पार्श्वनाथ और भ० महावीर के युग में ऐसे साधकों की संख्या बहुत अधिक थी जिन्हें अपनी साधना के लक्ष्यों तथा उपायों का यथार्थ विवेक नहीं था। उन लोगों की प्रायः ऐसी मान्यताएँ थीं कि कामवासना आदि समस्त बुराइयाँ स्थूल शरीर में ही हैं। स्थूल शरीर ही सभी अनर्थों का मूल है। यही अब्रह्मचर्य आदि का पाप करता है। अतः इस शरीर को ही नष्ट कर दिया जाय तो आत्मा स्वतः पवित्र एवं शुद्ध हो जायेगी।

वे वैशाख-ज्येष्ठ मास की भयंकर गर्मी के मौसम में अपने शरीर के चारों ओर पंचाग्नि ताप (चारों ओर आग जलाकर, ऊपर से सूर्य ताप से तपाने) से शरीर को कोयले का ढेर बना देते थे। वे मानते थे कि शरीर की चमड़ी के साथ आत्मा के विकार जल रहे हैं।

कई तापस कठोर सर्दी की मौसम में ठण्डे पानी में खड़े रहते और शीत की पीड़ा सहते रहते। वे समझते थे—ऐसा करने से आत्मा पवित्र होती है।

इसी प्रकार एक साधक ने कामविकार से बचने के लिए अपनी जननेन्द्रिय का छेदन कर डाला था। भक्तों ने उससे पूछा तो कहा—"यह नहीं होगी तो इससे होने वाला कामाचार, अनाचार और विषयभोग भी नहीं होगा।"

इसी प्रकार एक व्यक्ति ने यह सोचकर कि मुँह खुला रहेगा, तो वह किसी भी समय कटुवचन, कामोत्तेजक वचन, अपशब्द आदि निकालेगा, इसलिए मुँह को सी लिया जाए तो कोई भी बोल नहीं निकलेगा। परन्तु अच्छे या बुरे वचनों का स्रोत तो मन है। मन में अच्छे विचार होंगे तो अच्छे वचन निकलेंगे, बुरे विचार होंगे तो बुरे वचन निकलेंगे। इस प्रकार शरीर को या शरीर के अंगोपांगों को नष्ट करने से क्या विकार या दुष्कर्म नष्ट हो जाते हैं? विकार या दुष्कर्म का उद्गम तो मन है। मन में जब बुरे विचार पैदा होते हैं, तभी वे शरीर या अंगोपांगों से दुष्कर्म के रूप में व्यक्त होते हैं। इसलिए कामाचार या दुष्कर्मों की जड़ शरीर या अंगोपांग नहीं, किन्तु मन है। ऐसी स्थिति में शरीर को या अंगोपांगों को नष्ट कर देने से तो

वह व्यक्ति शरीर या अंगोपांगों से होने वाले स्व-पर-कल्याण या दूसरों की भलाई के कार्यों से भी वंचित रहा। वास्तविक अपराधी कौन है? शरीर है या मन? अगर मन बुरे कर्म का चिन्तन न करता तो शरीर या शरीर के अंगोपांग बेचारे क्या करते? वे मन की प्रेरणा से ही तो काम करते हैं। अतः शरीर को नष्ट करने या व्यर्थ कष्ट या दण्ड देने से ब्रह्मचर्य-साधना का उद्देश्य पूर्ण नहीं होता है।

जो लोग शरीर को पापों की जड़ समझकर उसे जल्दी से जल्दी नष्ट कर डालने में आत्मकल्याण या जीवन का मंगल या ब्रह्मधाम का द्वार खुल जाना समझते है, वे यह भूल जाते हैं कि शरीर को नष्ट कर डालने से मन की कुवृत्तियाँ तो मिटेंगी नहीं और मन की कुवृत्तियाँ नष्ट हुए बिना शरीर को आग में जलाने या किसी प्रकार से व्यर्थ कष्ट देने से कोई भी लाभ होने वाला नहीं, बल्कि ऐसा करने से पुराना शरीर नष्ट हो जाएगा, किन्तु कुवृत्तियाँ नष्ट न होने के कारण नया शरीर मिलेगा ही, वह न मालूम किस गति या योनि का मिलेगा। शरीर का आत्यन्तिक अभाव तो इस प्रकार कथमपि होने वाला नहीं, क्योंकि जब तक राग-द्वेष, और तज्जनित कर्म नष्ट नहीं होंगे, तब तक जन्म-मरण तथा शरीर-धारण नष्ट नहीं होगा। शरीर को जन्म देने वाली तो ये ही राग-द्वेष या कषाय की परिणतियाँ हैं।

अतः ब्रह्मचर्य-साधक को ब्रह्मचर्य की साधना में इतना विवेक अवश्य करना होगा कि शरीर का न तो लाड़-प्यार करना है, न ही उसको खिला-पिलाकर मोटा-ताजा बनाना है, या सुकुमार व आलसी बनाना है और न ही उसको व्यर्थ कष्ट देना है, न अज्ञानजनित तप के द्वारा उसे बर्बाद करना है, न ही शरीर के अंगोपांगों को नष्ट-भ्रष्ट करना है; किन्तु मन की दुर्वृत्तियों, कामोत्पादक दुर्भावनाओं को नष्ट करने और तन-मन-वचन से विधिवत् ब्रह्मचर्य-साधना करने हेतु शरीर को और प्रकारान्तर से मन को उपयुक्त मात्रा में तपाना है, कष्ट भी सहना है, उसे साधना के लिए सशक्त एवं उद्यत रखना है। इतना विवेक होगा तो उस साधक की ब्रह्मचर्य-साधना सुगम हो सकेगी। ब्रह्मचर्य-साधक को प्रतिक्षण शरीर का प्रहरी बनकर सावधान रहना होगा कि मन की प्रेरणा से शरीर वासना में न भटके, विषय-भोगों में शरीर की शक्ति खर्च न हो जाए। उसे यह विवेक करना होगा कि शरीर विषय-वासनाओं के लिए नहीं है, न ही शृंगार करके अपने और दूसरे के चित्त में वासना की आग लगाने के लिए है, वह ब्रह्मचर्य-साधना जैसी महत्त्वपूर्ण आध्यात्मिक साधना के लिए तथा स्वपर-कल्याण के लिए है। विवेक का तकाजा यह है कि शरीर इतना शक्तिशाली एवं कार्यक्षम बना रहे कि समय पर आने वाले दुःखों एवं कष्टों को सहन कर सके, ब्रह्मचर्य आदि व्रतों की साधना यथाविधि कर सके। साथ ही आत्मा भी इतनी बलवान् रहे कि वह कामवासना की कँटीली झाड़ी में न उलझे, विषयभोगों में नष्ट-पतित न हो। अतएव शरीर को मार कर आत्मा को अपनी ब्रह्मचर्यादि

साधना में दृढ़ता से तत्पर रख सकने की बात मत सोचो, और न ही आत्मा को मारकर शरीर को सुकुमार, भोगासक्त एवं विषय-सुखदास बनाने की बात ही सोचो।

अतः ब्रह्मचर्य-साधक को साधना में इस प्रकार का विवेक अवश्य करना चाहिए कि वह साधना के द्वारा अपने शरीर, इन्द्रिय या मन के तारों को इतना ही कसे कि उनमें लचक बनी रहे, तभी उनमें से ब्रह्मचर्यादि धर्मसाधना की रागिनी पैदा हो सकेगी।

ब्रह्मचर्य-साधक के समक्ष शरीर और आत्मा दोनों हैं। यद्यपि दोनों की सत्ता मूलतः पृथक्-पृथक् है, तथापि इन दोनों में घनिष्ट सम्बन्ध है। दोनों का एक दूसरे की क्रिया पर गहरा प्रभाव पड़ता है। साधक दोनों में से एक की भी उपेक्षा करके साधना नहीं कर सकता। साधक का कर्त्तव्य है कि वह साधना के मार्ग में आत्मा और शरीर दोनों का यथोचित विकास करे, दोनों को यथामात्रा में सशक्त बनाए, दोनों की अपनी-अपनी मर्यादा का अतिक्रमण न करने दे।

जो अध्यात्मवादी केवल आत्मा के ही विकास की बात करते है, शरीर की बिलकुल उपेक्षा करते हैं, शरीर रुग्ण, अशक्त या दुर्बल हो, उससे कोई सरोकार नहीं रखते, उसे नष्ट होने देते हैं, वे शरीर के यथोचित विकास न होने देने के कारण ब्रह्मचर्यादि साधना ठीक तरह से नहीं कर पाते। वे आत्मा को भी सुदृढ़ नहीं बना पाते। फलतः उनकी कोई भी आध्यात्मिक साधना सम्यक्रूप से नहीं हो पाती।

ब्रह्मचर्य-साधना सिद्ध परमात्मा तक पहुँचने की उच्च साधना है, शरीर आत्मा के निवास करने के लिए पवित्र मन्दिर है। यह सोचकर शरीर को उच्च साधना के लिए तैयार रखना है। □

२

ब्रह्मचर्य-साधना : दृढ़ता के छह सूत्र

प्रतिज्ञा : ब्रह्मचर्य साधना की रीढ़

धर्मशास्त्रों की भाषा में ब्रह्मचर्य-साधना प्रारम्भ करने से पूर्व ब्रह्मचर्यव्रत स्वीकार करना पड़ता है, अर्थात् ब्रह्मचर्यव्रत की प्रतिज्ञा करनी पड़ती है। प्रतिज्ञा या व्रत-स्वीकार का मतलब है—उक्त साधना करने का दृढ़ निश्चय। कई लोग कहते हैं, हम ब्रह्मचर्य का संकल्प, व्रत-स्वीकार या प्रतिज्ञा न लेकर उसकी यों ही साधना करें तो क्या आपत्ति है ? व्रतबद्ध या प्रतिज्ञाबद्ध होकर स्वयं को बन्धन में क्यों डालें ? इसका समाधान यह है कि प्रतिज्ञाबद्ध या संकल्पबद्ध न होने पर जरा-सी भी अड़चन आने, बाधा उपस्थित होने या कठिनाई आने पर प्रायः उक्त व्रत से विचलित होने की अशंका रहती है। प्रतिज्ञा या संकल्प न लेकर जो यों ही खुला रहना चाहता है, समझ लो, अभी उसके मन में दुर्बलता है। उसका कमजोर मन जरा-सा संकट आते ही फिसलने लगेगा, कोई न कोई बहाना बनाकर वह उक्त व्रत को भंग कर देगा। किन्तु व्रत-स्वीकार, प्रतिज्ञा या संकल्प लिया होगा तो उस कार्य में आने वाले संकटों, विघ्न-बाधाओं या अड़चनों को सहने की शक्ति आ जाएगी, मन में दृढ़ता एवं निश्चलता रहेगी। प्रतिज्ञा-भ्रष्ट होने में लज्जा या शंका का अनुभव होगा। साथ ही व्रत, प्रतिज्ञा या संकल्प न लेने पर इहलोक या परलोक में जितना पुण्यलाभ, पुण्यफल अथवा धर्मलाभ या धर्मफल मिलना चाहिए, उतना नहीं मिल सकेगा। संसार में जितने भी तीर्थंकर, गणधर, साधु-साध्वी या श्रावक-श्राविका आदि हुए हैं, वे ब्रह्मचर्य-साधना या अन्य व्रतों की साधना के लिए प्रतिज्ञाबद्ध या संकल्पबद्ध हुए हैं। वैदिक पद्मपुराण में भी इसी बात का समर्थन किया गया है—

"संकल्पेन विना राजन् ! यत्किंचित् कुरुते नरः।
फलं चाऽप्यल्पकं तस्य धर्मस्यार्द्धक्षयं भवेत् ॥'

'हे राजन् ! संकल्प के बिना जो कुछ भी किया जाता है, उसका फल बहुत थोड़ा होता है तथा उस कार्य में होने वाले धर्म का आधा भाग नष्ट हो जाता है।'

लौकिक व्यवहार में भी देखा जाता है कि विवाह, दान आदि मंगल कार्यों को करने के लिए भी संकल्प-बद्ध होना पड़ता है। किसी भी राष्ट्र के शासनकर्तागण किसी भी अधिकार या पद को ग्रहण करने से पूर्व शपथ लेते हैं, वचनबद्ध होते हैं। अतः ब्रह्मचर्य-साधना का प्रारम्भ करने से पूर्व साधक को प्रतिज्ञाबद्ध या संकल्पबद्ध होना अनिवार्य है।

प्रतिज्ञाबद्ध हो जाने से साधक ब्रह्मचर्य-साधना में उपस्थित विघ्न-बाधाओं का निराकरण कर सकता है। जिसने संकल्पशक्ति का विकास कर लिया, समझ लो, उसने ब्रह्मचर्य-साधना पर पूर्ण अधिकार कर लिया। अपने मन, वचन, तन, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास आदि पर अपना नियन्त्रण वही पा सकता है, जिसने संकल्पशक्ति का विकास कर लिया। आध्यात्मिक साधना के क्षेत्र में संकल्पशक्ति सर्वोपरि है।

एक शिष्य ने अपने गुरु से पूछा—"गुरुदेव ! यह जो पर्वत की इतनी बड़ी शिला है; क्या उस पर भी किसी का शासन है ?"

गुरु ने कहा—"हाँ है, वह है लोहे का शासन ! जब इस पर हथौड़ी और छैनी चलती है, तब यह चूर-चूर हो जाती है।"

शिष्य—"क्या लोहे पर भी किसी का शासन है ?"

गुरु—"हाँ, लोहे पर अग्नि का शासन है। वह चाहे जैसे कठोर लोहे को पिघला सकती है।"

शिष्य—"क्या इतनी शक्तिशाली आग पर भी कोई शासन कर सकता है ?"

गुरु—"हाँ वत्स ! अग्नि पर पानी का शासन है।"

शिष्य—"और पानी पर किस का शासन है ?"

गुरु—'वत्स ! पानी पर हवा का शासन है।

शिष्य—"गुरुवर ! क्या वायु पर भी किसी का शासन है ?"

गुरु—हाँ है, वायु पर संकल्पशक्ति का शासन है। जिसकी संकल्प शक्ति सुदृढ़ होती है, वह वायु को भी वश में कर लेता है। सामान्यतया व्यक्ति एक मिनट में १५ से १७ तक श्वास लेता है, संकल्प शक्ति के आश्रय से दीर्घश्वास लेने के अभ्यास से व्यक्ति एक मिनिट में चार, दो या एक श्वास लेने लग जाता है। अर्थात्—संकल्प-शक्ति के जरिये वायु पर भी काबू पाया जा सकता है। संकल्पशक्ति के प्रयोग से श्वास को बाहर या भीतर रोका जा सकता है। ब्रह्मचर्य-साधना में भी संकल्पशक्ति के प्रभाव से वीर्य का अधोगमन रोक कर ऊर्ध्वगमन भी किया जा सकता है। वीर्य के ऊर्ध्वीकरण का सर्वोत्तम उपाय संकल्पबल ही है। ब्रह्मचर्य-साधना में आने वाली

विघ्न-बाधाओं, संकटों, अड़चनों आदि के समय व्रत पर टिकाये रखने वाला संकल्पबल ही है। संकल्पशक्ति, कल्पना को दृढ़निश्चय में बदल देती है, कल्पना को मूर्तरूप देने में प्रबल सहायक संकल्पशक्ति ही है।

अमेरिका के नौ-सैनिकों ने कुछ वर्षों पहले संकल्पशक्ति के कई प्रयोग किये थे। एक सैनिक इलेक्ट्रिक स्विच के सामने जाकर खड़ा हो गया। स्विच दबाने की जरूरत नहीं पड़ी। जैसे ही उससे संकल्प किया, स्विच ऑन हो गया। बिजली जगमगाने लगी। संकल्पशक्ति के सहारे से भारी भरकम लोहे की अलमारी कमरे के इस किनारे से उस किनारे तक पहुँच जाती है। इसका कारण यह है कि जिस दिशा में प्रबल संकल्प के परमाणु जाते हैं, वे सब आकाशमण्डल को प्रकम्पित कर देते हैं और संकल्पबलजनित प्रकम्पन इतना तीव्र हो जाता है कि कल्पना यथार्थ में बदल जाती है। हिप्नोटिज्म, मेस्मैरिज्म अथवा विचार सम्प्रेषण प्रयोग, या ऑटोसजेशन (स्वयं-सूचन) अथवा दूसरे के द्वारा प्रबल सुझाव आदि क्या हैं? ये सब संकल्पशक्ति के ही प्रयोग हैं। एक आसन पर बैठे-बैठे संकल्प को दोहराते रहने से बना हुआ तीव्र संकल्प, हजारों कोस दूर बैठे हुए मनोनीत व्यक्ति के पास पहुँच जाता है, और वह व्यक्ति, प्रेषित संकल्प के अनुसार कार्य करने लगता है। मतलब यह है कि संकल्प-शक्ति के द्वारा शब्द के साथ-साथ अर्थ घटित होता जाता है।

भारतीय मनीषियों ने कामनापूर्ति के तीन प्रतीक माने हैं—कल्पवृक्ष, कामधेनु और चिन्तामणि रत्न। आध्यात्मिक क्षेत्र में ब्रह्मचर्य के दृढ़तापूर्वक पालन की कामना को पूर्ण करने में सक्षम संकल्पशक्ति ही कामधेनु है, कल्पना को पूर्ण करने में समर्थ संकल्पबल ही कल्पवृक्ष है और मनश्चिन्तित कार्य को पूर्ण करने वाली संकल्पशक्ति ही चिन्तामणिरत्न है। सचमुच संकल्पशक्ति में सारे ब्रह्माण्ड को हिला देने की शक्ति है। जिस व्यक्ति की संकल्पशक्ति सुदृढ़ हो जाती है, वह दुनिया में अजेय बन जाता है। दृढ़ संकल्पशक्ति वाला व्यक्ति टूटते हुए पुलों पर से हंसते-हँसते गुजर जाता है। संकल्पशक्ति के द्वारा ऐसे परमाणुओं का संक्रमण होता है कि होने वाली दुर्घटना भी टल जाती है। ब्रह्मचर्य-साधना की सफलता में संकल्पशक्ति का बहुत बड़ा योगदान है।

कुछ लोग दीन-हीनभावना से इतने ग्रस्त होते हैं कि वे हर बात में दीनता, हीनता, असमर्थता एवं निराशा का अनुभव करते हैं। वे कोई भी अच्छा कार्य निराशा और शंका के वातावरण से प्रारम्भ करते हैं। उन्हें हर समय यह चिन्ता बनी रहती है कि कहीं संकट न आ पड़े, कहीं अमुक बीमारी घेर न ले, कहीं दिमाग पर बोझ न पड़ जाए, यात्रा में कहीं दुर्घटना न हो जाए। इस प्रकार भय, आशंका, वहम और निराशा से ग्रस्त होकर वे रोते-कलपते कार्य को शुरू करते हैं और जरा-सी विघ्न-बाधा या संकट आते ही उसे छोड़ बैठते हैं, निमित्त को कोसने लगते हैं।

यह सब संकल्पशक्ति, आत्मविश्वास एवं मन की प्रबलता के अभाव में होता है। ऐसे व्यक्ति का मन इतना दुर्बल हो जाता है कि चारों ओर से निराशा बरसने लगती है। इस प्रकार संकल्पशक्ति के अभाव में ब्रह्मचर्य की साधना तो बहुत दूर, साधारण-सा कार्य भी सफल नहीं हो पाता। संकल्पबलहीन व्यक्ति सुबह किसी कार्य का संकल्प करता है, सांझ होते-होते वह टूट जाता है। बल्कि कई बार तो एक घंटे बाद ही या दूसरा विचार आते ही संकल्प बदल जाता है।

एक दुर्बलमना व्यक्ति को दूसरे ने गाली दी, वह उस समय तो सहन कर गया, किन्तु मन ही मन चुपचाप कुढ़ता रहा। दस मिनट बाद ही किसी ने उसे कहा—"क्या तुम मिट्टी के माधो हो? उसने इतनी गाली दी और तुम सुनते रहे! क्या तुम्हारे जीभ नहीं थी?" इतना सुनते ही उसका विचार बदला। सोचा—"मैं मिट्टी का माधो थोड़े ही हूँ, जिसे जो कुछ मन में आए, मुझे बके और मैं सुनता रहूँ। सहने और क्षमा करने की भी कोई हद होती है। मेरा गौरव इसी में है कि मैं उसे एक के बदले दस बातें सुनाऊँ। तभी तो लोग मुझे लौहपुरुष कहेंगे।" बस, इन्हीं विचारों ने उसे संकल्प से विचलित कर दिया।

ब्रह्मचर्य-साधना का या किसी बात का संकल्प टूटने के मुख्यतया तीन कारण एक आचार्य ने बताये हैं—

"अनिरुद्धाक्षसन्तानाः, अजितोग्रपरीषहाः।
अव्यक्तचित्तचापल्याः, प्रस्खलन्त्यात्मनिश्चये॥"

"१. जिस व्यक्ति ने इन्द्रिय-विषयों का निरोध नहीं किया, २. जिसने उग्र-परीषहों (कठिनाइयों) पर विजय पाने या सामना करने की क्षमता प्राप्त नहीं की और ३. अव्यक्तरूप से जिसके चित्त में चंचलता बनी रहती है, वह व्यक्ति अपने संकल्प (निर्णय या निश्चय) से डिग (स्खलित हो) जाता है।"

इन्द्रियों की अनियन्त्रित वृत्ति—ब्रह्मचर्य-साधना का संकल्प टूटने का यह प्रथम कारण है। मानव जब इन्द्रियों का गुलाम बन जाता है, तब अनेक अनिष्ट या अकृत्य कर बैठता है। वह उस समय अपने इन्द्रिय-विषयों के वशीभूत होकर बिलकुल आगा-पीछा नहीं सोचता। जब इन्द्रियों पर नियन्त्रण नहीं होता तो हजार बार निश्चय कर लेने पर भी संकल्प टूट जाता है; मनुष्य अपने संकल्प पर दृढ़ नहीं रह पाता।

उत्तराध्ययन सूत्र में एक रसेन्द्रियलोलुप राजा का कथानक अंकित है। वह एक बार बहुत बीमार हो गया। एक वैद्य की दीर्घकाल तक चिकित्सा से वह स्वस्थ हो गया। वैद्य ने विदा होते समय राजा को यह हिदायत दी कि "राजन्! अब आपका रोग ठीक हो गया है। अब भविष्य में आम कभी भूलकर भी मत खाना।

अगर आम खा लिया तो आपको तत्काल बीमारी घेर लेगी। फिर उसकी चिकित्सा नहीं हो सकेगी।"

राजा ने कहा—"ठीक है। अब आम नहीं खाएँगे!"

एक बार राजा सैर करने निकला। रास्ते में अपना आम का बगीचा देखा तो राजा ने एक आम के पेड़ के नीचे विश्राम लिया। वह वृक्ष आमों से लदा हुआ था। आम की मधुर सुगन्ध आते ही राजा का मन ललचाया। हवा चली और सहसा एक पका आम राजा की गोद में आ गिरा। राजा ने उसे उठाया और सूँघने लगा। मन्त्री से बोला—"कितना सुन्दर और मधुर आम है!" मन्त्री ने कहा—"महाराज! वैद्य की दी हुई हिदायत को याद करिये। आपको आम खाना तो दूर रहा, सूँघने की भी मना की है।" राजा ने कहा—"वैद्य तो बावले होते हैं। एक आम के सूँघ लेने से, तथा थोड़ा-सा हिस्सा खा लेने से क्या गजब हो जाएगा?" यों कहकर राजा चट से आम को चूसने लगा। मन्त्री ने बहुत रोका, पर राजा आम के रस में मुग्ध हो गया था। परिणाम जो होना था, वही हुआ। राजा ने वहीं पर दम तोड़ दिया।

इसी प्रकार ब्रह्मचर्य-साधना में भी जो इन्द्रियों का दास होता है, वह अपने संकल्प पर दृढ़ नहीं रह सकता।

(२) **कठिनाइयों को झेलने की अक्षमता**—संकल्प टूटने का यह दूसरा प्रबल कारण है। यह सोचना भ्रम है कि इस दुनिया में कोई किसी प्रकार की साधना करे और उसे कष्ट या मुसीबत न झेलना पड़े, उस पर संकट न आए, उसे कठिनाइयों से न गुजरना पड़े। स्वयं तीर्थंकर भगवान् भी इस संसार में आकर साधना करते हैं, उत्कृष्ट से उत्कृष्ट रूप से धर्म का पालन करते हैं, फिर भी उन्हें अनेक परीषहों, उपसर्गों, कष्टों और संकटों से गुजरना होता है। तभी तो उनकी साधना परिपक्व होती है। कई लोग यह कहते हैं, ब्रह्मचर्य एक उत्तम धर्म है, तीर्थंकर, सिद्ध (मुक्त) आदि देवाधिदेव हैं और पंचमहाव्रती त्यागी साधु धर्मगुरु हैं। हम ब्रह्मचर्यरूप उत्तम धर्म की साधना करते हैं। हम तीर्थंकरों, सिद्धों या अमुक देव-देवियों की उपासना-पूजा करते हैं और अमुक त्यागी गुरुओं के अनुयायी हैं। इसलिए हम पर कोई मुसीबत, संकट या कठिनाई नहीं आएगी, न ही हमारी साधना में कोई विघ्न-बाधा आएगी। अगर कोई विघ्न-बाधा या मुसीबत आएगी तो भी हमारे देव, गुरु और धर्म हमारी रक्षा करेंगे। यह एक जबर्दस्त भ्रान्ति है, जिसका परिणाम प्रायः नास्तिकता में आता है। मनुष्य पहले इस प्रकार की भ्रान्ति को स्वयं पालता है, और जब साधना करते समय कठिनाइयाँ आती हैं, विघ्न-बाधाएँ उपस्थित होती हैं, वह अपने देव, गुरु और धर्म का जप या स्मरण करता है, फिर भी वे कठिनाइयाँ और विघ्न-बाधाएँ नहीं टलतीं, तब उसका विश्वास हिल जाता है। वह स्वीकृत देव, गुरु

और धर्म को कोसने और झूठा बताने लगता है। इसलिए ब्रह्मचर्य आदि धर्म की साधना करने वालों को ऐसी भ्रान्तियाँ नहीं पालनी चाहिए। अगर देव, गुरु या धर्म ही हर समय कठिनाइयों से साधक की रक्षा करते तो फिर शास्त्रों में परीषह एवं उपसर्गों को, साधना में आने वाली विघ्न-बाधाओं एवं कष्टों को समभाव से सहन करने की बात ही न कही जाती। भगवान् पार्श्वनाथ और भगवान् महावीर जैसे उच्चकोटि के धर्मसाधक तीर्थंकरों पर कोई उपसर्ग, परीषह या संकट व कष्ट नहीं आते, और अगर आते भी तो उनसे तत्काल उनकी रक्षा देव या इन्द्र करते। सचाई यह है कि विश्व में कोई भी व्यक्ति, चाहे वह किसी भी धर्म का उच्चकोटि का साधक हो, किसी भी महाशक्ति या देव-देवी का उपासक हो, या कितने ही उच्चकोटि के धर्मगुरुओं का अनुयायी हो, वह साधना में आने वाले उतार-चढ़ाव, आरोह-अवरोह या अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियों से बच नहीं सकता।

प्रश्न होता है कि फिर उसके देव, गुरु और धर्म की शरण में जाने का क्या लाभ हुआ? इसका समाधान यह है कि देव, गुरु और धर्म का कार्य यह नहीं है कि उनको मानने और उनके आदेशानुसार चलने वाले पर कोई कठिनाई, मुसीबत या विघ्न-बाधा न आए। वह साधना ही क्या जिसमें परीषह, कष्ट, विघ्न-बाधा या संकट न आएँ! तथ्य यह है कि देव, गुरु और धर्म व्यक्ति को उन परीषहों, कष्टों, संकटों और विघ्न-बाधाओं को समभावपूर्वक झेलने की प्रेरणा देते हैं, समभावपूर्वक सहने में सक्षम बनाते हैं, उसे उक्त प्रतिकूल परिस्थिति का समभावपूर्वक संवेदन करने में समर्थ बना देते हैं। कष्टों और विघ्न-बाधाओं का आना एक बात है और उनको बहुत अधिक महसूस—संवेदन करना और बात है। एक है—संकटयुक्त प्रतिकूल घटना और दूसरा है—उस घटना का संवेदन या भोगना। घटना को कथमपि टाला नहीं जा सकता, किन्तु उस पर संवेदन करना—भोगना टाला जा सकता है। जिस व्यक्ति में देव, गुरु और धर्म की चेतना जाग्रत हो जाती है, वह घटना को जान लेता है, लेकिन अनुकूल-प्रतिकूल रूप में संवेदन नहीं करता—भोगता नहीं, तटस्थ द्रष्टा बनकर देखता रहता है। ब्रह्मचर्य आदि धर्म की साधना करने वालों को धर्म, देव या गुरु के द्वारा यह स्थिति उपलब्ध हो सकती है कि वह घटना को तटस्थभाव से देखे, उसमें राग-द्वेषयुक्त होकर लिप्त न हो, उसे भोगे नहीं। उसमें सभी प्रकार के संकटों, कष्टों, विघ्न-बाधाओं और कठिनाइयों अथवा प्रतिकूल परिस्थितियों को समभावपूर्वक सहने और उस समय अपनी धर्म-(ब्रह्मचर्य)-साधना पर डटे रहने की क्षमता प्राप्त हो जाए। जिस व्यक्ति में धर्म-चेतना जागृत नहीं होती वह ब्रह्मचर्यसाधना में कष्टों, कठिनाइयों या विघ्न-बाधाओं के आने पर उनके सामने झुक जाता है, साधना को छोड़ बैठता है या शिथिलता ले आता है, अथवा हीनभावना से ग्रस्त हो जाता है। यही संकल्पशक्ति के टूटने के लक्षण हैं।

(३) **चित्त की चंचलता**—ब्रह्मचर्य-साधना के संकल्प के टूटने का यह तीसरा

कारण है। जिसका चित्त चंचल होगा, वह इन्द्रिय-विषयों और मन पर विजय या संयम नहीं कर सकेगा। चित्त की चंचलता साधक को ब्रह्मचर्य-साधना पर टिकने नहीं देगी, उसकी श्रद्धा, निष्ठा, रुचि या धीरता डगमगा जाएगी। ब्रह्मचर्य-साधना का उसका संकल्प टूट जाएगा, वह शंका, कांक्षा, विचिकित्सा आदि से घिर जाएगा और सम्भव है, अब्रह्मचर्यपरायण, भोगवादी लोगों की जमात में घुल-मिलकर वह अपनी ब्रह्मचर्य-साधना को तिलांजलि दे दे। ऐसा चंचलचित्त व्यक्ति मानसिक चंचलतावश अब्रह्मचर्य के—कामवासना के प्रवाह में बह सकता है। अतः ब्रह्मचर्य-साधक को अपना चित्त चंचल नहीं होने देना चाहिए, उसे ब्रह्मचर्य-साधना में अपना चित्त एकाग्र करना चाहिए, ताकि चित्त में समय-समय पर उठने वाले विकल्प उसे अपने संकल्प या निष्ठा से भटका न सकें, विचलित न कर सकें।

फलितार्थ यह है कि ब्रह्मचर्य-साधक को अपने संकल्प पर अडिग रहने के लिए तीन बातें अपनानी आवश्यक हैं—(१) इन्द्रियमनोविजय, (२) कष्ट सहने की क्षमता, और (३) चित्त की एकाग्रता।

प्रश्न होता है कि इन तीनों को कैसे प्राप्त किया जा सकता है? इसका सही समाधान यही है कि संकल्पशक्ति को दृढ़ से दृढ़तर बनाया जाए। संकल्पशक्ति की दृढ़ता के लिए साधक में कायोत्सर्गभाव, अनुप्रेक्षा, भावना, शुभ ध्यान और मन-वचन-काय की एकता का अभ्यास होना आवश्यक है। निष्कर्ष यह है कि संकल्प-शक्ति होने पर विश्व की कोई भी शक्ति ब्रह्मचर्य-साधक को साधना से एक इंच भी नहीं डिगा सकती।

ब्रह्मचर्य-भावना से भावित होना आवश्यक

ब्रह्मचर्य साधना में संकल्प की सुदृढ़ता और स्थिरता के लिए आत्मा को ब्रह्मचर्य-भावना से भावित करना आवश्यक है। जो व्यक्ति ब्रह्मचर्य की भावना से भावित नहीं होता, वह ब्रह्मचर्य-साधना में सफल नहीं हो सकता। जैन-आगमों में यत्र-तत्र 'भावितात्मा' या 'तप और संयम से आत्मा को भावित करते हुए' आदि शब्दों का प्रयोग किया गया है। 'भावितात्मा' के बदले मनोविज्ञान का शब्द है—इच्छाशक्ति से सम्पन्न। जो भावितात्मा नहीं होता, जिसने अपनी आत्मा को अमुक धर्म (ब्रह्मचर्य आदि) की भावना से भावित नहीं किया, वह उक्त साधना नहीं कर सकता। स्पष्ट शब्दों में कहें तो जो साधक ब्रह्मचर्य की भावना से भावित नहीं होता, एकाग्र न होने के कारण बीच-बीच में उसके चित्त में अब्रह्मचर्य के विकल्प या अन्यान्य सांसारिक विकल्प उठते रहेंगे। ब्रह्मचर्य-भावना एक ओर धरी रह जाएगी, उसका मन अन्यान्य विकल्पों की यात्रा करने लग जाएगा। अतः ब्रह्मचर्यनिष्ठा परिपक्व करने हेतु मन को ब्रह्मचर्य-भावना से भावित करना आवश्यक है। कहावत है—**'यादृशी भावना यस्य, सिद्धिर्भवति तादृशी'** 'जिसकी जैसी भावना होती है, उसकी

बुद्धि भी वैसी ही बन जाती है।' अर्थात्—व्यक्ति जिस प्रकार की भावना से अपने-आपको भावित करता है, वह वैसा ही बन जाता है। इस दृष्टि से देखा जाए तो मन अच्छे विचारों से भी भावित किया जा सकता है, बुरे विचारों से भी।

प्रत्येक व्यक्ति, विचार या पदार्थ भावित हो सकता है। भावित होने पर रासायनिक परिवर्तन होता है। जल को जब सूर्य की किरणों से भावित करने के लिए रंगीन बोतलों में रखा जाता है, तब उसके गुणधर्म बदल जाते हैं। उसकी शक्ति या क्षमता बदल जाती है। अतः जब व्यक्ति ब्रह्मचर्य की भावना से अपने आपको या अपने मन को भावित करना सीख लेता है, तब अभ्यास परिपक्व हो जाने पर संकल्पशक्ति विकसित एवं सुदृढ़ हो जाती है, उस साधक का सारा चैतन्य ब्रह्मचर्य-भावना से झंकृत हो उठता है, ब्रह्मचर्य-साधना के आनन्द की लहरें उसके समस्त तन-मन को आप्लावित कर देती हैं। ऐसी स्थिति में प्रतिकूल विचार और विकल्प के परमाणु ब्रह्मचर्य-साधक के मस्तिष्क के आस-पास मंडराते अवश्य हैं, किन्तु उसकी आत्मा और मन ब्रह्मचर्य भावना से भावित है, उसकी संकल्पशक्ति विकसित है, इसलिए वे परमाणु भीतर प्रविष्ट नहीं हो पाते।

ब्रह्मचर्य साधना की आधारशिला : षट्सूत्री

ब्रह्मचर्य-साधना की पृष्ठभूमि के रूप में हम शास्त्रीय षट्सूत्री प्रस्तुत करते हैं। यद्यपि उपासकदशांग आदि सूत्रों में निर्ग्रन्थ प्रवचन के सन्दर्भ में भ० महावीर की सेवा में उपस्थित और उनके निर्ग्रन्थ प्रवचन से प्रभावित श्रमणोपासकों द्वारा यह षट्सूत्री प्रस्तुत्त की गई है, तथापि ब्रह्मचर्य-साधना के सन्दर्भ में भी हम इसे प्रयुक्त कर सकते हैं। इसे हम ब्रह्मचर्य-साधना की आधारशिला कह सकते हैं। वह षट्सूत्री इस प्रकार है—

(१) श्रद्धा,
(२) प्रतीति,
(३) रुचि,
(४) स्पर्शना,
(५) पालना और
(६) अनुपालना।

इसका तात्पर्य यह है कि ब्रह्मचर्य-साधक की साधना तभी सुदृढ़ रूप से और सम्यक् रूप से हो सकती है, जब ये ६ बातें उसके जीवन में उतर जाएं।

(१) **श्रद्धा**—श्रद्धा ब्रह्मचर्य-साधक के जीवन का प्रथम तत्त्व है। श्रद्धा का अर्थ है—प्राप्त सत्य को धारण करने की तीव्र उत्कण्ठा अथवा सत्य के प्रति तीव्रतम आकर्षण। ब्रह्मचर्य-साधना में श्रद्धा के बल पर ही गति-प्रगति हो सकती है। यदि

ब्रह्मचर्य के प्रति कोई श्रद्धा नहीं है, कोई आकर्षण या उत्कण्ठा नहीं है, कोई विश्वास नहीं है तो चाहे ऐसा व्यक्ति बुद्धिजीवी होने से ब्रह्मचर्य की व्याख्या और गूढ़ विश्लेषण-विवेचन कर सकता हो, चाहे वह उस पर लेख लिख सकता हो या धुँआधार एवं जोशीला प्रवचन दे सकता हो, परन्तु जो वस्तु श्रद्धा के द्वारा ब्रह्मचर्य-साधक में घटित हो सकती है वह श्रद्धा के बिना केवल व्याख्या, लेख या प्रवचन से घटित नहीं हो सकती।

पानी तरल होता है पर जब वह जम जाता है, तब सघन (ठोस) हो जाता है, बर्फ बन जाता है; इसी तरह मनुष्य का कोरा चिन्तन या प्रवचनादि तरल जल है, चिन्तन या प्रवचनादि का जल जब मन-मस्तिष्क में ठोस रूप में जम जाता है, तब वह विश्वास बनता है, श्रद्धा बनती है। तरल जल में कोई चीज गिरती है तो वह उस जल को गंदा—गंदला बना देती है, जबकि ठोस रूप से जमे हुए बर्फ पर कोई चीज गिरती है तो वह फिसल कर नीचे लुढ़क जाती है, उसमें घुलती-मिलती नहीं। इसी प्रकार जब साधक के ब्रह्मचर्य के चिन्तन-प्रवचनादि, श्रद्धा में परिवर्तित हो जाते हैं, या उसके चिन्तन या प्रवचन आदि विश्वास में बदल जाते हैं, तब वह इतना घनीभूत (ठोस) हो जाता है, उस पर बाहर के गलत विचारों या अपसिद्धान्तों का प्रभाव कम से कम होता है। अर्थात्—ब्रह्मचर्य-साधक के मन-मस्तिष्क में अब्रह्मचर्य या कामाचार के विचारों के प्रभाव को प्रविष्ट होने का अवकाश नहीं मिलता।

(२) **प्रतीति**—श्रद्धा के आगे का चरण प्रतीति है। ब्रह्मचर्य-साधना पर तो साधक की श्रद्धा हो गई कि यह स्वपर-कल्याणकारी है, मोक्षप्रदाता है, परन्तु अगर उसे प्रतीति नहीं है तो यह श्रद्धा आगे चल कर डगमगा जाएगी।

ब्रह्मचर्य-साधना के प्रति प्रतीति का अर्थ है—इस ब्रह्मचर्य से मुझे ही नहीं, अनेक साधकों को लाभ हुआ है, वे इसके ऐहिक-पारलौकिक लाभ से लाभान्वित हुए हैं। रोगी की वैद्य या दवा के प्रति श्रद्धा हो, लेकिन यह प्रतीति न हो कि इस वैद्य से या इसकी दवा से मेरे जैसे अन्य रोगियों को फायदा हुआ है, तो वह दवाई पर श्रद्धा तो कर लेगा, परन्तु प्रतीति न होने से सेवन नहीं करेगा। यही बात ब्रह्मचर्य-साधना के विषय में समझ लेनी चाहिए। प्रतीति को खातरी या सर्वांगीण विश्वास कह सकते हैं।

(३) **रुचि**—ब्रह्मचर्य-साधना के प्रति साधक की श्रद्धा और प्रतीति हो, किन्तु साधना अत्यन्त कठोरतम होने के कारण उसके प्रति रुचि नहीं होगी। जैसे—किसी वैद्य की दवा के प्रति रोगी की श्रद्धा और प्रतीति तो है, किन्तु दवा अत्यन्त कड़वी और अरुचिकर होने के कारण उसे पीने में उसकी रुचि नहीं होती, वह अरुचि के कारण प्रायः उस दवा को फेंक देता है। इसी प्रकार ब्रह्मचर्य-साधना के प्रति अरुचि होने से साधक उसका सेवन या प्रारम्भ या तो करेगा ही नहीं, करेगा तो भी बिना

मन से, बिना दिलचस्पी के करेगा, अथवा विघ्न-बाधाएँ या संकट आते ही वह ब्रह्मचर्य साधना को छोड़ देगा। अरुचि से किये जाने वाले किसी भी कार्य में प्रायः सफलता नहीं मिलती। ब्रह्मचर्य की साधना भी अरुचिपूर्वक करने पर उसका आधा आकर्षण तो तुरन्त समाप्त हो जाएगा, शेष आकर्षण भी साधना की कठोरता को रह-रहकर याद करने पर समाप्त हो जाना सम्भव है। इसलिए ब्रह्मचर्य-साधना में रुचि होनी अत्यावश्यक है। रुचि होने पर व्यक्ति साधना में कितनी ही कठोरता, असुविधा, या विघ्न-बाधा हो, उन्हें प्रसन्नतापूर्वक पार कर लेगा। उनका प्रभाव ब्रह्मचर्य-साधना में रुचि वाले साधक पर नहीं होगा।

(४) **स्पर्शना**—रुचि होने पर भी कई बार व्यक्ति उस कार्य की विधि न जानने कारण या रुग्णता, समयाभाव, व्यस्तता या अन्य कार्यभार के कारण प्रारम्भ नहीं करता या नहीं कर पाता। किसी रोगी की दवाई पर श्रद्धा, प्रतीति और रुचि तो है, किन्तु वह दवा लेने की विधि से अनभिज्ञ है। वैद्य ने उसे बताया था कि शीशी को हिला कर दवा पी लेना, किन्तु भोला रोगी इसका रहस्य नहीं समझा उसने शीशी हिलाई, तो दवा के गाढ़े अंश को जो कि दवा का असली सारभूत अंश था, उसे कूडाकचरा समझ कर फेंक दिया, और जो पानी का अंश था, उसे पी गया। उसे पीने से उसे फायदा नहीं हुआ, रोग मिटा नहीं। उसने अपने वैद्य से शिकायत की। वैद्य ने उसे पूछा, तब रोग न मिटने का रहस्य उसे समझ में आया। मतलब यह कि उस रोगी ने वास्तविक दवा का स्पर्श (सेवन) नहीं किया, केवल पानी का ही स्पर्श किया, ऐसी स्थिति में उसका रोग कैसे मिट सकता था ?

एक रोगी को डाक्टर ने नुस्खा (प्रेस्क्रिप्सन) कागज पर लिखकर दिया और हिदायत दी कि इसे सेवन कर लेना। बेचारा अनभिज्ञ रोगी डाक्टर का अभिप्राय समझा नहीं, उसने कागज पर लिखी हुई दवा तो बाजार से खरीदकर सेवन नहीं की, केवल नुस्खा लिखे हुए उस कागज को ही घोंटकर पी गया। भला, ऐसे रोगी का रोग कैसे मिट सकता था। इसी प्रकार जो साधक ब्रह्मचर्य साधना की विधि, उसकी साधना के साधन, उपाय आदि को तो नहीं जानता, बंधे हुए घोड़े की तरह केवल शरीर से अब्रह्मचर्य का सेवन सरकार, समाज या परिवार के भय से नहीं करता, किन्तु मन, बुद्धि या वाणी से ब्रह्मचर्य का सेवन नहीं करता। साधना की यथार्थ विधि नहीं जानता। ऐसा साधक ब्रह्मचर्य-साधना में रुचि होने पर भी यथार्थ रूप से ब्रह्मचर्य का स्पर्श (सेवन) नहीं कर पाता। ऐसी स्थिति में उसके भवभ्रमण का रोग कैसे मिट सकेगा ?

जो ब्रह्मचर्य-साधक इतना जानता है कि ब्रह्मचर्य-साधना की बहुत बड़ी महिमा है, वह आध्यात्मिक साधना के लिए अनिवार्य है, उससे इहलौकिक-पारलौकिक या लौकिक-लोकोत्तर अनेकों लाभ हैं, उसकी उपलब्धियाँ भी बहुत हैं, प्रभाव भी देवों, दानवों, मानवों और तिर्यंच जीवों पर ही नहीं, प्रकृति पर भी पड़ता है। इतना जानते

भी यदि वह ब्रह्मचर्य-साधना की विधि या स्वरूप को भलीभांति नहीं जानता तो ऐसा साधक ब्रह्मचर्य-साधना में सफल नहीं हो सकता। वह ब्रह्मचर्य के बदले अब्रह्मचर्य को भी भ्रान्तिवश अपना सकता है। ब्रह्मचर्य के ध्येय या उद्देश्य से अनभिज्ञ होने के कारण या केवल जननेन्द्रिय-संयम को ही ब्रह्मचर्य मानकर वह लौकिक लाभ की दृष्टि से ही अपूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करेगा अथवा अपूर्ण ब्रह्मचर्य को ही पूर्ण ब्रह्मचर्य मान बैठेगा। अथवा केवल कायिक ब्रह्मचर्य को ही पूर्ण ब्रह्मचर्य मान कर पूर्ण ब्रह्मचर्य की साधना में असफल होगा।

कर्मभूमिक युग की आदि में नये समाज का निर्माण होने जा रहा था। भगवान ऋषभदेव यौगलिक जनता के नेता एवं मार्गदर्शक थे। ऋषभदेव ने उन्हें खेती करना सिखाया और कहा कि "इससे अनाज पैदा करके उससे पेट भरो।" भोले यौगलिकों ने ऋषभदेव के पास आकर कहा—"हमने खेती की और अन्न उत्पन्न किया। उत्पन्न हुए अन्न को हम खाने लगे, किन्तु उससे पेट में दर्द होता है, अतः क्या करें?" ऋषभदेव ने कहा—"अनाज यों कच्चा नहीं खाया जाता, उसे आग में पका कर खाओ। अग्नि जलाना सीख लो।" यौगलिक घर आये। उन्होंने आग जलाई और उसमें अनाज डाल दिया। थोड़ी देर में अनाज जलकर राख हो गया। यौगलिक पशोपेश में पड़े कि अब क्या किया जाए? सारा अनाज तो आग खा गई, हम क्या खाएँ? वे पुनः ऋषभदेव के पास आकर समस्या का समाधान माँगने लगे।" भगवान् ऋषभदेव ने उन्हें आग में अन्न पकाने की विधि बताई।

तात्पर्य यह है कि अन्न आग में पकता है, इतना जान लेने मात्र से समस्या हल नहीं हुई। अग्नि में अनाज कैसे, किस विधि से पकता है? यह जानना भी आवश्यक होता है। जब तक उसकी पूरी विधि नहीं समझी, तब तक अधूरा या अधकचरा ज्ञान काम नहीं दे सकता, न ही उससे सफलता मिल सकती है। इसी प्रकार ब्रह्मचर्य की साधना से यह फल मिलता है, उसका प्रभाव सर्वव्यापी है, उससे यह या वह सिद्धि मिलती है, इतना जान लेना ही पर्याप्त नहीं होता। ब्रह्मचर्य की साधना किस विधि से, कैसे, किस उद्देश्य से, किसके द्वारा, किस प्रकार से की जाए, जिससे सिद्धि या सफलता मिले, सर्वव्यापी प्रभाव पड़े या अमुक फल मिले—इसे जानना अनिवार्य है। इस विधि के अभाव में अगर ब्रह्मचर्य की साधना प्रारम्भ कर दी जाएगी तो विधि की अनभिज्ञता के कारण या तो बीच में ही छोड़ दी जाएगी या फिर बिना रुचि के बेगार की तरह साधना की जाएगी, उसमें सिद्धि या सफलता नहीं मिल सकेगी। अतः ब्रह्मचर्य-साधना में विधि आदि जानकारी के साथ **'स्पर्शना'** का होना अनिवार्य है। उसके बिना साधना में तेजस्विता नहीं आएगी।

(५) **पालना**—कदाचित् ब्रह्मचर्य की विधि आदि के ज्ञानपूर्वक स्पर्शना भी हो जाए, किन्तु ऐसा साधक ब्रह्मचर्य के बाधक कारणों या ब्रह्मचर्य भंग करने वाले तत्त्वों से ब्रह्मचर्य की सुरक्षा न करे, अथवा ब्रह्मचर्य-विघातक बातों से परहेज न करे।

एक ओर ब्रह्मचर्य की साधना में प्रवृत्त हो, किन्तु दूसरी ओर से ब्रह्मचर्य का नाश करने वाले मैथुन के पूर्वोक्त आठ अंगों से या दुर्विषय भोगों से अपने आपको न बचाए तो वह ब्रह्मचर्य-साधना में सफल नहीं हो सकता। ब्रह्मचर्य-साधना में सफलता या सिद्धि के लिए स्पर्शना के साथ-साथ 'पालना' (सुरक्षा) भी आवश्यक है। एक रोगी दवाई का सेवन तो श्रद्धा, प्रतीति एवं रुचि के साथ विधिपूर्वक करता है, लेकिन पथ्य-पालन नहीं करता। वैद्य ने उसे तेल, गुड़, खटाई आदि खाने से या अमुक वातवर्द्धक, पित्तवर्द्धक या कफवर्द्धक चीजों से परहेज रखने का कहा, किन्तु वह पथ्य-परहेज बिलकुल नहीं रखता। ऐसी स्थिति में दवा सेवन करने पर भी रोग मिटाने में उसे सफलता नहीं मिलेगी। यही बात ब्रह्मचर्य-साधना में पथ्यपालन की अनिवार्यता के विषय में समझ लेनी चाहिए।

(६) **अनुपालना**—जैसे वैद्य रोगी को पथ्य के साथ-साथ परपथ्य भी बताता है कि तुम्हें खुली या ठण्डी हवा में नहीं घूमना है, अमुक खराब वातावरण में नहीं रहना है, अमुक जलवायु वाले स्थान में नहीं रहना है, अन्यथा, दवा से कोई लाभ नहीं होगा। इसी प्रकार ब्रह्मचर्य-साधना में सफलता या सिद्धि के लिए अनुभवी महापुरुषों ने नौ बाड़ें स्थानसंयम, चक्षुसंयम, बस्तिसंयम, आदि के रूप में, ब्रह्मचर्य-रक्षा के लिए बताई हैं,। वैसे सामान्य साधकों के लिए वेश्याओं के मोहल्ले में गमन, रात्रि में भ्रमण, अश्लील नाटक-चलचित्र आदि के निरीक्षण अथवा अकेली स्त्री के साथ एकान्त में वार्तालाप आदि पथ्यों को पालना (अनुपालना करना) आवश्यक बताया है। अनुपालना का अर्थ है—ब्रह्मचर्य-साधना के अनुकूल पथ्यपालन। वैद्य लोग कई रोगियों को अनुपान भी औषध के अनुरूप बताते हैं। इसी प्रकार तीर्थंकरों ने ब्रह्मचर्य के अनुरूप कुछ अनुपान (ब्रह्मचर्य महाव्रत की पाँच भावनाएँ, दशविध ब्रह्मचर्य-पालन आदि) भी बताये हैं। उनका पालन करना भी अनुपालना है। वस्तुतः पालना की तरह अनुपालना भी ब्रह्मचर्य की सफलता का महत्वपूर्ण अंग है।

अनुपालना का एक अर्थ और है—आत्मा के अनुकूल पालन करना, अर्थात्—विधिपूर्वक पालन करना। ब्रह्मचर्य-साधना में भी आत्मा के प्रतिकूल अथवा ध्येय के प्रतिकूल कई बातें हैं। अगर ब्रह्मचर्य-साधक की संकल्पशक्ति अच्छी है, भावना भी ऊँची है, ध्येय भी विशाल है, भौतिक उपलब्धि की या प्रसिद्धि की कोई कामना, या लिप्सा नहीं है, केवल आत्म-जागरण की या आत्मशक्तियों को जगाने की ही भावना है। इतना होने पर भी कई साधक ब्रह्मचर्य-साधना द्वारा आत्मजागरण या आत्मोपलब्धि की विधि नहीं जानते, वे ब्रह्मचर्य-साधना द्वारा केवल शरीरशक्ति की वृद्धि में या भौतिक उपलब्धि में ही लगे रहते हैं, ऐसे लोग भी ब्रह्मचर्य-साधना के साथ अनुपालना के अभाव में सिद्धि या सफलता से दूर रहते हैं। अविधिपूर्वक किये गये ब्रह्मचर्य-पालन से भी यथेष्ट उपलब्धि या सफलता नहीं मिलती।

आचार्य पादलिप्त मंत्र-तंत्र द्वारा नहीं, किन्तु पैरों पर एक प्रकार का रासायनिक लेप लगाकर आकाश में उड़कर सुदूर यात्रा करके लौटते थे। उस समय के एक प्रसिद्ध रसायनशास्त्री नागार्जुन ने जब यह जाना तो आकाश में उड्डयन की प्रशिक्षा लेने हेतु वे पादलिप्ताचार्य के शिष्य बन गये। अब जब भी आचार्य आकाश मार्ग से उड़कर पृथ्वी पर आते तब नागार्जुन उनके चरण धोते और चरण पर लगाये हुए लेप के द्रव्यों को जानने के लिए उन द्रव्यों को सूंघते या चखते। नागार्जुन ने धीरे-धीरे सभी लेपीय पदार्थों को जानकर स्वयं लेप तैयार किया, किन्तु जब वे लेप लगाकर आकाश में उड़ते तो मुर्गे की तरह उछलते और कुछ दूर उड़कर जमीन पर वापस आते। आकाश-उड्डयन में सफलता न देख नागार्जुन ने आचार्य पादलिप्त से अनुनय-विनयपूर्वक उसका रहस्य बताने की प्रार्थना की। आचार्य भी नागार्जुन की गतिविधि को जान गये थे, अतः उसकी सुपात्रता देखकर आचार्य ने कहा—"इस लेप के निर्माण में एक विधि तुम भूल गए। तुमने इन लेप्य द्रव्यों के साथ चावल का मांड नहीं मिलाया, यह कमी रह गई।" नागार्जुन ने अब विधिपूर्वक लेप तैयार किया और उसके माध्यम से आकाश में सुदूर यात्रा करने में सफल हुए।

निष्कर्ष यह है कि जब तक विधि का ज्ञान नहीं होता, तब तक साधक ब्रह्मचर्य-साधना के द्वारा भी आध्यात्मिक आकाश में ऊँची उड़ान नहीं भर सकता। विधि के अनुरूप ब्रह्मचर्य के पालन को यहाँ 'अनुपालना' के अर्थ में लेना चाहिए।

कोई व्यक्ति ब्रह्मचर्य-साधना के लिए केवल कुँआरा रहता है, विवाह नहीं करता, इतने मात्र से उसकी ब्रह्मचर्य-साधना सफल नहीं हो सकती। कुँआरा रहते हुए वह केवल शरीर से ही, या विवाह न हो पाने के कारण लाचारी से ही ब्रह्मचर्य पालन करता है, मन में कामवासना के, या स्त्रियों को पाने के मनसूबे बाँधता रहता है, अथवा न तो वह ब्रह्मचर्यपालन में बाधक कारणों से बचता है, और न ही साधक कारणों को अपनाता है, तो उसकी ब्रह्मचर्य-साधना विधिवत् नहीं है; अविधिपूर्वक की गई तथाकथित व्यक्ति की ब्रह्मचर्य-साधना, न तो तेजस्वी होती है, न ही सफल। जिस प्रकार तलवार को उलटे रूप से पकड़ने पर वह शत्रु का नाश करने के बदले स्वयं का नाश कर सकती है, उसी प्रकार ब्रह्मचर्यरूप धर्म का भी अविधिपूर्वक पालन करने से कई बार वह आत्मवंचना या परवंचना का कारण भी हो सकता है। अविधिपूर्वक पालन किया गया ब्रह्मचर्य कई बार साधक को ले डूबता है। ब्रह्मचर्य के प्रति दृढ़निष्ठा, श्रद्धा, प्रतीति, रुचि आदि न होने के कारण कई ब्रह्मचर्य-साधक वर्षों की साधना को एक दिन में चौपट कर देते हैं।

अतः ब्रह्मचर्य-साधना को सुदृढ़ बनाने के लिए पूर्वोक्त षट्सूत्री को अपनाना अत्यन्त आवश्यक है। तभी साधक इस साधना में सफल हो सकेगा।

ब्रह्मचर्य-साधना की जड़ को मजबूत बनाओ

ब्रह्मचर्य-साधना एक ऐसी आध्यात्मिक साधना है, कि इसका मूल, विज्ञापन करने, प्रचार-प्रसार करने और एकमात्र प्रसिद्धि प्राप्त करने में नहीं है। कई साधक ब्रह्मचर्य-साधना का लेबल लगा कर अथवा ब्रह्मचर्यमहाव्रत की प्रतिज्ञा लेकर विवेक-पूर्वक मजबूत कदमों से साधना के पथ चलकर मूल को सुदृढ़ नहीं बनाते। वे मन की चंचलता को, बौद्धिक उछल-कूद को, वाणी-विलास को और अनुचित मात्रा में प्रचार-प्रसार को रोकते नहीं। फलतः ब्रह्मचर्यसाधना की जड़ न जमने के कारण उनका चंचल मन इधर से उधर भटकता रहता है। भोग-सुखों की मृगमरीचिका के पीछे वे भागते रहते हैं। इस संसार में भोग-विलास के प्रचुर साधन हैं। एक से एक बढ़-कर सुन्दर और मोहक वस्तुएँ मन को लुभाने के लिए विद्यमान हैं। संसार भोग-सुखों की मृगतृष्णा से भरा हुआ है। ऐसी स्थिति में जिस साधक की ब्रह्मचर्य-साधना की जड़ें मजबूत नहीं हैं, जिसने साधना में अभ्यास करके मन, बुद्धि, इन्द्रिय और शरीर को चंचल होने से रोका नहीं, उसे संसार में जो भी आकर्षक एवं मनोहर वस्तु मिलती है, उस पर ललचा जाता है और गुप्तरूप से उसे भोगने का प्रयत्न करता है। पागल कुत्ते की तरह वह अपनी जिन्दगी स्वयं बर्बाद करता है। जिस प्रकार हड़ नामक वनस्पति हवा के थपेड़ों से इधर-उधर दौड़ती है, एक जगह स्थिर नहीं रहती। इसी प्रकार ऐसे कच्चे साधक की स्थिति इधर से उधर वासना के बीहड़ों में भटकने में ही रह जाती है. वह ब्रह्मचर्य-साधना का सच्चा आनन्द, अभीष्ट लाभ या लक्ष्य प्राप्त नहीं कर सकता। इसीलिए जैनधर्म में बताया है कि साधक प्रारम्भ में 'ब्रह्मचर्य-वास' करे, अर्थात्—गुरु के सान्निध्य में रहकर ग्रहण-शिक्षा और आसेवनाशिक्षा के द्वारा ब्रह्मचर्यसाधना की जड़ को मजबूत बनाये। वैदिक संस्कृति में भी गुरु के सान्निध्य में ब्रह्मचर्यपूर्वक रहकर वेदाध्ययन करने का विधान है।

अतः ब्रह्मचर्य-साधना का प्रारम्भिक रूप, फैलना नहीं, जड़ को मजबूत बनाना है। जैसे—जड़ के मजबूत न होने के कारण काई का टुकड़ा एक जगह स्थिर नहीं रह पाता, वैसे ही प्रारम्भिक अवस्था में साधना को विज्ञापन आदि द्वारा फैलाने वाले साधक में ब्रह्मचर्य-साधना की जड़ की मजबूती के अभाव में गहराई नहीं आ पाती। उसमें छिछलापन होता है, इसी कारण साधना में स्थिरता भी नहीं आ पाती।

जिस साधक की ब्रह्मचर्य-साधना की जड़ें सुदृढ़ होती हैं, वह संसार के बड़े से बड़े प्रलोभन, स्वर्थ या भय के आगे नहीं झुकता। इन्द्र का पद, स्वर्ग का राज्य या चक्रवर्तीपद भी ब्रह्मचर्य साधक को डिगा नहीं सकता।

□

३

ब्रह्मचर्य-साधना का आध्यात्मिक पक्ष

ब्रह्मचर्य-साधना के आध्यात्मिक पहलुओं—पक्षों के विषय में जैन, बौद्ध और वैदिक तीनों धाराओं में काफी गहराई के साथ विचार किया गया है। यह विवेचन ब्रह्मचर्य-साधक की साधना पर पर्याप्त प्रकाश डालता है।

आत्म-भाव में रमणता की साधना

ब्रह्मचर्य का तात्त्विक अर्थ आत्मभाव (ब्रह्म) में रमणता या विचरण किया गया था। परन्तु प्रश्न होता है कि ब्रह्मचर्य की तात्त्विक साधना कैसे हो सकती है? जबकि अधिकांश व्यक्तियों का झुकाव देहभाव पर होता है। अधिकांश व्यक्तियों को 'मैं पुरुष हूँ', या 'स्त्री हूँ', इस प्रकार का लिंग या देहभान होने से वे देहाध्यास के कारण देह के रूप, रस, गन्ध, रंग और स्पर्श आदि से सम्बन्धित विषय-भोगों में सुख मानकर विजातीय के प्रति कामवासना या विषय-भोग के सेवन यानी अब्रह्मचर्य के सेवन में प्रवृत्त होते हैं। इसलिए ब्रह्मचर्य-साधना कठिन और दुष्कर लगती है।

जैन धर्मशास्त्रों और महान् आचार्यों ने ब्रह्मचर्य की साधना को सहज बनाने के लिए मुख्यतया तीन उपाय बताये हैं—

(१) परभाव और स्वभाव का या जड़ और चेतन का अथवा शरीर और आत्मा का भेदविज्ञान,

(२) आत्मा का अहंता और ममता से दूर रहना, और

(३) सबमें आत्मभाव का दर्शन।

अब हम क्रमशः इन तीन सूत्रों का विश्लेषण करते हैं—

भेदविज्ञान से ब्रह्मचर्य-साधना

परभाव और स्वभाव भिन्न-भिन्न हैं। आत्मभावों के सिवाय जितने भी भाव या पदार्थ हैं, वे परभाव हैं, आत्मा से भिन्न हैं। उनके साथ आत्मा का वास्तविक सम्बन्ध नहीं है, औपाधिक या वैभाविक सम्बन्ध है। इसी प्रकार जड़ और चेतन अलग-अलग हैं। जितने भी निर्जीव पदार्थ हैं, वे जड़ हैं, उनसे भिन्न सजीव

पदार्थ चेतन हैं। इसी तरह यह प्रत्यक्ष दिखाई देने वाला शरीर अलग है, और इस शरीर के भीतर ज्ञान (चेतना) के प्रकाश से देदीप्यमान आत्मा पृथक् है। इस प्रकार का भेदविज्ञान जब व्यक्ति को हृदयंगम हो जाता है, तो विजातीय (स्त्री या पुरुष) के या स्त्री-शरीर या पुरुष-शरीर के प्रति उसका आकर्षण नहीं रहता, क्योंकि उसे यह दृढ़ प्रतीति हो जाती है कि स्त्री और पुरुष ये वास्तव में आत्मा से पृथक् हैं, ये आत्मा के अंगभूत या आत्मा के अपने गुण या स्वभाव या सम्बन्धी नहीं हैं। आत्मा से यह शरीर (चाहे स्त्री का है या पुरुष का) पृथक् है। शरीर जब आत्मा से पृथक् है तो उसके रूप, रस, गन्ध, रंग और स्पर्श भी मेरे नहीं हैं। इसी तरह नारक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव तथा स्त्री और पुरुष, ये भेद भी आत्मा के नहीं हैं। वे वैभाविक हैं। काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार ये भी परभाव हैं, आत्मा के स्वभाव नहीं हैं। कामवासना और विषयभोग भी न तो मैं (आत्मा) हूँ और न ही मेरे (आत्मा के) हैं। इस प्रकार की भेदविज्ञान की दृष्टि जब परिपक्व हो जायगी तब आत्मभाव में रमणता या विचरणरूप ब्रह्मचर्य की साधना सहज ही हो जाएगी।

इस प्रकार भेदविज्ञान जाग्रत हो जाने से ब्रह्मचर्य साधक किसी भी रूपवती स्त्री को देखकर उसमें स्त्रीत्व (नारीपना) नहीं देखकर उसे भी आत्मा के रूप में देखेगा और सुन्दर शरीर को देखकर उसमें आकर्षित नहीं होगा, बल्कि उसके हृदय में यही भाव उत्पन्न होगा कि इसका शरीर या रूप-रंग आदि सब परभाव हैं, मुझे परभाव में रमण करने से क्या मतलब ? स्त्री भी सिर्फ आत्मा है। आत्मा के मूल और शुद्ध स्वभाव के रूप में ये सभी आत्माएं समान हैं। किन्तु जड़ के साथ संसर्ग के कारण, इनके स्वभाव में विकार उत्पन्न हुआ है।

अहंता-ममता-निवारण से आत्मभावरमण

ब्रह्मचर्य-साधना आत्मभावरमण से होती है, क्योंकि सुन्दर स्त्री हो या पुरुष एक-दूसरे के प्रति आकर्षण तथा काम-विकार के प्रति झुकाव होता है—अहंकार और ममकार से। अहंकार व्यक्ति को यह भान नहीं होने देता कि मैं आत्मा हूँ। किन्तु 'मैं शरीर हूँ या मैं पुरुष हूँ या स्त्री हूँ' अथवा 'मैं व्यापारी हूँ, मैं सेठानी हूँ,' अथवा 'मैं एक्टर या एक्ट्रेस हूँ,' इस प्रकार का मिथ्या अहं का औपाधिक अनुभव वह व्यक्ति करता है। इसी अहंकार के कारण व्यक्ति भ्रमवश औपाधिक हो जाता है, निरुपाधिक नहीं रह पाता। यही कारण है आत्मभाव-रमणता में बाधा का।

दूसरा कारण है—ममकार। मनुष्य इस ममकार के कारण समस्त पर-भावों, पर-पदार्थों को अपना मानकर स्त्री या कामाचार के प्रति आकर्षित होता है। मेरे-पन की यह मिथ्यावासना स्त्री-शरीर या पुरुष-शरीर तक ही सीमित नहीं है। सजीव-निर्जीव जो पदार्थ आत्मा से सम्बन्धित नहीं हैं, उन्हें भी अपना मानकर मनुष्य ने

उस ममत्व से बाँध लिया। इसी ममता या ममकार के कारण मनुष्य स्त्री आदि की ओर स्नेह व कामवासनावश आकर्षित होता है। जब अहंता और ममता दोनों से दूर रहकर, व्यक्ति शुद्ध आत्मा, आत्मगुण या आत्मस्वभाव का विचार करेगा, अथवा 'मैं शरीर से भिन्न आत्मा हूँ; ज्ञान, दर्शन आदि मेरे निजी गुण या स्वभाव हैं, इसके अतिरिक्त शरीर या अन्य जो भी सजीव-निर्जीव पदार्थ हैं, वे मेरे नहीं हैं; फिर मैं इनकी ओर अहंता-ममतावश क्यों आकर्षित होता हूँ ?' इस प्रकार के चिन्तन से मनुष्य आत्मभाव में रमण करने लगेगा, तब किसी स्त्री आदि के शरीर के प्रति आकर्षण की या कामादि पर-पदार्थों को अपनाने की वृत्ति स्वतः समाप्त हो जाएगी।

'ममकार' के निवारण का एक प्रयोग

दशवैकालिक सूत्र में एक अन्य प्रयोग दिया है, जो बहुत ही जीवनस्पर्शी सफल सूत्र है। वह यह है कि जब भी किसी स्त्री या किसी की देह आदि पर-वस्तु के प्रति कामजनित आकर्षण पैदा होने लगे, उससे पूर्व इस प्रकार का चिन्तन करे—

न सा महं, नो वि अहंपि तीसे
इच्चेव ताओ विणएज्ज रागं।"[1]

"किसी स्त्री या स्त्रीदेह आदि के प्रति कामजन्य आकर्षण पैदा हो, उस समय यह विचार करे कि 'वह (स्त्री या वस्तु) मेरी नहीं है और न ही मैं उसका हूँ।' इस विधि से त्राता (षट्कायरक्षक) उस राग (आकर्षण) को हटा ले।"

इस प्रयोग से भी स्त्री आदि पर-वस्तु के प्रति ममभाव समाप्त होने से कामजनित आकर्षण भी समाप्त हो सकेगा।

सबमें आत्मभाव के दर्शन से आत्मभावरमणता

स्त्री या पुरुष कोई भी हो उसे स्त्री या पुरुष न मानकर केवल आत्मा माने, पुरुष वर्ग, सभी स्त्रियों में, तथा स्त्रीवर्ग सभी पुरुषों में आत्म-भाव के दर्शन करे। किसी स्त्री को देखकर उसे सिर्फ आत्मा समझे। किसी विचारक ने कहा है—

"नैव स्त्री पुमानेष, न चैवायं नपुंसकः।
यद्यत् शरीरमादत्ते, तेन स उच्यते सदा॥

'यह आत्मा न तो स्त्री है, न पुरुष है और न नपुंसक है। अपितु जैसा-जैसा शरीर धारण करता है, उसके अनुसार सदा उस शरीर की संज्ञा हो जाती है।'

एक भिक्षु ने एक युवती को पति से रुठकर जाते हुए देखा। भिक्षु का ध्यान एकमात्र उसकी आत्मा की ओर था, उसने न तो उसे स्त्रीरूप में देखा और न किसी पुरुष रूप में। उस स्त्री के पीछे-पीछे उसका पति उसे ढूँढ़कर लाने जा रहा था। उसने बौद्धभिक्षु से पूछा—"महात्मन् ! क्या आपने एक स्त्री इधर से जाती हुई देखी है ?" भिक्षु ने कहा—"वह स्त्री थी या पुरुष था, मैं नहीं कह सकता। एक

---

१. दशवैकालिक सूत्र, अ० २, गा० ४.

चलती-फिरती हुई छाया अवश्य जा रही थी।" इस प्रकार यदि स्त्री वर्ग के वस्त्राभूषण, अंगों की बनावट, केशपाश, दंतपंक्ति, मुखमण्डल आदि की ओर ध्यान न देकर उसे सिर्फ आत्मा के रूप में देखा जाए तो न तो उसके शरीर के प्रति कामजन्य आकर्षण होता है और न उसे देखकर कामवासना उत्पन्न हो सकती है और पूर्वोक्त प्रकार से प्रत्येक पुरुष या स्त्री के प्रति आत्मभाव के दर्शन से आत्मभाव-विचरण सहज ही हो सकता है। इस तरह, तात्त्विक दृष्टि से ब्रह्मचर्य-साधना आसान हो सकती है।

आत्मरमणता की एक प्रक्रिया

आमतौर पर सामान्य व्यक्ति की वृत्तियाँ बहिर्मुखी होती हैं। वह किसी स्त्री का शरीर हृष्ट-पुष्ट और सुन्दर देखकर या उसकी वेश-भूषा, चाल-ढाल एवं अंगोपांगों की लचक आदि को देखकर विकारवश एवं मोहित हो जाता है। सामान्यतया पुरुष को स्त्री में और स्त्री को पुरुष में अद्भुत रूप-सौन्दर्य प्रतीत होता है। वास्तव में अमुक व्यक्ति रूपवान ही है, ऐसा नहीं होता, किन्तु अपने देहाध्यास या बहिर्मुखी वृत्ति के कारण सुषुप्त रूप से अपने अन्तर में रही हुई कामवासना के कारण विजातीय व्यक्ति में राग पैदा होता है, इसलिए वह व्यक्ति रूपवान दिखाई देता है। यह देखा गया है कि बहिर्मुखी वृत्ति वाले जिस व्यक्ति में कामदृष्टि होती है, वह अपाहिज और कुरूप स्त्री की ओर भी अत्यन्त आकर्षित हो जाता है, वह उसे अत्यन्त रूपवती लगती है। परन्तु अन्तर्मुखी दृष्टि से देखने वाला व्यक्ति यही सोचता है कि आत्मा के सौन्दर्य से ही शरीर में सौन्दर्य की छाया झलकती है। अर्थात् शरीर का सौन्दर्य आत्मा के सौन्दर्य की छायामात्र है, यह पर-प्रकाशित सौन्दर्य है। चैतन्य की अभिव्यक्ति के कारण ही विश्व की प्रत्येक वस्तु में सौन्दर्य प्रतीत होता है। चैतन्य के निकलते ही यह सौन्दर्य नष्ट हो जाता है। वास्तव में वस्तु में अपना स्वयं का सौन्दर्य नहीं होता; किन्तु बहिर्दृष्टि वाला व्यक्ति अपनी कल्पना से निज-आत्मा के सौन्दर्य का ही उसमें आरोपण करता है। तभी उसमें काम-जन्य आकर्षण पैदा होता है।

अगर अन्तर्दृष्टि से देखा जाए तो सौन्दर्य रूप प्रभु आत्मा स्वयं है। प्रभु या आत्मदेव के सिवाय दूसरे किसी भी पदार्थ में कुछ भी सौन्दर्य नहीं है। केवल आत्मदेव के आधार से ही सब कुछ सुन्दर है। आत्मा की उपस्थिति के प्रभाव से ही शरीर जैसा गन्दा पदार्थ सुघड़ और सुन्दर दिखाई देता है। आत्मा शरीर में से जब निकल जाता है, तब तुरन्त ही तथाकथित बहिर्दृष्टि व्यक्तियों द्वारा सुन्दर माना जाने वाला यह मृत शरीर बदबू मारने और सड़ने लगता है।

चाहे जितना रूपवान् शरीर भी अन्तर्दृष्टि से देखा जाए तो सतत गन्दगी बहाने वाले गटर जैसा है। अतः सच्चे माने में जगत् में सौन्दर्य दर्शन करना, एक

तरह से वस्तु में या स्त्री आदि व्यक्ति में प्रभु-दर्शन या आत्मदर्शन करना है। आत्मदेव स्वयं अत्यन्त रूपवान् है, फिर रूप के कारण मोह कैसा ? आत्मा तो जैसा स्वयं का है, वैसा ही दूसरे का है। आत्मा में ही सौन्दर्य है तो दूसरे व्यक्ति (स्त्री या पुरुष) के सौन्दर्य को देखने और कामजन्य आकर्षण पैदा करने की आवश्यकता ही नहीं होती। अथवा आत्मदेव के ही सौन्दर्य का दर्शन करना चाहिए, उससे सहज ही आत्मरमणता होगी। सरलता से ब्रह्मचर्य-साधना में सफलता के लिए यह अचूक प्रक्रिया है।

मोहक्षय के लिए मृत्यु की स्मृति

जिस व्यक्ति (स्त्री या पुरुष) का रूप व्यक्ति को मोहान्ध बनाता है, उस व्यक्ति के शरीर की नश्वरता का चिन्तन करना भी कामावेग को रोकने हेतु मोहक्षय करने का अनुपम उपाय है। स्वयं अपने शरीर पर होने वाला मोह भी शरीर की क्षणभंगुरता का बार-बार स्मरण करने से स्वतः ही मन्द हो जाता है। जिस किसी व्यक्ति को मृत्यु का सतत स्मरण होता रहता है, वह आत्मज्ञान के बिना भी शीघ्र कामान्ध होने से बच सकता है।

जिस अपराधी को मृत्युदण्ड देने की तारीख निश्चित हो जाती है, उसे कोई भी सुन्दर खान-पान, वस्त्राभूषण या काम-भोग रुचिकर नहीं लगता। मृत्यु का आभास उसकी आँखों में आ जाता है, इससे मृत्यु से पूर्व उसके तन-मन पर उदासी छा जाती है। अपनी सूझ-बूझ के अनुसार जिस प्रकार वह इष्टदेव की उपासना में चित्त लगाता है, उसी प्रकार जिसके सामने मौत नाच रही हो, वह व्यक्ति काम-विलास, राग-रंग या बाह्यविषयों से उपरत हो जाता है। इसी प्रकार बहिर्मुखी वृत्ति हटाकर अन्तर्मुखी बना लेने से मृत्यु एवं क्षणभंगुरता की स्मृति प्रत्येक स्त्री या पुरुष के शरीर में करे तो कामवासना से—कामजन्य सुख-भोग से साधक विरक्त होकर आत्मभाव में ही विचरण या रमण करने लगेगा, क्योंकि आत्मा ही एकमात्र अविनाशी, अमरणशील एवं नित्य है।

अशुचि अनुप्रेक्षा भी मोहनिवारक

विशेषतः स्त्री-शरीर के प्रति आकर्षण और मोह विशेष होता है उसके लिए कार्तिकेयानुप्रेक्षा में बताया है कि"""जो ब्रह्मचारी साधक स्त्री के शरीर को अशुचिमय और दुर्गन्धित जानकर मन में उसके रूप-लावण्य को भी मोह पैदा करने वाला मानता है, उसकी ब्रह्मचर्य-साधना सुगम हो जाती है। इसी प्रकार ब्रह्मचर्य प्रतिमा धारक का लक्षण बताते हुए रत्नकरण्डक श्रावकाचार में बताया गया है—"जो मल के बीजभूत, मल को उत्पन्न करने वाले, मलप्रवाही, दुर्गन्धयुक्त, लज्जाजनक एवं ग्लानियुक्त अंग (शरीर के अंगोपांग) को देखता हुआ कामसेवन से विरत होता है, वह ब्रह्मचर्य प्रतिमाधारक है।" इस प्रकार ब्रह्मचर्यसाधक का देहाध्यास सर्वथा छूट जाने से उसकी आत्मभाव में रमणतारूप ब्रह्मचर्य-साधना अनायास ही सिद्ध हो जाती है।

एक वैश्य-पुत्री के शरीर-सौन्दर्य को देखकर एक राजा आसक्त हो गया। वह विवाहिता और कुलवती थी। वैश्य को बुलाकर राजा ने उसकी पुत्री उसे सौंप देने को कहा। वैश्य हतप्रभ-सा होकर उत्तर के लिए राजा से कुछ दिन की अवधि लेकर चला गया। चिन्तातुर वैश्य अपनी पत्नी से परामर्श कर रहा था कि अब क्या करना चाहिए। लड़की से यह बात छिपी न रही। बुद्धिमती पुत्री ने निर्भीकतापूर्वक कहा--"पिताजी ! आप चिन्ता न करें। नरेश से कह दें कि वे मुझे आठ दिन के पश्चात् मिलें। मैं अपने धर्म की रक्षा स्वयं कर लूँगी।" वैश्य ने राजा को आठ दिन बाद पधारने का निमन्त्रण दे दिया। इधर वैश्य-पुत्री ने जमालघोटा ले लिया, जिससे दस्त पर दस्त होने लगे। शरीर सूखकर दुबला-पतला कांटे-सा हो गया। आठ दिन बाद नरेश आये। उन्होंने वैश्य-पुत्री को एक टूटी-सी खाट पर मुर्दे की ठठरी-सी पड़ी हुई देखी। राजा वैश्य-पुत्री को देखकर चलने लगे, तब उसने कहा—"राजन् ! जिस शरीर पर आप मोहित हुए, वह यही है। यदि इस अस्थिपंजर को ले जाना चाहें तो ले जाएँ। यदि नहीं, तो जिसके सौन्दर्य पर आप मुग्ध थे, वह कितना घिनौना है ? इसे देखना चाहें तो शौचालय में जो मलमूत्र के रूप में पड़ा है, उसे देख लें।" राजा की सिट्टी-पिट्टी गुम हो गई। वह इस घृणित और कुरूप शरीर को देखकर कामवासना से विरक्त हो गया। उसका दुर्विचार सुविचार में परिणत हो गया।

राजा के लिए अशुचि एवं नश्वर—क्षीणप्राय शरीर का दर्शन विरक्ति का कारण बना, वैसे ही ब्रह्मचर्यसाधक की इस प्रकार अशुचि-अनुप्रेक्षा से शरीर-सौन्दर्य से विरक्ति और आत्मदर्शन की ओर प्रवृत्ति हो सकती है। □

४

ब्रह्मचर्य-साधना : विभिन्न दृष्टियों से

विभिन्न धर्मों की दृष्टि से

भारतीय संस्कृति की दृष्टि से धर्म का सर्वसम्मत लक्षण यह है—"जो समाज का धारण-पोषण एवं रक्षण करे, समाज को सुखमय बनाए।" सभी धर्म मानव समाज के अभ्युदय और निःश्रेयस् (कल्याण) के लिए हैं। जिससे समाज का धारण-पोषण न हो, समाज अवनति की ओर जाए, जिस आचरण या व्यवहार से समाज में कष्टों की परम्परा बढ़े, समाज संकट में पड़े, वह धर्म नहीं है। एक पाश्चात्य विद्वान का कथन है कि "धर्म मनुष्य की दुष्प्रवृत्तियों और वासनाओं को नियन्त्रित करने एवं आत्मा के समस्त शुभ का लाभ प्राप्त कराने का एक अभ्यास है।" धर्म आत्मा की स्वाभाविक वृत्ति है।

इस दृष्टि से जब हम ब्रह्मचर्य-साधना का विचार करते हैं, तो यह स्पष्ट हो जाता है कि ब्रह्मचर्य-साधना व्यक्ति के आत्मिक, शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक, ऐहिक और पारलौकिक सभी दृष्टियों से हितकारक, लाभदायक, शुभ प्रवृत्ति है। इससे मनुष्य की दुष्प्रवृत्तियों, असंयम के आचरण एवं वासनाओं पर नियन्त्रण हो जाता है। ब्रह्मचर्य-साधना आत्मविकास एवं आत्मिक गुणों की वृद्धि लिए उत्तम साधना है। यह आत्मा का स्वाभाविक सहज धर्म है।

विश्व के सभी धर्मों में ब्रह्मचर्य को पवित्र और महान् धर्म माना गया है। पौर्वात्य और पाश्चात्य सभी धर्मों में यह कर्त्तव्यरूप धर्म के रूप में भी विहित है।

कर्त्तव्यरूप में ब्रह्मचर्य धर्म—सभी धर्मों में साधु-संन्यासियों के लिए संसार की समस्त स्त्रियों को माता, बहन या पुत्री के रूप में मानने का कर्त्तव्यरूप ब्रह्मचर्य धर्म विहित है। इसी प्रकार एक गृहस्थ के लिए स्वविवाहिता स्त्री के अतिरिक्त समस्त स्त्रियों के प्रति मातृभाव, भगिनीभाव या पुत्रीभाव रखने का ब्रह्मचर्यधर्म विहित है। पतिव्रता स्त्री को पति के मरने के बाद वैधव्यधर्म पालन का कर्त्तव्य प्रायः कई धर्मों में विहित है। इसी प्रकार साध्वियों का धर्म समस्त पुरुषों के प्रति पिता, भाई या पुत्र की दृष्टि रखना विहित है। पतिव्रता स्त्रियों का धर्म अपने पति के

सिवाय पर-पुरुष के प्रति पितृभाव, भ्रातृभाव या पुत्रभाव रखना आवश्यक कर्त्तव्य बताया है।

समाजहित और ब्रह्मचर्य-साधना—परिवार, जाति, धर्मसंघ, ग्राम, नगर, प्रान्त, राष्ट्र आदि व्यापक समाज के अंग हैं। अपनी-अपनी मर्यादा में रहते हुए ब्रह्मचर्य पालन करने से समाज में व्यवस्था, शान्ति और सुरक्षा बनी रहती है। जिस समाज में ब्रह्मचर्य-साधना जितनी अधिक होती है, वहाँ का समाज शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक सभी दृष्टियों से उन्नत होता है। उस समाज में अनेक आध्यात्मिक पुरुष पैदा होते हैं। उस समाज का स्तर भी सभ्यता और सांस्कृतिक दृष्टि से ऊँचा होता है। इसलिए ब्रह्मचर्य समाजहित के लिए सभी दृष्टियों से उत्तम साधन है।

जहाँ जिस समाज में बलात्कार, परनारीहरण, व्यभिचार, एवं अब्रह्मचर्य का दौर-दौरा होता है, वहाँ ब्रह्मचर्य धर्म के न होने से अव्यवस्था, अशान्ति, कलह, मारकाट, और बड़े-बड़े युद्ध तक होते देखे गये हैं। कई जातियों में जाति के पंचों द्वारा ऐसे अपराध करने वालों को दण्ड दिया जाता है। सरकार के कानून के अनुसार भी बलात्कार आदि अपराधों की भयंकर सजा है। इसलिए समाज के सर्वतोमुखी अभ्युदय और कल्याण की दृष्टि से ब्रह्मचर्य-साधना को सभी धर्मों ने धर्म के रूप में या नैतिक नियमों या कर्तव्य के रूप में स्वीकार किया है।

व्यभिचारी की दृष्टि में भी ब्रह्मचर्य-साधना : धर्म—एक दुराचारी या व्यभिचारी व्यक्ति भी व्यभिचार, दुराचार या बलात्कार करने के बाद प्रायः पश्चात्ताप करता है। अर्थात् वह एक बार कामवासना के आवेग में आकर व्यभिचार का पाप तो कर लेता है, किन्तु उसकी अन्तरात्मा उसे इस पाप के लिए कचोटती है, धिक्कारती है। उसकी अन्तरात्मा भी शान्ति के क्षणों में ब्रह्मचर्य-साधना को आवश्यक धर्म कहती है।

वैदिक परम्परा में ब्रह्मचर्य-साधना—वैदिक धर्म की परम्परा में तो ब्रह्मचर्य-साधना को जीवन के तीन-चौथाई काल में स्थायी धर्म माना है। अर्थात् धर्म मान्य चार आश्रमों में से ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और संन्यास, इन तीन आश्रमों में तो अनिवार्य रूप ब्रह्मचर्य-साधना विहित है। गृहस्थाश्रम में भी एक स्त्री में वासना को केन्द्रित करके शेष सारे अब्रह्मचर्य के आस्रव सागर को बंद किया जाता है। एक विवाहिता स्त्री में भी अमुक मर्यादा सहित ब्रह्मचर्य-पालन विहित है। ब्रह्मचर्य को वहाँ व्रतों में सर्वश्रेष्ठ व्रत (धर्म) बतलाया गया है।

जैन परम्परा में ब्रह्मचर्य-साधना—जैन परम्परा में ब्रह्मचर्य-साधना को महाव्रत और अणुव्रत के रूप में पालन करने का विधान है। वहाँ यत्र-तत्र ब्रह्मचर्य धर्म का उच्चस्वर से महिमागान किया गया है। जिसका हम प्रथम खण्ड में विस्तृत वर्णन कर आये हैं। जैन धर्म में ब्रह्मचर्य-साधना को **'एस धम्मे धुवे णिच्चे'** यह ब्रह्मचर्यरूप

धर्म ध्रुव है, शाश्वत है, नित्य है—कहा है। ब्रह्मचर्य की साधना के विषय में जैनधर्म ने बहुत ही उदात्त, विशद, और उच्चतम विचार व्यक्त किया है। यहाँ तक कि जो व्यक्ति लाचारीवश अथवा समाज की शर्म से, या अज्ञानतावश भी यदि ब्रह्मचर्य-पालन करता है, उसे भी जैनशास्त्रों में स्वर्ग प्राप्ति होने का उल्लेख मिलता है।

बौद्ध परम्परा में ब्रह्मचर्य-साधना—बौद्ध धर्म में भी शील के रूप में ब्रह्मचर्य-साधना को अति महत्त्व दिया गया है। बौद्धधर्म-ग्रन्थों में विधान है कि बोधिलाभ प्राप्त करने के लिए मार को जीतना, तथा वासना पर संयम रखना आवश्यक है।

ईसाईधर्म में ब्रह्मचर्य-साधना—भारतीय धर्मों के अतिरिक्त ईसाई धर्म ने भी ब्रह्मचर्य को धर्म के रूप में महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। स्वयं ईसामसीह ब्रह्मचारी थे। ईसामसीह के द्वारा समाज को दिये गये १० सन्देशों-निर्देशों में ब्रह्मचर्य-साधना का भी निर्देश है। बाइबिल में बताया गया है—

Thou shalt not commit adultery.

'तुम्हें व्यभिचार नहीं करना चाहिए।'

निष्कर्ष यह है कि व्यभिचार करना, बलात्कार करना और विलासिता का पोषण करना आदि अनैतिक दुष्कर्मों को ईसाईधर्म में भयंकर पाप माना गया है।

ईसाई धर्म के अनेक अनुयायियों ने पवित्र जीवन बिताने के लिए आजीवन ब्रह्मचर्य-साधना को अंगीकार किया था।

बंगाल के अश्विनी कुमार दत्त एक दिन अपने अध्ययनकक्ष में बैठे हुए 'बाइबिल' पढ़ रहे थे। उसमें ईसामसीह का एक वचन था—'प्रभु के राज्य में प्रवेश करने के लिए तन-मन का पवित्र होना आवश्यक है।' इस पर उनका चिन्तन चला कि 'मैं तन-मन से तभी पवित्र हो सकूँगा, जबकि मैं आजीवन ब्रह्मचर्य-पालन करूँगा।' उन्होंने अपनी पत्नी को सम्मत करके दोनों ने आजीवन ब्रह्मचर्य-साधना स्वीकार कर ली। बाद में उन्होंने आजीवन ब्रह्मचारियों का एक मण्डल भी स्थापित किया।

इससे स्पष्ट है कि ईसाई धर्म में ब्रह्मचर्य साधना को कितना महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है।

इस्लाम धर्म में ब्रह्मचर्य-साधना—मुस्लिम धर्म में भी जनाकारी (व्यभिचार), विलास और वासना का तीव्र विरोध किया गया है। जिस व्यक्ति का जीवन भोग-विलासपरायण और दुराचाररत होता है उसके जीवन को इस्लाम धर्म ने निन्द्य एवं गर्हित माना है। इस्लाम धर्म के पवित्र धर्मग्रन्थ कुराने शरीफ में कहा गया है—

"व्यभिचार के पास मत फटको।"[1]

विश्व के सभी धर्मों ने एक स्वर से ब्रह्मचर्य-साधना को महान् धर्म माना है :

दर्शनशास्त्र की दृष्टि में ब्रह्मचर्य-साधना

दर्शन धर्मशास्त्र में विहित तथ्यों, सिद्धान्तों एवं आचरणीय सत्यों (तत्त्वों) का विश्लेषण करता है। वह धर्मशास्त्रविहित वस्तु को तर्क, अनुमान, युक्ति, आगम, उपमान, एवं प्रत्यक्ष अनुभव के आधार पर सिद्ध करता है। वह धर्मशास्त्रविहित वस्तु या तत्त्व के प्रतिपक्ष में पहले शंका, तर्क या प्रश्न उठाता है, फिर उस युक्ति, तर्क या शंका का युक्ति, सूक्ति, अनुभूति एवं प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम आदि प्रमाणों से निराकरण करता है। विविध पहलुओं से वस्तुतत्त्व का विश्लेषण करता है और प्रमाणपुरःसर तथ्य प्रस्तुत करता है।

ब्रह्मचर्य-साधना की उपादेयता के विषय में भी विभिन्न दर्शनों ने विविध पहलुओं से दार्शनिक विश्लेषण किया है।

जैनदर्शन का विश्लेषण—ब्रह्मचर्य-साधना की उपादेयता के विषय में वैसे तो पूर्व प्रकरणों में हमने विस्तृत विवेचन किया है। यहाँ जैनदर्शन की दृष्टि से एक पहलू को लेकर संक्षिप्त विश्लेषण प्रस्तुत कर रहे हैं।

आज सभी जीवों का प्रयत्न सुख प्राप्त करने के लिए है, किन्तु बाह्य वस्तुओं में कहीं भी सुख नहीं है। अधिकांश लोग धन-वैभव, सुन्दर शरीर, आलीशान मकान आदि की तरह पंचेन्द्रिय-विषयभोगों में सुख मानते हैं; और संयम, त्याग, तप, ब्रह्मचर्य आदि में दुःख। उनका कहना है कि भोग-वासना में तो प्रत्यक्ष सुख का स्वाद आता है, ब्रह्मचर्य या संयम के आचरण में तो मन की इच्छाओं को दबाना पड़ता है, त्याग में तो कष्ट ही कष्ट है। परन्तु सुख-दुःख यह सारी धारणा भ्रान्त है। जगत् की सारी वस्तुएँ विनाशी हैं, भोगसुख भी क्षणिक और विनाशी हैं। जिन विषयभोगों में मनुष्य सुख मानता है, क्या वृद्धावस्था या रुग्णावस्था में, अथवा मृत्युभय या चिन्तातुर अवस्था में भी उनसे सुख मिल सकता है? सांसारिक पदार्थों या विषयभोगों से मिलने वाला कोई भी सुख ऐसा नहीं है, जिसके साथ दुःख जुड़ा हुआ न हो। जैनशास्त्रों में इसीलिए जगह-जगह काम-भोगों को दुःखमय तथा अनर्थों की खान कहा है। ब्रह्मचर्यसाधना से पैदा होने वाला आत्मसुख केवल सुख है, विशुद्ध और परिपूर्ण सुख है। उसके साथ कोई भी दुःख जुड़ा हुआ नहीं है। जब कामोत्तेजना होती है, तब खुजली के रोग की तरह उसे शान्त करने में अज्ञानी मानव आनन्द मानता है, किन्तु जब उत्तेजना का पारा उतरता है, काम का नशा कम पड़ता है, शरीर में थकान आती है, तब मन पश्चात्ताप और ग्लानि से भर जाता है। मतलब यह है कि

---

१. कुरान १७/३२

भोगेच्छा की पूर्ति करते समय क्षणिक सुख की अनुभूति होती है, किन्तु करने के बाद दुःख होता है, पश्चात्तापपूर्वक मनुष्य सोचता है—ऐसा नहीं करता तो अच्छा होता। पुद्गल से या विषय-भोग से प्राप्त होने वाला कोई भी सुख ऐसा नहीं है, जिसके साथ दुःख और सन्ताप की परम्परा जुड़ी हुई न हो। परन्तु ब्रह्मचर्य-साधना से प्राप्त होने वाले आत्मानन्द में बाद में ऐसा पश्चात्ताप नहीं होता कि ब्रह्मचर्यसाधना न करता तो अच्छा होता ?

तब प्रश्न होता है कि फिर बहुत-से लोगों को इन्द्रिय-विषय-भोगों में सुख की प्रतीति क्यों होती है ? जैनदर्शन इसका समाधान यों करता है कि बाह्य पदार्थों या विषय-भोगों में वास्तव में कोई सुख होता नहीं, न ही रहा हुआ है, किन्तु बाह्य-पदार्थों या विषय-भोगों के सम्बन्ध में की हुई अमुक मान्यता ही मनुष्य के सुख-दुःख में कारणभूत होती है। इन्द्रियों के जो विषय मनुष्य को आकर्षक, मोहक या लुभावने प्रतीत होते हैं, उसका कारण वे विषय नहीं हैं, किन्तु मनुष्य के उनके पीछे चिपकाये हुए अपने विचार-संस्कार हैं। विषय-भोगों में प्रतीत होने वाली मोहकता या सुखानुभूति, उन विषयभोगों में नहीं है, किन्तु वस्तुतः मनुष्य के अपने विचारों में ही है। मनुष्य की अपनी कल्पनाएँ ही उन विषय-भोगों में सुख-बुद्धि या प्राप्ति के लिए प्रवृत्ति कराती है। यह सुखबुद्धि कहाँ से आती है ? कौन करता है ? इसका उत्तर है कि मनुष्य स्वयं ही सभी कल्पनाओं का स्रष्टा है।

वस्तुतः देखा जाए तो सुख या आनन्द सच्चिदानन्दरूप आत्मा का मूलभूत स्वभाव है। हम स्वयं आनन्दस्वरूप आत्मा हैं। हम स्वयं ही अपनी कल्पना से जगत् की सभी मनोज्ञ वस्तुओं पर आकर्षक एवं मोहक, सुखदायक होने की छाप लगाते हैं। मनुष्य अपने अन्तर् में रहे हुए सुख का आरोपण करता है, फिर उसकी प्राप्ति के लिए दौड़-धूप करता है। वह तो ऐसा ही है, जैसे कोई अपनी ही परछांई को पकड़ने के लिए दौड़-धूप करता हो। यही अज्ञान है। जैसे—प्रकाश तो सूर्य का अपना है, किन्तु दर्पण से सम्पर्क के समय, ऐसा प्रतीत होता है, मानो वह (प्रकाश) दर्पण में से आ रहा है। इसी प्रकार सुख का संवेदन आत्मा में से होता है, परन्तु होता है—जड़ पदार्थ या विषय-भोग के सम्पर्क से, इसलिए अज्ञानी मनुष्य मानता है कि यह सुख जड़ पदार्थ या विषय-भोग में से आ रहा है।

कुत्ता जब हड्डी चबाता है, तब उसका दांत टूट जाने से, उसमें से बहते हुए खून का स्वाद उस कुत्ते को हड्डी का लगता है। वह स्वाद असल में उसके अपने खून का ही है।

धर्मशास्त्र तो बराबर कहता है—'**कामाणुगिद्धिप्पभवं खु दुक्खं**'—"काम-भोगों के प्रति आसक्ति से दुःख ही होता है।" सच्चा सुख तो तुम्हारी अपनी आत्मा में है, अतः विषयभोगों में आनन्द नहीं है, आनन्द तो अपनी आत्मा में ही है, जो स्वाधीन है। अतः त्याग, तप, संयम या ब्रह्मचर्य आदि में ही सुख-शान्ति है,

बाह्य विषयों में नहीं। बाह्य विषयों में जो सुखबुद्धि होती है, वह अनादिकालीन परम्परागत विषयासक्ति के कुसंस्कारों के कारण। मनुष्य दुःखद स्थिति में पड़ा हुआ हो तो भी विषयसुखास्वाद के कुसंस्कार के कारण कामभोगों को छोड़ता नहीं है। अतः ब्रह्मचर्य से प्राप्त होने वाला आत्मानन्द क्षणिक विषयानन्द से कई गुणा अधिक एवं शाश्वत है। इसलिए आत्मानन्द के लिए ब्रह्मचर्य-साधना ही उपादेय है।

इस प्रकार ब्रह्मचर्य एवं उसके साधक-बाधक कारणों का दार्शनिक विश्लेषण जैन दर्शन में विशदरूप से किया गया है।

बौद्धदर्शन में ब्रह्मचर्य-साधना पर काफी विश्लेषण किया गया है। 'अभिधम्मत्थ संगहो' में ब्रह्मचर्य का प्रतिपादन युक्तियों, तर्कों एवं अनुभूतियों के आधार पर पुष्ट किया गया है। बौद्धपिटकों में ब्रह्मचर्य शब्द का प्रयोग बुद्ध प्रतिपादित धर्म-मार्ग के अर्थ में हुआ है, जिसका युक्तिसंगत विश्लेषण दार्शनिक आचार्यों ने किया है।

योगदर्शन में ब्रह्मचर्य-साधना—पातंजल योगदर्शन या हेमचन्द्राचार्यरचित योगशास्त्र आदि में पाँच यमों में ब्रह्मचर्य को भी एक सार्वभौम यम माना है। योगसाधना करने वाले साधक के लिए सर्वप्रथम ब्रह्मचर्य साधना की ओर विशेष लक्ष्य देना आवश्यक है। योगसाधना में वासना, कामना, तृष्णा, असंयम और आसक्ति बाधक तत्त्व हैं। इसलिए ब्रह्मचर्यसाधना योगदर्शन द्वारा सर्वप्रथम महत्त्वपूर्ण एवं उपादेय बताई गई है। योग के आठ अंगों में यम, नियम के अतिरिक्त आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि का भी ब्रह्मचर्यसाधना से घनिष्ठ सम्बन्ध है। योग के इन आठ अंगों से ब्रह्मचर्य-साधना कितनी सुगम और सहज बन जाती है? इस विषय में हम आगे बताएँगे। यदि विधिपूर्वक इन आठ अंगों का प्रयोग किया जाए तो शरीर, मन, प्राण आदि इतने सक्रिय, जागृत और आत्मा में एकाग्र हो जाते हैं कि फिर कोई भी बाहरी काम आदि की शक्ति उसे प्रभावित नहीं कर सकती। समस्त चैतन्यकेन्द्र इन तीनों की साधना से जागृत हो सकते हैं। विलष्ट चित्तवृत्तियों का निरोध हो जाने से एकमात्र आत्मा की ओर ही चित्त का झुकाव हो जाएगा। विषय-भोग, काम आदि से चित्त बिलकुल ही हट जाएगा। यौगिक प्रक्रिया से नैष्ठिक ब्रह्मचर्य-साधना की बहुत बड़ी उपलब्धि हो सकती है।

महाभारत युद्ध से पूर्व अर्जुन ने यौगिक क्रिया द्वारा अखण्ड ब्रह्मचर्य की साधना की थी। उसे उसकी साधना से भ्रष्ट करने के लिए इन्द्र ने अनेक अप्सराएँ भेजीं, जिन्होंने अपने मधुर संगीत, मोहक नृत्य एवं मादक हाव-भावों से अर्जुन के ब्रह्मचर्य-साधना-मग्न चित्त को चलायमान करने का भरसक प्रयत्न कर लिया, लेकिन उन्हें अपने इस कार्य में तनिक भी सफलता नहीं मिली। वास्तव में यौगिक क्रियाएँ ब्रह्मचर्य-साधना को सुदृढ़ एवं परिपक्व बनाने में अतीव उपयोगी हैं।

इस प्रकार ब्रह्मचर्य-साधना के पीछे धर्म एवं दर्शन का एक सुस्थिर तथा परिपक्व चिन्तन है। जीवन की पवित्रता; मन, वचन, कर्म की शुचिता और आत्मिक आनन्द की अनुभूति के लिए ब्रह्मचर्य-साधना अनिवार्य मानी गई है। □

५

यौगिक प्रक्रियाओं से ब्रह्मचर्य की सहज साधना

अन्तर्मुखी आध्यात्मिक चिन्तन से, शरीर एवं आत्मा के भेदविज्ञान से ब्रह्मचर्य की साधना बहुत ही सहज हो सकती है; किन्तु इस प्रकार के चिन्तन की क्षमता, पात्रता और भूमिका प्राप्त करने के लिए शरीर को साधना जरूरी है। मन को साधना महत्वपूर्ण है; किन्तु शरीर को साधना भी कम महत्व का नहीं है। मन का आधार शरीर है, अतः मन को उदात्त चिन्तन में लीन करने या तल्लीन/स्थिर रखने के लिए शरीर को उसके योग्य बनाना बहुत जरूरी है। शरीर की क्षमता एवं गतिविधि को पहचानना और उसे अपने नियन्त्रण में रखना—यह योगमार्ग है, योग-विद्या है। इसलिए कुछ विशिष्ट यौगिक प्रक्रियाओं की चर्चा यहाँ करना चाहता हूँ जिनसे ब्रह्मचर्य-साधना सहज और सुलभ बन जाती है। ये योग विधियाँ ब्रह्मचारी को सीखना और स्वीकारना बहुत ही आवश्यक है।

बहिर्मुखी वृत्ति का अन्तर्मुखीकरण : सुषुम्नाजागरण द्वारा

आत्मभावों में रमण तब तक नहीं होता, जब तक वृत्ति अन्तर्मुखी न हो जाये। वृत्ति को अन्तर्मुखी बनाने के लिए सुषुम्ना नाड़ी को जगाना आवश्यक है। हमारी प्राणधारा को प्रवाहित करने वाली तीन नाड़ियाँ हैं—ईडा, पिंगला और सुषुम्ना। बाँए स्वर को ईड़ा, दाहिने स्वर को पिंगला और मध्य स्वर को सुषुम्ना कहते हैं। सामान्यतया प्रत्येक व्यक्ति का स्वर बाँया और दाँया चलता है। मध्य का स्वर कम चलता है। जब मध्य स्वर चालू होता है, तब सुषुम्ना प्राणधारा प्रवाहित होती है, तब मन शान्त और अन्तर्मुखी होने लगता है, विकल्प कम हो जाते हैं, मनुष्य के लिए निर्विकार, कामरहित एवं आत्मभाव में लीन होने का द्वार खुलता है। जब दाहिना व बाँया स्वर चलता है, तब वृत्ति बहिर्मुखी होती है। इन दोनों में ईडा-पिंगला के चलते रहने पर मनुष्य में कामनाएँ वासनाएँ बढ़ती हैं। प्राणों की धारा जब सुषुम्ना नाड़ी में प्रवाहित होने लगती है, तब वृत्ति अन्तर्मुखी होकर आत्मभावों में एकाग्र होने लगती है।

वृत्ति अन्तर्मुखी बनाने की एक प्रक्रिया : रासायनिक परिवर्तन

बहिर्मुखी वृत्ति को अन्तर्मुखी बनाने की एक और प्रक्रिया है। यों तो मनुष्य को सैकड़ों उपदेश दे दिये जायें कि—'कामवासना छोड़ो, निर्विकार बनो,

विषयभोगों से निवृत्त होओ, अब्रह्मचर्य-सेवन का सर्वथा त्याग करो,' और इन उपदेशों को सुनकर व्यक्ति ब्रह्मचर्यनिष्ठ बनना चाहता है, संयमी होना चाहता है; परन्तु थोड़ी दूर चलकर आगे ठप्प हो जाता है, कोई न कोई अवरोध आ जाता है। व्यक्ति उपदेश सुनकर तदनुसार बनना चाहता है, किन्तु बन नहीं पाता। इसका ठोस उपाय है—रासायनिक परिवर्तन—जैविक रासायनिक परिवर्तन। जब तक व्यक्ति के जैविक रसायनों में परिवर्तन नहीं होता, भीतर के (अन्तः) स्रावों में परिवर्तन नहीं होता, तब तक स्वभाव में परिवर्तन नहीं होता। मनुष्य-स्वभाव के परिवर्तन के लिए पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकों ने जैविक रसायनों, अन्तः-स्रावों तथा ग्रन्थियों के हारमोन्स में परिवर्तन आवश्यक बताया है। वह जैविक रासायनिक परिवर्तन औषधियों से होता है, किन्तु इससे भी बढ़कर प्रभावशाली परिवर्तन होता है—मंत्रों के द्वारा। जैसे—'अर्हम्' मंत्र में 'र्' के उच्चारण से तापमान बढ़ जाता है, 'ह' के उच्चारण से घट जाता है, लीवर प्रभावित होता है। मंत्रशास्त्र के विधानानुसार प्रत्येक वर्ण के उच्चारण का अपना पृथक् रसायन बनता है। यही रसायन शरीर, मन और वचन को प्रभावित करता है। ब्रह्मचर्य साधना के ये तीन मुख्य साधन है। इन तीनों को बहिर्मुखी वृत्ति से रोककर अन्तर्मुखी बनाने में जैविक रसायन बहुत काम करते हैं।

वृत्तियों का ऊर्ध्वीकरण : आत्मभावों में रमण

हमारी शरीर रचना में बुद्धि एवं वृत्तियों के जो केन्द्र है, वे सबके सब अधोमुखी हैं। वृत्तियाँ और बुद्धि नीचे की ओर होने से मनुष्य का समग्र चिन्तन अधोमुखी होता है। नीचे हमारा कामकेन्द्र है, इसलिए बुद्धि और वृत्ति कामकेन्द्र की ओर जाती है। मानव चेतना का प्रवाह भी नीचे की ओर बहता है। किन्तु जब मंत्रों और स्तोत्र आदि का उच्चारण किया जाता है, तब एक आश्चर्यजनक परिवर्तन होता है। इसमें शक्तिकेन्द्र से शुरू करके सुषुम्ना के पथ से श्वास को ज्ञानकेन्द्र पर्यन्त ले जाते हैं। नीचे से ऊर्ध्वारोहण की इस स्थिति में वृत्तियों का मुख बदल जाता है। बुद्धि, जो पहले अधोमुखी थी, अब ऊर्ध्वमुखी हो जाती है। जो वासनाएँ, कामनाएँ अधोमुखी बुद्धि और वृत्तियों के आश्रय से पनप रही थीं, वे अब बुद्धि और वृत्तियों का मुख बदल जाने से सूखने लग जाती हैं। मानव चेतना का प्रवाह भी ऊर्ध्वमुखी हो जाता है। वृत्तियों के इस प्रकार के उर्ध्वीकरण से व्यक्ति शुद्ध आत्म-भावों में स्वतः रमण करने लगता है।

आत्मशक्तियों को जगाने के लिए पुरुषार्थ

आत्मा अनन्त शक्तिमान् है, अनन्त ज्ञान, दर्शनयुक्त है, असीम आनन्द का धनी है, किन्तु वह अपनी शक्ति ज्ञान-दर्शन को भूलकर स्वयं को शक्तिहीन, ज्ञान-दर्शन से क्षीण, आनन्द से अज्ञात मानता है। अपने आपसे अपरिचित, अनभिज्ञ और अबोध

मानव शरीर, इन्द्रियों और मन को ही सब कुछ समझता है, इन्हीं के चक्कर में पड़कर आत्मा की सेवा करने के बदले विषयों और कषायों की सेवा में, पुद्गलों और जड़ पदार्थों की सेवा में लग जाता है। फलतः विषय-वासनाओं एवं कामसुख को ही सर्वस्व समझकर आत्मरमणरूप ब्रह्मचर्य की साधना से दूरातिदूर होता चला जाता है। अतः आत्मरमणरूप ब्रह्मचर्य-साधना के लिए उसे स्वयं के अनन्त-चतुष्टय का भान होना चाहिए। अपने योगों को उसे आत्म-साधना एवं आत्म-चिन्तन की प्रवृत्ति में लगाना चाहिए।

अनन्तचतुष्टयस्वरूप शुद्ध आत्मा का साक्षात्कार हो जाने पर साधक विषय-वासना एवं कामाचार के क्षणिक सुख में नहीं भटकेगा। उसकी रुचि विषयानन्द में बिलकुल नहीं होगी, क्योंकि उसे फिर आत्मा में ही असीम आनन्द की अनुभूति होगी। पंचेन्द्रियों के विषयों के क्षणिक सुख से उसे विरक्ति हो जाएगी। फिर वह विषय-वासनाओं एवं काम,चार में अपनी शक्ति खर्च न करके आत्मा की अनन्त शक्ति को प्रकट करने में लगेगा। फिर उसकी इच्छाएँ, कामनाएँ तथा वासनाएँ समाप्त हो जायेंगी। वह इनके धरातल से बहुत ऊँचा उठ जायेगा और साधना पूर्ण हो जाने पर वह सिद्ध एवं शुद्ध परमात्मा हो जाता है।

अनन्तचतुष्टय-प्राप्ति या आत्म-साक्षात्कार की यह यात्रा यद्यपि इस शरीर से ही प्रारम्भ और शरीर में ही समाप्त करनी होती है। लगता है कि यह यात्रा बहुत ही छोटी-सी है, केवल एक-दो फुट की यात्रा। थोड़ी-सी दूर चलते ही यात्रा सम्पन्न हो जाएगी। किन्तु यह छोटी-सी यात्रा भी बहुत कठिन, दुष्कर और टेढ़ी है। ऊँचे पहाड़ पर सीधी चढ़ाई के समान शक्तिकेन्द्र से दर्शनकेन्द्र तक का यह आरोहण बड़ा ही कठिन है। यह अध्यात्म यात्रा—तत्त्वतः ब्रह्मचर्य-यात्रा है। इसमें शक्ति-केन्द्र से, और पीछे के रास्ते से आगे बढ़ना होता है; आगे के रास्ते से नहीं। अर्थात् सुषुम्ना के (पीछे के) मार्ग से, शक्तिकेन्द्र से चलकर ऊपर की ओर तैजसकेन्द्र में पहुँचना होता है। तैजसकेन्द्र आगे की ओर नहीं है। तैजसकेन्द्र का मूल सुषुम्ना में है। अतः यह आध्यात्मिक चढ़ाई या ऊर्ध्वारोहण उस सुषुम्ना के मार्ग से करना होता है। तैजसकेन्द्र तक पहुँचकर थोड़ा विश्राम लेकर फिर आगे आनन्द केन्द्र पर पहुँचना होता है। यहाँ तृतीय मध्यविश्राम है। फिर चढ़ाई शुरू करके तालु पर होते हुए दर्शनकेन्द्र पर पहुँचना होता है। यहाँ आकर यह तत्त्वतः ब्रह्मचर्य यात्रा समाप्त होती है। यहाँ आकर आत्म-साक्षात्कार की स्थिति बनती है। साक्षात्कार के इस बिन्दु पर पहुँचने पर रागद्वेष एवं उसके परिवार काम, क्रोध, लोभ, मोह, अज्ञान, मान, माया आदि विकार-मल भी क्षीण हो जाते हैं। आत्म-साक्षात्कार घटित होने के साथ ही ध्येय, ध्याता और ध्यान तीनों एक अभिन्न हो जाते हैं। इनका भेद समाप्त हो जाता है। मंत्र का शब्द मिट जाता है, अर्थ के साथ तादात्म्य हो जाता है। मंत्रोच्चारण करने वाला, मंत्र और मंत्र का प्राप्य अर्थ, ये तीनों एक हो जाते हैं। परन्तु यह ब्रह्मचर्य-साधना की सर्वोच्च भूमिका है।

तात्त्विक ब्रह्मचर्य-साधना में सहायक पाँच तत्त्व

ब्रह्म-रमणरूप इस आध्यात्मिक ब्रह्मचर्य साधना में पाँच तत्त्व सहायक बनते हैं—(१) तप, (२) ध्यान, (३) स्वाध्याय, (४) संयम और (५) मंत्र।

(१) **तप**—आध्यात्मिक दृष्टि से इस ब्रह्मचर्य-साधना में तप बहुत बड़ा सहायक है। ब्रह्मचर्य भी एक प्रकार का उत्कृष्ट तप है। काम, क्रोध आदि विकारों को तपाने के लिए तथा तैजस और कार्मण दोनों शरीरों को जगाने के लिए तप का आलम्बन अनिवार्य है। तप से ब्रह्मचर्य-साधना में अवरोधक, बाधक एवं विघ्नकारक राग, द्वेष, काम, मोह आदि के परमाणुओं को तथा कर्मरूप आवरणों को हटाने में बहुत सहायता मिलती है। तप से मनोयोग, वचनयोग, काययोग, सूक्ष्म (तैजस) और अतिसूक्ष्म (कार्मण) शरीर के परमाणु उत्तप्त होकर पिघलते हैं, मलिन परमाणु दूर होने से ये सब निर्मल हो जाते हैं। उस स्थिति में ब्रह्मचर्य-साधना सरल, निर्विघ्न और अनाबाध हो जाती है। तप के बिना ये जो मल चिपटे हुए हैं, वे पिघल नहीं सकते। जब तप का ताप लगता है, तब चिपके हुए विकार के अशुद्ध परमाणु अपना स्थान छोड़ने लगते हैं। आत्मा निर्मल और विशुद्ध होती जाती है। अतः अशुद्ध परमाणुओं को उत्तप्त करके पिघलाने की प्रक्रिया में तप का बहुत बड़ा योगदान है।

(२) **ध्यान**—ध्यान की प्रक्रिया में चार रूप समाविष्ट होते हैं—(१) कायोत्सर्ग, (२) व्युत्सर्ग, (३) धर्मध्यान और (४) शुक्लध्यान।

कायोत्सर्ग में काया के प्रति ममत्व का विसर्जन किया जाता है। इसका प्रारम्भिक रूप है—शिथिलीकरण का अभ्यास। इसमें शरीर को बिलकुल शिथिल एवं निश्चेष्ट-सा करके प्रत्येक अंग को निर्जीव-सा प्रतीत करने का अभ्यास किया जाता है। श्वास को शान्त करने, शरीर चेष्टाओं को बन्द करने और मन को खाली करने का अभ्यास शिथिलीकरण से किया जाता है।

द्वितीय रूप है—**देह-विसर्जन**। देह-विसर्जन के जब भी प्रसंग आएँ तब तत्पर रहना, देह विसर्जन का अभ्यास करना। कायोत्सर्ग के इन दोनों रूपों का सम्मिलित अभ्यास तीन प्रकार से होता है—(१) सुखासन से बैठकर, (२) लेटकर, और (३) खड़े-खड़े।

किसी भी सुखासन से बैठें। रीढ़ की हड्डी और गर्दन को साधी रखें। उनमें झुकाव या तनाव न हो। दीर्घश्वास लें, जितने बिना कष्ट के ले सकें। इससे शरीर और मन दोनों के शिथिलीकरण में सहारा मिलेगा। तत्पश्चात् मन से प्रेरणा देकर प्रत्येक अवयव को शिथिल कीजिए। जिस अवयव को शिथिल करना हो, उस पर मन को टिकाइए। शिथिलीकरण का क्रम यह है—गर्दन, कंधा, छाती, पेट,

पृष्ठभाग, भुजा, हाथ, हथेली, उंगली, कमर, टाँग, पैर और पैर की अंगुलियाँ। फिर मन से शरीर के अवयवों और मांसपेशियों का अवलोकन करें। इस प्रकार स्थूल शरीर के शिथिलन के पश्चात् उससे सम्बन्ध विच्छेद करके सूक्ष्म शरीर (तैजस और कार्मण) से दृढ़ सम्बन्ध स्थापित करने का ध्यान कीजिए। तैजस शरीर से सम्बन्ध स्थापित कर प्रकाश, शक्ति और दीप्ति का अनुभव कीजिए और कार्मण शरीर के साथ सम्बन्ध स्थापित करके भेदविज्ञान का अभ्यास कीजिए। इस भूमिका में 'शरीर मेरा है' यह ममता और मानसिक भ्रान्ति दूर हो जानी चाहिए।

लेटकर कायोत्सर्ग करने का क्रम इस प्रकार है—सीधे लेटें, दोनों हाथों-पैरों को अलग-अलग रखें। सिर से पैर तक के अवयवों को पहले तानें और फिर क्रमशः स्थिर करें। दीर्घ और सममात्रा में श्वास लें। मन को श्वास-प्रश्वास में लगाकर आत्म-चिन्तन या ब्रह्मचर्य आदि किसी एक विचार में स्थिर हो जाएँ।

खड़े-खड़े कायोत्सर्ग करने का क्रम यह है—पैर के पंजों को पीछे से सटा लें और आगे से चार अंगुल का अन्तर रखकर खड़े हो जाएँ। दोनों हाथों को नीचे की ओर फैला दें। दीर्घ श्वास लें। मानसिक निरीक्षण के साथ शरीर के प्रत्येक अवयव को शिथिल करें और ध्यान में लीन हो जाएँ। अथवा एक पुद्गल में मानसिक दृष्टि गड़ा (निविष्ट) कर खड़े रहें।

कायोत्सर्ग के तीनों प्रकार के साथ यथास्थान ये संकल्प दोहराइए—(१) मेरा शरीर शिथिल हो रहा है, (२) मेरा श्वास शिथिल हो रहा है, (३) मेरे स्थूल शरीर का विसर्जन हो रहा है, (४) मेरा तैजस शरीर प्रदीप्त हो रहा है, (५) मेरा कार्मण शरीर भिन्न हो रहा है, (६) ममत्व विसर्जन हो रहा है, (७) मैं आत्मा में लीन हो रहा हूँ। कायोत्सर्ग से मानसिक तनाव, स्नायविक तनाव और भावनात्मक तनाव मिटाया जाता है। कायोत्सर्ग के प्रयोग से ब्रह्मचर्य-साधना में बहुत ही सहायता मिलती है।

व्युत्सर्ग—ध्यान का दूसरा रूप है—व्युत्सर्ग। व्युत्सर्ग में आत्मा के सिवाय संसार के समस्त पदार्थों के प्रति व्युत्सृजन की भावना में चित्त को एकाग्र करना, तथा ओटो सजेशन देना होता है।

धर्मध्यान—धर्मध्यान में पिण्डस्थ, पदस्थ एवं रूपस्थ तीन ध्यानों का समावेश होता है।

पिण्डस्थ ध्यान कायोत्सर्ग से भी यत्किंचित् सम्बन्ध रखता है।

पदस्थ ध्यान में किसी पद को लेकर उसके अर्थ का ध्यान किया जाता है। जैसे—किसी ने 'शुद्ध पूर्ण आत्मा में रमणता के पद' का ध्यान किया। अज्ञान अपूर्णता है, दर्शन और चारित्र की न्यूनता अपूर्णता है, जिसके कारण अब्रह्म भाव आ जाता है। शक्तिहीनता भी एक अपूर्णता है, तथा वैषयिक सुख-दुःख की अनुभूति भी एक

अपूर्णता है। जब तक ये अपूर्णताएँ हैं, अथवा इन अपूर्णताओं को लेकर मन में हीन-भावनाएँ हैं, इनकी पूर्णताओं (अनन्तचतुष्टय की पूर्णताओं) का भान नहीं है, तब तक पूर्ण शुद्ध आत्मा की उपलब्धि या आत्मरमणता दूरातिदूर है। इसके लिए पूर्ण आत्मा का ध्यान अपेक्षित है। अर्थात्—ज्ञान की पूर्णता, दर्शन की पूर्णता, शक्ति की पूर्णता और आनन्द (आत्मसुख) की पूर्णता का ध्यान करने से पूर्ण आत्मस्वरूप को प्रकट करने में बहुत सहायता मिलती है। ईशावास्य उपनिषद् में यह मंत्र आता है—

ॐ पूर्णात् पूर्णमिदमुच्यते—

अपूर्ण से पूर्ण का ध्यान करने से ही आत्मा को परिपूर्णता प्राप्त होती है। इससे तत्त्वतः ब्रह्मचर्यसाधना सहज हो जाती है।

रूपस्थ ध्यान—अर्हत्, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु, इन पाँचों के रूप का, आकृति का गुणात्मक ध्यान करना रूपस्थ ध्यान है। रूपस्थ ध्यान से भी ब्रह्मचर्य-साधना सरल हो जाती है।

शुक्लध्यान—यह रूपातीत ध्यान है। इसमें आत्मा, आत्मस्वभाव, आत्मगुणों, आत्मशक्तियों आदि का ध्यान करके निर्विकल्प स्थिति में पहुँचकर शुद्ध आत्मा में रमण करना होता है। यह भी ब्रह्मचर्य-साधना में बहुत आवश्यक है। ध्यान में एक विषय में एकाग्र होना आवश्यक है। ध्यान से विषयासक्ति, कषाय, राग-द्वेष आदि क्षीण होते हैं।

(३) **स्वाध्याय**—वृत्तियों को बदलने और आत्मा की अनन्त शक्तियों एवं गुणों का ज्ञान प्राप्त करने के लिए स्वाध्याय महत्त्वपूर्ण अंग है। स्वाध्याय के द्वारा ब्रह्मचर्य-साधक ब्रह्मचर्य-साधना की विधियों, उपायों, साधनाओं आदि का ज्ञान प्राप्त करके आत्मरमणता में प्रवृत्त हो सकता है। स्वाध्याय में भी ध्यान की भाँति लीनता प्राप्त हो सकती है।

(४) **संयम**—ब्रह्मचर्य-साधना के लिए संयम बहुत ही आवश्यक है। सामान्य व्यक्ति पाँचों इन्द्रियों, मन तथा शरीर के अंगोपांगों के असंयम के कारण अपनी बहुत-सी शक्ति व्यर्थ गंवा देता है, वह जिसका विकास पंचेन्द्रियसंयमपूर्वक ब्रह्मचर्य-साधना द्वारा कर सकता है। ज्ञान, दर्शन, चारित्र एवं आनन्द आदि भी तत्त्वतः आत्मा की निजी शक्तियाँ हैं, उनको प्रकट करने के लिए यह आवश्यक है कि प्रत्येक प्रवृत्ति संयम को मद्देनजर रख कर की जाए। संयम ब्रह्मचर्य-साधना के मार्ग में बाधक एवं अवरोधक तत्त्वों को दूर करके ब्रह्मचर्य-पालन में सहायक होता है।

(५) **मंत्र**—मंत्र शब्दात्मक होता है। उसमें बहुत बड़ी शक्ति होती है। मंत्र के द्वारा आत्मिक शक्तियों का जागरण हो सकता है। आत्मा की सोई हुई शक्तियाँ जाग्रत की जा सकती हैं। मंत्र के द्वारा स्थूल, सूक्ष्म और अतिसूक्ष्म शरीरों

की शक्तियों को भी जाग्रत किया जा सकता है। ब्रह्मचर्य-साधना तब तक सफल नहीं कही जा सकती, जब तक आध्यात्मिक-शारीरिक-मानसिक शक्तियों का विकास नहीं होता। इन शक्तियों का विकास होता है—मंत्र-प्रयोग के माध्यम द्वारा विस्फोट की शक्ति की उपलब्धि से। विस्फोट की शक्ति के बिना आत्मा में छिपे गुणरत्नों को बाहर नहीं निकाला जा सकता।

मंत्र एक बहुत बड़ी शक्ति है, ऊर्जा है। उस शक्ति द्वारा अध्यात्म जागरण में बहुत सहायता मिल सकती है। आज भी मंत्रों के द्वारा भयंकर बीमारियाँ नष्ट होती है, सूक्ष्मध्वनि द्वारा आपरेशन क्रिया सम्पन्न की जाती है, सूक्ष्मध्वनि से पारे और पानी का मिश्रण, कपड़ों की धुलाई, हीरे की कटाई आदि कठिन कार्य होते सुने गये हैं। जैसे मंत्र प्रयोग से भौतिक कार्य सम्पन्न हो सकते हैं, वैसे मंत्र-प्रयोग से ब्रह्मचर्य जैसी आध्यात्मिक साधना भी आसानी से सम्पन्न की जा सकती है। मंत्रों की ध्वनि से वातावरण को प्रकम्पित किया जाता है, शब्दों की लहरें चौदह रज्जु प्रमाण लोक में फैलकर अपने समान विचारों का एक वायुमण्डल बना देती हैं। डाक्टर लोग विटामिन सी एवं विटामिन बी काम्पलेक्स द्वारा शरीर में प्रतिरोधात्मक शक्ति बढ़ाने की बात कहते हैं। योग में मंत्र शक्ति यही कार्य करती है। फलत प्रतिरोधात्मक शक्ति बढ़ जाती है। ऊर्जा का प्रबल वातावरण बन जाता है। मन्त्र प्रयोग से संकल्प शक्ति का विकास होता, इच्छाशक्ति प्रबल हो जाती है। इससे एक प्रकार का कवच साधक के चारों ओर बन जाता है। तब बाहर का—विषयवासना के वातावरण का कुप्रभाव या आक्रमण-संक्रमण उस पर जरा भी असर नहीं कर पाता। प्राण शक्ति का भी विकास मंत्रप्रयोग से होता है। अतः मंत्र-प्रयोग ब्रह्मचर्य-साधना में बाधक वातावरण को छिन्न-भिन्न कर देता है। वह ब्रह्मचर्य के अनुकूल वातावरण तैयार कर देता है।

परमात्मभाव में रमणतारूप ब्रह्मचर्य-साधना

ब्रह्मचर्य का एक अर्थ—परमात्मभाव की ओर चर्या या गति करना भी है। जीवन में परमात्मभाव की ज्योति ब्रह्मचर्य-साधना से झलक उठती है। परमात्मा का स्वरूप अनन्तज्ञान-दर्शन-शक्ति-आनन्दात्मक है। उसे प्राप्त करने या परमात्मभाव की ओर गति करने में ध्यान और मंत्र का प्रयोग बहुत सहायक है, जिसका विवेचन पहले किया जा चुका है।

जैनधर्म में आध्यात्मिक दृष्टि से गुणस्थानों का सुन्दर वर्णन किया गया है। उच्चतर भूमिका में पहुँचने के लिए प्रत्येक गुणस्थान वीतरागता के, परमात्मतत्त्व के महान प्रकाश की ओर जाने के लिए सोपान है। वे गुणस्थान कहीं बाहर से पैदा नहीं होते, उन्हें अन्तर् से ही प्रकट किया जाता है। अमुक-अमुक विकार को दूर करने से अमुक गुणस्थान आ जाता है। मिथ्यात्व को हटाते ही सम्यक्त्व की भूमिका,

अविरति को हटाते ही देशविरत और सर्वविरत गुणस्थान आगए। इस प्रकार विकारों को दूर करने के लिए संकल्प शक्ति, ध्यान, भावना, अनुप्रेक्षा आदि का प्रयोग करना आवश्यक है। इस प्रकार ज्यों-ज्यों विकार भाव दूर होते जाएँगे; त्यों त्यों गुणस्थान की श्रेणी पर क्रमशः आरोहण होता जाएगा और इसके साथ ही क्रमशः परमात्मभाव का भी विकास होता जाएगा।

परमात्मभाव की निधि तो हमारी आत्मा में गड़ी हुई है, वह तो आत्मा का ही स्वभावरूप है। उस पर आये हुए आवरण को हटाना है। जब तक परमात्मभाव की ओर गति नहीं की जाती, तब तक कामादि विकारों के आक्रमण बार-बार होते रहते हैं, प्रतिज्ञा लेने के बावजूद भी ब्रह्मचर्य-साधना यथार्थ रूप से नहीं हो पाती। जिस व्यक्ति में परमात्मभाव जाग गया, वह निरीह और निष्काम बन जाता है। उसकी समस्त काम वासनाएँ, इच्छाएँ, कामनाएँ समाप्त हो जाती हैं। वह काम के धरातल से ऊपर उठ जाता है। उसकी ब्रह्मचर्य-साधना सहज हो जाती है।

प्रश्न होता है—ब्रह्मचर्य-साधना आत्मभाव में रमण करने से हो जाती है तब परमात्मभाव की ओर गति करने की क्या आवश्यकता है? साधक को अपनी आत्मा की ओर ही देखना चाहिए, दूसरों की ओर देखने की जरूरत क्या है? इस प्रश्न का समाधान दो तरह से किया जाता है— एक तो, सब साधकों की भूमिका एक-सी नहीं रहती। कई साधक सीधे आत्मभाव में रमण करने में योग्य एवं समर्थ नहीं होते। दूसरे, साधकों के समक्ष कोई न कोई निदर्शन (मॉडल या आदर्श) होना आवश्यक है, जिसके सहारे से वे आत्मभाव में आसानी से रमण कर सकें। इसके लिए परमात्मभाव का सहारा लेना पड़ता है। संस्कृत वाङ्मय के एक कवि ने कहा है—

गुणिनामपि निजरूप प्रतिपत्तिः परत एव सम्भवति।
स्वमहिमदर्शनमक्ष्णोर्मुकुरतले छायते यस्मात्॥

गुणीजनों को भी अपने रूप की प्रतिपत्ति-प्रतीति दूसरों के सहारे से होती है। वह अपने से ज्ञानादि में आगे बढ़े हुए महापुरुष के द्वारा अपने को देखता है। आँख सबको देखती है, किन्तु अपने-आपको देखने के लिए उसे दर्पणतल का सहारा लेना पड़ता है।

ब्रह्मचर्य-साधक को भी परमात्मभाव में गति करने के लिए या आत्मा में परमात्मभाव जगाने के लिए वीतराग परमात्मा का अवलम्बन लेना आवश्यक है। इसीलिए वह परमात्मभाव को जगाने के लिए परमात्मा के नाम, स्वरूप, शरीर एवं शब्द का अवलम्बन लेता है; ताकि अपनी आत्मा को देख सके, तथा उसके सहारे से आध्यात्मिक विकास की यात्रा कर सके। □

६

मनोविज्ञान एवं शरीर-विज्ञान के अनुसार ब्रह्मचर्य-साधना

धर्म एवं दर्शन—ब्रह्मचर्य की साधना को आध्यात्मिक दृष्टि से महत्व देते हैं और उस दृष्टि से उसकी विवेचना करते हैं। किंतु सामान्य तर्कशील मानस सिर्फ धर्म की दृष्टि से ही किसी बात पर श्रद्धा/विश्वास नहीं करता, उसे शरीर-विज्ञान तथा मनोविज्ञान की दृष्टि से भी जब वस्तुस्थिति समझाई जाती है तब उसका अन्तःकरण समाधान प्राप्त करता है और उसे यह समझना सरल हो जाता है कि मेरा यह आचरण मेरे जीवन के लिए, मन एवं शरीर के लिए भी लाभकारी एवं उपयोगी है। अतः अब ब्रह्मचर्य-साधना को मनोविज्ञान तथा शरीर-विज्ञान की दृष्टि से भी समझना हितकर होगा।

मनोविज्ञान की दृष्टि से ब्रह्मचर्य-साधना

मनोविज्ञान मन के स्वरूप तथा उसकी विविध वृत्तियों-प्रवृत्तियों का विश्लेषण करने वाली विद्या है। मनोविज्ञान मानता है कि मनुष्य के बाह्य व्यवहारों, चेष्टाओं, अच्छी-बुरी प्रवृत्तियों, शुभ-अशुभ कार्यों, उचित-अनुचित वचनों का मूल स्रोत उसका मन है। मन से ही ये सब पैदा होते हैं। अनेक शारीरिक रोगों का डाक्टर-वैद्यों द्वारा बाह्य उपचार करने पर भी, वे ठीक नहीं होते, उनका कारण मानसिक होता है। अस्वस्थ एवं विकृत मन ही अनेक बीमारियों का कारण होता है।

मनोविज्ञान का मत है कि जिस प्रकार शारीरिक स्वास्थ्य मानसिक स्वास्थ्य पर निर्भर है, उसी प्रकार मन में रहने वाले सदाचार-दुराचार या कामवासना अथवा ब्रह्मचर्य-साधना के विचार मानव-मन की अज्ञात क्रियाओं पर निर्भर हैं।

मनोविज्ञान का वस्तु विश्लेषण इस प्रकार है कि प्रत्येक मानव के अव्यक्त मन में अनेक प्रकार की ग्रन्थियाँ (Complexes) रहती हैं, जो उसकी विविध वासनाओं, कामचेष्टाओं और विविध अनाचारों के कारण बन जाती हैं। एक राष्ट्र का दूसरे राष्ट्र से, एक धर्मसम्प्रदाय का दूसरे धर्मसम्प्रदाय से, एक जाति और कौम का दूसरी जाति-कौम से तथा एक ही परिवार में परस्पर एक-दूसरे से जो संघर्ष, कलह, मन-

मुटाव, या ईर्ष्या-द्वेष, या वैर-विरोध है, उसका मूल कारण भी मानव-मन की ग्रंथियाँ हैं। ब्रह्मचर्य-साधना में बाधक-साधक कारणों को भी मनोविज्ञान द्वारा जाना जा सकता है। मनुष्य की कामवासना बाहर से शान्त जान पड़ती है, और वह भी अपने मन को शान्त जानता है, किन्तु कोई अनुकूल निमित्त मिलते ही उनके अन्तर्मन में कामवासना भड़ककर बाह्य मन में आ धमकती है।

मन के तीन प्रकार

आधुनिक मनोविज्ञानशास्त्र में मन के तीन प्रकार बताये गये हैं—चेतन मन (conscious mind), अचेतन मन (unconscious mind) और चेतनोन्मुख मन (pre-conscious mind)। प्रसिद्ध मनोविज्ञानवेत्ता डॉ. फ्रॉयड के अनुसार—जिस भाग को हम जान सकते हैं, उसे चेतन मन कहते हैं, जिस हिस्से के विषय में हम कुछ नहीं जान पाते, वह अचेतन मन कहलाता है और चेतन तथा अचेतन मन के बीच का भाग चेतनोन्मुख मन कहलाता है।

मनुष्य जितना भी प्रत्यक्ष व्यवहार करता है, या जितनी भी प्रवृत्तियाँ प्रत्यक्ष में करता है, वे सब चेतन मन के व्यापार हैं। चेतन मन के बाह्य व्यवहार में तो समाज की दृष्टि में एक मनुष्य पूर्ण ब्रह्मचारी या सदाचारी सज्जन दीखता है, वह अपने-आपको भी इसी रूप में प्रस्तुत करता है। परन्तु उसके अचेतन मन में कितनी ही कामवासनाएँ अतृप्त, अज्ञात, प्रच्छन्न कुसंस्कारों की परत के रूप में पड़ी रहती हैं। अर्थात्—चेतन मन में आने वाली कामवासनाएँ, न आने वाली कामवासनाओं का अत्यल्प भाग ही होता है। मनुष्य की जन्मजात प्रवृत्तियाँ अचेतन मन में ही पड़ी रहती हैं। पुराने विस्मृत अनुभवों तथा अतृप्त वासनाओं की परतें अचेतन मन में पड़ी रहती हैं। सक्रिय कामवृत्तियों का उद्गम स्थल अचेतन मन है।

कोई कुविचार या कामवासना चेतन मन में अभिव्यक्त होने से पूर्व रंगभूमि के सुसज्जित पात्रों के समान पर्दे के पीछे ठहरे रहते हैं।

चेतनोन्मुख मन, मन का वह हिस्सा है, जहाँ चेतन मन में आने से कुछ ही समय पूर्व विचार या वासनाएँ ठहरती हैं। चेतनोन्मुख मन के अनुभव प्रयत्न करने पर याद आ जाते हैं, जबकि अचेतन मन में रहे हुए अनुभव प्रयत्न करने पर भी याद नहीं आते। उन्हें स्मृति में लाने के लिए विशिष्ट प्रयत्न करना पड़ता है। मनोविज्ञान-शास्त्र-प्रतिपादित इन तीनों का अध्ययन ब्रह्मचर्यसाधक के लिए विशेष अपेक्षित है।

ब्रह्मचर्य-साधना करने वाला साधक यदि इन मनोवृत्तियों को जो कि ज्ञात, अज्ञात एवं अर्धज्ञात रूप से मन में रहती हैं, जब तक हृदयंगम नहीं करता, तब तक वह कई बार इस धोखे में रहता है कि 'मैंने मन पर विजय प्राप्त कर ली है, मेरी कामवासना बिलकुल शान्त हो चुकी है।' परन्तु अचेतन मन में विभिन्न कामनाओं एवं

वासनाओं की परतें दबी पड़ी हैं, इसका उसे पता नहीं होता, जो कि बाद में निमित्त मिलने पर उभरती हैं। राख के ढेर में दबी हुई अग्नि जैसे हवा आदि का निमित्त पाते ही प्रज्वलित हो उठती है, इसी प्रकार अचेतन मन में छिपी हुई कामवासनारूप आग भी वैसे निमित्त मिलने पर उभर आती है। अतः प्रत्येक ब्रह्मचर्य-साधक को अचेतन मन में दबी हुई या छिपी हुई कामवासना की, भोगेच्छा की वृत्तियों को दबाने, शान्त करने, रोकने अथवा रूपान्तर, मार्गान्तरीकरण या शोधन करने की विधि सीखनी चाहिए, ताकि वह ब्रह्मचर्य-साधना में सफल हो सके।

कामवृत्ति के मूल के सम्बन्ध में मतभेद

काममनोविज्ञानवेत्ता डॉ. फ्रॉयड आदि का यह मत है कि मन की मूलशक्ति काम (वासना) वृत्ति है। फ्रायड इसे फ्रांसीसी भाषा में **लिबिडो**—जीवनीशक्ति कहता है। उसका यह भी मत है कि प्रत्येक व्यक्ति में जन्म से लेकर मृत्यु तक काम-वासना किसी न किसी रूप में विद्यमान रहती है। उसकी प्रबलता अथवा अभिव्यक्ति में अन्तर हो सकता है। प्रौढ़वय या युवावस्था में वह स्त्री-सहवास या रतिक्रिया के रूप में अभिव्यक्त होती है, जबकि बाल्यावस्था में अपनी जननेन्द्रिय से खेलने आदि के रूप में प्रकट होती है। परस्पर प्रणय-प्रदर्शन में भी कामवासना की अभिव्यक्ति देखी जा सकती है।

फ्रॉयड आदि के मत से प्राचीन धर्मशास्त्रियों का पर्याप्त मतभेद है। उनका कहना है कि यदि जन्म से ही प्रत्येक मानव में कामवृत्ति स्वाभाविक होती, तब तो बालब्रह्मचारी तीर्थंकरों, ऋषि-महर्षि, शुकदेवजी, सनक्, सनत्, सनन्द और सनातन, गजसुकुमार मुनि, अतिमुक्त मुनि आदि बाल्य वय में ऋषि-मुनि धर्म में दीक्षित हुए बाल ऋषि-मुनियों में कामवृत्ति क्यों नहीं पैदा हुई? ब्रह्मचर्य-साधना की वृत्ति कैसे प्रादुर्भूत हुई? इससे सिद्ध होता है कि काम-वृत्ति (वासना) मानव-मन की मूल शक्ति नहीं है। वातावरण एवं परिस्थिति अथवा अभ्यास के अनुसार इसका आविर्भाव-तिरोभाव होता है। जिन महान् आत्माओं को बाल्यकाल से ही ब्रह्मचर्य (संयम) मय वातावरण मिलता है, अथवा जो ब्रह्मचर्य-साधना का अभ्यास करते हैं, वे काम-वासना के कुसंस्कारों से प्रायः अछूते रहते हैं या कामवासना को उखाड़ देते हैं।

इसके अतिरिक्त जिन बालकों के ब्रह्मचर्य-पालन के पूर्वजन्म के संस्कार सुदृढ़ होते हैं, वे विपरीत परिस्थितियों तथा विलासितापूर्ण वातावरण में रहते हुए भी कामवासना के दलदल में नहीं फँसते। जो भी हो, इस बात से मनोविज्ञान भी इन्कार नहीं करता कि कामशक्ति का रूपान्तर, मार्गान्तर, अवरोध, एवं शोधन आदि हो सकता है।

कामवासना की तीन श्रेणियाँ

मनोविज्ञान के विद्वानों ने कामवासना को तीन श्रेणियों में वर्गीकृत किया है—

(१) सहवास की इच्छा, जो पुरुष में स्त्री के प्रति और स्त्री में पुरुष के प्रति होती है। यह कामवासना का प्रथम रूप है।

(२) मानसिक संयोग, जो स्त्री-पुरुष में एक-दूसरे के प्रति आकर्षण के रूप में, प्रेम प्रकाशन के रूप में तथा कामवासनामय वार्तालाप आदि करने की अभिलाषा के रूप में प्रकट होता है। यह कामवासना का द्वितीय रूप है।

(३) सन्तान के प्रति वात्सल्य एवं उसके संवर्द्धन, पालन-पोषण के भाव में दाम्पत्य जीवन की पूर्ति की जाती है। सन्तानोत्पत्ति की एषणा के परिणामस्वरूप ही स्त्री-पुरुष का शारीरिक-मानसिक मिलन होता है। यह कामवृत्ति का तृतीय रूप है।

दाम्पत्य जीवन में बहुधा कामवासना की ये तीनों श्रेणियाँ पाई जाती हैं। दम्पति का परस्पर एक दूसरे के प्रति आकर्षण होता है, तब परस्पर विवाह की इच्छा होती है और तत्पश्चात् सन्तानैषणा और संतति के पालन-पोषण, संवर्द्धन की जिम्मेवारी अपने पर लेने की वृत्ति। किसी-किसी व्यक्ति में कामवासना के तीनों अंगों में से एक ही अंग की अधिकता होती है, तब दूसरे अंग निर्बल पड़ जाते हैं। जैसे—किसी व्यक्ति में भोगेच्छा प्रबल होती है, उस स्थिति में उसकी सन्तानैषणा तथा सन्तान के पालन-पोषण की वृत्ति मन्द पड़ जाती है। ऐसी भी घटना हो जाती है, अपनी कामवासना में विघ्नरूप होने वाली सन्तति को स्त्री या पुरुष द्वारा समाप्त भी कर दिया जाता है। आजकल यह जघन्य प्रवृत्ति प्रबल हो रही है।

इसीलिए मनोवैज्ञानिकों का कहना है कि यद्यपि कामवासना के ये तीन मुख्य रूप बताये हैं, तथापि वह मानव-जीवन में अनेक रूपों में प्रकट होती है। बाह्य शिष्टाचार, सभ्यता, पोशाक, अंगों का भलीभाँति प्रच्छादन, घूंघट (पर्दा) प्रथा, आदि अनेक साधन कामवासना को प्रच्छन्न रखने अथवा दमन के हेतु सभ्य मानव-जाति ने अपनाये हैं। इसी दमन या प्रच्छन्नता के परिणामस्वरूप मानव दूसरे प्राणियों से पृथक् श्रेणी का समझा जाता है, तथापि मानव जाति के विगत इतिहास को देखें तो कामवासना की व्यापकता का नग्न चित्र उपलब्ध होता है।

यूनान के इतिहास में—माता और पुत्र के कामसम्बन्ध का तथा मिस्र देश के इतिहास में भाई-बहन के कामसम्बन्ध का उल्लेख मिलता है। इन समस्त उदाहरणों से प्रमाणित हो जाता है कि सभी देशों और कालों में कामवासना की व्यापकता रही है। इतना होने पर भी सभी देश, काल और परिस्थितियों में कामवासना को निर्मूल करने वाले, या जन्म से ही कामवासना से विरत महान् आत्मा भी हुए हैं। इसलिए कामवासना मनुष्य के लिए स्वाभाविक नहीं है, वह सांयोगिक परिस्थितिजन्य है।

कामवासना का दमन : उचित या अनुचित ?

साथ ही पूर्वोक्त मनोवैज्ञानिकों ने यह भी विचार प्रकट किया है कि—काम-

वासना के दमन से वह थोड़ी देर के लिए दब जाती है, अचेतन मन में चली जाती है; किन्तु नष्ट नहीं होती। बल्कि जब तक उसका दमन होता रहेगा, वह मनुष्य को चैन से नहीं बैठने देगी। मनोविज्ञान के सिद्धान्तानुसार कामवासना के दमन के दो परिणाम निकलते हैं—

(१) उचित दमन से उसकी शक्ति उच्चकोटि के सत्कार्यों में प्रकट होती है, तथा

(२) अनुचित दमन से वह गुप्त रूप से, टेढ़े-मेढ़े मार्गों से विकृत रूप में फूट कर बाहर निकलती है।

दमन का प्रथम प्रकार कामवासना का ऊर्ध्वीकरण या संशोधन है, जिससे ब्रह्मचर्य-साधना आसान हो जाती है; जबकि दमन का दूसरा प्रकार वासना का अधोगमन एवं विकार है, जो पतन की ओर ले जाता है।

कामवासना के अनुचित दमन की प्रतिक्रिया इतनी प्रबल होती है कि वह सब प्रकार के प्रतिबन्ध होते हुए भी किसी न किसी प्रकार फूटकर बाहर निकल पड़ती है। अथवा वह व्यक्ति के अचेतन मन में छिपकर बैठ जाती है, मन की असावधानी के कारण संयोग मिलते ही वह अनेक रूपों में प्रकट होती है। जैसे—अश्लील गायन, अश्लील अपशब्द, अश्लील व्यवहार, कुस्वप्न, अप्राकृतिक मैथुन, गुप्त दुराचार आदि। अनेक प्रकार के कामोन्माद इसी अनुचित दमन के परिणाम हैं। कभी-कभी प्रबल कामोन्माद के कारण मनुष्य प्रतिबन्धों को तोड़कर खुलकर खेलने लगता है। अतः उचित दमन के द्वारा कामवासना के ऊर्ध्वीकरण, मार्गान्तरण या संशोधन का मार्ग ही ब्रह्मचर्य-साधना के लिए उपादेय है। यही ब्रह्मचर्य-विज्ञानवेत्ताओं के सिद्धान्त से सम्मत है।

कामवासना को दमन करने का दूसरा प्रकार एक तरह का हठयोग है। इसमें वासना को दबाने के लिए जेल की एकान्त कोठरी में डाल दिया जाता है या स्वयं को मनुष्य एकान्त में डाल देता है, जननेन्द्रिय को काट डालता है, अथवा कत्था आदि औषधि खाकर जननेन्द्रिय की उत्तेजना को बन्द कर देता है अथवा आँख, नाक, कान, जीभ, मुँह आदि का छेदन कर देता है या उन्हें जबरन बन्द करके प्रवृत्ति रोक देता है। मगर ऐसे प्रतिबन्धों से कामवासना बाहर से शान्त दिखाई दे सकती है, नष्ट नहीं होती, क्योंकि इसका उद्गम स्थान मन है। कामवासना मन से पैदा होती है तो शरीर के अंगोपांगों को नष्ट कर डालने आदि से वह कैसे नष्ट हो जाएगी?

इसलिए मनोविज्ञान द्वारा प्रतिपादित उचित दमन अथवा शमन ही श्रेयस्कर है। कामवासना के उचित दमन के विभिन्न रूपों की विधियाँ आगे के पृष्ठों में बताने का प्रयास करेंगे।

शरीरविज्ञान की दृष्टि से ब्रह्मचर्य-साधना

ब्रह्मचर्य-साधना में शरीरविज्ञान का बहुत अधिक योगदान है। शरीरविज्ञान ब्रह्मचर्य-साधना का बहुत बड़ा समर्थक एवं सहयोगी है। क्योंकि व्यावहारिक ब्रह्मचर्य-साधना में वीर्यरक्षा सर्वप्रथम आवश्यक तत्त्व है। वीर्य एवं शुक्र इस पंचभौतिक शरीर की शक्ति, बल, पुरुषार्थ, ओज, तेज और सप्त धातु का केन्द्र है। शरीर का महत्त्वपूर्ण तात्त्विक भाग वीर्य है। वीर्यरक्षा से मनुष्य का शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक एवं आध्यात्मिक विकास होता है, जबकि वीर्यनाश से उसका पतन, ह्रास एवं सर्वनाश।

वीर्य क्या है? वीर्य की उत्पत्ति का क्रम क्या है? उसकी स्थिति और सम्पूर्ण शरीर में प्रसृति के विषय में आयुर्वेदशास्त्र एवं पाश्चात्य शरीरविज्ञान में जो कुछ कहा गया है, उसका उल्लेख पहले किया जा चुका है।

व्यक्ति जो कुछ खाता है, उससे उसके शरीर में एक प्रक्रिया चलती है। उसकी प्रथम परिणति रस है। फिर वह शोणित आदि धातुओं में परिणत होता हुआ सातवीं भूमिका में वीर्य बनता है। उसके बाद वह ओज के रूप में सारे शरीर में फैल जाता है। ओज केवल वीर्य का ही अन्तिम सार नहीं है; किन्तु सातों धातुओं (रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा, शुक्र) का अन्तिम सार है। वीर्य का स्थान वास्तव में अण्डकोष है, जबकि ओज का स्थान हृदय है, फिर भी वह व्यापी है।[1]

शरीरशास्त्र के अनुसार शरीर में आठ ग्रन्थियाँ होती हैं—

(१) पीयूष (श्लैष्मिक या पिच्युटरी), (२) कण्ठमणि ग्रन्थि (थायराइड),
(३) वृषण ग्रन्थि, (४) सर्वकिण्वी ग्रन्थि (पैनक्रियास),
(५) एड्रीनल या सुप्रारीनल ग्रन्थि, (६) पैराथाइरायड ग्रन्थि,
(७) तृतीयनेत्र ग्रन्थि (पीनियलबॉडी) और (८) यौवनलुप्त ग्रन्थि (थाइमस)।

इन ग्रन्थियों का कार्य इस प्रकार है—पीयूषग्रन्थि थाइरायड, पैराथाइरायड, एड्रीनल, पैनक्रियास और वृषणकोषों को नियन्त्रित करती है। यह ग्रन्थि दिमाग के नीचे होती है।

कण्ठमणि ग्रन्थि कण्ठ में श्वासनली से जुड़ी हुई होती है। यह रसस्राव को सन्तुलित रखती है। यदि रसस्राव अधिक हो जाए तो शरीर को पोषण कम मिलता है, तथा दुर्बलता आ जाती है, क्षुधा बढ़ती है। रसस्राव कम हो तो वृद्धावस्था, शिथिलता, उदासी आ जाती है। भूख कम हो जाती है।

---

१ ओजस्तु तेजो धातूनां शुक्रान्तानां परं स्मृतम्।
हृदयस्थमपि व्यापि देहस्थिति निबन्धनम्॥ —सुश्रुत ११/३७

वृषणग्रन्थि सिर्फ पुरुष के ही अण्डकोषों में होती है। इसके रसस्राव से पौरुष जागता है। उसके फलस्वरूप दाढ़ी-मूंछें आती हैं।

पैनक्रियास ग्रन्थि दोनों आँतों के बीच में और एड्रीनल ग्रन्थि गुर्दे के ऊपरी हिस्से में होती हैं। साहस बढ़ाती है। पैराथाइरायड ग्रन्थि भी कण्ठमणि के पास ही चार की संख्या में होती हैं। ये रक्त में केलशियम, फोस्फोरस आदि सन्तुलित रखती हैं। तृतीय नेत्र ग्रन्थि मस्तिष्क में और यौवनलुप्त ग्रन्थि सीने में होती है। इन आठों ग्रन्थियों का सम्बन्ध एक या दूसरे प्रकार से शरीर से है। इसलिए ब्रह्मचर्य-साधना में इनके रसस्रावों का सन्तुलित होना अत्यावश्यक हैं। वीर्यरक्षारूप ब्रह्मचर्य-साधना का सीधा सम्बन्ध वृषण ग्रन्थियों से है। वृषण ग्रन्थियाँ दो स्राव उत्पन्न करती हैं—बहिःस्राव और अन्तःस्राव।

विविध नाड़ियों द्वारा रक्त-रस वृषण ग्रन्थियों में आता है, उसे प्राप्त कर दोनों स्रावों के उत्पादक अवयव अपने-अपने स्राव पैदा करते हैं।

वीर्य अण्डकोष में उत्पन्न होकर दो धाराओं में बँट जाता है। एक धारा वीर्याशय (मलाशय और मूत्राशय के बीच में स्थित) में जाती है, जबकि दूसरी धारा—रक्त के साथ मिलकर शरीर में उत्साह एवं दीप्ति, मस्तिष्क में शक्ति तथा पुरुषार्थ वृत्ति पैदा करती है। वीर्याशय भरा रहे तो दूसरी धारा रक्त में अधिक जाती है। यह स्थिति शारीरिक-मानसिक स्वास्थ्य के लिए अतीव लाभदायक है। वीर्याशय यदि खाली होता रहे तो वीर्य पहली धारा में इतना अधिक चला जाता है कि दूसरी धारा को वह पर्याप्त रूप से नहीं मिल जाता। फलतः शारीरिक और मानसिक दोनों प्रकार के स्वास्थ्य को हानि पहुँचती है।

जो व्यक्ति अत्यधिक वीर्यपात करते हैं, उनकी वृषण-ग्रन्थियों में आने वाले रस-रक्त का उपयोग बहिःस्राव करने वाले अवयव कर लेते हैं। इसके कारण अन्तः-स्राव उत्पन्न करने वाले अवयव उचित वीर्य सामग्री न मिलने से अपना काम करने में अक्षम रह जाते हैं। इसके फलस्वरूप अन्तःस्राव के महत्त्वपूर्ण प्रभावों से शरीर के सभी अंग वंचित रह जाते हैं, जिससे शरीर में अनेक विकार पैदा होते हैं।

आयुर्वेदिक ग्रन्थों में इसे एक दृष्टान्त द्वारा समझाया गया है—सात क्यारियों में से सातवीं क्यारी में बड़ा गड्ढा हो या उसमें से पानी के निकलने के लिए बड़ा छेद हो तो स्वाभाविक है कि पहले सारा जल उसी गड्ढे में भरने लगेगा अथवा उसी क्यारी को पूर्ण करने में लग जायगा।

अति मैथुन आदि के कारण वीर्य का केवल बहिःस्राव होने से वीर्याशय खाली होता रहेगा। और इस स्थिति में शुक्र पुष्ट न होने के कारण सर्व धातु-क्षय हो जाता है।

एक प्रश्न है—भोजन से वीर्य बनता है। वह रक्त के साथ भी रहता है और वीर्याशय में भी जाता है। आयुर्वेद का एक सिद्धान्त है कि वीर्य यदि हीन मात्रा में हो तो क्षीणता आदि दोष बढ़ते हैं और अतिमात्रा में[1] हो तो उससे मैथुन की प्रबल इच्छा जागती है और शुक्राश्मरी (वीर्यजनित पथरी) रोग पैदा हो जाती है। ओज तो जितना भी बढ़े, लाभदायक है; क्योंकि उसके बढ़ने से मन की पुष्टि और बल-वृद्धि होती है।[2]

इस दृष्टि से वीर्याशय में अधिक वीर्य जाने से अधिक उत्तेजना एवं काम-वासना जागनी सम्भव है।

ब्रह्मचर्य-साधक ऐसी स्थिति में क्या करे? वह सदा के लिए सर्वथा भोजन छोड़ दे, यह असम्भव है। वह खाएगा तो उसका रस व वीर्य भी बनेगा, वह अण्डकोश में जाकर संचित भी होगा, वीर्याशय भी भर जाएगा। योगियों ने इस समस्या का हल ढूँढ़ निकाला। उन्होंने स्पष्ट अनुभव किया कि वीर्य केवल वीर्याशय में जाकर संचित होगा तो पीछे से दाब पड़ने से पहले का वीर्य बाहर निकलेगा। फिर दूसरा आएगा, वह भी खाली हो जायेगा। यों खाली होने और भरने का क्रम चलता रहेगा, तो शरीर के अन्य अंगों को पोषण मिलना कठिन हो जाएगा। इसलिए वीर्य को मार्गान्तरित करने की पद्धति खोज निकाली। वीर्य के मार्गान्तरण के लिए उन्होंने उसके ऊर्ध्वाकर्षण के प्रयोग का विकास किया। इस उपाय के फलस्वरूप वीर्य नीचे वीर्याशय में कम और ऊपर सहस्रार चक्र में अधिक जाता है। वीर्य को ऊर्ध्वमुखी करने के प्रयत्न में वे सफल हुए।

वस्तुतः देखा जाय तो वीर्य के दो ही मार्ग हैं—जननेन्द्रिय और मस्तिष्क। अत्यधिक भोगी, विलासी और रुग्ण व्यक्ति के कामवासना की उत्तेजना और वायु विकृति आदि शारीरिक रोग होने पर जननेन्द्रिय से ही वीर्य-व्यय होता है। योगी एवं उच्च कोटि के नैष्ठिक ब्रह्मचारी वीर्य का प्रवाह ऊर्ध्वमुखी कर देते हैं, जिससे उनका वीर्य मस्तिष्क में पहुँच जाता है। यह नियम है कि वीर्य का प्रवाह नीचे की ओर अधिक होगा तो कामवासना बढ़ेगी और उसका प्रवाह ऊपर की ओर होगा तो कामवासना घटेगी, ओज-तेज बढ़ेगा।

वीर्य के ऊर्ध्वीकरण या ऊर्ध्वाकर्षण की प्रक्रिया हम आगे के प्रकरण में बताएँगे।

निष्कर्ष यह है कि शरीरविज्ञान या आयुर्वेद वीर्यरक्षारूप ब्रह्मचर्य-साधना के लिए सुन्दर दिशादर्शन करता है।

---

१ अतिस्त्रीकामतां वृद्धं शुक्रं शुक्राश्मरीमपि। —सुश्रुत. ११/१२

२ ओजोवृद्धौ हि देहस्य तुष्टि-पुष्टि बलोदयः। —सुश्रुत १२/४१

जैन शरीर-विज्ञान और ब्रह्मचर्य-साधना

जैन शरीर-विज्ञान में तैजस शरीर को बल, वीर्य, उत्साह, पुरुषार्थ, प्राणशक्ति या जैविक विद्युत् का खजाना माना है। प्राणधारा तैजस शरीर से निकलती है, जो उस जैविक विद्युत को सारे शरीर में संचारित करती है। जैन दृष्टि से वह प्राणधारा १० भागों में विभक्त है—पाँच इन्द्रियाँ उसके पाँच स्थान हैं, तथा दूसरे पाँच स्थान हैं—मन, वचन, शरीर, श्वासोच्छ्वास और आयुष्य (जीवनी शक्ति)। तैजस शरीर से प्रादुर्भूत होने वाली यह एक ही प्राणधारा शरीर के इन दस मूल स्थानों को सक्रिय बनाती है, संचालित करती है।

ब्रह्मचर्य-साधना से तैजस शरीर सक्रिय और जागृत हो जाता है, जो दशविध प्राणों को इतना सक्रिय एवं जागृत कर देता है कि फिर इन पाँचों इन्द्रियों तथा तन, मन, वचन, श्वास या आयुष्य बल पर किसी प्रकार भी कामवृत्ति का आक्रमण नहीं हो सकता। बिजली का करेंट छू जाने से जैसे प्राणी समाप्त हो जाता है, वैसे ही उस ब्रह्मचर्यनिष्ठ साधक का स्पर्श होते ही काम, क्रोध, मोह, वासना आदि वृत्तियाँ वहीं भस्म हो जाती हैं। वे उसके तन-मन-वचन में, इन्द्रियों और श्वास में प्रवेश ही नहीं कर सकतीं।

आयुर्वेद में पंचप्राण और ब्रह्मचर्य-साधना

आयुर्वेद में पांच प्राण बताये हैं—प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान। प्राण का मुख्य स्थान हृदय (आनन्दकेन्द्र) है, अपान का मुख्य स्थान गुदा (शक्तिकेन्द्र) है, समान का मुख्य स्थान नाभि (तैजसकेन्द्र) है, उदान का मुख्य स्थान कण्ठ (विशुद्धिकेन्द्र) और व्यान का स्थान समग्र शरीर है, किन्तु वह संचालित होता है—दर्शनकेन्द्र के द्वारा। ब्रह्मचर्य-साधना से ये पांचों प्राणशक्तियाँ जाग्रत और सक्रिय हो जाती हैं। पांचों प्राण अपने-अपने मुख्य स्थानों की शक्ति को सक्रिय एवं विकसित करते हैं। पंच प्राणशक्ति के साथ ब्रह्मचर्य-साधना के जुड़ जाने से मन में प्रसन्नता (निर्मलता) का स्रोत फूट पड़ता है, जिस पर बुरे विचारों, ममत्वभावों का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। कामोत्तेजना एवं वासना उसके पास नहीं फटकती। जितेन्द्रियता और मन की प्रसन्नता, ये दो मानसिक स्वास्थ्य के लक्षण हैं, जो ब्रह्मचर्य-साधनाजन्य हैं।

अतः मनोविज्ञान एवं शरीरविज्ञान आदि की दृष्टि से ब्रह्मचर्य-साधना मानव-जीवन के लिए अत्यन्त हितकर एवं उपादेय है।

□□

७

इन्द्रिय-संयम के अनुभूत नुस्खे

सर्वेन्द्रिय-संयम ब्रह्मचर्य-साधना के लिए उतना ही आवश्यक है जितना भवन के लिए नींव। इसके सम्बन्ध में स्वरूप खण्ड में वर्णन किया जा चुका है। यहाँ सर्वेन्द्रिय-संयम के कुछ उपयोगी नुस्खों का निरूपण किया जायेगा, जिनसे ब्रह्मचर्य-साधक अपनी साधना निराबाध, निर्विघ्न एवं निरन्तर कर सके।

परिणाम का विचार—इन्द्रियों के साथ विषयों का संयोग होने पर मनुष्य मन और बुद्धि को भी इसी ओर लगा देता है, तब अनेकों दुःखों का सूत्रपात होता है। जैसे—मनुष्य जीभ की तृप्ति के लिए तरह-तरह के स्वादिष्ट, दुष्पाच्य एवं गरिष्ठ भोजन करता है, उसका परिणाम रोग और शारीरिक कष्ट के रूप में तो प्राप्त होता ही है, उसका दूरगामी दुष्परिणाम ब्रह्मचर्य-साधना में भंग, शिथिलता एवं चित्त में अस्थिरता आदि के रूप में प्राप्त होता है। यही बात स्पर्शेन्द्रिय (जननेन्द्रिय) के सम्बन्ध में है। क्षणिक सुख को प्रधान मानकर आसक्तिवश मनुष्य उस विषय में प्रवृत्त होता है, और प्रकृति की मर्यादा का उल्लंघन करता है, तब वह जान-बूझकर दुःखों को निमंत्रण देता है तथा अपनी जीवनी शक्ति का नाश करके मृत्यु की ओर अग्रसर होता है।

उत्तराध्ययन सूत्र[1] में कहा है— ये कामभोग क्षणमात्र सुख देने वाले, किन्तु बहुत काल तक दुःख देने वाले हैं। काम-भोगों के लिए उपयुक्त सामग्री उपलब्ध करने के लिए बहुत ही कष्ट उठाना पड़ता है, जबकि सुख तो नाममात्र का ही मिलता है।

जिन विषय-भोगों के सेवन में मनुष्य सुख समझता है, वस्तुतः उसके बदले बहुत बड़े दुःख के रूप में मूल्य चुकाना पड़ता है। जब वह सुख नहीं मिलता, तो उसे प्राप्त करने की बेचैनी, फिर भोगते ही समाप्त हो जाने पर फिर नये सिरे से

---

१ खणमेत्तसोक्खा बहुकालदुक्खा, पगामदुक्खा अणिगामसोक्खा।
संसारमोक्खस्स विपक्खभूया, खाणी अणत्थाण उ कामभोगा॥
—उत्तराध्ययन, अ. १४, गा० १३

उसकी प्राप्ति के लिए आसक्ति, लालसा, बेचैनी। इस प्रकार की अंधी दौड़ में[1] दुःख, पश्चात्ताप, ग्लानि, संक्लेश, आसक्ति आदि न जाने कितनी-कितनी तकलीफें और हानियाँ उठानी पड़ती हैं। इनके अत्यधिक सेवन से जीवन-रस निचुड़ जाता है, मनुष्य निःसत्त्व एवं निर्वीर्य होकर विनाश के मुख में चला जाता है। भगवद्गीता में भी कहा है—

"ये जो इन्द्रिय तथा विषयों के संयोग (संस्पर्श) से होने वाले सब भोग हैं, वे निःसन्देह दुःख के ही हेतु हैं और अनित्य हैं। हे अर्जुन! बुद्धिमान विवेकी पुरुषों को उनमें रमण नहीं करना चाहिए।"[2]

कामभोगों को शास्त्रकारों ने किंपाकफल की उपमा दी है। किम्पाकफल दीखने में सुन्दर और स्वाद में मधुर लगता है, किन्तु उसके खाते ही जहर चढ़ने लगता है और शीघ्र ही प्राणान्त हो जाता है। अतः जैसे किम्पाकफलों के सेवन का परिणाम अच्छा नहीं होता, वैसे ही इन विषय-भोगों के सेवन का परिणाम भी अच्छा नहीं होता।[3]

ब्रह्मचर्य-साधक को इन्द्रियों के विषयभोगों के दुष्परिणामों पर विचार करके इनसे दूर ही रहना चाहिए।

विषयभोगों में आसक्ति के लिए जैन शास्त्रों में कुण्डरीक का उदाहरण प्रसिद्ध है। कुण्डरीक ने राज्यसुखों का त्याग किया और अपने भाई पुण्डरीक को राज्य सौंपकर स्वयं ने मुनिदीक्षा ग्रहण की; किन्तु बाद में पाँचों ही इन्द्रिय-विषयों का बार-बार स्मरण एवं इच्छा करने से उनका मन संयम से विचलित हो उठा। उन्होंने निश्चय कर लिया कि मुझे विषयभोगों के उपभोग के लिए पुनः गृहस्थ जीवन स्वीकार कर लेना है। फलतः कुण्डरीक ने मुनिवेष छोड़कर गृहस्थ वेष धारण कर लिया। वह क्षणिक एवं तुच्छ विषय-सुखों में अत्यन्त आसक्त हो गया। अत्यन्त विषयासक्ति के फलस्वरूप तीन ही दिन में वह मृत्यु के मुख में चला गया। अशुभ कर्मों के विपुल जत्थे के कारण मरकर वह नरक का मेहमान बना। उसके भाई पुण्डरीक ने तीन दिन तक शुद्ध संयम पालन किया, जिससे वह कर्मों का ह्रास करके सर्वार्थ-सिद्ध विमान में पहुँचा।[4]

---

१ कामकामी खलु अयं पुरिसे, से सोयइ, जुरइ, तिप्पइ, परितप्पइ।
—आचारांग, श्रु० १, अ० २, उ० ५

२ "ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय! न तेषु रमते बुधः॥"
—गीता, अ०५, श्लोक २२

३ उत्तराध्ययन सूत्र अ० ३२, गा० २० तथा अ० १६, गा० १७

४ ज्ञातासूत्र १६।

अतः इन्द्रिय-विषयों की अत्यधिक आसक्ति के दुष्परिणाम के विषय में शास्त्रकार कहते हैं—जो काम-भोग की इच्छा (लालसा) करते हैं, वे उन्हें प्राप्त किये बिना ही दुर्गति में जाते हैं।[1]

सभी इन्द्रियों पर युगपत् संयम

कभी-कभी साधक इस भ्रान्ति में होता है कि मैंने इन्द्रियों को, खासकर जननेन्द्रिय को वश में कर लिया है, किन्तु कभी-कभी इन्द्रियों को उत्तेजित करने वाले प्रबल निमित्त मिल जाते हैं, या आहार-विहार में जब साधक कुपथ्य या प्रमाद कर बैठता है, तब इनमें प्रबल उत्तेजना उठती है। ब्रह्मचर्यसाधक की विचारशक्ति कुण्ठित हो जाती है, वह परिस्थिति के अनुरूप ढल जाता है, अब्रह्मचर्य की ओर बलात् खिंच जाता है। अतः ऐसे समय में साधक को अपनी सभी इन्द्रियों को हठपूर्वक तुरन्त उक्त विषय से दूसरी ओर मोड़ देना चाहिए।

ब्रह्मचर्य के स्वरूप से अनभिज्ञ होकर यदि साधक केवल जननेन्द्रिय-संयम करके शेष इन्द्रियों को खुली छूट दे देता है, तो वह ब्रह्मचर्यसाधना से भ्रष्ट हुए बिना न रहेगा। ब्रह्मचर्य-साधना में सभी इन्द्रियों को एक साथ नियन्त्रित करना चाहिए। शत्रु को जीतने के लिए चारों ओर से उस पर एक साथ आक्रमण करना होता है। मोक्षविरोधी विषयभोग रूपी प्रबल शत्रु को जीतने के लिए सभी इन्द्रियों और इनके साथ लगे हुए मन पर एक साथ नियन्त्रण करना आवश्यक है। ऐसा नहीं कि पहले जननेन्द्रिय को जीत लें, फिर क्रमशः एक-एक करके सभी इन्द्रियों को जीत लेंगे। इन्द्रियों पर विजय में कोई क्रम नहीं होता। ऊपर-ऊपर से ऐसा लगता है कि अमुक इन्द्रिय को जीतना कठिन है, अमुक को जीतना सरल। सभी इन्द्रियाँ समान रूप से कठिन भी हैं, सूक्ष्म भी हैं। स्थूल-सूक्ष्म या कठिन-सरल के भेद से इन्द्रियों को विभाजित नहीं किया जा सकता। सभी इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों की ओर प्रमत्त साधक को खींचती रहती हैं। इन इन्द्रियों का आकर्षण कितना प्रबल और सूक्ष्म है? यह तो तभी मालूम होता है, जब साधक बिलकुल एकान्त में, अलग-थलग रहता है। अतः इन्द्रियों को जीतने का यथार्थ उपाय है—एक साथ सबको जीतने का प्रयत्न करना।

यदि साधक जननेन्द्रिय और नेत्रेन्द्रिय को प्रबल समझकर इन पर संयम कर ले और शेष इन्द्रियों को नगण्य समझ कर उन्हें सर्वथा खुली छोड़ दे या उन पर किसी प्रकार की निगरानी न रखे, तो उसकी ब्रह्मचर्य-साधना मृगजलवत् मिथ्या सिद्ध

---

१ कामे य पत्थेमाणा, अकामा जंति दुग्गइं।'

—उत्तराध्ययन अ० ६, गा० ५३

होगी। यदि एक इन्द्रिय का भी असंयम हुआ तो ब्रह्मचर्य-घट खाली हो जाएगा। घड़े में एक भी छिद्र हो तो उसमें पानी नहीं टिकता, वह रिसते-रिसते सर्वथा खाली हो जाता है, वैसे ही यदि एक भी इन्द्रिय में असंयम-छिद्र हुआ तो ब्रह्मचर्य-जल रिक्त हो जाएगा। अतः एक या दो इन्द्रियों के द्वार बन्द करके शेष इन्द्रियों के द्वार खुले रखे जाएँगे तो विकार को घुसते देर न लगेगी। घर का द्वार सदा खुला रहे और उस पर निगरानी न रखी जाए तो कभी भी घर में चोर घुसकर चोरी कर सकता है। इसी प्रकार इन्द्रियों के द्वार खुले रखकर उन पर निगरानी न रखी जाए तो उनमें भी विकार रूपी चोर घुसकर ब्रह्मचर्यरूपी धन को चुरा ले जायेंगे। अतः इन्द्रियविषय की स्वच्छन्दतारूपी अग्नि में ब्रह्मचर्य-साधना की आहुति देकर उसे नष्ट नहीं होने देना चाहिए, किन्तु इन्द्रिय-स्वच्छन्दता की आग से बचाकर एक साथ सर्वेन्द्रिय-संयम का मार्ग अपनाना चाहिए।

संयम-साधना में सहायक

सर्वेन्द्रिय-सयम सिद्ध करने के लिए परमात्म-भक्ति अथवा सत्संगति का सहारा लेना चाहिए। इससे ब्रह्मचर्य-साधक स्त्री-पुरुषों के चित्त में पवित्र भाव उठेंगे। इन्द्रियाँ हैं, तो विषयों के साथ उनका सम्बन्ध आएगा ही और यदि साधक जागृत रहा तो मन में राग-द्वेष के बुरे भाव उत्पन्न नहीं होने देगा, वह अच्छे भाव ही उत्पन्न होने देगा। सत्संगति, आत्मस्मृति या परमात्मभक्ति में इन्द्रियों को लगाये रखते हुए भी यदि पूर्व संस्कारवश इन्द्रिय विषयों के साथ मन में अपवित्र भाव उठें भी तो उनके साथ ब्रह्मचर्य-साधक को असहकार रखना चाहिए, उनमें रस बिलकुल नहीं लेना चाहिए।

सत्संगति का अर्थ है—सज्जनों एवं साधु-साध्वियों की संगति, सद्ग्रन्थवाचन-श्रवण, सत्कार्यों का आचरण। सर्वेन्द्रिय-संयम के लिए कुसंगति, कुग्रन्थ (अश्लील ग्रन्थ) वचन-श्रवण या अब्रह्मचर्य के कार्यों में प्रवृत्ति से दृढ़तापूर्वक दूर रहना होगा। जैसे ब्रह्मचारी के लिए स्त्रीस्पर्श वर्जित है, क्योंकि उससे कामवासना पैदा होने का खतरा है। किन्तु कभी अक्समात् भीड़ में किसी स्त्री का स्पर्श हो जाए, या कोई अबोध बालिका उसका स्पर्श कर ले तो उस स्पर्श के साथ मन में कामराग बिल्कुल न लाये अन्यथा उसकी ब्रह्मचर्य-साधना दूषित हो जाएगी।

इसी प्रकार आँख, कान, नाक, जीभ आदि इन्द्रियों का उपयोग करते समय सावधानी रखनी चाहिए। इनका उपयोग करना भी पड़े तो अराग-द्विष्ट होकर करना चाहिए। यदि जरा-सी भी असावधानी रखी या ढील बरती तो ब्रह्मचर्य-साधना के दूषित होने की सम्भावना है।

इन्द्रियों को पवित्रता के वातावरण में रखें—ब्रह्मचर्य-साधक को सर्वेन्द्रिय-संयम का अभ्यास करने के लिए अपनी इन्द्रियों को पवित्रता के वातावरण में,

अच्छे कार्य में लगाये रखना चाहिए, ताकि इन्द्रियाँ अपवित्रता के वातावरण से या बुरे कार्य से बच सकें। उपनिषद् के एक प्राचीन ऋषि ने परमात्मा से सुन्दर प्रार्थना करते हुए निवेदन किया है—

भद्रं कर्णेभिः शृणुयामः शरदः शतम्।
भद्रमक्षिण्यपि पश्यामः शरदः शतम्॥

प्रभो ! मैं अपने जीवन के सौ वर्षों तक अपने कानों से भद्र (अच्छी) बातें ही सुनूँ, अभद्र (बुरी) बातें नहीं। मेरे कानों में पवित्रता का प्रवाह बहता रहे। मैं अपनी आँखों से भद्र (अच्छा) देखूँ। अर्थात्—मैं अपनी आँखों से किसी को काम विकार की दृष्टि से न देखूँ। आँखें हैं, तो अच्छा-बुरा रूप सामने आयेगा ही। जब कोई भी अभद्र रूप सामने आ रहा हो अथवा ऐसा रूप साधक के सामने आ रहा हो, जिसको देखकर अभद्र विचार आये, विकार आने लगे तो शीघ्र ही आँखें उस ओर से फिरा ले या बंद कर दे। किन्तु मन में विकारों के प्रवाह को न आने दे। आँखों के सामने अमृत ही देखना है।

अगर ब्रह्मचर्य-साधक की प्रत्येक इन्द्रिय से संसार की वस्तुओं से वास्ता आ पड़े तो विकार दृष्टि से न देखे, न सुने आदि। यही सर्वेन्द्रिय-संयम की साधना है। मतलब यह है कि ब्रह्मचर्य-साधक सर्वत्र पवित्रता का वातावरण अपने चारों ओर रखे। गंदे, अपवित्र वातावरण से तुरन्त विमुख हो जाए। पवित्र वस्तुएँ ही देखे, अपवित्र से समक्ष आँखें मूँद ले। जिह्वेन्द्रिय से पवित्र सात्त्विक वस्तुएँ ही सेवन करे, सात्त्विक एवं पवित्र ही बोले। गन्दी दूषित बातें न सुने, न ही वैसी वस्तुएँ सूँघे। हाथों और पैरों को पवित्र, परोपकार के कामों में लगाये। साथी भी पवित्र हों, मित्र और स्वजन-परिजन भी पवित्र हों। पवित्र ग्रंथ एवं पुस्तकें पढ़े। अश्लील, अपवित्र, उपन्यास आदि गन्दा साहित्य न पढ़े। पवित्रता की भावना रखे।

इन्द्रिय प्रतिसंलीनता : सर्वेन्द्रिय विषय-उपरति का उपाय—तप के १२ भेदों में 'प्रतिसंलीनता' नामक तपश्चर्या का वर्णन है। औपपातिक सूत्र में इसके चार भेदों का निर्देश किया गया है—इन्द्रिय-प्रतिसंलीनता, योग-प्रतिसंलीनता, कषायप्रतिसंलीनता और विविक्तशयनासन प्रतिसंलीनता। यद्यपि इन्द्रियाँ चंचल होती हैं, किन्तु वे स्वयं चंचल नहीं होतीं, मन से प्रेरित होकर ही चंचल होती हैं। मन जब स्थिर, शान्त और एकाग्र हो जाता है, तब इन्द्रियाँ भी स्थिर और शान्त हो जाती हैं। मन के अन्तर्मुखी बनते ही इन्द्रियाँ अन्तर्मुखी हो जाती हैं। इन्हें अन्तर्मुखी बनाने का उपाय प्रतिसंलीनता है। शंकराचार्य ने 'दमन' का जो अर्थ किया है—वही यहाँ 'इन्द्रिय प्रतिसंलीनता' का अर्थ है। उन्होंने 'दम' का अर्थ किया

है—"इन्द्रियों को अपने विषयों से हटाकर अपने-अपने गोलक में स्थापित कर देना।"[1]

इन्द्रियों का विचरण बाहर की ओर है। आँखें बाहर के दृश्यों की ओर देखती हैं। जीभ बाहर की स्वाद्य वस्तु को चखती है। कान बाहर के श्रव्यों को सुनता है। नाक बाहर की सूँघने योग्य वस्तुओं को सूँघती हैं। त्वचा (स्पर्शेन्द्रिय बाहर की स्पृश्य वस्तुओं को छूती है। इस प्रकार पाँचों इन्द्रियों का बाह्य जगत् से जो सम्पर्क है, घनिष्ठ सम्बन्ध है, उसे विच्छिन्न कर डालना ही इन्द्रिय प्रतिसंलीनता का उद्देश्य है।

इसका अर्थ यह है कि इन्द्रियाँ सहजतया बाहर दौड़ती हैं, उन्हें अन्तर्मुखी बनाना ही प्रतिसंलीनता है। प्रतिसंलीनता यानी अपने आप में लीनता की प्रक्रिया इस प्रकार है— कोई आकार सामने आए तो उसकी उपेक्षा करके भीतर में देखा जाए, भीतर में सुना या सूँघा जाए या स्वाद लिया जाए तथा स्पर्श किया जाए। इन्द्रिय प्रतिसंलीनता के दो मार्ग हैं— विषय प्रचार का निरोध और राग-द्वेष पर संयम। विषय के साथ सम्बन्ध स्थापित हो जाए, वहाँ राग-द्वेष न करना राग-द्वेष संयम है।

योग-मुद्रा—इन्द्रियों की प्रतिसंलीनता के अभ्यास के लिए एक योगमुद्रा बहुत ही उपयोगी है, जिसका नाम 'षट्कर्णी मुद्रा' है। इसे '**सर्वेन्द्रिय विषयोपरम मुद्रा**' भी कहते हैं। इसका तीव्र अभ्यास हो जाने से इन्द्रियाँ बाह्य विषयों से अपना सम्पर्क छोड़ देती हैं। केवल किताबों में पढ़ने से या सुनने से ही इस योग-मुद्रा का अभ्यास नहीं हो जाएगा। इसके लिए नियमित समय निश्चित करके संकल्पपूर्वक सक्रिय और निरन्तर अभ्यास करना होगा। उत्तरोत्तर अभ्यास को बढ़ाना होगा। तभी इस योग-मुद्रा से सर्वेन्द्रिय-विषयों से सम्पर्क छूटेगा। इस मुद्रा की विधि यह है—दोनों अँगूठों से पहले दोनों कानों के छिद्रों को बंद करें। फिर दोनों तर्जनी अँगुलियों से दोनों नेत्रों को धीमे से दबाएँ। तत्पश्चात् दोनों मध्यमा (बीच की) अँगुलियों से दोनों नासा-छिद्रों को बन्द करें। फिर शेष चारों अँगुलियों को दोनों होठों पर टिकाएँ।

इस विधि से 'सर्वेन्द्रिय विषयोपरम' मुद्रा का अभ्यास हो जाने पर ब्रह्मचर्य-साधना निर्विघ्न रूप से आगे बढ़ती है, और एक दिन सफलता के द्वार पर पहुँच जाती है।

---

१ विषयेभ्यः परावर्त्य, स्थापनं स्व-स्वगोलके।
उभयेषामिन्द्रियाणां, सः दमः परिकीर्तितः॥

विषयानन्द के बदले आत्मानन्द की अनुभूति करे—स्थूल दृष्टि वाले लोग कहते हैं—खाने से आनन्द मिलता है, रूप देखने से, अच्छा संगीत सुनने से तथा अच्छे स्पर्श से आनन्द मिलता है। इन्द्रियों के पाँचों प्रकार के विषय अनुकूल होते हैं या इन्द्रियाँ स्वस्थ एवं पूर्ण स्थिति में होती हैं, तभी सुख या आनन्द मिलता है। परन्तु आत्मा का आनन्द तो विषयानन्द से कई गुना बढ़कर आनन्ददायक है। यद्यपि वहाँ न शब्द है, न रूप है, न रस है, न गन्ध है और न ही स्पर्श है, फिर भी वहाँ अनुपम अनूठे शाश्वत स्वाधीन आनन्द का अनुभव होता है। अपूर्व सुख की प्रतीति होती है, प्रसन्नता होती है, तृप्ति मिलती है। परन्तु ऐसे परम दिव्य आनन्द की अनुभूति शक्ति केन्द्र से दर्शन केन्द्र के जागरण की भूमिका में पहुँचने पर होती है। ब्रह्मचर्य-साधक यदि विषयानन्द की भूमिका का अतिक्रमण करके आत्मा के परम आनन्द के केन्द्र तक पहुँच जाये तो फिर उसका पंचेन्द्रियसंयम अनायास ही हो जाता है। फिर विषयों में आनन्द लेने की रुचि बिलकुल नहीं रहती।

पदार्थों में सुख-बुद्धि की समाप्ति संवेदन जागरण द्वारा

पदार्थों से सुख मिलता है, इस प्रकार की भ्रान्ति को तोड़ने और विविध इन्द्रियों के संवेदन को जागृत करने से इन्द्रियों की शक्ति बढ़ जाती है। फिर उनका उपयोग निम्नस्तरीय नहीं होता। जैसे—जिह्वेन्द्रिय का विषय है—रस। जिह्वाग्र पर ध्यान करने से रस संवेदना जागृत हो जाती है। फिर साधक जिह्वाग्र पर ध्यान करते ही जिस रस का स्वाद चाहता है, उसी रस का स्वाद आने लगता है।

आँख पर ध्यान करते ही आँख का संवेदन जाग जाता है। इसके फलस्वरूप अँधेरे में दीखने लग जाता है। घोर अंधकार में भी उसे वैसा ही नजर आएगा, जैसा उजाले में दिखाई देता है।

कान का ध्यान करने पर कान का संवेदन जाग जाता है, जिससे दूर की बातें भी सुनाई देने लग जाती हैं।

जिह्वा के मध्यभाग में ध्यान करते ही स्पर्श का संवेदन जाग जाता है। एक दो दिन के या १०-१५ मिनट के ध्यान से ऐसी स्थिति नहीं बनती। इस भूमिका पर आने के लिए पहले अट्ठमतप (तेले की तपस्या) करे और उस तपश्चर्या के दौरान तीन दिन तक जिह्वाग्र या जिह्वा मध्य भाग, कर्णाग्र, नेत्राग्र आदि में किसी एक पर ध्यान करे तो उस-उस विषय का संवेदन जाग जाता है। इससे ब्रह्मचर्य-साधक को यह लाभ होगा कि पंचेन्द्रिय विषयों के स्थूल और अल्प संवेदन में या वस्तुनिष्ठ सुख में कोई रुचि नहीं रहेगी।

योगदर्शन में महर्षि पतंजलि ने विषयवती साधना का उल्लेख किया है कि मन को स्थिर तथा इन्द्रियों की शक्ति विकसित करने के लिए इसका आलम्बन लिया

जाता है। इन्द्रियों की शक्ति विकसित हो जाने से ब्रह्मचर्य-साधक का मन या इन्द्रियाँ काम-क्रोध आदि क्षुद्रविकारों की ओर नहीं जायेंगे। जिसे विशिष्ट उपलब्धि प्राप्त हो जाएगी, वह क्षुद्र उपलब्धि की ओर क्यों ताकेगा? हम इन्द्रियों की स्थूल शक्तियों से ही परिचित हैं, यदि उनकी सूक्ष्म शक्तियों से परिचित होना चाहें तो हमें उन पर प्रयोग करना होगा। वह प्रयोग ब्रह्मचर्य-साधना के लिए वरदान सिद्ध होगा।

गीता में कहा है—

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं, रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते॥

इन्द्रियों को अपना-अपना अभीष्ट आहार न देने (विषय में प्रवृत न करने) से विषयों से तो निवृत्ति रस के सिवाय हो जाती है। किन्तु विषयों के प्रति जो सूक्ष्म रस रह जाता है, वह परम (परमात्मा या शुद्ध आत्मा अथवा उच्च स्थिति) देखकर मिट जाता है।

यौगिक दृष्टि से यही (पूर्वोक्त) स्थिति परम है।

मनोनिरोध : ब्रह्मचर्य-साधना का मेरुदण्ड

ब्रह्मचर्य-साधना की पराकाष्ठा पर पहुँचने के लिए सर्वेन्द्रिय-संयम की अपेक्षा भी मनोनिग्रह या मनोनिरोध को विशेष महत्त्व दिया गया है; क्योंकि इन्द्रियों की चाबी मन के पास है। मन इन्द्रियों का नेता है। वह जिधर चाहे इन्द्रियों को घुमा सकता है। और मन जब इन्द्रियों के साथ-साथ लग जाता है, तब ब्रह्मचर्य-साधक की प्रज्ञा को उसी तरह खींच (हरणकर) ले जाता है, जिस तरह नदी आदि जलाशय में नौका को वायु खींच ले जाती है। मन हर समय कुछ न कुछ उधेड़बुन करता ही रहता है। अगर ब्रह्मचर्य-साधक बाहर से सभी इन्द्रियों को निश्चेष्ट बनाकर बन्द करके बैठ जाए, किन्तु मन से विषयों का स्मरण करता रहे तो, मन में विषय प्राप्ति की लालसा करता रहे तो भगवद्गीता में उसे मिथ्याचार (दम्भ) कहा गया है।[1] इसलिए सर्वेन्द्रियसंयम के साथ-साथ मन पर नियन्त्रण करना ब्रह्मचर्य-साधक के लिए अनिवार्य है।

मनोनिग्रह के मामले में बड़े-बड़े योगी, साधक भी हार खा जाते हैं। अर्जुन सरीखा जिज्ञासु साधक भी मनोनिग्रह को वायु को पकड़ने की तरह दुष्कर मानकर कर्मयोगी श्रीकृष्ण से मनोनिरोध का उपाय पूछता है। कर्मयोगी श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा—"अर्जुन! मन की शक्ति से भी अधिक शक्ति मनुष्य की आत्मा में है।

---

१ भगवद्गीता।

परन्तु मन को जीतने के लिए आत्मा को दो महान् शस्त्रों का सहारा लेना होगा। वे हैं—अभ्यास और वैराग्य।

अभ्यास का अर्थ—सतत प्रयत्न करना, अहर्निश जागरूक रहने का प्रयास करना; और वैराग्य का अर्थ है—इन्द्रियों के अतीत-अनागत-वर्तमान प्रत्यक्ष और परोक्ष विषयों के प्रति लालसा, तृष्णा और आसक्ति से दूर रहना।

ब्रह्मचर्य-साधक यदि आकर्षणों, प्रलोभनों के या लुभावने मोहक विषयों के प्रति जागरूक रहने का सतत अभ्यास करे और इनके प्रति विरक्त रहे तो अवश्य ही मनोविजय कर सकता है। परन्तु देखा यह जाता है कि अधिकांश ब्रह्मचर्य-साधक सिर मुण्डा लेते हैं, या जटाएँ धारण कर लेते हैं, तिलक-छापे लगाकर माला धारण करके धार्मिक या भक्त बन जाते हैं, कई बाह्य धार्मिक क्रियाएँ भी कर लेते हैं, ध्यान—मौन भी कर लेते हैं। किन्तु मन में जब कामविकारों का तूफान उठता है, तब वे अभ्यास और वैराग्य न होने के कारण केवल इन्द्रियनिग्रह के बल पर अपने मन को वश में नहीं रख पाते।

कई उच्च साधक पूर्ण ब्रह्मचर्य-साधना की प्रतिज्ञा लेने के बाद यह समझने लगते हैं कि हमारी ब्रह्मचर्यसाधना सिद्ध हो गई। पूर्ण ब्रह्मचर्य-साधना हमारे लिए कोई दुष्कर नहीं है। परन्तु अभ्यास और वैराग्य न होने के कारण कसौटी के समय वे मन पर निग्रह करने में असफल रहते हैं। एक ऐतिहासिक घटना लीजिए—

नगर के बाहर उपाश्रय और एक झोंपड़ी बनी हुई थी। उपाश्रय में एक जैन साधु अपने शिष्य के साथ रहते थे। मुनिराज का व्याख्यान अत्यन्त प्रभावशाली, अनुभवपूर्ण और हृदयग्राही होता था। अहिंसा आदि महाव्रतों पर व्याख्यान देते समय वे ब्रह्मचर्य को तीन बार दुष्कर बताते थे। मुनिराज का शिष्य मन ही मन हँसकर सोचता—'सभी व्रत दुष्कर हैं, यह बात तो यथार्थ है। परन्तु गुरुजी नाहक ही ब्रह्मचर्य की दुष्करता पर इतना जोर देते हैं।' एक दिन अवसर देखकर शिष्य ने गुरुदेव के समक्ष अपने मन की बात कही। गुरुजी ने मुस्करा कर उत्तर दिया—"वत्स! तुम्हें ब्रह्मचर्य-साधना की दुष्करता दूसरे महाव्रतों की दुष्करता से जरा भी अधिक नहीं लगती; किन्तु तुम्हें अभी इसका अनुभव एवं अभ्यास नहीं है। समय पर अनुभव और अभ्यास होने पर तुम्हें ब्रह्मचर्यपालन की महादुष्करता की बात समझ में आएगी।"

परन्तु इससे शिष्य का मनःसमाधान न हुआ। जब गुरुजी कहते कि "ब्रह्मचर्य दुष्कर है, दुष्कर है, दुष्कर है" तब शिष्य का हृदय पूर्वाग्रहवश उसे स्वीकार नहीं करता।

कालान्तर में गुरुजी का स्वर्गवास हो गया। अब शिष्य अकेला ही उपाश्रय

में रह गया। बुद्धिमान् शिष्य भी व्याख्यान में प्रवीण हो गया। परन्तु वह ब्रह्मचर्य को अधिक दुष्कर न कहकर दूसरे व्रतों की तरह ही दुष्कर कहता।

एक दिन शिष्य की ब्रह्मचर्य-साधना की खरी कसौटी हुई। बात यह हुई नगर की वणिक्पोल में एक युवती को उसके पति ने आवेश में आकर घर से निकाल दिया। इस त्रास से दिङ्मूढ बनी हुई युवती ने नगर के बाहर जो बावड़ी थी, उसमें गिरकर आत्महत्या करने का निश्चय किया। वह बेतहाशा भागती हुई नगर पार करके बावड़ी के पास पहुँची। परन्तु आत्महत्या करने का उसका साहस न हुआ। वह वापस नगर की ओर लौटी। दुर्भाग्य से नगर के कोट के द्वार बन्द हो गये थे। इधर मूसलाधार वर्षा हो रही थी। अँधेरी रात, बिजली की चमक-दमक और बादलों की गड़गड़ाहट ने वातावरण को भयानक बना दिया था। वर्षा में भीगती और ठण्ड से ठिठुरती हुई युवती को मुनिराज का स्मरण हो आया। उपाश्रय के पास झोंपड़ी में रात्रि निवास मिल जाने की आशा से वह सीधी उपाश्रय के द्वार पर पहुँची। मुनि सोने की तैयारी में थे, तभी झोंपड़ी के द्वार पर दस्तक की आवाज सुनाई दी। दरवाजा खोलकर देखा तो वर्षा से भीगती और ठण्ड से ठिठुरती एक तरुणी! देखते ही मुनि उसकी देह पर डाली हुई दृष्टि तुरन्त वापस खींचकर गर्ज उठे—"चली जा यहाँ से! यहाँ मुनियों के निवास में स्त्री का क्या काम है?"

परन्तु युवती ने अपनी करुण कष्टकथा सुनाई, जिसे सुनकर मुनि दयार्द्र हो उठे। बोले—"ये तेरे कपड़े तो पानी से लथपथ हो गये हैं। ऐसे ही रही तो तू बीमार पड़ जाएगी। एक काम कर। तू झोंपड़ी में जाकर अपने कपड़े अच्छी तरह निचोड़ कर पहन ले, तब तक मैं बाहर खड़ा हूँ। फिर तेरे रात्रि निवास के लिए आसपास कहीं व्यवस्था करेंगे।"

युवती झोंपड़ी में गई। मुनिराज बाहर खड़े थे, किन्तु बीच-बीच में बिजली की चमक के कारण उसकी मनोहर सुडौल देह की छवि मुनिराज के अन्तर् में अंकित हो गई। मुनिराज के हृदय की धड़कन बढ़ गई। आज उनकी ब्रह्मचर्य-साधना की खरी कसौटी थी। जिस ब्रह्मचर्य को वे अति दुष्कर एवं दुःसाध्य नहीं समझते थे, वह आज अति दुष्कर एवं दुःसाध्य प्रतीत हो रहा था। झोंपड़ी का द्वार खुलते ही मुनिराज युवती को कुछ ही दूरी पर स्थित उपाश्रय तक छोड़ आए। उपाश्रय में प्रविष्ट होने पर युवती से उन्होंने कहा—"अन्दर से दरवाजे बन्द कर लो। और रात में कोई भी आकर दरवाजा खटखटाए और खोलने को कहे, मैं भी कहूँ, तो भी मत खोलना।" युवती ने कुछ भी उत्तर दिये बिना द्वार अन्दर से बन्द कर लिया।

मुनिराज अपनी झोंपड़ी में वापस लौटे। पसीने से उनका शरीर तरबतर हो रहा था। कामविह्वल चित्त को समाधिस्थ करने के लिए मुनि ने एक पहर तक ध्यान-

जप आदि किये, अन्त में तीर्थंकर प्रभु का स्मरण करके वे शय्यासीन हुए, किन्तु निद्रा आज गायब हो गई। आज उन्हें गुरुजी के वे उद्गार सत्य प्रतीत हुए कि "ब्रह्मचर्य-साधना अति दुष्कर है।"

यह है—अभ्यास और वैराग्य की मन्दता के कारण मनोनिग्रह सहज न होने से ब्रह्मचर्य-साधना की अतिदुष्करता का उदाहरण!

अभ्यास और वैराग्य के अभाव में मनोनिरोध यथार्थरूप से न होने से ऐसे निमित्त मिलते ही विषयवासना की छाया में मनुष्य का कामविकल बना हुआ मन उससे कहता है—"आज अच्छा अवसर मिला है। दुनिया के आनन्द लूट ले! फिर ऐसा अवसर हाथ नहीं आएगा। मूर्ख! इस प्रकार अपने मन को दबाने में क्या रखा है?" इस प्रकार मन की बातें सुनकर अविरक्त और अनभ्यस्त साधक सहसा साधना पथ से विचलित हो जाता है। इसलिए मनोविजय के लिए ब्रह्मचर्य-साधक को अभ्यास और वैराग्य पथ पर दृढ़तापूर्वक आगे बढ़ना चाहिए।

प्रलोभनों से दूर रहने वाला ही मनोविजयी

जाल में बिखरे हुए जरा-से दानों के प्रलोभन में आकर भोली चिड़िया न फँसी होती तो फड़फड़ा कर मरने की आपत्ति से वह बच सकती थी। दीपक के रूप पर मुग्ध होकर यदि पतंगा प्रकाश के प्रलोभन में आकर उस पर न गिरता तो न तो खुद जलता और न ही दीपक को बुझाता। रसलोलुप भौंरा कमल की पंखुड़ियों में बन्द होकर हाथी के द्वारा रौंद दिया जाता है। ठग लोगों के लालच में आकर भोले आदमी बुरी तरह मुंडे जाते हैं। यदि इनमें प्रारम्भिक प्रलोभनों से बच निकलने योग्य धैर्य होता तो इन बेचारों की दुर्गति क्यों होती? जेलों में निन्दा, घृणा और यातना का जीवन बिताने वाले अधिकांश लोग वे हैं, जो अपने तात्कालिक लोभ और आवेश का संवरण न कर सके। इसी प्रकार ब्रह्मचर्य के साधक में यदि प्रलोभनों से बच निकलने का धैर्य नहीं है तो उसका मन शीघ्र ही अब्रह्मचर्य की ओर फिसल जाएगा। एक बार वासना के मोहक प्रलोभन में आकर फिसल जाने के बाद फिर उससे निकलना और ऊपर उठना बहुत ही कठिन होता है। यदि यह एक कमी ब्रह्मचर्य-साधक के मनःक्षेत्र से निकल जाए तो वह अपनी साधना में आशातीत सफलता प्राप्त कर सकता है। जो अपने विवेक को अपनाए रहता है, प्रलोभनों में स्खलित नहीं होता, और ब्रह्मचर्यपथ से किसी भी मूल्य पर हरगिज पीछे नहीं हटता, वही मनोविजेता एवं जितेन्द्रिय साधक विषयवासना की माया के जादू से अछूता बचा रहता है और ब्रह्मचर्य-साधना में पारंगत होकर भवसागर को पार कर पाता है। इसके लिए आवश्यकता यही है कि साधक तुरन्त के निकटवर्ती लोभ का परित्याग कर दूरवर्ती परिणामों पर विचार करे और उसी के आधार पर अपनी गतिविधि निश्चित करके कृतसंकल्प होकर आगे बढ़े।

बड़े-बड़े ब्रह्मचर्य-साधक जरा-सी दूरदर्शिता के अभाव में प्रलोभन पर नियन्त्रण न कर सकने के कारण विचलित हो गये। अर्हन्नकमुनि का उदाहरण जैन इतिहास में प्रसिद्ध हैं। वे मुनिधर्म में दीक्षित होने के बाद अपने पिता मुनिजी के जरा-से अविवेक या मोह के कारण सुकुमार बन गये थे। पिता मुनिजी के स्वर्गवास के पश्चात् अन्य साधुओं की प्रेरणा से भिक्षाचरी के लिए निकले। परन्तु गर्मी असह्य होने के कारण घबरा गये। थोड़े से विश्राम के लिए दुश्चरित्र सुन्दरी के प्रासाद की छाया में ठहरे। सुन्दरी ने इनके रूप-यौवन पर मोहित होकर इन्हें अपनी दासी द्वारा आमन्त्रित किया। अत्यन्त हावभाव, पंचेन्द्रिय विषयसुख सामग्री का प्रलोभन एवं आग्रहभरी मनुहार पाकर अर्हन्नकमुनि धैर्य और विवेक खो बैठे। उनका मन ब्रह्मचर्य-साधना से विचलित हो उठा। और बस, पतित हो गए। अगर बाद में उन्हें अपनी माता-साध्वीजी का निमित्त न मिलता तो शायद वे उस भोग-विलास के दलदल में से नहीं निकल पाते।

अतः ब्रह्मचर्य-साधक को अपने मनःक्षेत्र पर विजय पाने के लिए प्रलोभनों के समय धैर्य और विवेक नहीं खोना चाहिए।

मनोविजय की एक मांत्रिक साधना

वर्तमान जगत् के वायुमण्डल में विषयवासना और कामभोगों के विचित्र-विचित्र दुर्विचार और दुश्चिन्तन फैल रहे हैं, और ब्रह्मचर्य-साधना के विपरीत अजीब तरह के विचारों का प्रचार हो रहा है कि उन्हें सुनने वाले और उस साहित्य को पढ़ने वाले उसके तर्कों और युक्तियों तथा भाषालालित्य अथवा वाक्छटा के चक्कर में आकर ब्रह्मचर्य-साधना के बदले निरंकुश भोगवाद के विचारों को अपना लेते हैं।

यद्यपि ब्रह्मचर्य-साधना से प्राप्त आनन्द में और भोगवाद के आनन्द में रात-दिन का अन्तर है, परस्पर सम्पूर्ण विरोध है। इसके विषय में हम पहले स्पष्टीकरण कर चुके हैं। फिर भी वायुमण्डल में इन दूषित विचारों के संचार के कारण जो साधक बुरा विचार या दुश्चिन्तन करना भी नहीं चाहता, वह भी प्रायः एक बार तो बुरा विचार कर ही बैठता है। ये बुरे विचार—कामवासना के विचार संचित बुरे संस्कारों के कारण होते हैं, यह पूर्ण सत्य नहीं है।

वायुमण्डल में फैले हुए ऐसे कुविचारों के परमाणु जब मनुष्य के मन-मस्तिष्क से टकराते हैं, तब भी बुरे विचार पैदा हो जाते हैं। ब्रह्मचर्य-साधक चाहता है कि उसके मस्तिष्क में कामवृत्ति का एक भी बुरा विचार न आए, किन्तु बाहर के वायु-मण्डल को प्रकम्पित करके ये दुर्विचारों के परमाणु उसके अच्छे विचारों को भी बुरा बना देते हैं। यद्यपि साधक अपनी कुवृत्तियों एवं कुसंस्कारों का शोधन करने के लिए तप एवं कठोर कष्टकर साधना भी करता है, आतापना लेता है, शर्दी-गर्मी सहन

करता है, फिर भी वायुमण्डल में घूमने वाले ये दुर्विचार साधक को असावधान देखते ही उसके मन-मस्तिष्क पर आक्रमण कर बैठते हैं।

इस समस्या से छुटकारा कैसे हो ? अगर इस समस्या का हल न होता तो ब्रह्मचर्य के नैष्ठिक साधक कभी के पराजित और साधना-भ्रष्ट हो जाते, परन्तु इस समस्या का भी समाधान है और वह अचूक है। पवित्रमन्त्रों की साधना इस समस्या का सर्वतोमुखी हल है।

मन्त्रसाधक ध्यान-मुद्रा में बैठकर जैसे अपने शरीर की सुरक्षा के लिए कवची-करण करता है, वैसे ही ब्रह्मचर्य-साधक इन बुरे विचारों से अपने मन-मस्तिष्क की सुरक्षा के लिए पवित्र मन्त्र की आराधना करता है। मन्त्राराधना के द्वारा व्यक्ति अपनी ऊर्जा को इतना प्रबल बना देता है, तथा अपनी शुभ लेश्या के कवच को इतना शक्तिशाली और सक्षम बना देता है, साथ ही मस्तिष्क के चारों ओर जो आभामण्डल (Aura) है, उसे भी इतना पावरफुल बना लेता है कि बाहर के वायुमण्डल में फैले हुए बुरे विचारों के परमाणु उसके मन-मस्तिष्क में प्रवेश ही नहीं कर सकते, न ही उसे प्रभावित कर पाते हैं।

उक्त मन्त्राराधक ब्रह्मचर्य-साधक की शुभलेश्या का कवच इतना सुदृढ़ और सक्षम हो जाता है कि उसके मन-मस्तिष्क पर तो क्या उसके शरीर पर भी कोई आक्रमण नहीं कर सकता। वह ऐसे अशुद्ध एवं दूषित विचारों एवं विकारों के वायु-मण्डल में भी उनसे बिलकुल अछूता निर्विकार और सुरक्षित रहता है। यथा—'णमो अरहताणं' एक मन्त्र है। इस पवित्र मन्त्र का आराधन करने वाला साधक इसके लाखों बार के उच्चारण से एक सुलेश्या-कवच बना लेता है, इससे उसके शरीर, मन, या मस्तिष्क पर बाहर के दूषित वातावरण का, अशुभ विचारों का कोई असर नहीं होता और न ही उनसे कोई खतरा उत्पन्न होता है। दुर्विचारों या कामविकारों से मन-मस्तिष्क की रक्षा करने का यह सर्वोत्तम और निरवद्य उपाय है।

अध्यात्ममन्त्र की साधना करने वाला धर्म-शुक्ल ध्यान से भी अपने शरीर, मन और मस्तिष्क की पूरी सुरक्षा कर सकता है।

इस प्रकार इन्द्रियसंयम और मनोनिग्रह के सन्दर्भ में ब्रह्मचर्य-साधना के ये सक्रिय प्रयोग हैं, जिन्हें अपनाकर ब्रह्मचर्य-साधक सफल हो सकता है।

□□

८

काम-विजय के अनुभूत उपाय

काम-विजय दुष्करतर—ब्रह्मचर्य-साधना में काम-विजय एक महत्त्वपूर्ण अंग है। काम-विजय के बिना ब्रह्मचर्य-साधना सुरक्षित नहीं रह सकती, क्योंकि कामभाव मानव के लिए एक विषम पहेली बना हुआ है। यह अनेक रूप में, कभी छिपे-छिपे और कभी उच्छृंखल और प्रबल रूप में स्त्री-पुरुष के जीवन में आ जाता है, और अनेक बार मनुष्य इस 'कामभाव' के दुर्निवार प्रवाह में बहकर या आवेश में आकर ऐसे भयंकर दुष्कृत्य कर बैठता है कि बाद में उसे घोर पश्चात्ताप होता है। अतः कामभाव पर विजय पाना आसान काम नहीं है। इसमें ब्रह्मचर्य-साधक की शारीरिक एवं सामरिक (शस्त्रास्त्र की) शक्ति की नहीं, आत्मशक्ति की परीक्षा होती है।

कामभाव के प्रबल तूफानी प्रवाह को आत्मभाव अथवा ब्रह्मचर्य-साधना की ओर मोड़ना, पूर्व की ओर बहते हुए तूफानी सागर के प्रवाह को एकाएक पश्चिम की ओर मोड़ने से कम दुष्कर नहीं है। महात्मा गांधी ने भी इस बात का समर्थन किया है कि "सशस्त्र सेना के द्वारा विश्व पर विजय प्राप्त करने की अपेक्षा उच्छृंखल कामवासना पर विजय पाना अधिक कठिन है।"

कामवितर्कों के नाना रूप

कामवासना का कलुषित विचार अपने पारिपार्श्विक वातावरण को दूषित बनाता है, और मानसिक स्वास्थ्य को नष्ट करता है। तथागत बुद्ध ने कामवासना सम्बन्धी सभी प्रकार के कलुषित विचारों को कामवितर्क कहा है, जिसमें काम-वासना के नाना रूप, नाना भाव-विभाव, लक्षण और दुःखद वितर्क हैं। काम-चिन्तन किसी भी रूप में आकर मन की शान्ति और सन्तुलन को विचलित कर देता है। सम्भव है, ब्रह्मचर्य-साधक शरीर से कामतृप्ति न करे, परन्तु यदि वह असावधान रहता है, अथवा कामशक्ति का रूपान्तर नहीं करता है तो मन और वचन से कामवितर्क का शिकार हो सकता है।

कुछ व्यक्ति मुख से वासनामिश्रित कामोत्तेजक गालियाँ उच्चारण किया करते हैं। वे यह समझते हैं कि कायिक पाप ही असली पाप है। मन में सोचने या

मुख से गंदी बातें या अपशब्द कहने से कोई पाप नहीं होता; यह नितान्त भ्रान्ति-मूलक धारणा है। शरीर चाहे बाह्य रूप से काम-तृप्ति न करे, पर अश्लील शब्दों के उच्चारण की जड़ गुप्त मन मे जमी रहती है। वह चुपचाप वहीं विकसित होती रहती है। मन सदा अभद्र कामवासना से परिपूर्ण रहता है। ऐसी स्थिति में ब्रह्मचर्य-साधना जो कि काम-वासना के अन्धकार का समूलोच्छेदन करने की साधना है, कैसे निराबाध हो सकती है? समस्या वहां आकर अटक जाती है, जिसमें काम-बीज जीव-चेतना की इतनी गहराई में घुसा बैठा है—उसकी शक्ति इतनी प्रबल है और जड़ें इतनी गहरी हैं कि उस पर विजय प्राप्त करना अत्यन्त कठिन हो गया है।

काम तृप्ति : कामविजय का उपाय नहीं

कई लोगों की ऐसी मान्यता बन गई है कि कामवासना जागृत होने पर कामतृप्ति कर ली जाए तो शान्ति हो जाती है, परन्तु कामवितर्कों का यह स्वभाव है कि कामोपभोग से वे शान्त नहीं होते। कामवासना की पूर्ति में मनुष्य अशान्त और दुःखी होता है। यों तो काम-तृप्ति पूर्णतया वृद्ध हो जाने तक भी नहीं होती। यह तो एक ऐसी अग्नि है, जो सदा धधकती रहती है। 'काम' को संस्कृत में 'मनसिज' एवं 'मनोज' कहा गया है। इसलिए काम का स्वभाव है कि चिन्तामात्र से ही उसका अधिकाधिक विकास एवं संवर्धन-पोषण होता जाता है। विचारक मनीषियों ने कहा है—कामवृत्ति काम के उपभोग से कदापि शान्त नहीं होती। कामवासना की पूर्ति करके फिर यह सोचना—अब आगे और कामोपभोग की इच्छा उत्पन्न नहीं होगी—ऐसा ही है, जैसे कोई आग में घी छोड़ता जाए और यह सोचता रहे कि इस प्रकार यह आग बुझ जाएगी।[1] अर्थात्—कामोपभोग से काम-वासना की तृप्ति कभी नहीं होती, बल्कि वह अधिकाधिक भड़कती है। काम-तृप्ति काम-विजय का उपाय कभी नहीं हो सकता।

काम-चिन्तन प्रत्यक्ष कामोपभोग से अधिक हानिकर

कई लोग यह समझते हैं कि हमने ब्रह्मचर्य-पालन का नियम ले लिया है। इसलिए शरीर से ही तो काम-सेवन या स्त्री सहवास नहीं करना है, मन से काम-चिन्तन किया जाए तो क्या आपत्ति है? परन्तु यह धारणा नितान्त भ्रान्त है। स्त्री सहवास तो कामवासना की अन्तिम परिणति है। उससे पहले भी तो काम की १० दशाएँ बताई गई हैं, जिनका उल्लेख हम पहले कर चुके हैं। इसमें स्त्री-विषयक (या स्त्री के लिए पुरुष-विषयक) चिन्तन से लेकर सहवास तक की सभी क्रियाएँ आ जाती हैं। इसमें मोहजन्य प्रीति, मन में आसक्ति, प्राप्त करने का संकल्प, बार-

---

१ न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव, भूय एवाभिवर्द्धते॥

बार प्रलाप, अनिद्रा, शरीरकृशता, विरह-विकलता, लज्जात्याग, कामज्वर, कामोन्माद, मूर्च्छा और मृत्यु—यह क्रम कामपीड़ित व्यक्ति की दशा का है। कामुक व्यक्ति की यह दयनीय दशा प्रत्यक्ष कामोपभोग से भी बढ़कर हानिकारक है। प्रत्यक्ष मैथुन में जितना वीर्य नष्ट होता है, उसकी अपेक्षा इस प्रकार के मानसिक मैथुन से अनेक गुना अधिक वीर्य नष्ट होता है। अप्रत्यक्ष मैथुन से या कामचिन्तन से सूक्ष्म नाड़ी तन्तुओं में उत्तेजना होती है, और जहाँ-तहाँ वीर्य बनाकर वे अपने निकटवर्ती छिद्रों से बाहर कर देते हैं। इस प्रकार के मानसिक व्यभिचार या कामचिन्तन से अति मात्रा में वीर्यपात होने पर अनेक भयंकर महारोग पैदा हो जाते हैं। काम-वासना का विचार आते ही रक्त में से वीर्य निकलकर एक छोटी-सी थैली में जमा हो जाता है। फिर इन्द्रियों में उत्तेजना होती है। फलतः परोक्ष मैथुन रूप काम-विकार के विचार अधिकाधिक भड़ककर मनुष्य को विनाश की ओर दौड़ा ले जाते हैं। कामुकता का विचार करने तथा कामक्रीड़ा सम्बन्धी उपन्यास, नाटक, चित्र, सिनेमा, अश्लील नृत्य, गीत, वाद्य आदि देखने-सुनने से भी कामाग्नि वैसी ही भड़कती है, जैसी विकारों के समय भड़कती है। अतः काम-चिन्तन भी अत्यधिक अनिष्टकर है तथा भयंकर उत्पात का कारण है।

कामजन्य अधःपतन—विश्व के इतिहास को देखने पर प्रतीत होता है कि कामासक्त मनुष्य यहाँ भी पतित और भ्रष्ट हुआ है और परलोक में भी वह अधोगति में पहुँचा है। रावण जैसे शक्तिशाली राजा के सर्वनाश का कारण उसकी कामान्धता ही थी। अगर वह कामासक्त न होता, अपनी कामशक्ति पर विजय प्राप्त कर लेता तो वह न तो यहाँ अधोगामी बनता और न परलोक में ही।

काम को चाहे प्रेम कह दें या मोह स्त्री-सौन्दर्य के प्रति जो आसक्ति है वह काम ही है। इलायचीकुमार जैसा उच्च कुलीन श्रेष्ठी-पुत्र भी नारी सौन्दर्य के प्रति मुग्ध होकर नट-मंडली में सम्मिलित हो गया और नट-कन्या से विवाह करना चाहा।

कामासक्त नारी या नर अपनी संतान की हत्या करने से भी नहीं चूकते। उत्तराध्ययन सूत्र में वर्णित चुल्लनी रानी ने अपने पति के दिवंगत हो जाने पर कामातुर होकर दीर्घराय के साथ अनुचित सम्बन्ध जोड़ लिया और जब उसके पुत्र ब्रह्मदत्त ने अपनी माता का दुश्चरित्र देखा और उसे अन्योक्ति से समझाने का प्रयत्न किया तो कामासक्त चुल्लनी ने उसे मार डालने के लिए उसका विवाह करके लाख से निर्मित राजमहल में भेजा और उस महल में आग लगवा दी। ब्रह्मदत्त का भाग्य प्रबल था कि अपने मित्र के सहयोग से वह गुप्त मार्ग से सही-सलामत बाहर निकल गया।

वर्तमान युग में भी कामासक्तिजन्य अधःपतन के अनेक किस्से सुनने में आते हैं। कच्छ की एक सेठानी भंगी में आसक्त हो गई। पुत्र ने उसका दुराचार देखकर कहा—"इसे छोड़ दे, अन्यथा मैं पिताजी से कह दूँगा।" इस पर तत्काल क्रुद्ध नर-राक्षसी ने अपने पुत्र के छुरा घोंप दिया और गला घोंटकर मृत्यु की गोद में सुला दिया। पुत्र के शव को भोजनशाला की छत में छिपा दिया। भोजन करते समय सेठ की थाली में ऊपर से रक्त की बूँद गिरी तो वह भोजन छोड़कर अपने बड़े पुत्र के साथ ऊपर गया। सेठानी ने अपनी निन्दा और सजा के भय से तत्काल छत पर जाने वाली सीढ़ियों का द्वार बन्द कर दिया और पास वाले घास के कमरे में आग लगा दी। इसी बीच स्वयं नौ दो ग्यारह हो गई। कितना अधःपतन! वर्तमान युग में कामासक्ति के कारण इस प्रकार के सैकड़ों पापाचरण होते देखे जाते हैं।

मणिप्रभ, कीचक जैसे कितने ही शक्तिशाली सत्ताधारी लोग अधिक काम-लिप्सा की अग्नि में पड़कर कीट-पतंगों की मौत मरे और अपना नाम कलंकित करके चले गये।

महाराजा ययाति कामलिप्सा से इतने आक्रान्त थे कि वे कामवासनाओं के चंगुल में फँसकर अपना ज्ञान-ध्यान सब भूल गये। वे ज्यों-ज्यों कामाग्नि में आहुति देते गये; त्यों-त्यों वह अधिकाधिक प्रचण्ड होती गई। उनका शरीर शीघ्र ही खोखला और सत्वहीन हो गया। फिर भी कामाग्नि शान्त न हुई। वे वासनाओं के बंदी बनकर इतने पतित हो गये कि अपने पुत्रों से यौवन की याचना करने लगे। महर्षि व्यास के अनुसार छोटे पुत्र ने उन पर दया लाकर अपना यौवन देकर उनका वृद्धत्व ले लिया। ययाति युवा बनकर फिर वासना के शिकार हो गये। फिर भी कामतृप्ति न हो सकी। सारे सुकृत खोये। परमार्थ का अवसर खोया। पुत्र के प्रति अत्याचारी हुए। अन्त में, पापों का भार ढोकर दुर्गति के मेहमान बने। इसी प्रकार इस कामवासना पिशाचिनी ने पाण्डु राजा, शान्तनु राजा, विश्वामित्र आदि बड़े-बड़े प्रसिद्ध शक्तिशाली लोगों को अपना शिकार बनाया। निःसन्देह कामवासना पिशाचिनी शरीर का शोषण करके मनुष्य के लोक-परलोक को बिगाड़ देती है।

विवेकशीलता से कामवासना पर विजय

कामवासना पिशाचिनी के इन अनिष्टकारक दुष्परिणामों को देख-सुनकर ब्रह्मचर्य-साधक को इनसे दूर रहने की प्रेरणा लेनी चाहिए।

कामवासना की तृषा एक ऐसी अक्षय पिपासा है, जो कभी शान्त नहीं होती। लोग सुख के भ्रम में जवानी में कामतृप्ति के लिए लालायित रहते हैं। उसके दुष्परिणामों की ओर ध्यान नहीं देते, कि आज शक्ति होते हुए वे अपनी दुर्वृत्तियों को काम-भोगों का गुलाम बनाये दे रहे हैं। इसका फल आगे चलकर बुढ़ापे में क्या

होगा ? उस अशक्त एवं जर्जर अवस्था में उनकी वे प्यासी वृत्तियाँ क्या शत्रु की तरह त्रास न देंगी, सुख-शान्ति की सम्भावनाओं को सदा के लिए भस्म न कर देंगी ?

महाभारत युद्ध के प्रसंग में श्रीकृष्णरूपी गुरु द्वारा अर्जुनरूपी साधक शिष्य को जो कहा गया है—

जहि शत्रुं महाबाहो ! कामरूपं दुरासदम्[1]

अर्थात्—"कामरूपी दुष्ट शत्रु का हनन कर डालो।" वहाँ भी कामविकार-जन्य दुर्विचारों को ब्रह्मचर्यजन्य सद्विचार रूपी सेना से परास्त या हनन करने का आशय है।

कामविजय कैसे सम्भव है ?—प्रश्न होता है कि जब कामशक्ति इतनी प्रबल है और उसकी जड़ें इतनी गहरी हैं तो फिर उससे बच सकना कैसे सम्भव है ? और तब ब्रह्मचर्य से कैसे लाभान्वित हुआ जा सकता है ? यदि ब्रह्मचर्य न रखा जाए तो ओजस् की क्षति होती है और उस हालत में कामवासना से जूझा भी कैसे आ सकता है ? और यदि हठपूर्वक काम का दमन किया जाए तो दमित कामवासना प्रबल वेग से उभर कर विकृत मानस ग्रन्थियों का हानिकारक संग्रह करती है। आखिर काम पर विजय कैसे प्राप्त की जाए ?

कामशक्ति को नियन्त्रण में रखने के लिए शरीर, मन, वाणी और इन्द्रियों के साथ कठोर संघर्ष करना होता है, इनकी बहिर्मुखी प्रवृत्तियों को अन्तर्मुखी—आत्ममुखी बनाना होता है। अहर्निश इनके प्रहरी बनकर इन्हें आत्मा की सेवा में—आत्महित में—नियोजित करना होता है। ऐसा अभ्यास दीर्घकाल तक सतत करने से कामविजय में सफलता मिल सकती है।

कामविकार के साथ असहकार

जो साधक इतनी उच्च भूमिका पर अभी नहीं पहुँचे हों, उन्हें कामविकार मन में ही उत्पन्न होते ही उसके साथ शीघ्र असहकार करना चाहिए। यदि साधक कामविकारों के उत्पन्न होने पर उनसे असहकार करके मन से खदेड़ने के बदले विकारों को प्रश्रय देता रहे, मन में विकारचिन्तन करने में आनन्द ले तो वह उसकी प्रयत्नावस्था नहीं, बल्कि मिथ्याचार है। यदि चित्त में काम-विकार के साथ जरा भी सहकार रहा या उसे प्रीतियुक्त पोषण दिया गया अथवा असहकार करने में जरा सी भी शिथिलता दिखाई तो पतन निश्चित है।

एक व्यक्ति ने सिंह का बच्चा पाल रखा था। सिंह का बच्चा बहुत भोला और सलौना था। एक दिन वह आदमी सोया हुआ था कि वह सिंहशावक प्यार से

---

१ गीता, अ० ३, श्लोक ४३।

उसका हाथ चाटने लगा। चाटते-चाटते दाँत लग जाने से उसके हाथ में से थोड़ा-सा रक्त निकल आया। सिंहशावक को रक्त का स्वाद आ गया। वह उस रक्त को चाटने लगा। उसे रक्त बहुत स्वादिष्ट लगा। उसकी स्वाभाविक हिंसक वृत्ति के कारण उस मनुष्य का रक्त पीने और मांस खाने की इच्छा जाग गई। फलतः उसने उस मनुष्य के हाथ में दांत गड़ा दिये। पीड़ा के कारण मालिक जाग गया। सिंहशावक की बुरी नीयत से युक्त चेष्टा देख वह तुरन्त सावधान हो गया। सिंहशावक खड़ा होकर गुर्राए, उससे पहले ही बलपूर्वक डण्डा मारकर वहाँ से हटा दिया। फिर कभी उसे खुला नहीं रखा। पिंजरे में बन्द कर दिया।

यदि वह सिंह के बच्चे के साथ सहकार करता और उसे प्रेमपूर्वक प्रश्रय देता तो शायद वह उसका हाथ भी चबा जाता।

यही बात साधक को काम रूपी सिंहशावक के विषय में समझनी चाहिए। 'काम' जब भी मन पर आक्रमण करना चाहे, तुरन्त ही बलपूर्वक उसे हटा देना चाहिए, उसके साथ बिलकुल सहकार नहीं करना चाहिए।

कामविकार इतने प्रबल होते हैं कि यदि साधक उनके साथ जरा भी हमदर्दी दिखाता है तो वे बलात् अपने प्रवाह में खींच ले जाते हैं। इसलिए साधक की प्रयत्नावस्था में पूर्व संस्कारवश कामविकार पैदा हों तो, उससे वह घबराए नहीं। विकारों के उत्पन्न होने मात्र से कुछ नहीं बिगड़ता। बिगड़ता तब है, जब साधक विकारों के वशवर्ती हो जाये। ब्रह्मचर्य-साधक का रुख विकारों के प्रति सहकार का नहीं, असहकार करते हुए उन्हें मिटाने का रहे। यदि एक बार भी विकारों में रस लिया, उन्हें पोषण दिया या सेवन किया तो उसके कुसंस्कार अन्तर्मन में जम कर कभी भी उभर सकते हैं। साधक की प्रयत्नावस्था में आगे चलकर विकारों के प्रति गाढ़ विरक्ति (अरुचि) पैदा हो जाती है, फिर भी पूर्वसंस्कारवश वे कभी-कभी तंग करते हैं। उस समय पूरे बल के साथ विकारों को मिटाने या हटाने का प्रयत्न करना चाहिए। दृढ़ निश्चयपूर्वक अपने मन से कहना चाहिए कि—"मैं विकाराधीन मन के साथ कभी सहकार नहीं करूँगा।" इस प्रकार का असहकार प्रयोग भी काम-विजय का एक उपाय है।

कामवासना का दमन या शमन ?

कई साधकों का कहना है कि कामवासना का पूरी तरह दमन कर दिया जाए, इसकी जो भी सहायक साधन सामग्री है, उसे नष्ट-भ्रष्ट कर दिया जाए। इस तरह कामवासना को कुचल या दबा देने पर फिर वह उठ नहीं सकेगी। परन्तु मनोवैज्ञानिक एवं महामनीषियों का यह अनुभव है कि कामवासना का सर्वथा दमन अत्यन्त कठिन है। मानव के साथ उसके अव्यक्त मन में गुप्त रूप से यह बैठी रहती

है। बड़े-बड़े साधकों को भी सहसा पता नहीं लग पाता। इसलिए दमन-प्रयोग से कामवासना से सर्वथा मुक्ति पा लेना कठिन है। और फिर कामवासना को दबाने से ब्रह्मचर्य-साधना अस्वाभाविक और अकल्याणकारी भी हो सकती है। जिन व्यक्तियों में कामवासना दमित होकर अन्तर्मन में प्रविष्ट हो जाती है, वे प्रायः अज्ञात रूप से अनेक काम-विकारों से ग्रस्त रहते हैं। नाना प्रकार की गंदी गालियों का प्रयोग, गुप्त अंगों का स्पर्श, कुचेष्टाएँ, गंदे संकेत, गुप्त मन में जटिलता से प्रविष्ट दमित कामवासना के बाह्य प्रदर्शन हैं। कभी-कभी हँसी-मजाक में निन्द्य शब्दों के प्रयोग द्वारा मन में संचित गन्दगी निकला करती है। अनिच्छा से, विवशता की स्थिति में, बिना मन से दमित हुई कामवासना कई बार हिस्टीरिया, अपस्मार, उन्माद या विक्षिप्तता का कारण भी बन जाती है। अतः कामवासना का दमन योग्य कुशल गुरु के संरक्षण में हो, तब तो कामविजय में सफलता मिल सकती है, क्योंकि कामवासना को जीतने से पहले, दृढ़संकल्पपूर्वक उसे दबाया जाता है। दबी हुई वासना एक साथ उभरती है। संकल्प से पूर्व वह उभरती नहीं थी, किन्तु कामवासना पर विजय के संकल्प के समय एकदम वह प्रकट होती है। तब उसे सँभालना मुश्किल होता है।

तंत्रशास्त्र में बताया है कि सफेद आक के नीचे धन का निधान होता है। कोई उसे निकालने का प्रयत्न करता है तो वहाँ बैठे हुए साँप फुफकारने लगते हैं। यदि निधान निकालने वाला प्रबल होता है तो साँपों को जीत लेता है और दुर्बल होता है तो साँप उसे मार डालते हैं। यही बात कामवासना पर विजय पाने के समय होती है। कामवासना पर विजय का संकल्प लेकर जब साधक उसे दमन करने के लिए कुरेदने का प्रयत्न करेगा, तो वह अवश्य ही उभरेगी, उसे छेड़ेगा तो वह फुफकार मारेगी ही। ऐसे समय में कामवासना को निकालने के लिए छेड़ने वाले को कुशल योग्य गुरु का संरक्षण प्राप्त होना चाहिए। ब्रह्मचर्य-साधक का गुरु योग्य एवं कुशल होता है तो वह उस उभार को सँभाल लेता है, और अपने साधक शिष्य को योग्य निर्देशन देकर उस उभार को सहने में सक्षम बना देता है। अन्यथा, साधक घबरा जाता है, और कामवासना के आगे पराजित हो जाता है।

कामवासना के दमन में अत्यन्त खतरे हैं। दमन के मार्ग में उसी साधक को हाथ डालना चाहिए, जिसे कुशल योग्य गुरु का संरक्षण प्राप्त हो, अथवा जिसमें गुरु-पद के योग्य असाधारण मनस्विता, मार्गदर्शनक्षमता एवं कष्ट सहिष्णुता हो। अन्यथा, दमन का शीघ्रप्रभावी मार्ग जो अमृतरूप है, वह विषतुल्य भी बन सकता है। एक ऐतिहासिक उदाहरण से इसे समझिए—

सामान्य व्यक्तियों के समान ही तरुण साधक स्वामी विवेकानन्द के जीवन में भी धन, बड़प्पन-प्रदर्शन, शरीरसज्जा और कामवासना के आकर्षणों की परिस्थितियाँ

अनेक बार आई थीं, पर जब भी ऐसी परिस्थिति आती, वे हँसकर कहते—"ओ रे मन ! यह आकर्षणों का जाल शारीरिक, मानसिक और बौद्धिक शक्तियों को पतित करने वाला है। इनसे बचने में ही तेरा लाभ, तेरी शान्ति और तेरा सुख सन्निहित है।"

कभी-कभी मन और जोर पकड़ता, तब जीवन की क्षणभंगुरता का चिन्तन उसे दबा देता। स्वामी जी उस क्षण की कल्पना करने लगते, जब उनकी आत्मा शरीर छोड़कर मुक्त आकाश में विचरण करेगी, इससे उनको अपना आत्मिक लक्ष्य याद आ जाता और मन समझ जाता कि यह पार्थिव आकर्षण आध्यात्मिक उन्नति में अवरोधरूप और दुर्गति का मुख्य कारण है। अतः वह आकर्षण एकदम शान्त हो जाता।

अतः कामवासना से मुक्ति पाने का सरल उपाय है—इसका शमन (Sublimation) करना। शमन के मार्ग में खतरे कम हैं, और सुगमता अधिक है। इससे ब्रह्मचर्य-साधना जितनी सहज हो सकती है, उतनी दमन से नहीं।

कामशमन का अर्थ है—कामवासना के उद्दीप्त होते ही उपयोगी लोकहित या आत्महित का विचार करके उसे पवित्र उपायों से शान्त कर देना; उसके प्रवाह में नहीं बहना।

(१) जब भी मन में तीव्र कामवासना भड़क उठे, ब्रह्मचर्यसाधक को तुरन्त वहाँ से उठकर अन्यत्र चले जाना चाहिए तथा दोनों कानों को मसलते हुए, एक-दो मील तक दौड़कर आना चाहिए। साथ ही मन ही मन किसी पूज्य गुरुजन का ध्यान करके उनके निकट उपस्थित होने की कल्पना करनी चाहिए, मानो साधक उनसे किसी आध्यात्मिक विषय पर चर्चा कर रहा है, अथवा पूज्य पुरुष उससे कह रहे हैं—"ऐसा दुष्कृत्य करना तुम्हारे लिए शोभास्पद नहीं है, इसे मत करो।" इस प्रकार काम का आवेग समाप्त हो जाता है।

(२) तीव्र कामवासना मन में उदित होने पर वैदिक आचार्य गायत्री मन्त्र का जाप करने और जैनाचार्य पंचपरमेष्ठी मन्त्र का जाप करने का निर्देश करते हैं। मन में किसी भी पवित्र महापुरुष का नाम-स्मरण या नामजप करने से कामवासना शान्त हो जाती है। अथवा **'ॐ ब्रह्मचर्यं रक्षतु, वीर्यं रक्षतु पार्श्वः'**; इस प्रकार के किसी उपयोगी मन्त्र का उच्चारण करने से कामावेग समाप्त या मन्द हो जाता है। परमात्मा के नामस्मरण, नाम-संकीर्त्तन, अर्चा-पूजा तथा सद्ग्रन्थों के स्वाध्याय में ब्रह्मचर्य-साधक की शक्तियाँ केन्द्रित हो जाने से कामवासना के पापी विचार ठहर ही नहीं पाते। दृढ़ ब्रह्मचर्यसाधकों, विचारशील मनीषियों को कामवासना-शमन के लिए भगवद्भक्ति एवं आराधना, अर्चा इत्यादि का मार्ग अपनाना ही श्रेयस्कर है।

जो साधक परमात्मा के चरणों में अपना जीवन समर्पित कर देता है, अथवा अपना जीवन परमात्ममय बनाने में लगा देता है, उसके समस्त कामविकार सहज ही

दग्ध हो जाते हैं, उस व्यक्ति के काम का सहज ही शमन हो जाता है। गोस्वामी तुलसीदास, भक्तप्रवर सूरदास, कविवर रसखान आदि भक्त कवियों तथा अनेक ज्ञानी सन्त-महात्माओं ने कामवासनाओं का शमन भगवद्भक्ति एवं आराधना के पवित्र मार्ग से किया है। इस मार्ग से उन्हें शान्ति एवं नवप्रेरणा प्राप्त हुई।

(३) किसी नारी के सौन्दर्य पर सहसा दृष्टि पड़ जाए, या उसका स्मरण आ जाए और मन में कामवासना उठने लगे तो तत्काल अपने इष्टदेव का स्मरण अथवा अपनी माता का ध्यान करना चाहिए तथा महिलाओं को पुरुष की ओर दृष्टि पड़ने या उसका ध्यान आ जाने पर अपने पिता या परमात्मा का ध्यान या स्मरण करना चाहिए।

बीकानेर निवासी बुलाकीदासजी अपने मित्र रामगोपाल के साथ प्रातःकाल गंगा नहाने जा रहे थे। दोनों मित्रों के आगे एक सुन्दर तरुणी वेश्या जा रही थी। रामगोपाल जी ने अपने मित्र बुलाकीदास जी से वेश्या की ओर इशारा करके कुछ मोहजनक कहा तो तुरन्त बुलाकीदास जी ने कहा—"गोपाल ! खबरदार, ऐसी बात मुँह से कभी न निकालना और न सोचना ही। वेश्या हो, चाहे कोई हो, स्त्रीमात्र मेरी माँ है। जगत् की सारी स्त्रियाँ जगदम्बा दुर्गा का रूप हैं। सबको माँ समझो भैया !" इस प्रकार की मातृभावना से रामगोपाल का कामभाव तत्काल शान्त हो गया। उसने मित्र का आभार माना।[1]

(४) एक विचारक ने कहा है—'काम' को जीतने के लिए ब्रह्मचर्य-साधक को ठीक उसके विरोधीभाव को विकसित करने की आवश्यकता है।' गृहस्थों के लिए शास्त्रकारों ने '**मातृवत् परदारेषु**' का उपदेश दिया है। पूर्ण ब्रह्मचर्य-साधक को चाहिए कि समस्त स्त्री जाति को 'माता' के रूप में देखे, बरते, तथा तदनुकूल निज आचरण करे।

तात्पर्य यह है कि कामविकार का मन पर किसी भी रूप में आक्रमण होते ही भगवन्नामस्मरण या पवित्रता तथा वात्सल्यभाव से परिपूर्ण अक्षर—'माँ माँ माँ' का जाप करने अथवा अपने इष्टदेव की छवि का ध्यान करने से कामविकाररूपी पाप की वासना तत्काल शान्त हो जाएगी।

(५) कदाचित् ऐसा भी प्रसंग आ जाए कि कोई सुन्दरी युवती ब्रह्मचर्यसाधक के मनोहर रूप एवं अंग-प्रत्यंगों को देखकर अत्यन्त मोहित हो जाए और निर्लज्ज होकर अपनी कामवासना को चेष्टा और वाणी द्वारा व्यक्त करे; इतना ही नहीं, ब्रह्मचारी द्वारा उसके प्रति मन में संजोया हुआ मातृभाव वाणी एवं व्यवहार द्वारा व्यक्त करने पर भी वह स्पर्श, आलिंगन आदि द्वारा छेड़खानी करके कामोत्तेजना

---

१ 'आदर्श मानव हृदय', भाग ३ (गीता प्रेस, गोरखपुर), पृ० ६७।

पैदा करना चाहे, उस समय भी ब्रह्मचारी साधक को निर्विकार दृष्टि रखकर अपनी निर्विकारता सुरक्षित रखते हुए किसी सुयुक्ति से उक्त कामान्ध नारी के चंगुल से बचना चाहिए।

सुदर्शन सेठ ब्रह्मचर्याणुव्रती श्रावक थे। उनके रूप को देखकर मोहान्ध बनी हुई अभयारानी अन्तःपुर के एकान्त कमरे में प्रवेश कराकर अपनी कामचेष्टा सब प्रकार से निर्लज्ज होकर व्यक्त करती है। सुदर्शन पर कामाक्रमण कर देती है। फिर भी सुदर्शन सेठ उसे मातृभाव से चुपचाप देखते हैं, उत्तेजित नहीं होते, न ही कोई उत्तर देते हैं। आखिर निरुपाय होकर वे कामान्ध रानी से कहते हैं—"माताजी ! मैं आपके काम का नहीं, मुझे माफ कर दीजिए।"

(६) **शरीरस्वरूप-चिन्तन भी काम-शमन में सहायक**—जैनशास्त्रों में बारह अनुप्रेक्षाओं (भावना) का वर्णन आता है। यह (स्त्री या पुरुष का) शरीर, जिसके रूप, सौन्दर्य एवं हास-विलास पर व्यक्ति मोहित या गर्वित होता है, वह रस, रक्त, मांस, वसा (चर्बी), हड्डी, मज्जा, वीर्य, मल, मूत्र आदि अशुचि (गंदे) पदार्थों से परिपूर्ण है। चमड़ी के आवरण को हटाकर अन्दर का सच्चा रूप देखा जाए तो यह शरीर इतना घृणित दिखाई देगा कि इसके पास एक क्षण भी बैठना कठिन होगा। जो शरीर इस प्रकार का अपवित्र, अशुचि एवं मलमूत्र का भण्डार है, वह पवित्र और सुन्दर कैसे हो सकता है। इस शरीर के नौ द्वारों से सदा दुर्गन्धित रस झरता रहता है, उस रस से यह सदैव लिप्त रहता है। अज्ञानी मानव ही इस अशुचि शरीर में पवित्रता एवं सुन्दरता की कल्पना करता है, यह महामोह की विडम्बना है। अतः ब्रह्मचारी साधक को चाहिए वह इस अशुचिभावना के चिन्तन से इस दुर्गन्धित, गर्हित, निन्द्य (स्त्री-पुरुष के) शरीर पर से मोह छोड़े, इसे कामवासना की पूर्ति में न लगाकर परमार्थभाव की साधना में लगाए।

जब भी किसी स्त्री-शरीर को देखकर कामभाव जागृत होने लगे, उससे पूर्व ही ऐसा अशुचिभावना का अनुप्रेक्षण-चिन्तन करे तथा अनित्य भावना का भी चिन्तन करे कि ऐसा अशुचिमय, अपवित्र, रोगों का घर, मलमूत्र भण्डार शरीर भी स्थायी नहीं है। क्षणभंगुर है। इसकी बाल्य, यौवन, प्रौढ़ और वृद्धत्व, ये चारों अवस्थाएँ भी स्थायी नहीं हैं।

अतः कामशमन के बदले इस पर आसक्ति और मोह-ममता करके उत्तेजन करना मूढ़ता है। इस प्रकार वैराग्यभाव तीव्र हो जाने से कामज्वर शान्त हो जाता है।

(७) एक ब्रह्मचर्य-साधना के अभ्यासी कामोत्तेजना के समय चित्त लेट जाते हैं और शरीर के सभी अंगोपांगों को बिलकुल ढीला छोड़ देते हैं। फिर वे भावना करते हैं—"नसों में उत्तेजित होने वाली समस्त कामशक्ति को खींचकर मैं मस्तिष्क में

धारण कर रहा है और वह शुद्धबुद्धि के रूप में परिवर्तित हो रही है।" कुछ देर तक इस भावना को दोहराने से उनकी कामोत्तेजना शान्त हो जाती थी। अर्थात्—शरीर के समस्त अवयवों को शिथिल करके एकाग्रतापूर्वक ऐसा दृढ़ विचार करो—"मेरे शरीर की कामासक्ति उत्तरोत्तर ऊपर—सिर पर चढ़ रही है।" कामवासना के शमन करने का यह उपाय भी बहुत सफल सिद्ध हुआ है।

(८) नैष्ठिक ब्रह्मचारी श्री बालकोबा भावे ने कामवासना उदित होने पर उसके शमन का उपाय बताते हुए लिखा है—जिस स्त्री की कल्पना तुमने मन में की है, वह साक्षात् तो तुम्हारे पास है नहीं, वह तुम्हारे द्वारा कल्पित नारी है। तुम उसका स्पर्श, आलिंगन एवं सहवास करना चाहते हो, पर वह तुम्हारे तन-मन में कैसे घुस सकती है? कुत्ते द्वारा प्राप्त हड्डी को चूसने के समान, तुम अपने ही सत्त्व को अपने तन-मन में अप्रविष्ट कल्पित स्त्री से स्वयं चुसाते हो। क्या यह तुम्हारी बुद्धिमानी है कि अपने हाथों, कल्पित स्त्री के साथ मानसिक व्यभिचार से तुम अपने बल, वीर्य, शरीर और बुद्धिबल का नाश करते रहो? छोड़ो इस घृणित उपाय को। अपनी कामशक्ति को सत्कार्यों में लगाओ।

इस प्रकार विवेकपूर्ण अभ्यास से कामवासना का शमन अनायास ही हो जाएगा और धीरे-धीरे इस प्रकार की कुटेव भी दूर हो जाएगी।

(९) किसी महिला का पूर्वकाम-संस्कारवश काम-वासनाप्रेरित स्मरण हो जाए तो उस समय इस प्रकार के विवेकसूत्र का चिन्तन करना चाहिए—"मैं देह नहीं हूँ, और पूर्वकाम-संस्कारवश जिस महिला का पुनः स्मरण या चिन्तन हुआ है, वह भी देह नहीं है। मैं और वह दोनों परमात्मस्वरूप हैं। जहाँ परमात्मभाव है, वहाँ कामभाव को टिकने का अवकाश ही कहाँ है?" एक प्रसिद्ध दोहा है—

"जहाँ राम तहाँ काम नहीं, जहाँ राम नहीं काम।
दोनों इकठा ना रहें, राम काम इक ठाम॥"

इस प्रकार के विवेकपूर्वक चिन्तन से भी कामभाव का शमन हो जाता है।

(१०) कामवासना मस्तिष्क के पिछले भाग में प्रारम्भ होती है। अतः जैसे ही वह प्रारम्भ हो, उस स्थान में मन को एकाग्र करके कोई शुभसंकल्प दृढ़तापूर्वक किया जाए तो कामवासना का वह उभार शान्त हो जाता है।

(११) निम्नलिखित उपाय भी काम-शमन में सहायक है—

पेट में मल, मूत्र और वायु का दबाव बढ़ने से कामवाहिनी नाड़ियाँ उत्तेजित हो जाती हैं। यदि खान-पान, मलशुद्धि और वायुविकार की अवृद्धि का ध्यान रख जाए, इन बातों में पूर्ण सजग रहा जाए तो कामवासना शान्त हो सकती है।

कामशक्ति का शोधन : कामविजय का एक उपाय—काम के उचित दमन का एक सात्त्विक और सहज उपाय है—कामशक्ति का शोधन। कामशक्ति के शोधन का अर्थ है—जो इन्द्रियाँ और मन विकृत विषयों की ओर जाकर गलत काम करते हैं, उनका शोधन करके शुभ विषयों की ओर लगाना। अर्थात्—कामशक्ति का सर्वथा बहिष्कार न करके उसका परिष्कार करना। इसका तात्पर्य यह है कि काम एक मानसिक शक्ति है। उसका दुरुपयोग किया जाए तो वह बुरी बन जाती है और सदुपयोग किया जाए तो अच्छी। सदुपयोग और दुरुपयोग तो व्यक्ति की भावना पर निर्भर है। मनोविज्ञानवेत्ताओं का कहना है कि इस मानसिक शक्ति का शोधन करना उतना कठिन नहीं है जितने कि अन्य कठोर परिश्रम। कामशक्ति के शोधन से ब्रह्मचर्य-साधना आसान हो जाती है; इतना ही नहीं, वह अपनी इस संचित कामशक्ति का उपयोग समाजसेवा, जनकल्याण एवं आत्मशुद्धि आदि महान् कार्यों में करके अपने विशाल ध्येय की पूर्ति कर सकता है, अपने चरम लक्ष्य तक पहुँच सकता है। काम के शमन की अपेक्षा शोधन का कार्य स्थायीरूप से कामविजय कर पाता है। शमन में कई बार तात्कालिक कामविजय होता है, जबकि शोधन में कामविजय का आजीवन अभ्यास।

आधुनिक तर्जों पर बने हुए फिल्मी गीत अश्लीलता के कारण जनता में कामुकता जगाते हैं, परन्तु कामशक्ति का शोधन करने वाले कवि आध्यात्मिक दृष्टि से प्रेरित गीत, भक्ति-काव्य अथवा जीवननिर्माण के संगीत, एवं आत्मविकास प्रेरक कविताएँ उन्हीं सिनेमा की तर्जों में बनाते हैं, अथवा शृंगाररस की कविताओं या गीतों को शान्त रस में बना देते हैं।

भक्त शिरोमणि मीरांबाई ने उस युग में प्रचलित कामवासना-प्रेरक अश्लील गीतों के बदले अपनी कामशक्ति को भक्तिरस से ओतप्रोत संगीत में प्रवाहित किया। मीरांबाई के गीतों में जो माधुर्य और सौन्दर्य है, वह उनकी कृष्णभक्ति का परिचायक है। यद्यपि मीरांबाई विवाहित थीं, फिर भी उन्होंने अपनी कामशक्ति का उपयोग सांसारिक वासना में न करके श्रीकृष्ण को ही अपना पति मानकर उनकी भक्ति में किया। यह मीरांबाई की कामशक्ति का शोधन था।

गोस्वामी तुलसीदास अपनी पत्नी रत्नावली के मोह में इतने काम-विह्वल हो गये थे कि अनेक खतरे उठाकर भी वे उसके पास रात्रि में ही पहुँच गये। रत्नावली ने उन्हें उपालम्भ के स्वर में बहुत कुछ कहा, जिसने कामभक्त तुलसीदास को रामभक्त बना दिया। तुलसीदासजी ने अपने मन की कामशक्ति का शोधन करके उसे राम-भक्ति में लगा दिया। यही कारण है कि गोस्वामी तुलसीदासजी ने कामशक्ति का शोधन करके रामचरित मानस, 'विनयपत्रिका', 'तुलसी सतसई' आदि जो काव्य लिखे हैं, वे संसार में अनूठे और बेजोड़ हैं। उन भक्तिकाव्यों ने सन्त तुलसीदास को अमर और यशस्वी बना दिया।

भक्तकवि सूरदास के मन की कामशक्ति पहले चिन्तामणि वेश्या के प्रेम में, उसको रिझाने और मनाने में लगी हुई थी, किन्तु एक दिन उन्होंने अपने जीवन की इस अधोदिशा पर चिन्तन किया, उनकी प्रसुप्त चेतना जाग गई, और उन्होंने अपनी मानसिक कामशक्ति का शोधन करके उसे कृष्णभक्ति में सराबोर कर दिया। उन्होंने कृष्णभक्ति का शृंगाररस की कविताओं के रूप में विकृत रूप देखकर अपनी कामशक्ति को इस विकृत दिशा में न लगाकर वात्सल्य रस से पूर्ण कृष्णभक्ति गीत की रचनाओं में लगाया और श्रीकृष्ण की बाललीला के वर्णन के रूप में कृष्णभक्ति का अनूठा परिचय दिया। इसके अतिरिक्त उन्होंने अपने मन को कृष्णभक्ति में ओत-प्रोत करके जो भक्तिमय संगीत के मधुर पद्य लिखे हैं, वे विश्व के साहित्य में बेजोड़ माने जाते हैं।

श्रमणकुलतिलक आचार्य श्री रघुनाथजी महाराज ने अपने मन की कामशक्ति का शोधन तप, संयम और त्याग द्वारा आत्मशुद्धि और समाज कल्याण के रूप में किया।

इसी प्रकार आचार्य श्री जयमल्लजी महाराज ने अपनी नवोढ़ा पत्नी के साथ वासनामय जीवन बिताने में अपनी मानसिक कामशक्ति न लगाकर कठोर तप-संयममय जीवन बिताने में लगाई और इस प्रकार कामशक्ति का शोधन किया।

जैसे चतुर वैद्य संखिया जैसे हलाहल विष का शोधन करके औषध के रूप में प्रयोग करके दुःसाध्य रोगियों को स्वस्थ और सशक्त बना देता है, उसी प्रकार काम-रूपी विष का संशोधन करके चतुर जीवन वैद्य उसे अमृत के रूप में परिवर्तित कर देता है। वह कामशक्ति का धर्मानुकूल संशोधन एवं उपयोग कर लेता है, उसमें निहित विष को निकाल कर अमृतमय बना देता है।

धर्म से अविरुद्ध काम : अमृतमय—संसारी पुरुषों का 'काम' प्रायः धर्म-विरोधी होता है। धर्म से दूर हो जाने के कारण उनकी कामशक्ति का उचित शोधन नहीं हो पाता, इसी कारण धर्मविरोधी काम दुःख और संकट का जनक हो जाता है। कर्मयोगी श्रीकृष्ण ने काम को अमृतमय बनाने का राजमार्ग बताते हुए कहा है—

'धर्माऽविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ।'[1]

"हे अर्जुन! प्राणियों में धर्म से अविरुद्ध काम मैं हूँ।"

इसका तात्पर्य यह है कि कामशक्ति यदि धर्मानुकूल हो तो वह शुद्धात्ममय बन जाती है, वह अपनी आत्मा और संसार की आत्माओं के लिए हितकर हो जाती है। कामशक्ति के प्रवाह को उपयोगी और कल्याणकारी मार्गों की ओर मोड़ देने से

---

१ भगवद्गीता, अ० १०, श्लोक ३६।

उस शक्ति का संवर्धन एवं सदुपयोग भी हो जाता है, और जीवन का सच्चा आनन्द भी प्राप्त होता है। दशवैकालिक सूत्र में इसी विषय पर प्रकाश डालते हुए कहा है—

"हंदि ! धम्मत्थकामाणं निग्गंथाणं सुणेह मे।"[1]

"हे श्रोताओ ! धर्मार्थ काम वाले निर्ग्रन्थों का आचार-वर्णन मुझ से सुनो।"

इस प्रकार निर्ग्रन्थों की कामशक्ति का प्रवाह धर्म एवं मोक्ष के प्रयोजन में प्रवाहित होने पर उसका भलीभांति शोधन हो जाता है। कामशक्ति का इस प्रकार शोधन हो जाने से मनुष्य को कामविजय में कोई अड़चन नहीं आती।

काम के ही दो रूप : विकार और वात्सल्य—विकार और वात्सल्य ये दोनों एक सिक्के की दो बाजू जैसे हैं। चाबी तो प्रत्येक ताले की एक ही होती है। परन्तु उसे ताले में डाल कर बांई ओर घुमाने से ताला बन्द हो जाता है, और दाहिनी ओर घुमाने से ताला खुल जाता है। इसी प्रकार 'काम' तो एक ही है। विकार और वात्सल्य उसके दो रूप हैं। देहदृष्टि से देखने पर वह 'काम', 'विकार' बन जाता है और आत्मदृष्टि से देखने पर वह 'वात्सल्य' बनता है। विकार का अधिष्ठान देह है, जबकि वात्सल्य का अधिष्ठान आत्मा है। विकार व्यक्तिलक्षी होता है, जबकि वात्सल्य समष्टिलक्षी या विश्वलक्षी होता है। ब्रह्मचर्यसाधक को काम के इन दोनों रूपों का विवेक करना चाहिए। कामरूपी चाबी को आत्मारूपी ताले में दाहिनी ओर घुमाकर उसे वात्सल्य को खोलना चाहिए और बांई ओर घुमाकर विकार को बन्द कर देना चाहिए। विकार और वात्सल्य की भेद-रेखा भलीभांति समझ लेनी चाहिए। पुरुष द्वारा किसी स्त्री के या स्त्री द्वारा किसी पुरुष के परिचय की प्रारम्भिक भूमिका में ये दोनों एकसरीखे जान पड़ते हैं। उस समय प्रणय, मोह, या लाड़-प्यार आदि को ही स्थूलबुद्धि वाला व्यक्ति वात्सल्य (शुद्ध प्रेम) समझ लेता है। इसलिए कभी-कभी आगे चलकर वात्सल्य की भूमिका में से विकार की भूमिका पर मनुष्य उतर आता है। अगर उस समय विवेक जागृत हो तो विकार में परिणत होते हुए सम्बन्ध को वात्सल्य में परिवर्तित किया जा सकता है। नारी के पयोधर इसके स्थूल प्रतीक हैं। वे विकार के भी प्रतीक हैं, तो वात्सल्य के भी इतने ही प्रतीक हैं। द्रष्टा की जैसी दृष्टि ! यह प्रियतमा भी है, और माता या भगिनी भी है। ब्रह्मचारी अथवा साधु-संन्यासी, जिन्हें इस संसार और समाज के बीच में रहकर अपनी ब्रह्मचर्य-साधना एवं प्रवृत्ति करनी है, उन्हें विकार और वात्सल्य की भेद-रेखा समझकर, उस विकार का—नारी में रही हुई प्रियतमा का—त्याग करना है और वात्सल्य को—नारी में रही हुई माता को—भावपूर्वक अपनाना है। तभी विकारी निमित्तों में भी उसकी ब्रह्मचर्य-साधना सदैव सरलता से हो सकेगी।

---

१ दशवैकालिक सूत्र, अ० ६, गा० ४।

कामविकार से मुक्ति दिलाने वाली : मातृ भावना—ब्रह्मचर्य-साधक अविवाहित हो, विवाहित हो, अथवा साधु-संन्यासी हो, समूची स्त्री जाति के प्रति मातृ-भावना रखने पर कामविकार का कोई निमित्त नहीं रह जाता। इससे निम्नगामी अपवित्र कामवृत्ति ऊर्ध्वगामी एवं पवित्र हो जाएगी। ब्रह्मचर्य-साधक अगर अविवाहित है या साधु-संन्यासी है, तब तो उसके लिए समग्र नारी जाति के प्रति मातृभावना अनिवार्य है ही। परन्तु जो विवाहित पति-पत्नी हैं, वे अगर अखण्ड ब्रह्मचर्य-साधना करना चाहते हैं तो उन्हें पति-पत्नी भाव छोड़ देना होगा, क्योंकि कामविचार की वृत्ति पति-पत्नी-सम्बन्ध के साथ जुड़ी हुई है, इसी वृत्ति के कारण ममत्व पैदा होता है, यही सारे दुःखों की जड़ है। माता-पुत्र के या भाई-बहन के बीच कभी कामविकार पैदा नहीं होता, वह तो पति-पत्नी के सम्बन्ध के साथ पनपता है। पति-पत्नी की भावना ही सारे दुःखों की जड़ है, वह कट जाती है तो वासना का आधार ही टूट जाता है। इसके अतिरिक्त विवाहित पुरुष केवल पत्नी के प्रति भावना को बदल देने से कामविकार से मुक्त नहीं हो जाता; क्योंकि अन्य किसी नारी को देखने पर मन में विकार पैदा हो सकता है। अतः कामविकार से मुक्ति पाने के लिए पत्नी-सहित समूची स्त्रीजाति के प्रति मातृभावना रखने की आवश्यकता है। समस्त नारीजाति के प्रति मातृभावना बहुत उच्च भावना है। पुत्र को माता के प्रति विकार पैदा नहीं हो सकता। यह सद्यः परिणामकारक भावना है।

राष्ट्रसंत विनोबा ने मातृभावना को चार गुणों से युक्त बतलाया है—

(१) मोचक, (२) सरस,
(३) सुन्दर और (४) महान्।

यह मातृभावना मोचक है—हमेशा के लिए काम-विकार से मुक्ति दिलाने वाली, मुक्ति का अनुभव कराने वाली भावना है। यह भावना सरस है, अर्थात् वात्सल्य रस से युक्त, अथवा श्रेष्ठ है। पवित्रता बढ़ाने वाली एवं काम-विकार से मुक्ति दिलाने वाली होने से यह श्रेष्ठ है। तात्पर्य है कि मातृभावना से मनुष्य विकार से निवृत्त और पवित्रता में प्रवृत्त होता है। यह भावना सुन्दर है, इसका अर्थ है—शुद्ध प्रेम उत्पन्न करने वाली एवं आनन्ददायिनी है।"[1]

जिस प्रकार घर में बहिन, बेटी, माता, भाभी, चाची, दादी, भुआ, भतीजी आदि के साथ प्यार-दुलार के पवित्र सम्बन्धों सहित रहकर आनन्दित जीवन जिया जा सकता है, वैसे ही घर से बाहर की परिधि में भी अपने से बड़ी स्त्री के प्रति माता की भावना, समान उम्र की महिला के प्रति बहन की भावना और छोटी उम्र की लड़की के प्रति पुत्री की भावना के साथ रहकर पवित्र सम्बन्धों सहित आनन्दित

---

१. अभंगव्रत विवेचन (संत विनोबा), पृष्ठ १२५-१२६।

जीवन जिया जा सकता है । विकाररहित पवित्र सम्बन्ध के कारण यह भावना सचमुच आनन्ददायिनी होती है । इससे विवाहित ब्रह्मचर्य-साधक (स्त्री वर्ग में) सर्वत्र विश्वसनीय और शुद्ध प्रेमभाजन बन जाता है । मातृभावना का चौथा गुण है—महान् । "जिस भावना से इतने उच्च गुण प्रकट होते हों, वह महान् है ।[1] माता महनीय-पूजनीय होने के कारण भी मातृभावना महान् है ।" इस भावना से ब्रह्मचर्य सिद्ध हो जाने पर यह जीवन के अन्तिम लक्ष्य—मोक्ष तक ले जाने वाली बन जाती है ।

निष्कर्ष यह है कि मातृभावना ब्रह्मचर्य के प्रत्येक कोटि के साधक के लिए संजीवनी बूटी है, जो माता की तरह ब्रह्मचर्य का रक्षण, संवर्द्धन और पोषण करती है । इसे प्रत्येक ब्रह्मचारी साधक को अपनाना चाहिए ।

कामशक्ति का उदात्तीकरण

जब व्यक्ति अपने मन को कामवासना सम्बन्धी कुविचारों से हटाकर नये, उपयोगी और उच्च आध्यात्मिक एवं पारमार्थिक विषयों में लगा देता है, तब उसकी कामशक्ति का उदात्तीकरण हो जाता है । कामवासना पशुत्व की निशानी है । इस पशु प्रवृत्ति में न पड़ना ही अच्छा है । जिन्हें आत्मज्ञान नहीं है, वे ही इस काम-वासना की पशु प्रवृत्ति में फँसे रहते हैं । वासना एक क्षणिक उन्माद है । थोड़ी देर रहने वाली उत्तेजना है । मनुष्य यदि दृढ़ निश्चय करले कि मैं इस पागलपन में नहीं पड़ूँगा, और कामवासना में नष्ट होने वाली शक्ति को बचा ले, और उसे उपयोगी स्वपर हितकर कार्यों में लगाये तो यह कामशक्ति अपने सूक्ष्म से सूक्ष्म रूपों में परि-वर्तित होती हुई महत्वपूर्ण कार्यों को सम्पन्न कर सकती है । इस प्रकार कामशक्ति के उदात्तीकरण से ब्रह्मचर्य-साधना निराबाध रूप से हो सकती है ।

रामकृष्ण परमहंस और शारदामणिदेवी विवाह बन्धन में बाँध दिये गये । बुद्धिमान रामकृष्ण विचार में पड़ गये । यौवनवयसम्पन्न नवोढ़ा पत्नी की इच्छा को जानने के लिए कहा—"शारदा ! हमारी आत्मा दाम्पत्यजीवन के सीमित क्षेत्र में बँधी नहीं रह सकती । हम इस संसार में अपनी चेतना को विश्व चेतना में जोड़ने और आत्मज्ञान का प्रकाश समस्त विश्व में फैलाने के लिए आये हैं । तुम्हारी क्या इच्छा है ?"

शारदामणि ने कहा—"जैसा आपका आदेश होगा, पतिव्रता नारी के रूप में अवश्य उसे पूर्ण करूँगी ।"

---

१. अभंगव्रत विवेचन (संत विनोबा), पृष्ठ १२६ ।

रामकृष्ण—"शारदा ! बुरा न मानना। आगे तुम्हें बलिदान करना होगा। हम दोनों को संयम और ब्रह्मचर्य का कठोर बन्धन अपने पर रखना होगा। मनुष्य जब वासना और इन्द्रियजन्य परतन्त्रता से मुक्त होने लगता है, तो उसकी महानता विकसित होने लगती है, हमें इसी पथ पर आगे चलना है। हम दोनों आज संकल्प करें कि अपने भावी जीवन में कभी कामसेवन नहीं करेंगे। गृहस्थी में रहकर भी ब्रह्मचर्य का पालन करेंगे।"

शारदामणि कुछ झिझकी, बड़ा कठोर प्रण था, फिर दृढ़तापूर्वक बोली—"मैं भी आपके साथ संकल्प लेती हूँ कि जीवनभर कामसेवन नहीं करूँगी, ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करूँगी।"

फिर दोनों ने एक साथ प्रण किया—"हम दोनों सदा-सर्वदा वासना से मुक्त रहेंगे; आत्मा की गौरवपूर्ण महत्ता प्राप्त करेंगे; अपनी प्रसुप्त महानता को जगायेंगे। इसके लिए हम आज से और अभी से लग जाएँगे, जिससे अपनी संचित कामशक्ति का सच्चा सदुपयोग हो सके।"

गृहस्थ जीवन के नये प्रभात में नवदम्पत्ति की वासना का तूफान समाप्त हो चुका था और विवेक बुद्धि का शान्त, सन्तुलित, संयमित जीवन आरम्भ हुआ था। तब से दोनों आजन्म पति-पत्नी की तरह रहे, किन्तु उन्होंने आजन्म कामसेवन नहीं किया। अपनी कामशक्ति को उन्होंने देवी की भक्ति में समर्पित कर दिया तथा लोकोपकार, धर्मप्रचार, सद्ज्ञान-प्रचार तथा कल्याणकारी कार्यों में लगा दिया। इससे उनकी कामशक्ति का उदात्तीकरण हो गया। विश्व का बड़ा हित सधा।

इसी प्रकार समाजसेवा के किसी कार्य में अपने आपको ओतप्रोत करने से, पिछड़ी जातियों को उठाने का कार्य करने से, परोपकार के कार्यों; जैसे—अनाथालय विधवाश्रम, गुरुकुल, वृद्धाश्रम, अन्धविद्यालय आदि चलाने से तथा बालप्रेम, कलाप्रेम, संगीतप्रेम, तथा अनेक लोक-कल्याण एवं लोकसेवा के कार्यों में पूर्ण तन्मयतापूर्वक संलग्न हो जाने से मनुष्य की कामशक्ति का उदात्तीकरण हो सकता है। परमात्मभक्ति, आत्मविकास की साधना, उच्चतम आध्यात्मिक साहित्य का सर्जन, परिवार एवं समाज के निर्माण के कार्य आदि भी कामशक्ति के उदात्तीकरण के उपाय हैं। इन कार्यों में से किसी भी एक सत्कार्य में अपने जीवन को समर्पित कर देने से मनुष्य की कामवासना निम्नस्तरों से हटकर उच्चस्तरीय मार्गों से प्रवाहित होने लगती है।

सिस्टर एलिजाबेथ केली ने अपनी कामशक्ति का इसी प्रकार उदात्तीकरण कर दिया था। सन १९१० में जब वह आस्ट्रिया के एक आदिवासी क्षेत्र में

घूमने आई थी, तभी वैभव एवं ऐश्वर्य से सम्पन्न इस युवती को लगा—दीन, दुःखी, रुग्ण, असहाय तथा पीड़ित लोगों की संसार में कमी नहीं। आधे से अधिक विश्व जब अविकसित, अशिक्षित एवं विभिन्न दुःखों से पीड़ित हो, तब वह ऐश-आराम में अपनी जिन्दगी काटे—खुशियाँ मनाए, यह असह्य है।

उसने एक गाँव में लकवे से पीड़ित, असह्य तेज बुखार से ग्रस्त ६ बच्चों की चिकित्सा की। कई दिन तक अथक सेवा-शुश्रूषा के बाद वे ६ बच्चे स्वस्थ हुए। युवती को लगा कि सेवा से बढ़कर आनन्द और किसी वस्तु में नहीं है। तब से उसने सांसारिक सुखों तथा कामवासना का स्वेच्छा से त्याग करके सेवा कार्यों में अपने आपको लगा दिया। ऐलिजाबेथ के एक सम्बन्धी की इच्छा थी कि वह शादी कर ले, किन्तु उसने विनम्रभाव से अपनी असहमति प्रकट करते हुए कहा—"मेरे लिए अब 'सेवा' ही शादी है।" इस अनूठी सेवा के फलस्वरूप अनेक विश्व विद्यालयों ने उसे 'डॉक्ट्रेट' की उपाधि से विभूषित किया। इस प्रकार सिस्टर एलिजाबेथ ने अपनी कामशक्ति को निम्नस्तरीय स्वार्थ और संकीर्णता से हटाकर निःस्वार्थ सेवाकार्य से उसका उदात्तीकरण कर लिया।

एक मनोवैज्ञानिक के ये उद्गार अत्यन्त मननीय हैं—"अपने सुख का ध्यान कामुकता है, पर दूसरों के सुख का ध्यान (शुद्ध) प्रेम है। कामुकता से हम घोर स्वार्थी और संकीर्ण बनते हैं और दूसरों को अपने कब्जे में लाना चाहते हैं, पर (शुद्ध) प्रेम से हम परोपकारी बनते हैं और स्वयं को दूसरों के लिए खो देना चाहते हैं। जो व्यक्ति जितना ही अधिक समाजसेवा, साहित्यसेवा, धर्माचरण एवं परमार्थवृत्ति में लगता है, वह उतनी ही कम कामुकता की अनुभूति करता है। कामरोग से बचने का उपाय दूसरे उपयोगी कार्यों में अति व्यस्त होना है। आदमी शुभकार्यों में इतना तन्मय हो जाये कि उसे खुराफात सूझने का मौका ही न मिले।"

'काम' की दवा : काम

यह सूत्र स्वामी रामतीर्थ का है। उनका तात्पर्य था कि मनुष्य यदि काम को शान्त करना चाहता है तो उसे अपने मन, वचन और काया को किसी न किसी उच्च सत्कार्य में लगा देना चाहिए। जो व्यक्ति जनसेवा के कार्यों में अपने तन, मन और वचन को संलग्न रखता है, उसके काम-विकार स्वतः शान्त हो जाते हैं। जो निठल्ला रहता है, आलसी और निराश-हताश बनकर पड़ा रहता है, या इधर-उधर की गप्पें हाँककर अपना समय बिताता है; उसका खाली दिमाग शैतान का कारखाना बन जाता है, कामवासना के भूत उसमें अपना डेरा जमा लेते हैं। जो किसी-न-किसी शुभप्रवृत्ति में संलग्न रहता है, काम को उसे पीड़ित करने का अवसर ही न मिलेगा।

जब आर्द्रककुमार गृहस्थ आश्रम से पुनः मुनिधर्म में दीक्षित होने के लिए उद्यत हुए तो उनकी पत्नी श्रीमती ने अपना जीवन संयमपूर्वक बिताने के लिए चर्खा कातना शुरू किया। उसने यह निश्चित कर लिया था कि अब मेरे काम-रोग की शान्ति का एकमात्र उपाय है, मन-वचन-काया से सदा सत्कार्य में लगे रहना। इसी कारण उसका शेष जीवन पवित्रतापूर्वक ब्रह्मचर्य-साधना में लग सका। ब्रह्मचर्य-साधक को भी चाहिए कि वह अपनी रुचि, योग्यता, शक्ति, कार्यक्षमता, प्रतिभा, परिस्थिति और हैसियत के अनुसार किसी न किसी सत्कार्य को ढूँढ़कर उसमें अपने तन, मन, प्राण और आत्मा को सतत लगाए रखे। ऐसी स्थिति में काम उसे पीड़ित करने का अवकाश ही नहीं पाएगा।

काम-भावना का ऊर्ध्वीकरण

अपनी शक्ति को सेवा एवं परोपकार के कार्यों में लगाना काम-शक्ति का उदात्तीकरण है तथा अपने ही जीवन-विकास, ज्ञान एवं साहित्य-सर्जना में एकनिष्ठ होकर उसका सुनियोजन करना काम-भावना का ऊर्ध्वीकरण है। काम-भावना का ऊर्ध्वीकरण भी कामविजय का एक प्रकार है।

काम शक्ति का ऊर्ध्वीकरण अपनी शारीरिक, मानसिक एवं बौद्धिक क्षमताओं को बढ़ाने, महत्वपूर्ण सृजन या अनुसन्धान का कार्य करने के लिए बहुत ही उचित और आवश्यक है। कामशक्ति के ऊर्ध्वीकरण से ही मनुष्य शक्तिसम्पन्न, विजयी, सफल एवं जीवन का महान कलाकार बन सकता है। अपना व्यक्तित्व उत्कृष्ट बनाने के लिए भी कामशक्ति का ऊर्ध्वीकरण अनिवार्य है। कामशक्ति का ऊर्ध्वीकरण करने के लिए ब्रह्मचर्य-साधक को अपनी जीवनी शक्ति संचित करके उसे आत्म-हितकर एवं समाज कल्याणकारी उत्कृष्ट कार्यों में लगाना चाहिए।

कामचक्र का ऊर्ध्वीकरण—योग के आचार्यों ने हमारे शरीर में ६ चक्र माने हैं। उसमें दूसरे चक्र का नाम स्वाधिष्ठान चक्र अथवा कामचक्र है। जब यह चक्र विकसित हो जाता है तब मनुष्य ऊर्ध्वरेता हो जाता है, अर्थात्—उसका वीर्य अधोगामी से ऊर्ध्वगामी हो जाता है। इसे ही योगशास्त्र में कामचक्र का ऊर्ध्वीकरण कहते हैं। मानस शास्त्र में इसे 'काम' का उदात्तीकरण कहा गया है। कामचक्र के ऊर्ध्वीकरण हो जाने के बाद साधक के मन में काम-विकारों का उद्भव नहीं होता, इस कारण तब उसे काम-विकारों के आक्रमणों को विफल करने की भी आवश्यकता नहीं रहती। परन्तु यह तभी होता है, जब कामचक्र विकसित हो जाता है। जब तक मनुष्य कामवासना में रस लेता है, तब तक यह चक्र विकसित नहीं होता। इस चक्र को जब विशुद्धि चक्र (कण्ठमणि) से सम्पृक्त कर दिया जाता है, तब आनन्दानुभूति का स्रोत उमड़ पड़ता है। और जब आज्ञाचक्र या भ्रूचक्र विकसित हो जाता है, तब तो वासनाओं का क्षय होने लगता है। ज्यों-ज्यों वासनाक्षय होता जाता है, त्यों-त्यों आनन्दानुभूति बढ़ती जाती है उस आनन्दानुभूति का स्रोत इन्द्रिय-सुख न होकर आत्मिक सुख होता है।

कामचक्र के ऊर्ध्वीकरण से ब्रह्मचर्य साधक के मन का सहज आत्मिक आनन्द के साथ सम्पर्क स्थापित हो जाता है। इस प्रकार कामचक्र का ऊर्ध्वीकरण यौगिक प्रक्रिया से करने पर काम-वासना का उचित शमन अनायास हो जाता है।

कामशक्ति का रूपान्तर—कामशक्ति के उचित दमन या शोधन का एक उपाय उसका रूपान्तर करना है। अर्थात्—उसके प्रवाह को मोड़ना है। बड़ी-बड़ी नदियों में प्रायः प्रतिवर्ष बाढ़ आ जाती है। बाढ़ आती है तो सृजन के बदले ध्वंस का कार्य ही करती है। चारों ओर विनाशलीला का दृश्य उपस्थित कर देती है। कुशल इंजीनियर ऐसी नदियों, झरनों या नालों का पानी बांध (Dam) बांधकर एक स्थान पर रोक लेते हैं, फिर उस पानी के प्रवाह को किसी नवीन उपयोगी दिशा में प्रवाहित कर उससे बड़ी-बड़ी नहरें निकाली जाती है, जल विद्युत उत्पन्न किया जाता है। उस पानी से आस-पास की धरती सींचकर हरी-भरी और उपजाऊ बनाई जाती है। यही बात काम शक्ति के विषय में समझिए।

जो कामशक्ति विषय-विकारों का चिन्तन करके क्षुद्र पंचेन्द्रिय विषयों में आसक्त होकर उनका उपभोग कर आत्मशक्ति को बर्बाद कर देती थी, उस कामशक्ति के तीव्र प्रवाह को उस क्षुद्र एवं भोग विलास के गन्दे मार्ग से हटाकर आत्मशक्ति की ओर मोड़ दिया जाता है, या नये कल्याणकारी पवित्र क्षेत्रों में बहाया जाता है तो वही कामशक्ति आत्मशक्ति को बढ़ाने वाली बन जाती है। इसे ही कामशक्ति का का रूपान्तर कहते हैं।

कामशक्ति के रूपान्तर के लिए यह आवश्यक है कि साधक कामशक्ति के तीव्र प्रवाह को दुर्विषय-भोगों के चिन्तन से हटाकर परिवार, समाज, राष्ट्र, धर्म एवं विश्व की सेवा अथवा स्व-परकल्याण भावना की ओर मोड़ दे। अथवा कविता, साहित्य, विज्ञान, चित्रकला, संगीतकला, नृत्यकला, वास्तुकला आदि में से जिस ओर ब्रह्मचर्य-साधक सद्गृहस्थ की रुचि हो, उसमें तन्मयतापूर्वक मन को एकाग्र कर दे, अपनी समग्र शक्ति अपने प्रिय सत्कार्य में समर्पित कर दे। जितनी सच्चाई और ईमानदारी से साधक इन कलाओं से प्रेम करेगा, तथा इनमें दक्षता और कुशलता प्राप्त करेगा, उतनी ही तेजी से, मन से गन्दी कामवासनाएँ हटती जायेंगी। जैसे-जैसे उच्च सांस्कृतिक विषयों तथा धर्म, दर्शन, अध्यात्म आदि विषयों के प्रति साधक का उत्साह और चाव बढ़ेगा, वैसे-वैसे उसकी गन्दी कामवासना विलुप्त होकर इन्हीं उच्च सांस्कृतिक-आध्यात्मिक विषयों का रूप ग्रहण करती जाएगी। कामशक्ति उच्चतम विषयों में परिवर्तित होकर अद्भुत चमत्कार दिखाती है, साधक की योग्यता, कार्यक्षमता और शक्ति बढ़ा देती है। साधक जितना-जितना समाज सुधार, धर्म प्रचार, सेवाकार्य या लोक-कल्याण के किसी कार्य के क्षेत्र में तन्मय होकर स्वयं लग जाता है, उतने ही अंशों में वह कामवासना की गन्दगी से बच जाता है। अतः ब्रह्मचर्य-साधक को चाहिए कि अपनी क्षुद्र कामशक्ति को उच्च

कलाओं में, उच्च ग्रन्थों के स्वाध्याय, मनन-चिन्तन में तथा भजन-पूजन-कीर्तन आदि में परिवर्तित कर दे।

वासना एक आँधी और तूफान है। इसके वश में होने से मनुष्य की उच्च शक्तियों का ह्रास होता है, मन की सरल, शान्त, सन्तुलित वृत्ति में चंचलता पैदा होती है। अतः ब्रह्मचर्य-साधक को अपनी निम्न काम-वासनाओं को विविध सेवा कार्यों अथवा आत्मसाधना के कार्यों में लगाकर कामशक्ति का रूपान्तर करना चाहिए।

निष्कर्ष यह है कि कामशक्ति के रूपान्तर से मनुष्य में आत्मिक शक्तियाँ बढ़ जाती हैं, इस कारण कामवासना के दलदल में फँसने का अवकाश नहीं रहता। इस प्रकार आसानी से काम-विजय हो सकता है।

काम भावना का स्वस्थ रूप—कुछ सार्वजनिक कलाएँ हैं, उनमें अपनी मानसिक कामशक्ति को लगा देने से कामवासना का कालुष्य या विकार दूर हो जाता है। इन कलात्मक कार्यों में अपनी कामशक्ति को सुनियोजित करने से गृहस्थ साधक के आत्म-संयम और शक्ति संचय तो होता ही है, प्रसिद्धि और समृद्धि भी प्राप्त होती है।

कामकला का ब्रह्मविद्या के रूप में परिवर्तन—काम-विजय का यह भी एक महत्वपूर्ण अंग है। कुण्डलिनी जागरण की साधना एक ऐसी साधना है, जिसके माध्यम से कामकला को ब्रह्मविद्या के रूप में परिणत किया जा सकता है। अर्थात् काम को आध्यात्मिक कला में परिणत-परिष्कृत किया जा सकता है। भक्ति-भावना उसी का उत्कृष्ट रूप है। त्याग, तप, संयम आदि में उद्देश्यपूर्ण शौर्य, परीषह और उपसर्ग सहने की उत्साहपूर्ण वृत्ति, तथा पारमार्थिक सेवा-साधना में जो उच्चस्तरीय उल्लास उपलब्ध होता है, उसे कामतत्व की भाव भूमिका कह सकते हैं। चिन्तन की दिशाधारा मोड़ देने से यह परिवर्तन सम्भव हो सकता है। वर्षा का जल यदि अनियन्त्रित फैले तो खेतों और घरों को डुबाकर हानिकारक सिद्ध होता है, किन्तु यदि उसी जल को नदी, नाले के माध्यम से बाँध बनाकर संग्रह किया जाए, और नहरों के माध्यम से सिंचाई के लिए खेतों तक पहुँचाया जाय तो हर प्रकार से लाभ ही लाभ है। इसी प्रकार अनियंत्रित काम प्रवृत्ति का निरोध कल्याणकारी है।

कुण्डलिनी जागरण साधना से मूलाधार चक्र (काम केन्द्र) से जगी हुई व्यक्ति-ऊर्जा, प्राणशक्ति कुण्डलिनी ऊपर को उठती है। मेरुदण्ड मार्ग से सर्पिणी की तरह लहराती हुई ब्रह्मरन्ध्र की ओर बिजली की चाल से चलती है। यह ऊर्जा मस्तिष्क में पहुँचती है, सहस्रारकमल[1] से सम्बन्ध बनाती है। यह प्रतिपादन यह इंगित करता है

---

१. सहस्रारकमल मस्तिष्क के मध्य क्षेत्र ब्रह्मरन्ध्र में अवस्थित है। —सं.

कि कामुकता में संलग्न अन्तःऊर्जा को उस पतन के गर्त से निकालकर ब्रह्मचेतना में—उत्कृष्ट उल्लास-प्रदायिनी ब्रह्मविद्या में नियोजित करना चाहिए। इसी परिवर्तन-परिष्कार को कुण्डलिनी जागरण कहा गया है। यही ब्रह्मचर्य की तात्त्विक साधना है। कामबीज का यही ब्रह्मसमर्पण है।

विकारोन्मूलन के लिए सामूहिक जनमानस परिवर्तन

काम-विकार का निमित्त युगों-युगों से नारी बनी हुई है। अतः सामूहिक रूप से अब नारी के प्रति लोगों की जो कामुकता की मनोवृत्ति बनी हुई है, उसे परिष्कृत किया जाए और उसका सौम्य और स्वाभाविक चित्रण किया जाए तो विकारोन्मूलनआसान हो जाएगा। कला की विद्रूपता को कोसने से काम नहीं चलेगा। उसे गन्दे हाथों से छीन लेना शासन सत्ता के लिए तो सम्भव है, पर प्रजातन्त्र पद्धति के रहते हम लोग जनस्तर पर बहुत बड़ा बहुत बड़ा प्रतिरोध नहीं कर सकते। हाँ, यह कर सकते हैं कि एक दूसरा कलामंच खड़ा करके उसके माध्यम से नारी की पवित्रता और वत्सलता का प्रतिपादन करते हुए ऐसा जनमानस बनाएँ कि नारी वासना के लिए नहीं, पवित्रता के पुण्य-स्फुरण के लिए है। इसके साथही कलामंच के माध्यम से साहित्य का सृजन इसी दिशा में हो, कविताएँ ऐसी ही लिखी जाएँ, चित्र भी इसी प्रयोजन के लिए बनें, गायक यही गाएँ, प्रेस यही छापें, फिल्म यही बनाएँ तो कोई कारण नहीं कि नारी का स्वाभाविक वात्सल्यमय, सरल एवं सौम्य स्वरूप पुनः लोक-मानस में न प्रतिष्ठापित किया जा सके।

इस प्रकार लोक मनोवृत्तियों को परिष्कृत करने के प्रयत्न किये जाएँ तो काम-विजय करने में ब्रह्मचर्य-साधकों को बहुत बड़ा सहारा मिलेगा।

काम-विजय दुष्करतम है, किन्तु दुःसाध्य नहीं—इस प्रकार काम पर विजय प्राप्त करने के नानाविध उपाय विभिन्न मनस्वियों द्वारा निर्दिष्ट हैं। इनसे यह सिद्ध है कि काम-विजय अतीव दुष्कर अवश्य है, परन्तु अशक्य नहीं है। 'जो काम को जीत लेता है, वह संसार को जीत लेता है और दुस्तर संसार सागर को पार कर लेता है,' इस सूक्त के अनुसार कठिनतर काम पर विजय प्राप्त करने में धैर्य की अत्यन्त आवश्यकता है। जिस प्रकार अक्षरज्ञान का अभ्यास करने में धैर्य, ध्यान और गाम्भीर्य कितना आवश्यक होता है, यह हम जानते हैं; किन्तु काम को जीतने में तो इसकी अपेक्षा भी अनन्त गुने धैर्य, गाम्भीर्य आदि की जरूरत है। एक बात और है, जितनी लगन सामान्य व्याधि को मिटाने में होती है, उतनी और उससे अधिक लगन, तमन्ना और तत्परता काम-विकार को मिटाने में होनी चाहिए। जिस प्रकार सामान्य व्याधि को मिटाने के लिए रोगी वैद्य द्वारा कहे हुए पथ्य पालन तथा कुपथ्य का त्याग करने को तैयार रहता है, उसी प्रकार ब्रह्मचर्य-साधक को कामरूपी व्याधि को मिटाने के लिए उपर्युक्त समस्त उपचारों के साथ-साथ पथ्य पालन और कुपथ्यों का त्याग करने को तत्पर रहना चाहिए तभी काम-विजय हो सकेगा। □

६

ब्रह्मचर्य-साधना एवं योगाभ्यास

भारतीय योगशास्त्र में ब्रह्मचर्य-साधना की सिद्धि के लिए अनेक साधन बताये गये हैं, जिनमें आसन, प्राणायाम और नियम तीन साधन मुख्य हैं। इन तीनों से ब्रह्मचर्य-साधना में बहुत सहायता मिलती है। वीर्यरक्षा, ब्रह्मचर्य-साधना का प्राण है। इन साधनों से वीर्यरक्षा, चित्त की स्थिरता, शान्ति, स्वस्थता, शक्ति, तेज, सामर्थ्य, निर्भयता, कष्टसहिष्णुता और वीरता आदि गुण सहज ही जाग्रत हो जाते हैं।

आसन : ब्रह्मचर्य-साधना का मेरुदण्ड

अष्टांगयोग में यम और नियम के पश्चात् तीसरा अंग आसन माना गया है। आसनों को ब्रह्मचर्य-साधना का मेरुदण्ड कह सकते हैं। जिस प्रकार शरीर को स्थिर, सुदृढ़ और सन्तुलित रखने के लिए मेरुदण्ड की आवश्यकता है, उसी प्रकार आत्मा, शरीर, मन, बुद्धि एवं चित्त को ब्रह्मचर्य में सुखपूर्वक स्थिर, सुदृढ़ और संतुलित रखने के लिए आसन की आवश्यकता है। तभी ब्रह्मचर्य-साधना स्थिर और सुदृढ़ हो सकती है, जब आसनों का व्यवस्थित और नियमित रूप से विधिवत् ज्ञान-पूर्वक अभ्यास किया जाए।

आसन का मुख्य लाभ यह है कि आसन की स्थिति में सम्बन्धित स्थान दबे रहने के कारण समस्त स्नायुओं में खिचाव एवं तनाव आ जाता है। फलतः स्नायु-मण्डल प्रायः रक्तशून्य तथा प्रभावहीन हो जाते हैं। किन्तु आसन के पश्चात् स्वाभाविक स्थिति में आते ही स्नायुमण्डल खिचाव और तनाव से मुक्त हो जाने के कारण उनमें शुद्ध रक्त तीव्र गति से प्रवाहित होने लगता है। इससे स्नायुमण्डल की सफाई के साथ-साथ नये, ताजे रक्त द्वारा शरीर को तो असीम शक्ति मिलती ही है, और मानसिक शक्ति भी मिलती है। शुद्ध रक्त संचरण से मन, बुद्धि, चित्त और इन्द्रियों में प्रसन्नता, स्थिरता और स्वस्थता आती है, जो कि ब्रह्मचर्य-साधना के लिए बहुत ही सहायक है।

आसन करते समय यदि मन को सजेशन (संकेत) दिया जाए कि "मेरे अंग-अंग आसन से सुदृढ़, स्वस्थ एवं पुष्ट हो रहे हैं, मेरा मन बलवान् एवं वीर्य धारण

करने में सक्षम हो रहा है" तो निश्चय ही मनोवैज्ञानिक दृष्टि से इसका अचूक प्रभाव शरीर और मन पर पड़ेगा। आसनों का नियमित अभ्यास करने से शारीरिक-मानसिक लाभ के अतिरिक्त पारमार्थिक एवं आध्यात्मिक लाभ भी मिलता है। आसनों का उद्देश्य शरीर को स्थिर करना तो है ही, शरीर की स्थिरता एवं उस पर नियन्त्रण करने की शक्ति तो प्राप्त होती ही है; साथ ही मन, बुद्धि और चित्त एवं वीर्य शक्ति को भी स्थिर एवं परिपुष्ट करने में सहायता मिलती है। वैसे तो आसनों के मुख्य ८४ प्रकार हैं, परन्तु यहाँ कतिपय आसनों का ही उल्लेख किया जाएगा जो ब्रह्मचर्य-साधना अत्यन्त उपयोगी हैं।

आसनों के अभ्यास के सामान्य नियम

(१) **स्थान**—आसनों का अभ्यास करने के लिए खुला स्थान होना आवश्यक है। यदि शीत और वर्षा ऋतु में खुले स्थान में आसन करना अनुकूल न हो तो कोई हवादार उपयुक्त स्थान चुना जा सकता है। बन्द कमरे में आसन करना लाभदायक नहीं रहता, क्योंकि प्रत्येक आसन के समय श्वास की गति बढ़ जाती है, फलतः बन्द कमरे में आसन करने से शुद्ध ऑक्सीजन (प्राणवायु) के स्थान पर कार्बन-डाय-ऑक्साइड मिश्रित वायु ही श्वास नली में प्रविष्ट होती है, जिसके फलस्वरूप फेफड़े और हृदय को रक्त शुद्ध करने के लिए अतिरिक्त परिश्रम करना पड़ता है।

(२) **समय**—आसन का सर्वश्रेष्ठ समय ब्राह्ममुहूर्त अर्थात्—सूर्योदय से प्रायः दो घण्टे पूर्व है। उस समय से प्रारम्भ करने पर आसन पूर्ण होने तक सूर्योदय की नवोदित किरणें शरीर में मुक्ता की भाँति विकीर्ण हो सकती हैं।

यदि कोई सायंकाल में भी आसन करना चाहे तो कम से कम भोजन के ५-६ घण्टे पश्चात् करना चाहिए। आसन के समय खाली पेट होना अनिवार्य है। आसन का समय कितना होना चाहिए? इस विषय में विभिन्न मत हैं। सामान्यतया प्रारम्भ में लगभग १५ सैकिण्ड से २० सैकिण्ड तक किसी भी आसन का अभ्यास करना चाहिए। प्रति सप्ताह एक या दो मिनट बढ़ाते-बढ़ाते बारह मिनट तक अभ्यास किया जा सकता है। वर्ष भर में आध घण्टे से एक घण्टे तक अभ्यास बढ़ाया जा सकता है। आगे चलकर यह व्यक्ति की परिस्थिति और अवकाश पर निर्भर है कि वह कितने समय तक आसनों का अभ्यास स्थिरतापूर्वक कर सकता है।

(३) **श्वास-प्रश्वास गति**—कई लोग आसन करते समय श्वास रोक लेते हैं, अथवा अतिवेग से सांस चलाते रहते हैं, यह दोनों ही ठीक नहीं; क्योंकि इन दोनों प्रकार की श्वसन-क्रियाओं में फेफड़े (Lungs), हृत्पिण्ड (Heart), एवं शिरा-प्रतिशिरा पर आघात पहुँचने से वे थक जाते हैं। अतः आसन के अभ्यास के समय श्वास-प्रश्वास की गति स्वाभाविक रखनी चाहिए। आसन करते समय मुँह से कभी श्वास नहीं खींचना चाहिए, क्योंकि ऐसा करने से फेफड़े और हृदय कमजोर पड़ जाते हैं।

(४) **क्रम**—आसनों का क्रम निर्धारित करते समय यह ध्यान रखना चहिए कि एक ही प्रकार के आसनों से एक ही अंग-प्रत्यंगों, ग्रन्थियों, सन्धियों, मांसपेशियों और नस-नाड़ियों पर दबाव पड़ने के कारण उपर्युक्त स्थान अत्यधिक दब जाता है। फलतः हारमोन-स्राव तथा विशुद्ध रक्त प्रवाहित होने में बाधा उत्पन्न हो जाती है। तदतिरिक्त विपरीत अंग-समूह में शुद्ध रक्त सुचारु रूप से प्रवाहित नहीं हो पाता। अतः प्रत्येक आसन के साथ-साथ उससे विपरीत दशा के आसन भी करना चाहिए। केवल बैठकर करने के कतिपय आसनों के विपरीत दशा के आसन नहीं हैं। इस दृष्टि से अभ्यासकर्ता को अपनी अनुकूलता के अनुसार आसनों का क्रम निर्धारित करना चाहिए। अत्यन्त रुग्णावस्था में आसनों का अभ्यास करना हानिकारक होगा।

(५) **प्रारम्भ**—मुलायम मोटा कम्बल या पतले कम्बल को ४-६ तह करके मोटा गुदगुदा बनाकर उसके ऊपर आसन प्रारम्भ किया जा सकता है। प्रत्येक आसन के पश्चात् कम से कम आसन का आधा समय शवासन में रहकर फिर अन्य आसन करना चाहिए।

(६) **अन्त**—आसनकर्ता अपने अनुकूल निर्धारित सभी आसन करने के पश्चात् जितना समय आसन करने में व्यतीत किया है, कम से कम उसके आधे समय शवासन करे। आसन करते-करते पसीना निकले तो सूखे तौलिए से शरीर पोंछ लिया जाए। आसन करने के पश्चात् तुरन्त ठण्डे पानी से स्नान करना अत्यन्त हानिकारक होता है। ऐसा करने से सन्धिवात, गठिया आदि रोग होने की सम्भावना है। आसन करने के बाद तत्काल कुछ खाना-पीना भी हानिकारक है।

आसन से लाभ

योग के ग्रन्थों में आसनों के अनेक लाभ बताये गये हैं। मुख्य लाभ ये हैं—शरीर में स्वस्थता, शक्ति, स्फूर्ति, कान्ति, वीर्य की स्थिरता, स्तम्भन, शोधन तथा मस्तक के केशों का शीघ्र श्वेत न होना, शरीर में किसी प्रकार की व्याधि या पीड़ा न होना, नेत्र ज्योति का बढ़ना, शरीर की स्थूलता या चर्बी में वृद्धि न होना, शरीर में आलस्य, प्रमाद एवं कोष्ठबद्धता न होना इत्यादि। स्वामी रामतीर्थ पहले बहुत दुर्बल एवं रोगी थे, किन्तु आसनों के अभ्यास से वे महान् बलिष्ठ, स्वस्थ, सशक्त तथा तेजस्वी हो गये थे।

कुछ विशेष आसनों की विधि इस प्रकार है—

शीर्षासन—यह आसनों का राजा है। यह आसन सिर के बल पर किया जाता है, इसलिए इसे 'शीर्षासन' कहा जाता है। इसे बहुत-से लोग वृक्षासन, कपाली-आसन तथा विपरीतकरणीमुद्रा भी कहते हैं। शीर्षासन करने से पूर्व पेट पूर्णरूप से साफ होना आवश्यक है। इसे करने के लिए कपड़े का तह किया हुआ कम्बल, अथवा गदेला अथवा वस्त्र की गोल गिड्डी बनाकर जमीन पर सिर रखने की जगह पर

रखना चाहिए। अर्थात् इस आसन के समय सिर के नीचे सख्त जमीन नहीं होनी चाहिए, नहीं तो मस्तिष्क पर दुष्प्रभाव पड़ने का भय रहता है। इस आसन को करते समय प्रारम्भ में दूसरे की सहायता ली जा सकती है, या दीवार का सहारा लेकर किया जा सकता है। घुटने टेक कर जमीन पर बैठ जायें। फिर दोनों हाथों की अंगुलियों को एक-दूसरी में डालकर कपड़े की गिड्डरी के सहारे गोल रखें। उसके ऊपर सिर को इस तरह रखें, जिससे आगे की तरफ का सिर का (जहाँ से केश शुरू होते हैं, वहाँ से) चार अंगुल तक का भाग गिड्डरी पर हो और सिर के वास्तविक स्थान पर दबाव न पड़े, इसका पूरा ध्यान रखा जाए। अब घुटने मोड़ते हुए दोनों पैरों को जमीन से बहुत धीरे-धीरे ऊपर उठाकर आकाश में सीधे ले जाएँ। टाँगें बिल्कुल सीधी रखें। सिर को इधर-उधर हिलने से रोके रहें। शरीर का वजन हाथों पर तथा सिर के अगले भाग पर रहना चाहिए। यही शीर्षासन है।

इस आसन को पहले १०-१५ सैकिण्ड तक ही करना चाहिए। क्रमशः समय बढ़ाया जाए। छह मास के अभ्यास के अनन्तर इसे आध घण्टे तक किया जा सकता है। दृष्टि बन्द न रखी जाए। दृष्टि कुछ समय तक सामने और कुछ समय तक सिर से एक फुट की दूरी पर हो। ध्यान भ्रकुटि में अथवा नासिका के अग्रभाग में रखना चाहिए। शीर्षासन करते समय प्राणायाम क्रिया पर ध्यान दिया जाए, अन्यथा पूर्ण लाभ न हो सकेगा।

जिस प्रकार की क्रिया करके पाँवों को ऊपर ले जाया गया, ठीक उसी प्रकार नीचे उतार कर सिर को जमीन से उठाकर सीधे खड़े हो जाना चाहिए। इस आसन को करने के पश्चात् न तो एकदम लेटना चाहिए और न बैठना। जितना समय इस आसन में लगा हो, उतने समय तक बिल्कुल सीधा खड़ा रहना चाहिए। आशय यह है कि इस आसन से शरीर का रक्त प्रवाह पहले थोड़ा रुकता है, फिर उल्टा प्रवाहित होने लगता है। इसी कारण इस आसन को करते समय मुँह लाल हो जाता है। इसलिए रक्ताभिसरण को ठीक स्थिति में लाने के लिए शीर्षासन के बाद सीधा खड़ा रहना आवश्यक है।

शीर्षासन से मस्तिष्क को खुराक मिलती है। दिमागी ताकत बढ़ जाती है। इससे वीर्यदोष, रक्तविकार, मिरगी, कुष्ट, मस्तिष्क एवं नेत्रों की दुर्बलता आदि दोष दूर हो जाते हैं। छह मास तक इस आसन को लगातार करने से बालों का पकना तथा झड़ना बन्द हो जाता है। इससे नेत्र ज्योति बढ़ जाती है। शीर्षासन करने से रक्त का प्रवाह शुक्राशय की ओर न जाकर मस्तिष्क की ओर जाता है, जिससे मनुष्य ऊर्ध्वरेता बन सकता है। वीर्य की गति ऊर्ध्व होने से स्वप्नदोष, धातु, वायु, प्रमेह आदि रोगों का नाश हो जाता है; और वीर्य परिपक्व होकर शरीर में ओज पैदा करता है। शरीर तेजस्वी बन जाता है। इससे शीघ्र बुढ़ापा नहीं आता। आयु बढ़ती है। पाचनशक्ति बढ़ती है। सिर में चक्कर आना, सिर का भारी हो जाना,

पागलपन, मूर्च्छा आदि तमाम मस्तिष्क-रोगों से छुटकारा मिलता है। शीर्षासन करने से हृदय पुष्ट होता है। प्राणों में स्थिरता आती है। शरीर के सब तन्त्रों, विशेषतः नाड़ीतन्त्र को शीर्षासन स्वस्थ रखता है। यह सुख-शान्ति देने वाला आसन है।

सिद्धासन—अलौकिक सिद्धियों में सहायक होने के कारण इस आसन को सिद्धासन कहते हैं। यह वीर्य सम्बन्धी विकारों को नष्ट करने में भी बहुत बड़ा सहायक है। इस आसन का विधिपूर्वक अभ्यास करने से मन की एकाग्रता बढ़ती है। विचार पवित्र बनते हैं। मन भोग-विलास की ओर नहीं जाता। वीर्य की रक्षा होती है। वीर्यवाहिनी नाड़ियाँ मजबूत हो जाती हैं, जिससे वीर्य स्थिर रहता है। स्वप्न-दोष नहीं होता। योगीजन इस आसन द्वारा वीर्य की रक्षा करके प्राणायाम द्वारा उसे मस्तक की ओर ले जाते हैं, जिससे वीर्य के 'ओज' तथा मेधाशक्ति में परिणत हो जाने से दिव्यता और मानसिक शक्ति प्राप्त होती है। कुण्डलिनी जागृत करने की लक्ष्यसिद्धि के लिए यह आसन प्रथम सोपान है। इस आसन से गुदा, लिंग तथा पेट की समस्त नाड़ियों में खिचाव होता है, जिससे उदर-विकार दूर होकर पाचनशक्ति तेज होती है। मन और मस्तिष्क को स्थिर करने और प्राणों की गति को स्थिर करने में यह आसन बहुत सहायक है। इसके निरन्तर अभ्यास से कामोत्तेजना (वासना) नष्ट हो जाती है। इसलिए ब्रह्मचर्य-साधना में सफलता के लिए यह आसन अतीव उपयोगी है।

विधि—जमीन पर सीधे बैठकर, बाँये पैर की एड़ी को अण्डकोष और गुदा के मध्यभाग में दबाकर लगावें तथा बाँये पैर का तलवा दाहिनी जंघा के नीचे रहना चाहिए। और दांये पैर की एड़ी को लिंग के उपरिस्थल भाग (लिंग की जड़) तथा नाभि के मध्यस्थान पर बाँये पैर की एड़ी की सीध में दबा कर रखें। दाहिने पैर का तलवा बाँई जंघा से सटा लें। दोनों हाथों को घुटनों पर अथवा पेट के नीचे एक-दूसरे पर (अर्थात्—बाँया हाथ नीचे और दाहिना हाथ ऊपर) रखें। ठोडी, कण्ठ के नीचे जो गड्ढा है, उसमें जमी रहे। दृष्टि न खुली हो, न बिलकुल बन्द। आँखों को स्थिर करके भ्रकुटि में या अपने अन्दर झांकने का अभ्यास करें। मेरुदण्ड, कमर, पीठ, छाती, गर्दन, सिर अर्थात्—सारा शरीर सीधा रखना चाहिए। यह आसन साधना कठिन है, इसलिए दो मिनट से प्रारम्भ करना चाहिए और धीरे-धीरे आसानी से जितने समय तक बैठा जा सके, करना चाहिए। क्रमशः समय को बढ़ाना चाहिए। पर्याप्त समय तक बैठने का अभ्यास हो जाने पर योग्य निर्देशक से प्राणायाम की विधि सीखकर उसका अभ्यास करना चाहिए। अनुभवियों का कहना है कि यह आसन सिद्ध करने वाले को पूर्ण ब्रह्मचर्य पालन करना चाहिए। भोगी पुरुष के लिए यह हानिकारक भी हो सकता है, अतः इसमें विवेक तथा सावधानी अपेक्षित है।

सिद्धासन करते समय गुदा, मूत्रेन्द्रिय एवं पेट को अन्दर व ऊपर सरलता से खींचने का अभ्यास करें। यह आसन किसी शान्त, एकान्त, पवित्र स्थान पर या नदीतट पर करना चाहिए।

अर्द्ध सिद्धासन—यह आसन गृहस्थों के लिए भी लाभदायी है। इसमें बाएँ पैर की एड़ी को तो गुदा और अण्डकोष के मध्यभाग में जमाना चाहिए, किन्तु दाहिने पैर की एड़ी लिंग की जड़ में न रखकर ठीक पेट से सटा कर जंघा पर रखी जाती है। इसे अर्द्धसिद्धासन कहते हैं। इसमें मेरुदण्ड सीधा रखना चाहिए तथा शरीर का सारा बोझ बायीं एड़ी पर लाना चाहिए। इसके लाभ अधिकांश वे ही हैं, जो सिद्धासन के हैं। इसमें भी सावधानी बहुत अपेक्षित है।

पद्मासन—इस आसन को करते समय पैरों का आकार कमल जैसा होने के कारण इसे 'पद्मासन' या 'कमलासन' कहते हैं।

लाभ—चंचल मन को स्थिर करने के लिए यह आसन बहुत अच्छा है। ध्यान, जप, मानसिक कार्य करने वाले, तथा गहन चिन्तन करने वाले विचारकों के लिए यह आसन रामबाण है। वीर्यरक्षा के लिए भी यह आसन उपयोगी है। वात-पित्त-कफ आदि दोषों का नाश करता है। सुख-शान्ति एवं शक्ति बढ़ाता है। स्वप्नदोष एवं प्रमेह के रोगों का नाश करता है। स्मरणशक्ति बढ़ाता है, उदर-रोगों को मिटाता है। स्त्रियों के गर्भाशय सम्बन्धी रोगों को दूर करता है। यम-नियमपूर्वक पद्मासन में बैठने से प्राण-अपान की एकता होकर कुण्डलिनी जाग्रत करता है। ध्यान लगाने के लिए यह आसन अतिलाभदायक है।

विधि—सर्वप्रथम जमीन पर बैठकर, टांगें सीधी करके, दोनों पाँव मिलाकर रखें। तत्पश्चात् दाहिना पैर उठाकर बाईं जंघा पर और बायाँ पैर उठाकर दाहिनी जंघा पर इस प्रकार रखें, जिससे दोनों पैरों की एडियाँ नाभि के दोनों ओर पेट से सटी हुई हों। अर्थात्—दोनों पैरों की एड़ी मजबूती से जंघा की जड़ में जमा दें। घुटने जमीन से मिले हुए रहें। ठोड़ी कण्ठकूप में जमा लें। हाथों को घुटनों पर रखें। कमर, छाती, सिर आदि सारा भाग तना हुआ और सीधा रखें। दृष्टि साधारणतया बन्द रहे। इस आसन के साथ-साथ स्थिरचित्त से प्राणायाम भी हो तो विशेष लाभ है। पद्मासन को प्रारम्भ में एक मिनट तक करके क्रमशः घण्टों तक कर सकते हैं। एक घण्टा का अभ्यास प्रतिदिन हो तो भी उत्तम है।

पद्मासन लगाकर ऊर्ध्वपादतलसंयुक्तासन, मत्स्यासन, बद्ध पद्मासन, तुलासन आदि कई अन्य आसन भी किये जा सकते हैं।

स्वस्तिकासन—स्वस्तिक का अर्थ है—कल्याणकारी। कल्याणकारी होने से इसको स्वस्तिकासन कहते हैं।

ध्यानावस्था में और प्राणायाम करते समय जो पद्मासन न कर सकते हों, वे इस आसन को सरलता से कर सकते हैं। इससे मन शान्त और स्थिर हो जाता है। चंचलता दूर होती है। प्रभु भजन में मन लगता है।

विधि—जमीन पर बैठकर, पाँव लगाकर, पहले दायें पैर को मोड़कर उस

पैर का पंजा बाइ टाँग के घुटने की सन्धि में लगावें। फिर बाँएँ पैर के पंजे को दाईं टाँग की सन्धि में नीचे से ले जाएँ। दोनों पैर पिण्डलियों में लगे रहें। ग्रीवा, छाती और मेरुदण्ड को सीधा रखें। दोनों हाथों को सीधे दोनों घुटनों पर रख कर 'ज्ञान-मुद्रा' बना लें। दृष्टि नासाग्र-भाग पर रहे।

सर्वांगासन—जमीन पर लेटकर सम्पूर्ण शरीर को ऊँचा उठाने के कारण इस आसन को सर्वांगासन कहते हैं।

लाभ—हठयोगविज्ञों ने इस आसन को चन्द्रामृत रसायन बताया है। इससे त्रिदोषशमन, वीर्य का ऊर्ध्वीकरण, अन्तःकरण की शुद्धि, तथा मेधाशक्ति बढ़ने से चिरयौवन की प्राप्ति होती है। इस आसन से थायराइड नामक अन्तःग्रन्थि की क्षमता बढ़ती है, लीवर तथा प्लीहा के दोष दूर होते हैं। चेहरा तेजस्वी बनता है। पुरुषातनग्रन्थि पर यह अच्छा असर करता है। इससे स्वप्नदोष दूर होता है। नेत्र और मस्तिष्क के रोग दूर होकर दोनों की शक्तियाँ बढ़ती है। मानसिक-बौद्धिक श्रम करने वाले लोगों को यह आसन अवश्य करना चाहिए। यह आसन मंदाग्नि, अजीर्ण, कब्जियत, अर्श, थायराइड का कम विकास, थोड़े दिनों के एपेंडीसाइटिस, अंगविकार, असमय में बुढ़ापा, दमा, कफ, चर्मरोग, रक्तदोष, मासिकधर्म की अनियमितता, पीड़ा, अवरोध एवं अत्यधिक प्रवहन आदि रोगों में यह आसन लाभ पहुँचाता है।

विधि—सर्वप्रथम जमीन पर चित्त लेटकर, दोनों पैर तथा सारा शरीर बिलकुल सीधा रखें। श्वास निकालकर धीरे-धीरे पैरों को सीधा रखते हुए ऊपर उठावें। पहले कमर तक पैर उठावें। उसके बाद पीठ का जो भाग जमीन पर हो, उसे उठाकर दोनों हाथों से कमर को पकड़कर कन्धों से पैरों तक सारे शरीर को सीधा रखें। दृष्टि दोनों पाँवों के मध्यभाग में रखें। शरीर का सारा आधार सिर और कन्धों पर ही रहना चाहिए।

ठीक तरह से अभ्यास हो जाने पर ऊपर उठाई टांगों को आगे तथा पीछे सीधा जमीन पर लगाने से हेलोर्ध्व-सर्वांगासन या हलासन, तथा सीधा लेटकर दोनों टांगों को थोड़ा-सा ऊपर उठाने पर उत्तानपादासन, तथा पूर्वोत्तानासन, और एक टांग के घुटने को मोड़कर उससे कान को छूने से 'कर्णपीड़ोर्ध्वसर्वांगासन' हो जाता है। दोनों टांगों को मोड़कर पद्मासन की स्थिति में लाने से 'ऊर्ध्वसर्वांगासन' हो जाता है। इस तरह एक ही सर्वांगासन के अन्य कई प्रकार हैं।

वज्रासन—इस आसन में दोनों टाँगों को वज्राकार बनाने के कारण इस आसन को 'वज्रासन' कहते हैं।

लाभ—इस आसन को करने से शरीर का मध्यभाग सीधा रहता है; और श्वास की गतिक्रिया मन्द होने से आयु बढ़ती है। दृष्टि की स्थिरता से आँखों की ज्योति बढ़ती है। इस आसन के करने से 'वज्रनाड़ी' जिसे वीर्यधारा नाड़ी कहते हैं, सुदृढ़ हो जाती है, जिससे वीर्य की गति ऊर्ध्व होने से शरीर वज्र-सा बन जाता है।

यह आसन काफी समय तक आसानी से किया जा सकता है, जिससे मन की चंचलता दूर होती है और मनुष्य बुद्धिशाली बनता है। रक्तसंचार ठीक ढंग से होने के कारण शरीर नीरोग और सुन्दर बनता है। इससे रीढ़, कमर, जाँघ, घुटनों और पैरों में शक्ति बढ़ती है। कमर और पैरों का वातरोग या 'सायटिका' दूर होता है। ध्यान लगाने के लिए यह आसन उत्तम है। योगियों के लिए यह सिद्धिदायक आसन है। भोजन के आध घण्टे बाद इस आसन को करने से पेट की वायु का नाश हो जाता है। पाचनशक्ति तेज होती है। कब्जियत मिट जाती है और पाण्डुरोग ठीक हो जाता है।

विधि—सर्वप्रथम दोनों टांगों को आगे की ओर सीधी लंबाएँ। उसके पश्चात् दोनों में से एक टांग को घुटने से मोड़ कर दूसरी टांग के साथ सटी हुई रखें। बाद में उस तरफ के हाथ से उस टांग के घुटने को पकड़ कर रखें और टाँग ऊपर करके उसके पांव में उस पांव की एड़ी रखें। पांव का अंगूठा खींचा हुआ रखें। इससे घुटना जमीन से लगा रहेगा। ठीक इसी प्रकार की स्थिति में दूसरी टाँग को बनाएँ, और एड़ियों पर बैठ जाएँ। दोनों एड़ियों मिली हुई हों। नितम्ब पैर के तलुओं पर और जांघें पिण्डलियों पर रहें इसका ध्यान रखें। दृष्टि सामने स्थिर रखें। जिनकी हड्डियाँ लचीली न हों, वे जमीन पर हाथ रखकर अभ्यास करें। जहाँ तक हो सके जमीन का सहारा छोड़ दें।

इस आसन का दूसरा प्रकार यह है कि पांवों को तिरछा करके, उनके तलुओं पर बैठ जाएँ। श्वासक्रिया सामान्य रखें। वज्रासन लगाकर पीछे जमीन पर लेटने से 'सुप्तवज्रासन' हो जाता है।

कुक्कुटासन—इसकी विधि सीधी-सी है। मुर्गे की तरह दोनों टांगों पर बैठ कर दोनों हाथों से कानों को पकड़ना चाहिए।

लाभ—इससे कामवाहिनी स्नायुओं पर दबाव पड़ता है। इस आसन से मन शक्तिशाली और प्रशान्त होता है, कामवासना क्षीण होती है। कहा भी है—

"मन की स्थिरता होने से वायु की स्थिरता होती है और वायु की स्थिरता से वीर्य की स्थिरता होती है। वीर्य की स्थिरता से शरीर की स्थिरता प्राप्त होती है।"[1]

आसनों के साथ वीर्यस्राव को रोकने के दो प्रयोग

(१) इन आसनों के साथ, यदि पेट को भीतर सिकोड़ने और फुलाने का

---

१ मनःस्थैर्ये स्थिरो वायुः, ततो बिन्दुः स्थिरो भवेत्।
बिन्दुस्थैर्यात् सदा सत्वं पिण्डस्थैर्यं च जायते॥

अभ्यास किया जाये तो इससे उदर विकार, अर्श, मुटापा, मंदाग्नि, वायुविकार आदि दोष मिटकर वीर्यसम्बन्धी समस्त विकार दूर हो जाते हैं।

(२) मनुष्य की जननेन्द्रिय के अवयवों के अन्तर्गत शिश्न, अण्डकोष, मांस-ग्रन्थियाँ, शिराएँ और वीर्यस्रावक नलियाँ हैं। इन सभी अवयवों के स्नायुओं का गुदा के स्नायुओं के साथ निकट सम्बन्ध है। एक का संकोच या शैथिल्य, दूसरे में भी संकोच और शैथिल्य उत्पन्न कर देता है। मूत्रत्याग करते समय, गुदा का संकोच करने से मूत्रमार्ग के तमाम अवयव सिकुड़ जाते हैं, फलतः मूत्रस्राव तत्काल रुक जाता है। इसी प्रकार चाहे जिस समय गुदा का सख्त संकोच करने से वीर्यस्राव रुक सकता है। वीर्यरक्षा के इस महत्त्वपूर्ण नुस्खे को जानकर जो साधक अपने जननेन्द्रिय के अवयवों पर सम्पूर्ण काबू रख सकता है, वह अपने वीर्यस्राव को अपने वश में रख सकता है और चाहे जिस समय वीर्यस्राव को रोक सकता है।

प्राणायाम : प्राण-शुद्धि की साधना

आसनों के साथ प्राणायाम का अतिनिकट सम्बन्ध है। प्रायः प्रत्येक आसन प्राणायाम के साथ करने पर ही विशेष लाभदायक होता है और प्रायः प्रत्येक प्राणायाम सिद्धासन, पद्मासन या स्वस्तिकासन के साथ करने से ही सिद्ध होता है अतः आसन के समान प्राणायाम भी ब्रह्मचर्य-साधना के लिए बहुमूल्य साधन है।

प्राणाम का शब्दशः अर्थ है—प्राणों को आयाम—दीर्घ करना। प्राणायाम श्वास-प्रश्वास का व्यायाम है। जो वायु बाहर से भीतर जाता है, उसे 'श्वास' और जो भीतर से बाहर जाता है, उसे 'प्रश्वास' कहते हैं। पंचेन्द्रिय, मन, वचन, काय, श्वासोच्छ्वास एवं आयुष्य, इस प्रकार के दशविध प्राण को भी प्राण कहते हैं। जिसे जीवनी शक्ति भी कहते हैं, जिससे यह जीवनयंत्र सुचारु रूप से चलता है। तथा प्राण उस वायु को भी कहते हैं, जिसमें जीवन तत्व का भाग अधिक रहता है। यहाँ प्राण शब्द श्वास-प्रश्वास नामक वायु का द्योतक है। इसी प्राणरूप वायु का आयाम ही प्राणायाम है।

प्राणायाम के मुख्यतया तीन अंग हैं—(१) पूरक, (२) कुम्भक और (३) रेचक। वायु को अन्दर खींचना पूरक है, उसी वायु को अन्दर रोकना कुम्भक है, और उसी वायु को बाहर निकालना रेचक है। प्राणवायु को एक बार खींचने, रोकने और बाहर निकालने को एक प्राणायाम कहते हैं।

लाभ—प्राणायाम शारीरिक-मानसिक स्वास्थ्य एवं ब्रह्मचर्य की साधना के लिए अतीव हितकारक है, बशर्ते कि वह गुरुनिर्दिष्ट रीति से विधिपूर्वक किया गया हो। भगवती सूत्र में प्रत्येक जीव की प्राण और अपान की बाह्य क्रियाओं का महत्वपूर्ण वर्णन है। भगवद्गीता के छठे अध्याय में इसका सुन्दर वर्णन किया गया है। विधिपूर्वक नियमित करने से भयंकर से भयंकर रोगी भी रोगमुक्त और व्यभिचारी भी

ब्रह्मचारी बन सकता है। हाँ; प्राणायाम का अभ्यास किसी योग्य मार्गदर्शक के मार्ग-निर्देश में ही करना लाभदायक हो सकता है। जो व्यक्ति अपने मन से अनियमित रूप से, अविवेकपूर्वक असावधानी से जैसे-तैसे प्राणायाम करता है, उसे लाभ के बदले हानि भी हो सकती है। अतः विधिपूर्वक किया हुआ प्राणायाम शरीर की समस्त धातुओं के मल को भस्म कर देता है। इससे शारीरिक-मानसिक सभी दोष नष्ट हो जाते हैं। इससे शरीर रोगमुक्त होता है, जठराग्नि प्रदीप्त होती है, पाचन शक्ति बढ़ जाती है, और मन भी पवित्र, प्रसन्न और निर्विकारी बनता है।

प्राणायाम में अद्भुत सामर्थ्य है कि इसके अभ्यास से मन्दबुद्धि भी तीव्रबुद्धि-वाला बन जाता है। राजयक्ष्मा आदि भयंकर व्याधियाँ भी प्राणायाम से नष्ट हो जाती हैं। इससे रक्त की शुद्धि होती है, वीर्य स्थिर और ऊर्ध्वगामी हो जाता है। प्राणायाम ओज, तेज, बल, वीर्य, एवं धातु को बढ़ाता है। इससे अल्पायु भी दीर्घायु हो जाता है। कहा भी है—"प्राणायाम ही सर्वोत्तम जीवन संवर्द्धक है।"[1] अतः प्राणायाम ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए उत्कृष्ट साधन है।

योगदर्शन में बताया है कि प्राणायाम करने से प्राणापानादि वायु, रक्त-मांसादि धातु, मन, बुद्धि आदि अन्तःकरण चतुष्टय और श्रोत्र, नेत्र एवं वाणी की स्थूलता और विकार दूर हो जाते हैं एवं ज्ञान और आनन्द की प्राप्ति में बाधक आवरणों का नाश हो जाता है।[2]

प्राणायाम करने पर ही 'प्रत्याहार' द्वारा मन की धारणाओं में योग्यता होती है। अर्थात्—परमात्मा का ध्यान, निश्चयात्मक ज्ञान-विज्ञानादि प्राप्त किया जा सकता है।[3]

हठयोग में स्पष्ट कहा है—जहाँ प्राण का लय (कुम्भ) होता है, वहाँ मन का भी लय होता है। मन के लय होने से पंचप्राणों का भी लय (स्थिरत्व) होता है।[4]

प्राणायाम के वैसे तो अनेक भेद योगशास्त्रों में बताये हैं, परन्तु यहाँ ब्रह्मचर्य-साधना के लिए अत्यन्त उपयोगी कुछ ही प्राणायामों का वर्णन किया जाएगा।

सामान्य प्राणायाम—स्वच्छ स्थान पर पलहथी मारकर स्वस्तिकासन से बैठें। मेरुदण्ड सीधा रखें। सिर का कुछ भाग आगे की ओर झुका लें, ठोड़ी छाती से न लगे और गर्दन सीधी रहे। फिर दोनों नथुनों से बहुत धीरे-धीरे श्वास को भीतर

---

१ 'Breathing is the best promoter of life.'

२ "ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्।" —योगदर्शन पा. २, सू. ५२।

३ "धारणासु च योग्यता मनसः।" —योगदर्शन पा. २, सू. ५३।

४ प्राणो विलीयते यत्र मनस्तत्र विलीयते।
मनोविलीयते यत्र प्राणास्तत्र विलीयन्ते॥ —हठयोग

खींचें। छाती पर दबाव नहीं पड़ना चाहिए। खींचना और निकालना पेट की नाभि के द्वारा हो। ध्यान भी नाभिकमल पर रहे। जितनी प्राणवायु खींची जा सके, उतनी खींचें। आँतों और फेफड़ों में वायु भर जाने से छाती और पेट उस समय फूल जाएँगे। अब भीतर की वायु जहाँ तक हो सके, यथाशक्ति रोके रहें। जब सहन न हो, तब बहुत ही धीरे से उसे बाहर निकाल दें। यहाँ तक कि छाती और पेट भीतर को दब जाएँ। जब वायु पूरी निकाल चुकें, तब थोड़ी देर तक उसे बाहर रोक रहें। यह एक प्राणायाम हुआ। ऐसे तीन प्राणायाम करें।

द्वादश साप्ताहिक प्राणायाम क्रियाएँ—प्राणायाम की ऐसी चार क्रियाएँ बताई जा रही हैं, जो १२ सप्ताह तक करनी होती हैं। इन प्राणायाम क्रियाओं के करने से वीर्यस्राव पर पूर्ण नियन्त्रण हो जाने से वीर्यरक्षा आसानी से हो सकती है। इन क्रियाओं से ब्रह्मचर्य-साधना में बहुत सहायता मिलती है। दीर्घ श्वासोच्छ्वास की क्रिया से फेफड़े अधिक विस्तृत और बलवान बनते हैं। रक्तशुद्धि विशेषरूप से होती है। शर्दी, जुकाम और श्लेष्मजन्य तमाम व्याधियाँ क्रमशः मिट जाती हैं। मन शान्त हो जाता है, बुद्धि और स्मरणशक्ति तीव्र हो जाती है। मनुष्य दीर्घायु हो जाता है। सबसे बड़ा लाभ तो यह है कि गुदा-संकोच करने के प्रतिदिन के अभ्यास के कारण नींद में कदापि वीर्यपात नहीं होता। इस अभ्यास से आन्तरिक मन पर ऐसे संस्कार सुदृढ़ हो जाएँगे कि निद्रा में भी वीर्यस्राव होने के प्रसंग में गुदा के अवयवों का अपने-आप संकोच हो जाएगा, जिससे होने वाला वीर्यस्राव तुरन्त रुक जाएगा।

प्रथम सप्ताह के लिए प्रारम्भिक क्रिया—इस प्राणायाम क्रिया का प्रारम्भ करते समय, जरा-सी भी असुविधा या थकान प्रतीत न हो, वहाँ तक यानी लगभग १० मिनट तक कमर, गर्दन और मस्तक सीधे रख कर पलहथी मार कर बैठने का अभ्यास करना। यदि जमीन पर पलहथी मार कर बैठने में अड़चन हो तो धड़ सीधा रखकर जमीन पर पैर रखकर कुर्सी पर बैठना और नाड़ी शुद्धि के लिए निम्नोक्त प्राणायाम क्रिया करना—

(१) अपना दाहिना नथुना हाथ की अंगुलियों से बन्द करके बाएँ नथुने से दीर्घ श्वास लें।

(२) जब फेफड़े वायु से पूरे भर जाएँ, तब बाँया नथुना बन्द करके दाहिने नथुने से धीरे-धीरे श्वास बाहर निकालें।

(३) फिर अपना बायाँ नथुना बन्द करके दाहिने नथुने से दीर्घश्वास लें।

(४) जब फेफड़े वायु से पूरे भर जाएँ, तब दाहिना नथुना बन्द करके बाएँ नथुने से धीरे-धीरे श्वास बाहर निकालें।

श्वास लेने और छोड़ने के लिए बाएँ और दाहिने नथुनों का बारी-बारी से उपयोग करके यह प्राणायाम क्रिया ७ बार करनी चाहिए, अर्थात् प्रतिदिन १४ प्राणायाम करना चाहिए।

इस क्रिया के लिए प्रातःकाल ब्राह्ममुहूर्त से लेकर सूर्योदय से पहले का ६ घड़ी का समय अत्यन्त लाभदायक है।

दूसरे सप्ताह के लिए दूसरी प्राणायाम क्रिया—स्वच्छ और खुली शान्त हवादार जगह में प्रारम्भिक क्रिया करते समय की शारीरिक स्थिति में पलथी मारकर या कुर्सी पर सीधे बैठें। सब प्रकार के सांसारिक विचार छोड़कर मन को निर्विचार बनाएँ। कुछ दीर्घ श्वासोच्छ्वास करने से आपका मन शान्त हो जाएगा। तत्पश्चात् (१) अंगूठे से दाहिना नथुना बन्द करके बाँए नथुने से अपने फेफड़े वायु से पूरे भर जाएँ, इस सन्तुलित गति से ५ सैकिण्ड तक गहरी सांस लें। इस क्रिया को पूरक क्रिया कहते हैं। (२) फिर श्वास को अपने फेफड़ों में ५ सैकिण्ड रोक रखें। इसे कुम्भक क्रिया कहते हैं। (३) तत्पश्चात् अपना बाँया नथुना बन्द करके, दाहिने नथुने से रोके हुए श्वास को धीरे-धीरे ५ सैकिण्ड में बाहर निकालें। यह रेचक क्रिया कहलाती है। इस प्रकार एक प्राणायाम क्रिया १५ सैकिण्ड में पूरी होती है। (४) अब बाँया नथुना बन्द करके दाहिने नथुने से ५ सैकिण्ड श्वांस खींचें, फिर ५ सैकिण्ड तक उसे रोके रखें, फिर रोके हुए उस श्वास को ५ सैकिण्ड में बाँए नथुने से धीरे-धीरे बाहर निकालें। इस प्रकार दूसरी पूर्णश्वास क्रिया करना। बाएँ और दाहिने नथुनों का बारी-बारी से उपयोग होने से तीसरी और पाँचवीं प्राणायाम (श्वास) क्रिया प्रथम प्राणायाम (श्वास) क्रिया के अनुसार की जाती है तथा चौथी और छठी प्राणायाम क्रिया दूसरी प्राणक्रिया के समान की जाती है।

पहले दिन प्रत्येक श्वासक्रिया में १५ सैकिण्ड लगाकर सात पूर्ण श्वास लेना और प्रतिदिन एक श्वास बढ़ाते-बढ़ाते सप्ताह के अन्तिम दिन १३ श्वास तक बढ़ाना चाहिए। इसी प्रकार पूरक, कुम्भक और रेचक की क्रिया का समय ५ सैकिण्ड से ७ सैकिण्ड तक बढ़ाना चाहिए। समय में वृद्धि करने से उत्तरोत्तर श्वासावरोध शक्ति बढ़ेगी। परन्तु साधक को अपनी शारीरिक शक्ति को देखकर यह क्रिया करनी चाहिए।

तीसरी क्रिया : तीसरे, चौथे और पाँचवें सप्ताह के लिए—(१) आँखें बन्द करके प्राणायाम शुरू करें। प्रत्येक पूर्ण श्वास में २१ सैकिण्ड से कम समय लेना चाहिए। जब पूरक करें तब श्वास खींचते समय अपनी गुदा को सख्ती से सिकोड़ लें और एकाग्रचित्त से ऐसी भावना करें कि—"मेरा वीर्य, हृदय, फेफड़े और दिमाग में ऊपर चढ़ रहा है।" (२) जब आप अपना श्वास फेफड़ों में रोक कर रखें, तब ऐसी दृढ़ भावना करें कि—"वीर्य का ऊर्ध्वारोहण होने से मेरा हृदय, फेफड़े और दिमाग बलवान हो रहे हैं। और मुझे आरोग्य, बल और दीर्घायुष्य मिल रहा है।" (३) जब आप रेचक करें तब अपनी इच्छा हो तो गुदा-संकोच कर लें। परन्तु इसके साथ "अस्वाभाविक विषय-वासना उत्पन्न करने वाली खोटी गर्मी मेरे शरीर में से

श्वास के साथ बाहर निकल रही है, मुझे शान्ति मिल रही है;" ऐसी दृढ़भावना एकाग्रचित्त से करनी चाहिए।

चौथी प्राणायाम क्रिया : छठे से बारहवें सप्ताह तक के लिए—तीसरी प्राणायाम क्रिया के अनुसार प्राणायाम प्रारम्भ करें। एक पूर्णश्वास में २१ सैकिण्ड का समय लगाएँ और एक बार में तेरह से अधिक पूर्णश्वास नहीं लेने चाहिए।

(१) इस समय पूर्ण श्वास की क्रिया के दौरान गुदा-संकोच रहना चाहिए। (२) पूरक और रेचक पहले के अनुसार ही करना चाहिए। (३) कुम्भक के दौरान भरसक जोर से अपने पेडू का संकोच करो और उसे फुलाओ। प्रारम्भ में पेडू-संचालन के समय आपका गुदा-संकोच शिथिल हो जाएगा, किन्तु ज्यों-ज्यों आप इस क्रिया को सिद्ध करते जाएँगे, त्यों-त्यों आपके पेडू के त्वरित और जोरदार संचालन के दौरान भी आपका सख्त गुदा-संकोच बना रहेगा। ऐसी स्थिति रहे, वहाँ तक आपको यह क्रिया करते जाना चाहिए; क्योंकि तभी आप प्रतिकूल संयोगों में भी गुदा-संकोच करके वीर्य रक्षा कर सकेंगे।

पूर्ण श्वास पद्धति—सीधे खड़े रहें। नाक से धीरे-धीरे श्वास खींचें। प्रथम फेफड़ों के निचले भाग को वायु से भरें। उसके लिए पेट और छाती के पर्दे से काम लें। उसके मारफत पेट के अवयवों पर थोड़ा दबाव डालें, जिससे पेट जरा-सा आगे उभर आये और फिर हवा के प्रवाह को तोड़े बिना श्वास लेना चालू रखें तथा फेफड़ों के मध्य भाग को हवा से से भरें, जिससे नीचे की पसलियाँ, छाती की हड्डियाँ और छाती उभर आये। उसके पश्चात् श्वास चालू रखकर फेफड़ों का ऊपरी भाग वायु से भर दें, ताकि छाती का ऊपरी भाग जरा आगे निकल आये और ऊपर की ६-७ पसलियों के साथ छाती भी ऊँची हो जाए। अन्तिम क्रिया करते समय पेट के नीचे का भाग जरा-सा अन्दर की ओर सिकुड़ेगा; इससे फेफड़ों को कुछ आधार मिलेगा और उनका ऊँचा से ऊँचा भाग वायु से भर जाएगा।

यह श्वास पद्धति पूर्ण है। (1) इसमें लगातार श्वास लेना चाहिए, बीच में छोड़ना नहीं। (२) थोड़े सैकिण्ड तक हवा को फेफड़ों में रोक कर कुम्भक करें। (३) छाती को स्थिर रखकर तथा पेट को जरा-सा अन्दर खींचकर धीरे-धीरे श्वास बाहर निकालते जाएँ। जैसे-जैसे वायु बाहर निकल जाए, वैसे-वैसे पेट को अन्दर की ओर दबाना चाहिए। जब तमाम वायु बाहर निकल जाए तब छाती और पेट को शिथिल करके विश्राम दें।

गृहस्थ साधक द्वारा एक बड़े दर्पण के सामने बैठकर श्वास क्रिया का अभ्यास किया जाय तो उसे बहुत सहायता मिलेगी। श्वास लेते समय यदि आप अपने हाथ पेट पर हल्के ढंग से रखेंगे तो आपको श्वास क्रिया के साथ-साथ पेट की ऊँची-नीची गति का अनुभव होगा। पूरक क्रिया के अन्त में कंधे जरा-से ऊँचे किये जाएँ तो लाभ है, उससे गर्दन की हड्डी ऊँची हो जाती है और दाहिने फेफड़े के

ऊपर के खाली भाग में वायु का प्रवेश होता है। थोड़े से अभ्यास से पूर्णश्वास क्रिया-पद्धति सुगम हो जाएगी। यह क्रिया योगी रामचरक द्वारा निर्दिष्ट है।

ब्रह्मचर्यरक्षक प्राणायाम विधि—वीर्यरक्षा के लिए स्वामी शिवानन्द जी द्वारा एक विशिष्ट प्राणायाम क्रिया निर्दिष्ट है जिसकी चर्चा भी यहाँ उपयोगी रहेगी।

(१) सिर, गर्दन और धड़ को एक लाइन में रखकर पद्मासन या सिद्धासन करके बैठें या शवासन करके लेट जाएँ। किसी प्रकार का व्यापारादि से सम्बन्धित चिन्तन न करें। (२) आँखें बन्द करें। (३) गहरा श्वास लेकर फेफड़े पूरी तरह से वायु से भरें। (४) श्वास रोककर रखें (कुम्भक करें)। (५) जिस समय श्वास रोका गया हो, उस समय गुदा और लिंग की नाड़ियों को खींचकर ऊपर लाओ। (अर्थात् —मूलबन्ध करो)। साथ ही पेडू को भी ऊपर और पीछे जितना ले जाया जा सके, उतना ले जाओ, (अर्थात् —उड्डीयान बन्ध करें)। (६) फिर भावसहित प्रणवमंत्र (ॐकार मंत्र, नमस्कार मंत्र अथवा गायत्री या रामनाम) का जाप करें। (७) ऐसी भावना करो कि "मेरा वीर्य संचित होने के लिए ऊपर चढ़ रहा है।" (८) कुम्भक के दौरान उपर्युक्त रीति से रोके हुए श्वास को थोड़ी-सी भी उतावल किये बिना धीरे-धीरे बाहर निकालें। यह क्रिया एक साथ आधे घन्टे तक की जा सकती है। इसे दिन में कई बारकर सकते हैं।

लाभ—इस क्रिया से साधक ऊर्ध्वरेता हो सकता है। वीर्य ऊपर दिमाग तक चढ़कर शरीर में संगृहीत होकर रग-रग में फैलकर अन्त में वह शरीर में ही समा जाता है। स्वप्न में वीर्यपात होना बन्द हो जाता है। इस क्रिया को करने से ध्यान सुगमता से हो सकता है। साधक को इससे आरोग्य, उत्साह और जीवनी शक्ति प्राप्त होती है।

उत्पादक शक्ति को सौर्यकेन्द्र में संचित करने की प्राणायाम क्रिया

(१) नाना चिन्ताओं तथा कल्पनाओं से मन को निवृत्त करके उत्पादक शक्ति पर मन को एकाग्र करें। इधर-उधर भागता हो तो भी हताश न होकर एकाग्र करने में लगे रहें।

(२) या तो शिथिल होकर चित लेट जाएँ, अथवा किसी आसन से बैठ जाएँ।

(3) तालयुक्त श्वास (रेचक, पूरक, कुम्भक तीनों में समान समय लगाने वाला श्वास) लेना शुरू करें और ऐसी दृढ़ भावना करें कि "मैं अपनी उत्पादक शक्ति को ऊपर चढ़ाकर सौर्यकेन्द्र (Solar plexus) में संचित कर रहा हूँ।" प्रत्येक श्वास को ऐसी आज्ञा दें कि 'वह जननेन्द्रिय में से शक्ति चढ़ाकर सौर्यकेन्द्र में स्थिर करे।'

अगर आपकी भावना दृढ़ होगी और श्वास का ताल बराबर सधा होगा तो थोड़ी ही देर में आपको खिचती हुई शक्ति की गति और उसके प्रभाव का अनुभव होगा। मानसिक बल की वृद्धि के लिए उत्पादक शक्ति को सौर्यकेन्द्र में से खींचकर दिमाग में ले जाना आवश्यक है। दृढ़ संकल्पबल एवं इच्छाशक्तिपूर्वक आज्ञा देने से शक्ति दिमाग में पहुँच जाती है और यह क्रिया सिद्ध हो जाती है।

ऊर्ध्वाकर्षण प्राणायाम : वीर्य स्तम्भन प्राणायाम

(१) सिद्धासन से बैठकर श्वास का पूर्ण रूप से रेचन करें, बाहर निकालें। फिर बाह्य कुम्भक करें, यानी श्वास को बाहर रोके हुए रहें। इस स्थिति में संकल्प करें—"मेरा वीर्य रुधिर के साथ मिलकर सारे शरीर में संचार कर रहा है। मेरे वीर्य का प्रवाह ऊपर की ओर हो रहा है।" यह संकल्प जितनी देर तक कर सकें, बहुत ही तन्मय होकर करें, मानों वैसा प्रत्यक्ष अनुभव हो रहा है। इसके पश्चात् पूरक करें। पूरक की स्थिति में मूलबन्ध करें—गुदा को ऊपर की ओर खींचें। साथ ही जालन्धरबन्ध करें, यानी ठुड्डी को तानकर कण्ठकूप में लगाएँ। फिर पेट को सिकोड़ें और फुलाएँ। जितनी देर तक यह सुविधापूर्वक कर सकें, करें। तत्पश्चात् रेचक करें। यह एक प्राणायाम क्रिया हुई। इसी प्रकार का अभ्यास सात या नौ बार तक बढ़ाएँ।

(२) पीठ के बल चित्त लेट जाएँ। मस्तक, गर्दन और छाती को सीधे रखें। शरीर को बिलकुल शिथिल कर दें। मुख को बंद करके पूरक करें। पूरक की स्थिति में इस प्रकार की दृढ़ भावना करें—"कामशक्ति का प्रवाह जननेन्द्रिय से मुड़ कर मस्तिष्क की ओर जा रहा है।" साथ ही मानस-नेत्रों से देखें कि वीर्य रक्त के साथ ऊपर जा रहा है। कामवाहिनी (जननेन्द्रिय की निकटवर्ती) नाड़ियाँ हलकी हो रही हैं और मस्तिष्क की नाड़ियाँ भारी हो रही हैं।

इस प्रकार पूरक के बाद अन्तःकुम्भक करें, अर्थात्—श्वास को सुखपूर्वक अन्दर रोके रहें। फिर धीमे-धीमे रेचक करें। पूरक और रेचक का समय समान और कुम्भक का समय उससे आधा होना चाहिए। यह एक क्रिया हुई।

यह क्रिया बढ़ाते-बढ़ाते १५-२० बार तक दोहरानी चाहिए। वास्तव में वीर्य के ऊर्ध्वाकर्षण का संकल्प जितना दृढ़ और स्पष्ट होगा, उतनी ही काम-वासना कम होती जायेगी।

कुम्भक प्राणायाम का महत्व और प्रकार

प्राण, बिन्दु और मन इन तीनों में से किसी एक पर विजय पाने से दूसरे पर विजय प्राप्त की जा सकती है। प्राण को साधने और स्थिर करने के लिए कुम्भक करना चाहिए। कुम्भकप्रधान प्राणायाम की विधि यह है—

दाएँ नथुने से श्वास भरें। कुछ देर रोककर अंतःकुम्भक करें, फिर बाएँ नथुने से श्वास को बाहर निकालें, कुछ देर तक बाह्यकुम्भक करें, अर्थात्—श्वास

को बाहर ही रोके रहें। दूसरे क्रम में पहले से विपरीत—अर्थात् बाँए नथुने से श्वास भरें, अन्तःकुम्भक करें। फिर दाँए नथुने से श्वास बाहर निकाल दें, और बाह्य-कुम्भक करें। यह एक कुम्भक हुआ। इसका अभ्यास प्रतिदिन १२-१३ बार तक बढ़ाया जा सकता है। इस कुम्भक के साथ नाभि पर ध्यान करके पूरक के समय अति दृढ़तापूर्वक संकल्प करें—"मेरा वीर्य नाड़ियों द्वारा मस्तिष्क में जा रहा है।"

हठयोग प्रदीपिका, घेरण्ड संहिता आदि में कुम्भक प्रधान प्राणायाम के ८ प्रकारों का उल्लेख मिलता है—(१) सूर्यभेदन, (२) उज्जायी, (३) सीतकारी, (४) शीतली, (५) भस्त्रिका, (६) भ्रामरी, (७) मूर्च्छा और (८) प्लाविनी। इनकी संक्षिप्त विधि इस प्रकार है—

(१) **सूर्यभेदन**—स्वच्छ स्थान पर किसी भी आसन से बैठें। ग्रीवा, सिर और शरीर सीधा रखें। फिर सूर्यनाड़ी—दाहिनी नासिका से पूरक करें, फिर यथा-शक्ति कुम्भक करें। तत्पश्चात् चन्द्रनाड़ी—बायीं नासिका से रेचक करें, यानी धीरे-धीरे श्वास बाहर निकालें। दूसरी बार जिस नासिका से रेचक किया था, उसी से पूरक करें। इस प्रकार एक दूसरे की अदला-बदली से लोम-विलोम प्राणायाम करें।

(२) **उज्जायी**—किसी भी आसन से सुखपूर्वक बैठें। पहले बलपूर्वक श्वास को पूर्ण रूप से बाहर निकाल दें। श्वास को बाहर निकालते समय निद्रा-अवस्था में होने वाली सूक्ष्म ध्वनि की-सी आवाज होनी चाहिए। फिर लम्बा श्वास लेकर अन्दर भर लें। छाती को जितना हो सके, फुलाने की कोशिश करें। श्वास फेफड़ों में पूर्ण रूप से भर जाए, ऐसा प्रयास करें। उसके पश्चात् श्वास रोके बिना धीरे-धीरे पूर्ण रूप से बाहर निकाल दें। श्वास बाहर निकालते समय कण्ठ से साधारण-सी आवाज निकालें।

(३) **सीतकारी**—किसी भी आसन से सीधे बैठें। जीभ को ऊपर-नीचे के दाँतों के बीच में ले लें। सरलता से दाँत भिड़ा दें। होठ खुले रखें। अब 'सी' जैसी आवाज करते हुए मुख से गहरा श्वास लेकर यथाशक्ति उसे अन्दर रोक लें। तत्पश्चात् धीरे-धीरे नाक से श्वास बाहर निकाल दें। यह क्रिया गर्मी के दिनों में विशेष लाभ पहुँचाती है।

(४) **शीतली**—कौए की चोंच की तरह जीभ को गोल करके मुँह से थोड़ी-सी बाहर निकालें। अब जीभ के गोलाकार भाग से श्वास अन्दर ले जाएँ। फिर कुम्भक करके श्वास रोक लें और मुँह को बन्द कर दें। दम घुटने से पूर्व नासिका से श्वास पूर्णरूप से बाहर निकाल दें। यह सब प्रकार के दाह-ज्वरों को शान्त करती है।

(४) **भस्त्रिका**—किसी भी आसन से सुखपूर्वक बैठें। दोनों नासिकाओं से श्वास इस प्रकार लें और निकालें, जैसे लुहार की धौंकनी श्वास लेती और निकालती है। श्वास बाहर निकालते समय पेट अन्दर लें और लेते समय पेट को बाहर निकालें। थकान महसूस होने पर दाईं नासिका से पूरक करें, फिर यथासम्भव

कुम्भक करें। तत्पश्चात् बाईं नासिका से रेचक करें। पुनः पूर्वोक्त पूरक आदि क्रमशः करें। इससे जठराग्नि तीव्र बनती है। त्रिदोष निवारण होता है। योगीजन कुण्डलिनी-जागरण के लिए इस क्रिया को करते हैं।

(६) भ्रामरी—किसी भी आसन से सुखपूर्वक बैठें। बाईं नाक से श्वास लें। श्वास लेते समय भ्रमर जैसा गुंजारव करें। उसके पश्चात् यथाशक्ति कुम्भक करके भ्रमरी की आवाज की भाँति दायीं नाक से श्वास धीरे-धीरे निकाल दें। अर्थात्—रेचक करें। इससे मस्तिष्क शुद्ध एवं हलका हो जाता है। चित्तवृत्तियाँ स्थिर रहती हैं। मन प्रफुल्लित रहता है।

(७) मूर्च्छा—यह क्रिया सिद्धासन लगाकर की जाती है। यह क्रिया कुछ कठिन है, इसलिए योग्य मार्गदर्शक के निर्देशन में करनी चाहिए।

सर्वप्रथम आसन में सीधे बैठकर दोनों नासिकाओं से गहरा श्वास लें। तत्-पश्चात् श्वास अन्दर रोक लें। ठोड़ी को कण्ठकूप में टिकाकर जालन्धरबन्ध लगा लें। फिर दायें और बायें हाथ की अंगुलियों को निम्न अवस्था में रखें—अंगूठे के साथ वाली दोनों अंगुलियों से आँखों के नीचे-ऊपर वाली दोनों पलकों को कोमलता से बन्द करें। फिर दोनों हाथों की तीसरी अंगुलियों से नाक को दोनों ओर से दबा कर बन्द कर लें। चौथी छोटी (कनिष्ठिका) अंगुलियों से मुख के नीचे वाले होठ को नीचे से दबाकर ऊपर चढ़ावें और होठों को बन्द कर दें। श्वास अन्दर रोक कर 'मूलबन्ध' तथा 'उड्डीयानबन्ध' लगावें। दम घुटने से पूर्व अंगुलियों को छोड़कर दोनों नासिकाओं से श्वास बाहर निकाल दें। यह प्राणायाम कुण्डलिनी-जागरण में विशेष सहायक है।

(८) प्लाविनी—पद्मासन लगाकर पूरक करके श्वास पूर्णरूप से लेकर, पेट को फुला दें। फिर रेचक करके श्वास बाहर निकालकर पेट को अन्दर की ओर ले जाएँ। फिर पूरक करें। क्रमशः की गई इस क्रिया को कुम्भक प्राणायाम कहते हैं। इससे शरीर हलका, फुर्तीला एवं स्वस्थ हो जाता है।

कुम्भक में महान् शक्ति है। बड़ी-बड़ी मोटरें, साइकिलें, स्कूटर आदि वायु को कुम्भक करने पर हजारों माइल मनुष्य को ले जाते हैं। कुम्भक प्राणायाम का अभ्यास परिपक्व हो जाने पर वायु रुकी होने की दशा में स्वयं जहाँ की तहाँ स्थिर होने लगती है। वह कुछ काल तक स्थिर रहती है। जो न तो बाहर से भीतर आती है, और न ही भीतर से बाहर निकलती है। यही स्तम्भवृत्ति धारणा का रूप धारण कर लेती है। फिर अपनी इच्छा से साधक बाहर की वायु को बाहर और भीतर की वायु को भीतर एक साथ रोक सकता है। इसका अभ्यास ज्यों-ज्यों बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों प्राणायाम की स्थिति देश, काल और संख्या के परिमाण से दीर्घ और सूक्ष्म हो जाती है।

ये सभी प्रकार के 'प्राणायाम' ब्रह्मचर्य-साधना को सुदृढ़, परिपक्व और आसान बनाने में अत्यन्त उपयोगी साधन हैं। यह सत्य है कि जैनाचार्यों ने प्राणायाम के सम्बन्ध में विशेष चिन्तन नहीं किया है और कितने ही आचार्यों ने इसका निषेध भी किया है तथापि वैदिक परम्परा और योगदर्शन में आये हुए विषय पर मैंने चिन्तन प्रस्तुत किया है जो कि ब्रह्मचर्य-साधना की दृष्टि से उपयोगी है।

ब्रह्मचर्य-साधना का मुख्य साधन : नियम

आसन और प्राणायाम के बाद 'नियम' ब्रह्मचर्य-साधना में बहुत ही सहायक साधन है। बड़े-बड़े योगी, ध्यानी, तपस्वी साधकों ने ब्रह्मचर्य-साधना में प्रगति एवं बाधा निवारण के लिए कुछ मुख्य नियमों का पालन अवश्य किया है। जिनके पालन में चाहे प्रारम्भ में उन्हें कठिनाई हुई हो, परन्तु अभ्यस्त हो जाने पर उन्हें वे नियम, जो कि स्वेच्छा से स्वीकृत किये गये थे, भारभूत नहीं मालूम हुए। उनके लिए नियम पालन सहज स्वाभाविक हो गया। योगदर्शन में यम के पश्चात् योग का दूसरा अंग 'नियम' को माना है। यद्यपि शौच, सन्तोष, स्वाध्याय, ईश्वर-प्रणिधान आदि जो योग के अंगभूत नियम के प्रकार हैं, वे ब्रह्मचर्य-साधना के नियमों से कुछ भिन्न हैं, तथापि उनमें से ईश्वरप्रणिधान, शौच, स्वाध्याय आदि कुछ नियम तो ब्रह्मचर्य-साधना में भी सहायक हैं ही। यहाँ हम ब्रह्मचर्य के मुख्य नियमों की ओर अंगुलिनिर्देश करेंगे, जिनके पालन से साधना में सफलता मिलती है।

(१) **परमात्म-प्रार्थना**—ब्रह्मचर्य-साधक के लिए सबसे बड़ा नियम प्रार्थना है। नियमित रूप से प्रातः, सायं तथा सोते समय इष्टदेव या परमात्मा से प्रार्थना करना ब्रह्मचर्य-रक्षा का अनूठा साधन है। प्रभु-प्रार्थना के नियम का पालन करने से ब्रह्मचर्य के साथ-साथ अन्य कार्यों की सफलता-प्राप्ति में भी सहायता मिलती है।

'**ईश्वरप्राणिधान**' योग के अंगभूत नियमों में से एक है, जिसका अर्थ है—ईश्वर का सान्निध्य प्राप्त करना। मन को सब ओर से, सांसारिक विषयों से हटाकर एकमात्र शुद्ध-आत्मा—परमात्मा में एकाग्र करना और प्रतिदिन श्रद्धा-भक्तिपूर्वक परमात्मा के चरणों में ब्रह्मचर्य में स्थिर रहने की और अब्रह्मचर्य के प्रसंग से अपनी रक्षा करने की प्रचुर शक्ति-प्रदान के लिए प्रार्थना करने से बहुत ही सहायता मिलती है। उग्र तपस्वियों, महान् विख्यात पुरुषों एवं चारित्रात्माओं को भी कामिनियों द्वारा अपने मोहजाल में फँसाकर पराजित करने वाले कालसम क्रूर काम को काबू में रखना अत्यन्त कठिनतम पुरुषार्थ होने से उस पर विजय प्राप्त करने में नित्य सहायता प्रदान करने हेतु प्रभुप्रार्थना अतीव लाभदायक सिद्ध हुई है।

इतना ही नहीं, ब्रह्मचारी को परमात्म-चिन्तन करते-करते शयन और उत्थान करना चाहिए। इसके अतिरिक्त परमात्मा के नामसूचक ॐ (प्रणव), अर्हन्त आदि पंचपरमेष्ठी या अन्य किसी भी नाम से प्रभु-नाम-स्मरण करने, विशेषतया काम का

आक्रमण किसी भी रूप में हो रहा हो, उस समय एकाग्रतापूर्वक स्मरण करने से अचूक रूप से उससे ब्रह्मचर्य-साधक की रक्षा हुई है।

गांधीजी रामनाम-स्मरण की महिमा के प्रसंग में अपनी आत्मकथा में लिखते हैं कि "विदेश में तीन अवसरों पर मुझे कामिनी-संग से ईश्वर ने बचाया।" "·····उस समय राम मेरे मुख में तो नहीं था, किन्तु मेरे हृदय का स्वामी जरूर था।" "·····हर अवसर पर मैं रामनाम के बल पर बचा हूँ।····उस दिन भी मैं अपने पुरुषार्थ के बल पर नहीं बचा था, बल्कि ईश्वर ने ही ऐसी बातों में मूढ रख कर मुझे बचाया।····" "·····सवेरे मैं जगा। रामनाम का आरम्भ हुआ। मन में कहने लगा—कौन बचाया? किसने बचाया? धन्य प्रतिज्ञा! धन्य माता! धन्य मित्र! धन्य राम! मेरे लिए तो यह चमत्कार ही था।"[1]

इसी प्रकार ईश्वर-प्रार्थना करने वाले को अदृश्य रूप से ऐसे कठिन प्रसंगों पर सहायता मिलती ही है।

(२) दृढ़संकल्प— दृढ़संकल्प में महान् शक्ति है। इसके विषय में पहले बताया जा चुका है। दृढ़निश्चय के बल से ब्रह्मचर्य-पालन में प्रतिबन्धक तमाम विघ्न दूर हो सकते हैं। जो साधक दृढ़संकल्प के नियम को तोड़कर एक बार भी कामशक्ति के अधीन हो गया, फिर वह ब्रह्मचर्य से धीरे-धीरे पतित और भ्रष्ट हो जाता है। अतः दृढ़निश्चय के साथ आत्मविश्वासपूर्वक दीनता और आत्महीनता—दुर्बलता के विचारों को तिलांजलि देकर यदि ब्रह्मचर्य-साधक ऐसा संकल्प दोहराता है कि 'लाख विघ्न या अवरोध आएँ, मुझे हर मूल्य पर दृढ़तापूर्वक ब्रह्मचर्य का पालन करना ही है।' तो अवश्य ही उसमें ब्रह्मचर्य-साधना में दृढ़ रहने की आश्चर्यजनक शक्ति आ जाती है।

दृढ़संकल्प के अन्तर्गत आत्मवचन (Auto Sugestion) भी है। जैसे कि भक्त वामन ने कहा है—"मैं निरन्तर निर्मल हूँ, निर्विकल्प हूँ, निश्चल हूँ, निर्विकार हूँ, नित्य पावन हूँ, निर्मोही हूँ, निःस्पृह हूँ, सर्वप्रकाश रूप हूँ, विवेक हूँ, शिव हूँ, षड्विकारविहीन हूँ, कामादि रहित हूँ, अजर-अमर हूँ। मैं स्वयं निर्लेप पूर्णब्रह्म हूँ।"[2] इस प्रकार के आत्मकथन (आत्मा के शुद्धस्वरूप के उच्चारण) से साधक अब्रह्मचर्य के प्रसंग पर भी ब्रह्मचर्य पर दृढ़ रहता है।

---

१ आत्मसंयम (महात्मा गांधी) पृ० ११, १२, १३।

२ निर्मलो निर्विकल्पोऽहं, निश्चलोऽहं निरन्तरम्।
निर्विकारो नित्यपूतो निर्मोहो निःस्पृहोऽस्म्यहम्॥
सर्वप्रकाशरूपोऽस्मि विवेकोऽस्मि शिवोऽस्म्यहम्।
षड्विकारविहीनोऽस्मि, कामादिरहितोऽस्म्यहम्॥
—ब्रह्मचर्य हे च जीवन पृ० २४७.

(३) **पवित्र मातृभाव-दृष्टि**—इसके स्वरूप एवं माहात्म्य पर भी हम प्रकाश डाल चुके हैं। इस दृष्टि के प्रभाव से ब्रह्मचर्य-साधक में इतनी पवित्रता आ जाएगी कि कोई अत्यन्त सुन्दरी अप्सरा-समान युवती आकर, एकान्त में भी ब्रह्मचरी के समक्ष सहवास या विवाह आदि की अनुचित प्रार्थना करेगी तो वह जरा भी विचलित न होगा। स्वामी दयानन्द सरस्वती के पास अत्यन्त तपस्विनी एवं सुन्दरी ब्रह्मचारिणी तरुणी आकर प्रार्थना करने लगी—"स्वामीजी ! मैंने भी आज तक आपकी तरह ब्रह्मचर्य का शुद्धरूप से पालन किया है, मैं भी आपके समान तपस्विनी रही हूँ। परन्तु अब मेरा विचार है कि आप मेरे साथ विवाह करें, ताकि आप सरीखा महातेजस्वी, योगी, वीर पुत्र का निर्माण हो।' स्वामीजी यह सुनकर किंचित् मुस्करा कर बोले—"तो माताजी ! आप मुझे ही अपना पुत्र मान लें।"

यह उत्तर सुनकर वह तरुणी लज्जित होकर नमस्कार करके चली गई।

यह है, पवित्र मातृभाव-दृष्टि के नियमपालन का सुपरिणाम !

(४) **कुदृश्य-त्याग**—कुदृश्य से तुरन्त कामवासना जागृत होने की सम्भावना है। जैसे—पुरानी घास की गंजी को आग की एक ही चिनगारी जलाकर भस्म कर देती है, वैसे ही कुदृश्य वर्षों तक संचित वीर्य-शक्ति का एक ही बार में नाश कर देता है।

अश्लील नाटक, सिनेमा, अर्धनग्न स्त्रियों के चित्र या शृंगारित वेषभूषा में स्त्री का चित्र अथवा किसी स्त्री को नग्न, नहाते, स्तनपान कराते, प्रसव करते या पेशाब करते हुए देखना कुदृश्यदर्शन है।[1] जो कि निन्द्य, अधर्म्य एवं कामविकार-जनक है। अतः ब्रह्मचारी को किसी भी कामोत्तेजक कुदृश्य को देखने का त्याग अवश्य करना चाहिए।

(५) **पवित्र सादा रहन-सहन**—ब्रह्मचारी को अपना रहन-सहन सादा रखना चाहिए। सादगी ही बड़प्पन का चिह्न है। विलासप्रियता, ऐश-आराम, आरामतलबी अथवा नखरेबाजी से तन, मन, और धन तीनों बर्बाद हो जाते हैं। शृंगारप्रियता से कामदेव जागृत होता है। अधिक सुखभोग सामग्री से मनुष्य व्यभिचार एवं लम्पटता के पथ पर चल पड़ता है। नखरेबाज लोगों में काम, क्रोध, अहंकार आदि मल-विशेष भरा रहता है। विशेष साज-सज्जा करना, रंगबिरंगे भड़कीले कामोत्तेजक बारीक कपड़े पहनना, सुगन्धित तेल, इत्र आदि लगाना, हाथ में रिस्टवाच, गले में नेकटाई, कालर आदि लगाकर बार-बार शीशे में मुँह देखना आदि सब ब्रह्मचर्य के लिए काल के समान है। विलासी वस्तुओं और व्यक्तियों से घिरे रहने पर मन में

---

१ न पश्येत् प्रस्रवन्तीं च तेजस्कामो द्विजोत्तमः।
नाञ्जयतीं स्वके नेत्रे, न चाभ्यक्तामनावृताम् ॥ —स्मृति

बार-बार काम जाग उठता है। वस्त्र भी सादे, मकान भी सादा, भोजन भी सादा, सात्त्विक हो, पेयपदार्थ भी सादे हों, वेषभूषा भी सादी हो। इनसे विमुख हो जाने पर निश्चित ही पतन है। अतः सादगी ही जीवन है, सजावट (कृत्रिमता) ही नाश है। इस तत्त्व को हृदयंगम कर लो। जीवन में सादगी का एक नियम बना लो।

(६) **सत्संगति**—आत्मोन्नति एवं आत्मसंयम के लिए सत्संग सर्वश्रेष्ठ उपाय है। कुसंग का प्लेग इतना भयंकर है कि इससे सरलमना, तेजस्वी, विद्यार्थी, युवक, भक्त, साधु, सती-यति आदि भी बहुत शीघ्र ही व्यभिचारी, आत्मसंयमघाती निर्वीर्य, निःसत्त्व एवं तन मन-धन से बर्बाद हो जाते हैं। जहाँ सत्संग से मनुष्य देवता बनता है, वहाँ कुसंग से वह राक्षस हो जाता है। गोस्वामी तुलसीदास रामचरितमानस में कहते हैं—'को न कुसंगति पाय नसाई ?" सचमुच कुसंग से बड़े-बड़े शीलवान, गुणवान, होनहार एवं मनीषी स्त्री-पुरुषों या बालिका-बालकों का जीवन धूल में मिल गया। पीछे पश्चात्ताप करने से कोई लाभ नहीं। जंगली जानवर या काले साँप का संग बहुत अच्छा है मगर दुष्टों, लम्पटों, व्यभिचारियों, पतितों, दुर्जनों, गुण्डों और धूर्तों का सग अच्छा नहीं, क्योंकि जंगली जानवर आदि से तो केवल मृत्यु का ही खतरा है, मगर दुर्जन आदि का संग महान् दुर्गतिकर, विपत्तिकर एवं भयंकर है। विष्णु शर्मा ने तो यहाँ तक कह दिया—

"वरं प्राणत्यागो, न पुनरधमानामुपगमः।"

"प्राण त्याग देना अच्छा है किन्तु अधम पुरुषों के पास जाना अच्छा नहीं।" कहा भी है—"कामी पुरुष और भोगवती स्त्री के साथ रहने वाला पुरुष भी कामी बन जाता है।"[1] ब्रह्मचारी को ऐसी कुसंगति से सदैव बचना चाहिए, जिससे कामोत्पत्ति और ब्रह्मचर्य-क्षति होने की सम्भावना हो। पवित्र ब्रह्मचारी महात्मा, साधु-साध्वी, सती, यति आदि के सत्संग से दुर्बलमना, कामी, पतित एवं कुटिल व्यक्ति भी सुधर जाता है। अतः सदाचारी और निष्कलंक पुरुषों का सत्संग करने के लिए नियमबद्ध होना चाहिए, दुराचारी और दुर्जन पुरुषों के कुसंग से सदा बचना चाहिए।

(७) **पवित्र ग्रन्थ-स्वाध्याय**—प्रतिदिन पवित्र ग्रन्थों के स्वाध्याय का, पठन-पाठन का नियम ब्रह्मचर्य साधना को परिपुष्ट करने वाला है। स्वाध्याय से विचार पवित्र होते हैं, संकल्पबल दृढ़ होता है। आत्मनिरीक्षण, आत्मालोचन और आत्मशुद्धि करने की प्रेरणा मिलती है। अतः प्रतिदिन प्रातः सायं किसी पवित्र शास्त्र, ग्रन्थ या पुस्तक को एकाग्रतापूर्वक नियमित रूप से पढ़ने या किसी पाठ को नियमित रूप से करने का नियम बाँध लेना चाहिए। ग्रन्थ ऐसा होना चाहिए, जिसके पढ़ने से त्याग,

---

१. कामिनां कामिनीनां च संगात्कामी भवेत् पुमान्।

वैराग्य, भक्ति, श्रद्धा, आत्मकल्याण एवं ब्रह्मचर्य-रक्षा की प्रेरणा मिलती हो। शृंगारपूर्ण अश्लील उपन्यास, कहानी आदि पढ़ना अपने हाथों से अपने घर में आग लगाना है। अश्लील पुस्तकों का पठन-श्रवण अच्छे-अच्छे सच्चरित्र बालकों, युवकों एवं धार्मिकों को भी दुश्चरित्र बना देता है। ब्रह्मचर्य-वृक्ष के लिए कुग्रन्थ अग्नि के समान हैं।

(८) **दुर्व्यसन-त्याग**—ब्रह्मचारी को सदैव दुर्व्यसनों का त्याग करना चाहिए। जैनधर्माचार्यों ने सात प्रकार के कुव्यसन बताये हैं—जुआ, चोरी, मांसाहार, मद्यपान, वेश्यागमन, पर-स्त्रीगमन और शिकार। ये सातों ही कुव्यवसन[1] ब्रह्मचर्य व्रत के शत्रु हैं। अतः इन सातों का विधिपूर्वक त्याग करना चाहिए।

इसके अतिरिक्त महाभारत में भी दस कामज व्यसनों का उल्लेख किया गया है। वे इस प्रकार हैं—शिकार, जुआ, दिन में सोना, परनिन्दा, स्त्रियों के साथ संसर्ग, मद्य, भांग, गाँजा आदि मादक वस्तुओं का सेवन, नृत्य-गीत और वाद्य में रति, व्यर्थ भटकना, ये दस दुर्दान्त कामज व्यसन हैं, जिनका परित्याग करना चाहिए।[2]

इन व्यसनों से मनुष्य में कामवासना पैदा होती है। वह ब्रह्मचर्य से पतित और भ्रष्ट हो जाता है; लोकनिन्दा और दुर्गति होती है, सो अलग। शराब और भांग-गांजा आदि तथा तम्बाकू का सेवन (धूम्रपान, जर्दा, नस्य आदि किसी भी रूप में) कामवासना को परोक्ष रूप से उत्तेजित करते हैं और स्वास्थ्य को हानि पहुँचाते हैं। व्यसनों में आसक्त एवं इन कुटेवों में फँसे हुए मनुष्य की इच्छाशक्ति अधिकाधिक निर्बल होती जाती है, जिससे वह ब्रह्मचर्य में दृढ़ नहीं रह पाता। अमेरिकन डाक्टरों का कथन है कि तम्बाकू के सेवन से वीर्य फौरन उत्तेजित होकर पतला पड़ जाता है, पित्त बिगड़ जाता है, पुरुषत्व शक्ति क्षीण होती है, नेत्र-ज्योति मन्द होती है, दमा और कफ बढ़ते हैं, मस्तिष्क, छाती व फेफड़े आदि अंग कमजोर हो जाते हैं। आलस्य, कार्य में अनिच्छा, हृदय की धड़कन में वृद्धि, व्यर्थ की चिन्ता, अनिद्रा बढ़ती है, मुख से दुर्गन्ध आती है। टी० बी०, कैंसर आदि भयंकर रोग भी घेर लेते हैं। ब्रह्मचर्य के लिए तम्बाकू का व्यसन भयंकर घातक एवं विषमय है। जो भी हो, ब्रह्मचारी को इन सब दुर्व्यसनों के त्याग के लिए नियमबद्ध होना चाहिए।

---

१. द्यूतं च मांसं च सुरा च वेश्या, पापर्द्धि-चौर्यं परदारसेवा।
एतानि सप्तव्यसनानि लोके घोरातिघोरे नरके नयन्ति॥

२. दशकामसमुत्थानि तथाऽष्टौ क्रोधजानि च।
व्यसनानि दुरन्तानि यत्नेन परिवर्जयेत्॥
मृगयाऽक्षो दिवास्वप्नः परिवादः स्त्रियोमदः।
तौर्यत्रिकं वृथाट्या च कामजो दशको गणः॥

(६) आहार-संयम—ब्रह्मचर्य की सुरक्षा के लिए आहार-संयम बहुत आवश्यक है। ब्रह्मचारी को मांस, मछली, अंडे, शराब, अन्य मादक पदार्थ आदि का तो सदा के लिए त्याग कर देना चाहिए। इसके अतिरिक्त चाय, कॉफी, अत्यधिक मिर्च-मसाले, अनेक तरह के अचार, मिर्च-मसाले वाली तेज चटनी, गरिष्ठ मिठाइयाँ, आदि पदार्थों का सेवन भी ब्रह्मचारी के लिए वर्जित है; क्योंकि इन पदार्थों के प्रतिदिन सेवन से मस्तिष्क में गर्मी बढ़ती है। विचारों का पवित्र रहना दुष्कर है। जितनी भी तली हुई या मिर्च-मसालों से संस्कारित की हुई चीजें हैं, वे सब ब्रह्मचर्य के लिए घातक हैं। ब्रह्मचर्य की नववाड़ों में से दो बाड़ें तो खास तौर से आहार संयम के सम्बन्ध में हैं। दूध, दही, घी, मीठा और तेल इन पाँच विकृतिकारक पदार्थों का नित्य तथा अतिमात्रा में अकारण सेवन करना भी ब्रह्मचारी साधक के लिए वर्जित बताया गया है। सरस, स्निग्ध एवं गरिष्ठ, दुष्पाच्य पदार्थों के सेवन का त्याग तथा अतिमात्रा में भोजन का त्याग ये ब्रह्मचर्य-रक्षा के लिए दो बाड़ें हैं, जिनका पालन करना अत्यावश्यक है।

जैनशास्त्रों में ब्रह्मचारी साधक के लिए ६ कारणों से आहार ग्रहण करना और ६ कारणों से छोड़ने का विधान है। अतः तदनुसार शरीर टिकाने एवं संयम-पालन के लिए अथवा सिर्फ जीने के लिए या क्षुधानिवारण के लिए ही आहार ग्रहण करना ब्रह्मचारी के लिए उचित है। चाणक्य नीति में बताया है—"अति भोजन अस्वस्थतावर्द्धक है, आयुष्यबल का ह्रास करने वाला, नाना रोगोत्पादक एवं पापकर्म में प्रवृत्त करने वाला है। इससे लोगों में विद्वेष एवं परिवाद होता है। इसलिए अतिभोजन का त्याग करना चाहिए।"[1]

ब्रह्मचारी को स्वाद जीतना अनिवार्य है। जो स्वाद को नहीं जीत सकता, वह पंचेन्द्रिय और मन के विषयों पर विजय प्राप्त नहीं कर सकता।

आहार संयम के सन्दर्भ में ब्रह्मचारी को समय-समय पर उपवास, ऊनोदरी (अल्पाहार), एकाशन, आयम्बिल, निविगई, (विगइरहित आहार), द्रव्य-परिसंख्यान, रस-परित्याग, आदि तपश्चरण करना चाहिए। महात्मा गांधी ने लिखा है—"बाह्य उपचारों में जैसे खाद्य पदार्थों के प्रकार और मात्रा की मर्यादा आवश्यक है, वैसे उपवास के विषय में भी समझना चाहिए। इन्द्रियाँ इतनी बलवान हैं कि चारों ओर से—दसों दिशाओं से उन पर नियन्त्रण रखा जाय तभी उन पर विजय पाई जा सकती है। अतः इन्द्रियदमन के इरादे से स्वेच्छा से किए हुए उपवासादि तप से इसमें बहुत मदद मिलती है। उपवास आदि तप के बिना विषयासक्ति का जड़-मूल से नाश नहीं होता।"

---

१ अनारोग्यमनायुष्यमस्वर्ग्यं चाति भोजनम्।
अपुण्यं लोकविद्विष्टं तस्मात्त परिवर्जयेत्॥

आहार भी दो बार से अधिक करना पेट को बिगाड़ना है। तथागत बुद्ध ने कहा था—' एक बार हल्का सादा सुपाच्य आहार करने वाला महात्मा है, दो बार सम्हल-सम्हल कर थोड़ा-थोड़ा आहार करने वाला बुद्धिमान और भाग्यवान है और इससे अधिक खाने वाला महामूर्ख, अभागा और पशु का भी पशु है।"

शाम का भोजन तो सूर्यास्त से पूर्व बहुत ही हलका और सादा होना चाहिए। यदि शाम को भोजन छोड़ सके तो बहुत ही उत्तम है, किन्तु रात्रिभोजन तो करना ही नहीं चाहिए, क्योंकि रात्रि को देर से भोजन करने बाद उसका पाचन ठीक से नहीं हो पाता तथा सूर्य की ऊष्मा न रहने के कारण खाद्य वस्तुओं में अनेक प्रकार के बैक्टीरिया पैदा हो जाते है, जो विभिन्न रोगों के कारण बनते हैं।

आहारसंयम के सन्दर्भ में दो बातों का खास ध्यान रखना जरूरी है—(१) आहार करने का समय नियमित हो, (२) भोजन को खूब चबा-चबाकर खाना चाहिए, ताकि उसका रस बने और पाचन ठीक हो। आहार का पाचन ठीक से न होने पर अजीर्ण, मन्दाग्नि, अतिसार, कब्ज, गैस आदि रोग हो जाते हैं, वीर्यस्खलन भी इन्हीं कारणों से हो जाता है।

(१०) **मल-मूत्रादि-विसर्जन-विवेक**—अनेक रोगों की जड़ है—मल-मूत्र आदि प्राकृतिक आवेगों को रोकना। कोष्ठबद्धता न होने देना ब्रह्मचारी के लिए बहुत आवश्यक है। कोष्ठबद्धता कब्ज का ही दूसरा नाम है। गरिष्ठ आहार नहीं पचने से कब्ज होता है। कब्ज के कारण मलावरोध होता है। मलावरोध होने से कुवासना जागती है और वीर्य का क्षय होता है। ब्रह्मचारी के लिए भोजन जितना आवश्यक है, उससे कहीं अधिक आवश्यक है—मलशुद्धि। मलावरोध से वायु बनती है। वायु जितनी अधिक बनती है, उतना ही अहित होता है। मलावरोध से वीर्यक्षय होता है। वीर्यक्षय से रक्त दुर्बल, निकम्मा और नष्ट हो जाता है, और जठराग्नि मन्द पड़ जाती है। आँतें दुर्बल हो जाती हैं। इसके फलस्वरूप पाखाना भी साफ नहीं होता। कोष्ठबद्धता के कारण आँतों में इकट्ठी हुई विष्ठा वीर्याशय पर दबाव (चाप) डालती है, और विषयवासना उत्पन्न करती है। कोष्ठबद्धता मिटाने का प्राकृतिक उपाय जुलाब या विरेचन अथवा एनिमा नहीं है। बार-बार एनिमा या जुलाब लेने से आंतें अधिक दुर्बल हो जाती हैं। उसके लिए पेडू के स्नायुओं की कुछ कसरतें (योगासन) लाभदायी होती हैं तथा फलाहार-रसाहार पर भी रहा जा सकता है।

मलविसर्जन नियमित समय पर करने से तथा मलविसर्जन न होने पर भी ऊपरा-ऊपरी भोजन न करने से कोष्ठबद्धता नहीं होती। कोष्ठबद्धता तभी होती है, जब पाखाना साफ न होने पर भी पेट में बार-बार भोजन डाला जाता है। परिणामस्वरूप पेट में जबरन ठँसा हुआ भोजन न पचने से भीतर ही भीतर सड़ता है, बदबू पैदा करता है, उससे अपान वायु बिगड़कर मल को गैस के रूप में ऊपर चढ़ा देता है।

इसी प्रकार मूत्र को रोकने से भी वीर्यविकार बढ़ता है। मूत्रनिरोध से आँखें खराब हो जाती हैं। मूत्रकृच्छ्र, सुजाक, उपदंश, आदि रोग हो जाते हैं। रोगी पुरुष ब्रह्मचर्य की साधना में सफल नहीं हो सकता। मल, मूत्र और वायु को किसी काम में फँसकर अथवा मोहवश या लज्जावश, ठण्ड लगने के भय से अथवा किसी भी कारण से रोकने से भीतर की इन्द्रियाँ क्षुब्ध हो जाती हैं, फिर वह व्यक्ति अनेक रोगों से घिर जाने के कारण भी कामोत्तेजना से बच नहीं सकता।

इसी तरह कफ, थूक, पसीना आदि शरीर के विकारों को भी जबर्दस्ती रोकना महाहानिकारक है। कब्ज को मिटाने के लिए प्रातः पानी यथेष्ट मात्रा में पीकर पेट और आंतों को हाथों से मलो। इस प्रकार कुछ दिन करने से और नियमित समय पर पाखाना जाने से स्वयमेव मलविसर्जन होने लगेगा। सोते समय मल-मूत्र की हाजत रखकर नहीं सोना चाहिए।

(११) **नियमितता**—ब्रह्मचारी के लिए नियमितता बहुत ही आवश्यक है। उसका प्रत्येक कार्य उचित समय पर होना चाहिए। प्रत्येक कार्य नियत दिवस में, नियत समय पर करने से शरीर और मन तो स्वस्थ और स्फूर्तिमान रहते ही हैं, परन्तु आत्मचिन्तन और स्वाध्याय को भी समय मिल जाता है। यम-नियम का पालन करने का यही उद्देश्य है। ब्रह्मचारी का खाना-पीना, सोना-जागना, व्यायाम-प्राणायाम, भ्रमण तथा आत्मचिन्तन आदि तमाम प्रवृत्तियाँ नियत समय पर होनी चाहिए। नियत समय पर नियत कार्य न करने से दिमाग पर चिन्ता का बोझ बना रहेगा, जिससे स्वप्नदोष होकर वीर्यपात भी हो सकता है।

ब्रह्मचारी को नियत समय पर प्रतिदिन नियमित रूप से आसन और प्राणायाम अवश्य करने चाहिए। आसन एवं प्राणायाम के लाभ और प्रकारों के विषय में इससे पूर्व लिखा जा चुका है। इसके अतिरिक्त ब्रह्मचारी को प्रतिदिन नियमित रूप से सूर्यस्नान और घर्षणस्नान लेना भी लाभदायक होता है। सूर्यस्नान से उसके शरीर में स्फूर्ति, शक्ति, रोग-निवारण क्षमता बढ़ती हैं एवं व्याधियों को रोकने में सूर्यकिरणें कवच का काम करती हैं। सूर्य की किरणों में प्राणपोषक शक्ति है, उससे जीवनी शक्ति में वृद्धि होती है। अतः जितने समय तक हो सके, सूर्य की मृदु धूप खुले शरीर पर पड़ने देनी चाहिए। यह क्रिया वीर्यरक्षक है और ब्रह्मचर्य-साधना में सहायक है। प्रातःकाल व्यायाम-प्राणायाम के बाद सूखे तौलिये से सारे शरीर में घर्षण स्नान करना ब्रह्मचर्य के लिए लाभकारी है। घर्षण स्नान में तौलिया जोर से रगड़ने से व्यायाम हो जाता है, आलस्य नष्ट होकर सारा शरीर स्फूर्तिमय बन जाता है, शरीर में काफी गर्मी आ जाती है, बिजली उत्पन्न होती है, जो शरीर के तमाम रोगों को हटाती है। घर्षणस्नान से पसीना निकलकर शरीर हलका हो जाता है, रोमकूप खुल जाते हैं। घर्षणस्नान से व्यक्ति उत्साही, तेजस्वी और दीर्घायु होता है।

इसके अतिरिक्त ब्रह्मचारी का सोना-उठना भी नियत समय पर होना चाहिए। ब्रह्मचारी को अपने तन-मन की पवित्रता, वीर्यरक्षा एवं स्वस्थता के लिए रात में जल्दी सोना और प्रातः जल्दी उठना चाहिए। जो व्यक्ति जल्दी सोता और जल्दी उठता है, उसके बल, बुद्धि, आयु एवं सुख में वृद्धि होती है। सूर्योदय से ढाई घण्टे पूर्व ब्राह्ममुहूर्त में उठा जा सके, उस हिसाब से रात को जल्दी सो जाना चाहिए। रात्रि को देर तक सिनेमा, नाटक आदि देखना बन्द करना चाहिए। ब्रह्मचर्य-साधकों को रात्रि के नौ या दस बजे सोना और प्रातः ब्राह्ममुहूर्त में उठ जाना उचित है। निद्रा पूरी होने के बाद तुरन्त बिछौना छोड़ देना चाहिए। इस नियम का ठीक तौर से पालन करने से ब्रह्मचर्य-साधक अनेक दुष्परिणामों से बच जाता है।

मल-मूत्र त्याग करने से शरीर एकदम हलका, स्फूर्तिमान और शान्त हो जाता है। अतः प्रातःकाल जागते ही मल-मूत्रत्याग करके प्रभु-प्रार्थना, भजन या जप में अपना समय व्यतीत करना हितावह है। इस प्रकार नियत समय पर सोने-उठने का अभ्यास हो जाने से स्वप्नदोष तथा अन्य कई व्याधियों से ब्रह्मचारी साधक बच सकता है। उसे प्रातःकाल शुद्ध हवा में वायु-सेवनार्थ नियमित भ्रमण भी करना हितावह है।

इसके साथ ही ब्रह्मचारी साधक को यह ध्यान रखना आवश्यक है कि सोते-उठते समय प्रभु-प्रार्थना या परमात्म-स्मरण करके सोये-जागे। यह उसका दैनिक कार्यक्रम होना चाहिए, ताकि किसी प्रकार के दुःस्वप्न या बुरे विचार न आएँ, तथा उसकी दिनचर्या में प्रत्येक कार्य ब्रह्मचर्य को एवं परमात्मा को लक्ष्य में रखकर हो। शयनकक्ष हवादार, पवित्र एवं स्वच्छ हो, उसमें भी कोई अश्लील चित्र या अश्लील वाक्य नहीं होना चाहिए। मनुस्मृति में इसके लिए विशेष निर्देश किया गया है—"ब्रह्मचारी को सदा अकेला ही सोना चाहिए, उसे कदापि वीर्यपात नहीं करना चाहिए। जो काम-वासनावश वीर्यपात कर देता है, वह अपने व्रत को नष्ट करता है।"[1] इस प्रकार ब्रह्मचारी की प्रत्येक दिन की चर्या नियमित और समयबद्ध तथा व्यवस्थित ढंग से होनी चाहिए।

(१२) **हवादार पवित्र स्थान में निवास**— वैसे तो ब्रह्मचर्य की नौ बाड़ों में प्रथम बाड़ में यह बता दिया गया है कि ब्रह्मचर्य-साधक को स्त्री-पशु-नपुंसक के संसर्ग से रहित विविक्त पवित्र स्थान में निवास करना चाहिए। परन्तु उसे ऐसे स्थान में भी रहना उचित नहीं है जिसमें हवा आती-जाती न हो, चारों ओर से बन्द हो या घुप्प अंधेरा हो। क्योंकि शास्त्र में बताया गया है—अंधेरे में अशुभ परमाणु रहते हैं। जहाँ

---

१. एकः शयीत सर्वत्र, न रेतः स्कन्दयेत् क्वचित्।
कामाद्धि स्कन्दयन् रेतो हिनस्ति व्रतमात्मनः॥

—मनुस्मृति

प्राकृतिक प्रकाश एवं हवा का अबागमन हो, ऐसे स्थान में रहने से ब्रह्मचारी को आरोग्य, मनोनिग्रह, बल, वीर्य, तेज वगैरह प्राप्त होते हैं।

(१३) **सतत उद्योगशीलता**—ब्रह्मचारी को अपने तन-मन को पवित्र एवं स्फूर्तिमान रखने के लिए तन से यथाशक्ति कोई न कोई उपयोगी श्रम करना उचित है; क्योंकि निकम्मे एवं निठल्ले बैठे रहने से मन खराब विचार करने लगेगा या आर्त्त-रौद्रध्यान में लीन हो जाएगा। एक अंग्रेजी कहावत है—"खाली दिमाग शैतान का कारखाना है।"[1] निकम्मे बैठे या लेटे-सोये रहने से ऊलजलूल विचारों में मन घूमने लगेगा। फलतः कामवासना के बुरे विचारों से घिर जाने से ब्रह्मचारी अपने व्रत से च्युत हो जाएगा। निठल्ले बैठने से आलस्य भी बढ़ता है, कार्यक्षमता घटती जाती है। निकम्मे पड़े हुए अंग बेकार भी बन जाते हैं। शरीर से श्रम न होने से हाजमा खराब हो जाता है, अनेक उदर-व्याधियाँ आ घेरती हैं। अतः ब्रह्मचारी के लिए ऋषियों ने यह बताया है कि वह अपनी संचित हुई शक्तियों का उपयोग स्वपर-कल्याण, परोपकार या जनसेवा के कार्यों में करे। आध्यात्मिक विषयों में सतत श्रमशीलता मन एवं बुद्धि की भी होनी आवश्यक है, इससे मन भी स्वच्छ एवं पवित्र रहता है और बुद्धि भी। उसकी निर्णायक शक्ति, स्थिरप्रज्ञा एवं जागृति बढ़ती है।

(१४) **नित्य दिनचर्यावलोकन**—ब्रह्मचारी साधक को अपने जीवन को शुद्ध एवं उन्नतिशील रखने के लिए अपनी दिनचर्या का अवलोकन करना चाहिए। जैन साधकों के लिए प्रतिदिन प्रतिक्रमण करने का विधान है। वैदिक परम्परा में 'कृतं स्मर' इस सूक्त द्वारा विधान किया गया है कि दिन भर जो कुछ अच्छा-बुरा कार्य किया हो, उसका स्मरण करके सन्ध्या के समय परमात्म-वन्दना करते समय क्षमा माँगनी चाहिए। दोषों के लिए प्रायश्चित्त लेकर आत्म-शुद्धि करनी चाहिए। इसके अतिरिक्त अपने जीवन-सुधार एवं ब्रह्मचर्य-साधना के लिए उसने जो जो नियम स्वीकृत किये हैं, उनका तथा अंगीकृत प्रतिज्ञाओं का पालन ठीक तरह से हो रहा है या नहीं? इसका भी अवलोकन करना चाहिए। अपनी दैनिक चर्या लिखने (डायरी लिखने) का भी अभ्यास करना चाहिए। इससे साधना की प्रगति और सुधार में अवकाश कहाँ है? इसका पता चलता है।

जो ब्रह्मचर्य-साधक इस नियम का पालन नहीं करता, उसे न तो अपनी प्रगति-अवगति का पता चलता है, न ही शिथिलता या दोष-प्रवेश का। फलतः ब्रह्मचर्यपालन में शिथिलता, दोषोत्पत्ति और भ्रष्टता आ जाती है। एक बार ब्रह्मचर्य में शिथिलता आने पर उसका सुधार बहुत ही कठिन होता है।

ये कुछ नियम ब्रह्मचर्य-साधना में बहुत उपयोगी साधन हैं। वैसे तो ब्रह्मचर्य की नौ गुप्तियाँ भी एक प्रकार से नियम ही हैं। परन्तु ये नियम सर्वसाधारण के लिए हैं। □

---

१. An empty mind is a devil's workshop.

१०

ब्रह्मचर्य-साधना के चार स्तर

चार मुख्य स्तर

यों तो ब्रह्मचर्य-साधना की अनेक कोटियाँ हैं, और इस दृष्टि से साधना के स्तर भी अनेक होते हैं। परन्तु शास्त्रों का पर्यालोचन करने पर ब्रह्मचर्य-साधना के मुख्यतया चार स्तर परिलक्षित होते हैं। वे इस प्रकार हैं—

१. पूर्ण अखण्ड (सर्वविरति) ब्रह्मचर्य (महाव्रत),
२. गृहस्थाश्रम में रहते हुए पूर्ण ब्रह्मचर्य,
३. श्रावक का देशविरति-ब्रह्मचर्य (अणुव्रत),
४. नैतिक दृष्टि से आंशिक ब्रह्मचर्य।

सम्पूर्ण ब्रह्मचर्य : प्रथम स्तर

इन चारों में सर्वोच्च स्तर की ब्रह्मचर्य-साधना पूर्ण अखण्ड ब्रह्मचर्य है, जिसे सर्वमैथुनविरमण अथवा नवकोटि से पूर्ण ब्रह्मचर्य या सर्वविरति ब्रह्मचर्य कहा जाता है। वह मुनियों—श्रमणों का—साधु-साध्वियों का ब्रह्मचर्य महाव्रत होता है। इसके विषय में स्वरूप खण्ड में चर्चा की जा चुकी है। सर्वविरति ब्रह्मचर्य महाव्रत उसे कहते हैं, जिसमें जीवन भर के लिए मैथुन से निवृत्त होने, तथा वीर्य का किसी भी रूप में क्षय न करने की प्रतिज्ञा ली जाती है। ऐसा पूर्ण ब्रह्मचारी मन-वचन-काया (योग) से औदारिक और वैक्रिय शरीर-सम्बन्धी कामभोगों को न तो स्वयं भोगता है, न भोग वाता है और न भोगने वाले का अनुमोदन ही करता है। सर्वविरत पूर्ण ब्रह्मचारी इन अठारह ही प्रकार के कामभोगों का त्याग कर ब्रह्मचर्य का पूर्णतया पालन करने की प्रतिज्ञा करता है। अन्य ग्रन्थकारों ने इसे नैष्ठिक ब्रह्मचर्य नाम दिया है। नौ बाड़ सहित इस सर्वविरति ब्रह्मचर्य का पालन गृहस्थावस्था के त्यागी साधु-साध्वी ही कर सकते हैं।

द्वितीय स्तर—गृहस्थाश्रम में रहते हुए जो पति-पत्नी या दोनों में से एक के वियोग होने पर दूसरा पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं, वे ब्रह्मचर्य महाव्रती के समकक्ष कोटि के तो नहीं कहे जा सकते, क्योंकि उसमें तो अठारह ही प्रकार के अब्रह्मचर्य का नौ कोटि से नौ बाड़सहित ब्रह्मचर्य पालन होता है, जबकि इसमें इतना कड़ा

प्रतिबन्ध नहीं होता। ऐसे पूर्ण ब्रह्मचारी दम्पति गृहस्थाश्रम में अपने परिवार के साथ रहते हैं, इससे स्त्री-पुरुष आदि का ससर्ग भी होता है, आपवादिक रूप में छोटी बालिका या रुग्णता आदि प्रसंगों में सेवा लेने-देने के लिए बड़ी उम्र की नारी का स्पर्श भी करते हैं। यहाँ तक कि एक ही निवास स्थान (घर) में स्त्री-पुरुष साथ-साथ भी रहते हैं। किन्तु ऐसे आजीवन पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करने वाले नर-नारी समाज या गुरुजन के समक्ष प्रतिज्ञाबद्ध होते हैं।

इस प्रकार के पूर्ण ब्रह्मचर्यव्रत (शीलव्रत) के लिए प्रतिज्ञाबद्ध नर-नारी साधु की तरह पूर्णतया प्रतिबद्ध नहीं होते, वे कई प्रकार की छूटें रखते हैं। वे अपनी सन्तान का विवाह भी करते हैं, अपने सम्बन्धियों की विवाह-शादियों में सम्मिलित भी होते हैं, विवाहोत्सव में भी भाग भी लेते हैं। अतः गृहस्थाश्रम में पूर्ण ब्रह्मचर्य, साधु-साध्वी की तरह तीन करण, तीन योग से नवकोटि विशुद्ध एवं नववाड़ सहित नहीं होता, तथापि इस कोटि के ब्रह्मचारी को अपनी पत्नी को ही नहीं, संसार की समस्त नारियों को मातृतुल्य देखना, मातृभाव की दृष्टि रखना अनिवार्य है। साथ ही इस प्रकार के ब्रह्मचारी स्त्री-पुरुषों को एक दूसरे को विकार की दृष्टि से देखना, छूना या स्मरणादि निषिद्ध है। उनके मन में स्वप्न में भी कामुकता के विचार नहीं उठने चाहिए, न ही कामुकता की दृष्टि से एक-दूसरे को देखना चाहिए। सेवा आदि प्रसंगों पर भी इस बात की पूर्ण सावधानी रखना आवश्यक है।

इस कोटि के ब्रह्मचारी स्त्री-पुरुषों के लिए पूर्ण ब्रह्मचर्य साधना का सरल मार्ग है—विवाहित से अविवाहित बन जाना। इस कोटि के ब्रह्मचारियों में कई लोग अपने परिवार के साथ रहते हुए बचपन से ही आजीवन ब्रह्मचारी होते हैं।

इसके अतिरिक्त श्वेताम्बर परम्परानुसार छठी और दिगम्बर परम्परानुसार सातवीं प्रतिमा का धारी गृहस्थ भी इस स्तर का पूर्ण ब्रह्मचर्यव्रतधारी श्रावक होता है। वह निम्नोक्त नौ प्रकार के अब्रह्मचर्य (मैथुन) का सर्वदा त्याग करता हुआ स्त्रीकथा से भी निवृत्त हो जाता है, वह सप्तम प्रतिमारूप गुण का धारक ब्रह्मचारी श्रावक है।[1] ऐसे परिपूर्ण ब्रह्मचारी को वैदिक परम्परा में 'वानप्रस्थाश्रमी' कहा गया है।

नौ प्रकार के अब्रह्मचर्य से निवृत्त होना ब्रह्मचर्य प्रतिमाधारी या वानप्रस्थी के लिए अतीव आवश्यक है। नौ प्रकार का अब्रह्मचर्य इस प्रकार है—(१) स्त्री-विषयक अभिलाषा, (२) बस्तिमोक्ष, (३) वृष्यरस सेवन, (४) संसक्त द्रव्यसेवन, (५)

---

१. पुव्वुत्त णवविहाणं पि मेहुण सव्वदा विवज्जंतो।
इत्थिकहाइणिवित्तो, सत्तमगुणबंभयारी सो॥
—वसुनन्दि श्रावकाचार, गाथा २९७

तदिन्द्रियालोचन, (६) सत्कार-सम्मान, (७) देहसंस्कार, (८) अतीत स्मरण—अनागताभिलाष तथा (९) मनोज्ञविषयसेवन।[1]

वास्तव में ब्रह्मचर्य प्रतिमाधारी श्रावक या वानप्रस्थी को अपनी ब्रह्मचर्य-साधना को विशुद्ध, निराबाध एवं परिपक्व बनाने के लिए समाजसेवा, राष्ट्रसेवा, धर्मसंघ-सेवा, रुग्णसेवा अथवा पीड़ित-पददलित जनों आदि की सेवा का संकल्प लेना चाहिए। इस कोटि के ब्रह्मचारियों में संत विनोबा, महात्मा गांधी, रामकृष्ण परमहंस आदि के उदाहरण प्रसिद्ध हैं।

तृतीय स्तर—देशविरति ब्रह्मचर्यव्रत तृतीय स्तर की ब्रह्मचर्य-साधना है। इसका पालन व्रतबद्ध गृहस्थ श्रावक करते हैं। यद्यपि व्रतबद्ध गृहस्थ श्रावक का उद्देश्य पूर्ण ब्रह्मचर्य तक पहुँचने का होता है, वह इस प्रकार का मनोरथ भी करता है, अमुक पर्वतिथियों तथा दिवसों में वह पूर्णतः ब्रह्मचर्य का पालन करता है, तथापि जीवनभर के लिए वह सर्वविरति ब्रह्मचर्य का पालन कई कारणों से नहीं कर सकता, क्योंकि गृहस्थ श्रावक पर अपने कुटुम्ब के अतिरिक्त सामाजिक, राष्ट्रीय एवं धर्म-संघीय उत्तरदायित्व भी होता है और अपने आश्रित पशुओं के पालन करने का भी भार होता है। उसे अपने कौटुम्बिक जनों के विवाह करने-कराने के तथा आश्रित पशुओं के गर्भाधान कराने के प्रसंग भी आते हैं। इसलिए गृहस्थ श्रावक जीवनभर के लिए मर्यादित ब्रह्मचर्य का पालन कर सकता है। देशविरति ब्रह्मचर्य का पालन सभी विवाहित स्त्री-पुरुष कर सकते हैं। देशविरति ब्रह्मचर्य व्रत का स्वीकार करने से विवाहित स्त्री-पुरुषों के सांसारिक कार्यों में किसी प्रकार की रुकावट नहीं आती; बल्कि प्रत्येक सद्गृहस्थ के लिए इसका पालन करना नैतिक, सामाजिक, धार्मिक, आध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक सभी दृष्टियों से उचित व आवश्यक है। देशविरति ब्रह्मचर्य को स्वीकार करने वाला गृहस्थ श्रावक सम्यग्दर्शनपूर्वक इस प्रकार प्रतिज्ञाबद्ध होता है—

—मैं (देशविरति ब्रह्मचर्यव्रत में) स्वदार (स्वपत्नी) सन्तोष के अतिरिक्त शेष समस्त (स्त्रीजाति के प्रति या अन्य प्रकार के) मैथुनों का प्रत्याख्यान (त्याग) करता हूँ, यावज्जीव तक देव-देवी सम्बन्धी मैथुन का दो करण—तीन योग से (यानी मैथुन सेवन न करूँगा, न कराऊंगा, मन-वचन-काया से) तथा मनुष्य-मनुष्यनी सम्बन्धी एवं तिर्यञ्च-तिर्यञ्चनी सम्बन्धी मैथुन-सेवन का एक करण एक योग से (अर्थात् काया से) त्याग करता हूँ।"[2]

---

१. भगवती आराधना मू. ८७९/८८०

२. सदारसंतोसिए अवसेसं मेहुणं पच्चक्खामि जावजीवाए (देवी-देव-सम्बन्धी) दुविहं तिविहेणं, न करेमि, न कारवेमि, मणसा, वयसा, कायसा, (मनुष्य-मनुष्यणी तथा तिर्यञ्च-तिर्यञ्ची-सम्बन्धी) एगविहं एगविहेणं, न करेमि कायसा।" —आवश्यक सूत्र

आंशिक ब्रह्मचर्य-ग्रहण करने की छह पद्धतियाँ

जैन धर्म में प्रत्येक व्रत के साथ त्याग (प्रत्याख्यान) करने की अलग-अलग पद्धतियाँ हैं। श्रावक के देशविरति ब्रह्मचर्यव्रत के साथ अब्रह्मचर्य अवांछनीय प्रवृत्ति या विचार को संकल्पपूर्वक त्याग करने की छह पद्धतियाँ हैं। इन्हें कोटि कहते हैं। त्याग की कई सीमाएँ हैं। इन सीमाओं का माध्यम करण और योग हैं। योग कहते हैं—मन, वचन, काया की प्रवृत्ति या मन-वचन-काया को; और करण कहते हैं—करना (कृत), कराना (कारित) और अनुमोदन (अनुमोदित) को। छह कोटि से त्याग इस प्रकार हैं—

१. द्विविध-त्रिविध से—करूँ नहीं, कराऊँ नहीं; मन से, वचन से, काया से।

२. द्विविध-द्विविध से—करूँ नहीं, कराऊँ नहीं; मन से, वचन से या वचन से काया से या मन से काया से।

३. द्विविध-एकविध से—करूँ नहीं, कराऊँ नहीं; मन से, या वचन से, या काया से।

४. एकविध-त्रिविध से—करूँ नहीं, मन से, वचन से, काया से।

५. एकविध द्विविध से—करूँ नहीं, मन से, वचन से, या वचन-काया से, या मन से काया से।

६. एकविध-एकविध—करूँ नहीं, मन से, या वचन से अथवा काया से।

इन छह कोटियों के ४९ भंग (विकल्प) बनते हैं।

गृहस्थ श्रावक इनमें से किसी एक पद्धति से ब्रह्मचर्यव्रत को स्वीकार करता है। द्विविध से अर्थात्—करना और कराना इस अपेक्षा से और त्रिविध से यानी मन, वचन और शरीर से। अर्थात्—मन से मैथुन-सेवन करने-कराने का त्याग, वचन से मैथुन-सेवन करने-कराने का त्याग, और शरीर से मैथुन-सेवन करने-कराने का त्याग। इसी प्रकार सभी पद्धतियों के बारे में समझ लेना चाहिए। प्रचलित देशविरति ब्रह्मचर्य-व्रत स्वीकार करने की पद्धति देव-देवी-सम्बन्धी द्विविध-त्रिविध से (दो करण-तीन योग से) तथा मनुष्य-तिर्यञ्च-सम्बन्धी एकविध-एकविध से (एक करण-एक योग से) मैथुन-सेवन का त्याग करने की है।

इस षट्कोटि प्रत्याख्यान में मानसिक, वाचिक एवं कायिक ब्रह्मचर्य के विकल्प बताकर स्पष्ट समझा दी गई है।

एक प्रश्न—विवाह : ब्रह्मचर्य-भंग या ब्रह्मचर्य की ओर प्रगति ?

कई लोग कहते हैं कि गृहस्थाश्रम में प्रवेश करते समय विवाह करना तो ब्रह्मचर्य का भंग है, विवाहित व्यक्ति वासना की दृष्टि लेकर ब्रह्मचर्य से नीचे उतरता है। स्वदारसन्तोष तो मैथुनप्रवृत्ति-परक होने से ब्रह्मचर्य का भंग ही प्रतीत होता है।

जैनधर्म का यथार्थ दृष्टिकोण यह नहीं है कि विवाह के क्षेत्र में वासना का

अंश अधिक है, ब्रह्मचर्य का अंश नहीं; किन्तु विवेकी, समझदार और सम्यग्दृष्टि-सम्पन्न ब्रह्मचर्याणुव्रत धारक गृहस्थ की दृष्टि में विवाह में ब्रह्मचर्य का अंश ही अधिक है। वस्तुतः विवाह असीम वासना का सेवन करने के लिए नहीं बल्कि असीम वासनाओं को सीमित, एक-पत्नी (या एक पति में) केन्द्रित करने का मार्ग है। पशु-पक्षियों में विवाह जैसी कोई चीज नहीं होती, उनकी वासना की लहरें समुद्र की तरह असीम और उच्छृंखल हैं, जबकि मर्यादित ब्रह्मचर्यधारक गृहस्थ अपनी जीवन-यात्रा में वासना का जरा-सा द्वार खुला रखकर शेष वासना के समस्त द्वार बन्द कर देता है। अतः पशुओं की तरह उच्छृंखल सम्बन्धों में नैतिकता नहीं होती, जब कि विधिवत् विवाह में नैतिकता है। विवाह प्रथा के प्रचलन के पीछे भगवान् ऋषभदेव का आशय यह था कि गृहस्थ असीम वासना को एक पत्नी के साथ विधिवत् संलग्न होकर बन्द करके और ब्रह्मचर्य को पर्याप्त अंशों में सुरक्षित रखते हुए, भविष्य में पूर्ण ब्रह्मचर्य की ओर बढ़े। पशु-पक्षी की तरह उच्छृंखल रूप से वासना-सेवन करते हुए मानव-समाज को उन्होंने विवाह के माध्यम से एक पत्नी में केन्द्रित व संयत करने की बात कही। इससे यह समझा जा सकता है कि भगवान् ऋषभदेव जैसे ज्ञानी पुरुष का विवाह प्रथा प्रचलित करने के पीछे यही उद्देश्य था कि गृहस्थ वासना के विष को अत्यन्त अल्प करे, और पति-पत्नी दोनों मिलकर ब्रह्मचर्य की ओर बढ़ने में एक दूसरे को सहयोग दें। इससे स्पष्ट है कि विवाह वासना की ओर बढ़ने का कदम नहीं, प्रत्युत अन्त में पूर्ण ब्रह्मचर्य की ओर गति करने का कदम है।

जैनधर्म वासना को केन्द्रित एवं मर्यादित करने की बात तो स्वीकार करता है, साधक की शक्ति के अनुरूप उसे वैध और उपयुक्त भी मानता है, किन्तु वासना का उच्छृंखल रूप से सेवन करने की बात बिलकुल उपयुक्त और वैध नहीं मानता। विवाह को वह भयंकर पाप नहीं मानता, किन्तु असीम पाप को नियन्त्रित करने का सरल साधन मानता है।

निष्कर्ष यह है कि चारित्र की पूर्ण अराधना तो सर्वविरति ब्रह्मचर्य के पालन में है। और वह गृहत्यागी साधु-साध्वी के लिए तो अनायास और आसान है, किन्तु जो लोग पूर्ण ब्रह्मचर्य पालन करने में असमर्थ हैं, अर्थात्—जिसमें पूर्णरूप से वासनाओं पर नियंत्रण करने का सामर्थ्य नहीं है, वह यदि उच्छृंखल रूप से बहते हुए वासना-प्रवाह को विवाह करके एक परिगृहीत पत्नी में सीमित कर लेता है, तो वह कोई भयंकर पाप नहीं करता; बल्कि आत्मा को भयंकर अधःपतन से बचा लेता है। जिस साधक में पूर्ण ब्रह्मचर्य पालन करने की क्षमता होती है, वह विवाह के झंझट में नहीं पड़ता। भीष्मपितामह पूर्ण ब्रह्मचर्य पालन करने में समर्थ थे। उन्होंने विवाह करने का मन में विचार ही नहीं किया, पूर्ण ब्रह्मचर्य-पालन की भीष्म प्रतिज्ञा ले ली। किन्तु ऐसे भीष्मपितामह समाज में बिरले ही तो होते हैं।

विवाह : बन्धन या दायित्व वहन ?

आजकल पाश्चात्य जनता में और उसकी देखा-देखी भारतीय स्त्री-पुरुषों में

यह भ्रान्त धारणा बढ़ती जा रही है कि हम विवाह करके क्यों बन्धन में पड़ें ? क्यों अपनी स्वतंत्रता खोएँ ? किसी एक स्त्री या पुरुष के साथ आजीवन बँधकर बालक-बालिका आदि के पालन-पोषण, दहेज तथा स्त्री आदि के भोजन वस्त्रादि के स्थायी व्यय में क्यों पड़ें ? कुछ लोग ऐसे कुतर्क करते हैं कि स्वस्त्री या परस्त्री अथवा स्वपति या परपुरुष के साथ सहवास में पाप तो एक सरीखा होता है, फिर नाहक विवाह के बन्धन में क्यों पड़ें ? इस प्रकार के कुतर्क जाल प्रस्तुत करके वे मुक्त सहचार की आकर्षक बातों का समर्थन करके विवाह प्रथा को मानव-जीवन के लिए निरुपयोगी एवं बन्धनरूप समझते हैं।

ऐसे स्वच्छन्दाचार के विचार वाले लोग प्रथम तो विवाह के पवित्र उद्देश्य से अनभिज्ञ हैं, दूसरे, वे ब्रह्मचर्य की महिमा और उपयोगिता को नहीं समझ पाए हैं। वे विवाह का उद्देश्य दुर्विषयोपभोग ही समझते हैं। इससे अधिक विवाह की कोई सार्थकता, महत्ता, उपयोगिता, या नीतिमत्ता, वे नहीं समझते। वास्तव में, जो पुरुष नैष्ठिक ब्रह्मचारी या पूर्ण ब्रह्मचारी रहकर आजीवन ब्रह्मचर्यपूर्वक जीवन यापन करना चाहते हैं, उन्हें तो विवाह-बन्धन में पड़ने की आवश्यकता ही नहीं है, इस बात में सभी धर्मशास्त्र एकमत हैं, किन्तु जो लोग नैष्ठिक या पूर्ण ब्रह्मचारी तो नहीं रहना चाहते, लेकिन विवाह न करके स्वेच्छाचारपूर्वक जीवन बिताना चाहते हैं, विवाह व्यवस्था को परतंत्रता मानकर उसका भंग करते हैं, वे दोनों ओर से चूकते हैं। एक ओर वे नैतिक पतन का भयंकर पाप करते हैं, दूसरी ओर वे भावी सन्तति को प्राप्त होने वाले सुसंस्कारों एवं दायित्वों की हत्या करते हैं। यह स्वतंत्रता नहीं, स्वच्छन्दता है। दायित्वों से भागने की प्रवृत्ति है ?

अगर विवाह-प्रथा न होती तो स्त्री-पुरुष दोनों के स्वच्छन्द हो जाने पर दोनों का सम्बन्ध कुत्ते-कुतियों की तरह केवल दुर्विषयभोग भोगने तक ही रहता। उक्त स्वार्थ-पूर्ति होते ही स्त्री-पुरुष दोनों एक दूसरे को आँखें दिखा देते, कोई किसी के सुख-दुःख, रोग, विपत्ति, आकस्मिक संकट एवं चिन्ता के समय सहयोग न देता, सेवा न करता, दोनों में सहानुभूति, दया, प्रेम या मानवता तक भी लुप्त हो जाती। फिर पुरुष या स्त्री दोनों में से किसी के विकलांग, अशक्त, अति रुग्ण, सहचार के अयोग्य या असाध्य व्याधि से पीड़ित होने पर कोई भी एक-दूसरे की सेवा न करता। अर्थात्—भोगशक्ति क्षीण होते ही जीवन दुःखमय, अशान्त, असहाय, आश्रयरहित एवं पश्चात्तापमय बन जाता।

विवाहप्रथा प्रचलित न होती तो जिस प्रकार आज कई पुरुष सन्तान की जिम्मेवारी से बचना चाहते हैं, उसी प्रकार महिलाएँ भी सन्तान के पालन-पोषण से बचना चाहतीं। फलतः या तो भ्रूण-हत्या होती या शिशुहत्या होती। धीरे-धीरे जननक्रिया के साथ नारी में सन्तान के प्रति जो मातृसुलभ दया, कोमलता, सहानु-

भूति एवं वत्सलता का मधुर रस होता है, उसका भी लोप हो जाता। विवाह का स्थान स्त्रीपुरुष-स्वैराचार के ले लेने पर उन स्त्री-पुरुषों का सामाजिक जीवन नीरस, निरुद्देश्य, मनहूस एवं रूक्ष हो जाता। दाम्पत्यजीवन का चरम उद्देश्य पति-पत्नी दोनों मिलकर धर्मपालन द्वारा आत्मोन्नति या मुक्ति है, उसके बदले स्वेच्छाचारी युगल का उद्देश्य अच्छे से अच्छा वस्त्र, आभूषण, खान-पान, रागरंग, आदि तथा सुन्दर से सुन्दर स्त्री अथवा अधिक सुरूप पुरुष के साथ स्वच्छन्द काम चार करना ही होता, और पशुओं की तरह अहर्निश भोगविलास के साधनों की लालसापूर्ति में ही स्त्री-पुरुष आवारा भटकते। अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य आदि धर्म के अंग इस स्वैराचार में बाधक माने जाते। इसका नतीजा यह होता कि जीवन की शान्ति, स्वस्थता, स्वस्थ सांस्कृतिक परम्परा आदि सब इस स्वच्छन्द-अनाचार की आग में स्वाहा हो जाते।

निष्कर्ष यह है कि विवाह प्रथा का प्रचलन न होता तो संसार में, मानव-जाति में अराजकता, पशुता, स्वच्छन्दता, परस्पर मार-काट एवं अशान्ति का बोलबाला होता। यह इतिहासप्रसिद्ध है कि एक ही पुरुष को चाहने वाली अनेक स्त्रियाँ या एक ही स्त्री को चाहने वाले अनेक नर-भ्रमर आपस में लड़-झगड़कर मर जाते हैं। इसलिए विवाहप्रथा बन्धन नहीं, अपितु दायित्व एवं कर्त्तव्य का वहन करना है। विवाह का अर्थ भी विशेष रूप से एक दूसरे से सम्बन्धित दायित्वों और कर्त्तव्यों को वहन करना, उन्हें निभाना और रक्षा करना है। विशेषरूप से अपने जीवन की आहुति देकर भी स्त्री को पुरुष के धर्मपालन में सहचारिणी और पुरुष को स्त्री के धर्मपालन में सहचर बनने का दायित्व निभाना ही विवाह है।

विवाह दुर्विषयभोग की इच्छा को बढ़ाने या सिर्फ दुर्विषयभोग सेवन के लिए नहीं है, अपितु ब्रह्मचर्यपालन की निर्बलता को शनैः शनैः घटाकर, अथवा पति-पत्नी दोनों के परस्पर धर्मसहयोग से मिटाकर पूर्ण ब्रह्मचर्यपालन की क्षमता प्राप्त करने के लिए है।

इस उद्देश्य के अनुसार विवाहित जीवन बिताने में दया, अनुकम्पा, सेवा, सहयोग, सहानुभूति आदि गुणों के विकास की सम्भावना है, वह स्वच्छन्द सहचार में कहाँ सुलभ है? इसलिए ब्रह्मचर्य न पाल सकने पर दुराचार या स्वच्छन्दाचार में प्रवृत्त होने वाले या वेश्यागमन या परस्त्रीगमन करने वाले का जीवन निन्दनीय एवं नीतिविरुद्ध माना गया है। ऐसा व्यक्ति, जो विवाहित हो या अविवाहित, परस्त्री-गमन या वेश्यागमन करता है, वह दुराचारी कहा जाता है, किन्तु विवाहित होकर पर-स्त्रीगमन या वेश्यागमन से बचकर स्वदारसन्तुष्ट रहने वाले व्यक्ति को दुराचारी नहीं अपितु शीलवान या सदाचारी कहा जाता है।

स्वपत्नीसन्तोषव्रत की आवश्यकता

जो लोग यह कहते हैं कि क्या स्वपत्नी और क्या परपत्नी या परस्त्री अथवा क्या स्वपति और क्या परपुरुष, अब्रह्मचर्य-सेवन में पाप तो एक समान है, तब स्वपत्नीसन्तोष (या स्वपतिसन्तोष) व्रत में बँधने से क्या लाभ ?

भारतीय संस्कृति, धर्म और कर्म सिद्धान्त का मत इसके बिल्कुल विपरीत है। भारतीय धर्मों का मत यह है कि गृहस्थ जीवन में जो लोग इतनी मर्यादा का भी पालन करना नहीं चाहते, उनके ख्याल से गृहस्थाश्रम का लक्ष्य केवल वासना पूर्ति करना है। परन्तु वास्तविक दृष्टि से गृहस्थाश्रम का लक्ष्य पूर्ण ब्रह्मचर्य के आदर्श को प्राप्त करना है। वहाँ पत्नी केवल भोगवासना-पूर्ति की पुतली नहीं, अपितु धर्मपत्नी है, पूर्ण ब्रह्मचर्य मार्ग पर गति कराने में सहायिका है। इसीलिए शास्त्रों में उसके लिए धर्मसहाया, धर्मपत्नी, सहधर्मचारिणी, सहधर्मिणी, पतिव्रता आदि सुन्दर और सार्थक विशेषणों का प्रयोग किया गया है। वहाँ ब्रह्मचर्यव्रत ग्रहण करने के साथ-साथ केवल स्वपत्नीसन्तोष एवं परदारनिवृत्ति ही नहीं, अब्रह्मचर्य सेवन पर भी अन्य कई अंकुश आ जाते हैं।

सामाजिक दृष्टि से भी स्वदारसन्तोषव्रती व्यक्ति नारीजन विश्वसनीय, राजाओं के अन्तःपुर एवं अन्य सज्जनों के घरों में बेरोकटोक प्रवेश योग्य हो जाता है। किसी को भी, कहीं उसके प्रति अप्रतीति नहीं होती। समाज, राष्ट्र, परिवार, जाति आदि में सर्वत्र उसका विश्वास किया जाता है। क्योंकि स्वदारसन्तोषव्रती या परस्त्रीसेवनत्यागी पुरुष का चित्त परस्त्री की ओर जाता ही नहीं, वह असीम काम-वासना के पाप से बच जाता है। व्यासस्मृति में बताया गया है—

स्वदारे यस्य सन्तोषः, परदारनिवर्त्तनम्।
अपवादोऽपि नो यस्य, तस्य तीर्थफलं गृहे॥

'जो पुरुष अपनी स्त्री में सन्तुष्ट रहता है, परस्त्री-सेवन से विरत हो जाता है, उसकी कोई निन्दा नहीं होती, न ही किसी प्रकार का अपवाद होता है। उसे घर में ही तीर्थ का फल मिल जाता है।

स्वदारसन्तोषव्रत ग्रहण करने से दाम्पत्य कलह नहीं होता। पति-पत्नी दोनों में शुद्ध प्रेम, परस्पर विश्वास एवं निश्छल हृदय रहता है। उसमें कीर्ति, यश, बल, बुद्धि, निर्भयता एवं साहस आदि सद्गुण सुरक्षित रहते हैं। परलोक में उत्तम गति, यहाँ तक कि मुक्ति भी प्राप्त हो जाती है। यह सब उपलब्धि परस्त्रीगामी या स्वेच्छाचारी को कहाँ प्राप्त हो सकती है ? वह सदैव निन्दनीय, अविश्वसनीय बना रहता है। यश, कीर्ति, बल, बुद्धि आदि सद्गुण तो उसके पास फटकते ही नहीं। जो व्यक्ति विवाह न करके स्वस्त्री-परस्त्री का भेद नहीं करता, स्वैराचारी है, वह सन्तान के सुसंस्कारों की भयंकर हत्या कर देता है। सारी सांस्कृतिक परम्परा को मटियामेट कर देता है।

कर्मसिद्धान्त यह है कि शुभाशुभ कर्मबन्धन होने में केवल बाह्य वस्तु (विषय-सेवन आदि) ही कारण नहीं होती, अपितु परिणामों की तीव्र-मन्द या शुभाशुभ धारा भी कारण है। पत्नी के साथ सहवास में इतनी तीव्र काम-लालसा नहीं होती, जितनी परस्त्री के साथ होती है। अतः क्रिया एक-सी होने पर भी परस्त्री में तीव्र अशुभ-परिणामों की धारा होने से तीव्र मोहकर्म का बन्ध होता है, जिसके फलस्वरूप नरक की तीव्र यातनाएँ भोगनी पड़ती हैं। अतः परस्त्रीसेवन अनेक विपत्तियों का स्थान है, उभयलोकहित का नाशक है। परस्त्रीगामी पुरुष का जीवन कलंकित, दूषित, पापपूर्ण एवं क्रोध, दैन्य, लोभ, भय, शोक, अपमान, रोग एवं चिन्ता से सदा ग्रस्त रहता है। परस्त्रीलम्पट पुरुष समाज, परिवार, राष्ट्र आदि में सर्वत्र अपमानित, निन्दित एवं अप्रतिष्ठित हो जाता है। जो अपनी पत्नी को छोड़कर परस्त्री की तरफ आकर्षित हो जाता है उसकी मानसिक स्थिति भी विश्वासयोग्य नहीं रहती; आज इस, कल उस, यों कितनी स्त्रियों के प्रति उसकी वासना बीभत्स नाटक रचती है।

ऐसे पुरुष का कोई विश्वास नहीं करता। उसकी स्त्री भी उस पर विश्वास नहीं करती। पत्नी के साथ सदा गृहकलह रहता है। ऐसे लोगों के सन्तान या तो होती ही नहीं, यदि होती भी है तो कलहकारिणी, रोगिष्ठ, अल्पायु और पिता का तिरस्कार करने वाली होती है। धम्मपद में परस्त्रीगमन के चार दुष्परिणाम बताये गये हैं—अपयश, निद्रानाश, चिन्ता और नरक। परस्त्रीगामी स्वयं ही अपकीर्ति का भागी नहीं बनता, वह अपने साथ-साथ अपने कुल, जाति, वंश, धर्म, समाज और राष्ट्र को भी कलंकित करता है। बलवैभवशाली होते हुए भी रावण, पद्मनाभ, मणिरथ, कीचक आदि परस्त्रीगामियों का यही हाल हुआ है। महात्मा गांधी ने कहा कि "परस्त्रीगामित्व रोगों का घर है। जहाँ परस्त्रीगमन नहीं होगा, वहाँ ४० प्रतिशत डॉक्टर बेकार हो जायेंगे।" परस्त्रीगामी को लगे हुए रोगों का भयंकर फल भावी सन्तान को भोगना पड़ता है। अतः परस्त्रीगमन सभी दृष्टियों से हेय है।

जो व्यक्ति यावज्जीवन ब्रह्मचर्य का पालन करने में सक्षम हैं, दुर्विषयों में इन्द्रिय और मन को प्रवृत्त न होने देने का सामर्थ्य रखते हैं, उनके लिए विवाह न करना ही श्रेयस्कर है, किन्तु जो ऐसा करने में अभी स्वयं को असमर्थ समझते हैं, जिन्हें विवाह न करने पर अब्रह्मचर्य के अन्य भयंकर अनैतिक कुपथ में पड़ने की भीति है, नीतिज्ञों की दृष्टि से ऐसे व्यक्तियों का विवाह करके स्वदारसन्तोष—परदार-विरमणव्रत में आबद्ध होना, व्यभिचार में प्रवृत्त होने की अपेक्षा बुरा नहीं।

क्या विवाह अनिवार्य है ?

वैदिक परम्परानुसार कई लोगों कहना है कि "**अपुत्रस्य गतिर्नास्ति, स्वर्गो नैव च नैव च**" अपुत्र की कोई सुगति नहीं होती, स्वर्ग तो उसे मिल ही नहीं सकता।" तथा '**सन्तानार्थाय मैथुनम्**' इस सूत्रानुसार सन्तान उत्पन्न करने की दृष्टि से गृहस्थ

बनने हेतु विवाह करना प्रत्येक व्यक्ति के लिए आवश्यक है। इस विचारधारा की कुछ झाँकी उत्तराध्ययन सूत्र के भृगुपुत्रीय अध्ययन में मिलती है। जिसके अनुसार भृगु पुरोहित कहता है—विद्याध्ययन करने के बाद गृहस्थाश्रम में एक बार प्रवेश करना अनिवार्य है।

जैन दृष्टि के अनुसार सन्तानोत्पत्ति के लिए विवाह करने और गृहस्थाश्रम में अनिवार्य रूप से प्रविष्ट होने की मान्यता उचित व तर्कसंगत नहीं है। अपुत्र को सुगति या देवगति नहीं मिलती, इस बात में कोई तथ्य नहीं है। इसके विरोध में वैदिक परम्परा का ही एक श्लोक है, जिसमें यह बताया गया है कि "अनेक व्यक्ति कौमार्य अवस्था में ब्रह्मचारी रहकर स्वर्ग में गये हैं।"[1] बल्कि ब्रह्मचर्य के विशुद्ध पालन से मोक्ष तक प्राप्त हो सकता है और सन्तानैषणा (पुत्रैषणा) की दृष्टि से विवाह करने की बात में कोई तथ्य नही है। जिस वैदिक परम्परा में पुत्र-प्राप्ति का विशेष महत्व बताया गया है, उसी साहित्य में पुत्र से —सम्भावित हानि की बातें भी मिलती हैं—

"जायमानो हरेद् दारां, वर्धमानो हरेद् धनम्।
क्षीयमाणो हरेत् प्राणान्, कथं पुत्रः सुखावहः ?"

जन्म के समय (पुत्र) पत्नी के प्राण खतरे में डाल देता है, उसके संवर्द्धन-पोषण में धन का नाश होता है, तथा उसके वियोग (मृत्यु) होने से (आघातवश) प्राण नाश होने की सम्भावना है। ऐसा पुत्र माता-पिता को कैसे सुखदाता हो सकता है ?

और फिर सन्तानैषणा के पीछे वंश और कीर्ति स्थायी बनाने की जो कामना है, वह भी निरर्थक है। कौन अपने पितामह से पूर्व की पीढ़ी को याद रखता है ? अपनी मृत्यु के बाद वंश परम्परा चले, इसका उस व्यक्ति को कोई विशेष लाभ नहीं होता। जो बाल्यावस्था में, कौमार्यावस्था में ही मुनि, ऋषि बनकर या ब्रह्मचारी रहकर अपना जीवन बिता गये हैं, उनके जीवन या नाम को लोग विशेष याद करते हैं, किन्तु जो गृहस्थाश्रमी बनकर भोग-विलास में अपना जीवन बिता गये हैं, उनके जीवन को सौ वर्ष बाद भी कौन याद करता है ? आज लोगों की कहाँ रुचि है, अपने पूर्वजों का नाम याद रखने में ? इसलिए संतानैषणा को दृष्टि से भी विवाह करना अनिवार्य नहीं है।

विवेकी मनुष्य को दीर्घदृष्टि से यह विचार करके निर्णय करना चाहिए कि मेरी आत्मा का उद्धार विवाह करके प्रजावृद्धि (संसारवृद्धि) करने में है या ब्रह्मचर्य

---

१. अनेकानि सहस्राणि कुमार-ब्रह्मचारिणाम्।
दिवंगतानि विप्राणामकृत्वा कुलसंततिम्॥

पालन करके स्वपर-कल्याण में है ? सन्तानैषणावश पुत्रोत्पत्ति के लिए विवाह करने से आत्मकल्याण तो तभी होगा, जब पूर्ण ब्रह्मचर्य पालन करने का लक्ष्य होगा, पुत्र या संतान उसके कर्मों का क्षय नहीं कर देगा, न ही उसका कल्याण कर सकेगा। इससे बेहतर तो यह है कि जिसमें दुर्विषयभोगलालसा को विवेक द्वारा दबाने की शक्ति हो वह विवाह न करके पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करे। महात्मा गांधी का सुन्दर चिन्तन इस सम्बन्ध में है कि "आदर्श ब्रह्मचारी को कामेच्छा या सन्तानेच्छा से कभी नहीं जूझना पड़ता। ऐसी इच्छा उसे होती ही नहीं।" भीष्म पितामह के ये उद्गार भी मननीय हैं—"ब्रह्मचारी को सन्तान या संसार की इच्छा नहीं होती, न इसकी उत्पत्ति या वृद्धि के लिए वह अपने ब्रह्मचर्य को खण्डित कर सकता है।"

अतः सभी व्यक्तियों के लिए विवाह करना आवश्यक नहीं है। विवाह करके स्वदारसन्तोषव्रत में आबद्ध होना उन्हीं के लिए योग्य हो सकता है, जिनमें पूर्वोक्त विवेक शक्ति न हो।

स्वदारसन्तोष-परदारविरमणव्रत की व्याख्या

सद्गृहस्थ श्रावक के इस ब्रह्मचर्याणुव्रत की व्याख्या यह है कि विवाह होने से पहले तक वह संसार की समस्त स्त्रियों को माता या बहन समझे। विवाहसूत्र में आबद्ध हो जाने पर पुरुष का एकमात्र विधिवत् विवाहिता स्त्री को छोड़कर उन सभी स्त्रियों के प्रति कामवासना या मैथुन भावना का मन-वचन-काया से पूर्वोक्त मैथुनांगों सहित त्याग करना आवश्यक है। जिस स्त्री का अपने साथ विधिवत् विवाह नहीं हुआ है, वह स्त्री, चाहे कुमारिका हो, वेश्या हो, विधवा हो, स्खलित हो, परित्यक्ता हो, अथवा कितनी ही सुन्दरी और चाहने वाली क्यों न हो, वह परस्त्री ही समझी जाती है। इसी प्रकार ब्रह्मचर्याणुव्रतधारिणी महिलाओं के लिए अपने साथ विधिवत् विवाहित पति के सिवाय सभी पुरुष पर-पुरुष हैं, उनके साथ सभी प्रकार की कामवासना का त्याग करना आवश्यक है। इसीलिए इस व्रत का नाम शास्त्रकारों ने स्वदारसन्तोष (महिलाओं के लिए 'स्वपतिसन्तोष') रखा है।

स्वपत्नी-संतोषव्रत की निष्ठा

इस ब्रह्मचर्याणुव्रत की साधना तभी सुदृढ़ समझी जाती है, जब पुरुष में एक-पत्नीव्रत की निष्ठा हो, और स्त्री में एक पति-व्रत की। प्रायः देखा जाता है कि अधिकांश पुरुष अपनी पत्नी से तो 'एक-पतिव्रता' बनी रहने की आशा रखते हैं, किन्तु स्वयं 'एक-पत्नीव्रती' बने रहना नहीं चाहते, न ही अपनी विवाहिता पत्नी के प्रति वफादार बने रहना चाहते हैं। ऐसे लोग अपने लिए परस्त्रीगमन की छूट चाहते हैं, परन्तु अपनी पत्नी को पर-पुरुषगमन की जरा भी छूट नहीं देना चाहते। परन्तु ऐसी आशा नीम बोकर आम खाने की अभिलाषा के समान दुराशामात्र है। जब तक पुरुष स्वपत्नी-संतोषनिष्ठा का यथार्थ रूप से आचरण नहीं करेगा, तब

तक उसे अपनी पत्नी से स्वपतिसंतोषनिष्ठा के आचरण की आशा करना व्यर्थ है, न ही उसे पत्नी से इस निष्ठा का आचरण कराने में सफलता मिल सकती है। यह बात दूसरी है कि परस्त्रीगामी पुरुष की पत्नी अपना धर्म समझकर स्वयं ही सदाचारिणी और पतिव्रता रहे। भारतीय महिलाएँ प्रायः पर-पुरुषगामिनी नहीं बनतीं, किन्तु परस्त्रीगामी लम्पट एवं दुराचारी पुरुष ही प्रायः उसे परपुरुषगामिनी बनने को बाध्य कर देते हैं। अतः जो पुरुष अपनी पत्नी को पतिव्रता, सदाचारिणी एवं अपने प्रति वफादार रखना चाहते हैं, एवं दाम्पत्य प्रेम को स्थायी बनाना चाहते हैं, उन्हें चाहिए कि वे स्वयं स्वदारसन्तोषव्रत स्वीकार करें, एकपत्नीव्रत धर्म का पालन करें।

किसी युग में बहुविवाह प्रथा प्रचलित थी, किन्तु वर्तमान युग में वह सर्वथा अवैध है। इससे पुरुष में भी कामवासना अधिकाधिक भड़कने की तथा निर्वीर्य बनने का संभावना है और स्त्रियों में भी परस्पर सौतिया डाह, असन्तोष और वफादारी में कमी होने से व्यभिचारिणी बनने की संभावना अधिक रहती है। जो एक पत्नी के रहते, दूसरी किसी स्त्री से प्रेम रखते हैं और उससे उपपत्नी या पत्नी के तौर पर अनुचित सम्बन्ध रखते हैं, अथवा वे अप्राकृतिक कामाचार का रास्ता अपनाते हैं, तो वे स्वदारसन्तोषव्रत या स्वपत्नीव्रतनिष्ठा का सरासर उल्लंघन करते हैं।

स्वदारसन्तोषव्रत की मर्यादा

आजकल अधिकांश लोगों में अज्ञानवश यह भ्रान्ति फैली हुई है कि इस व्रत में 'स्वस्त्री-सेवन' की तो खुली छूट है, इसलिए हम अपनी विवाहिता पत्नी के साथ चाहे जब और चाहे जिस परिस्थिति में सहवास करने के लिए स्वतंत्र है। किन्तु स्वदारसन्तोषव्रत का उद्देश्य या अर्थ यही होता तो उसका नाम 'देशविरति ब्रह्मचर्य व्रत' या 'ब्रह्मचर्याणुव्रत' न दिया जाता। किसी भी प्रकार की मर्यादा न रखकर, उच्छृंखल रूप से स्वस्त्री के साथ समय हो या असमय, दिन हो या रात, वह गर्भवती हो, आसन्नप्रसवा हो, शिशु स्तनपान करने वाला हो, अष्टमी-चतुर्दशी हो, पर्वतिथि हो, या पत्नी रुग्ण, चिन्तित, पीड़ग्रस्त, दुर्बल या विपद्ग्रस्त हो अथवा कैसी भी परिस्थिति में हो विषय-सेवन किया जाता तो फिर इस व्रत को 'ब्रह्मचर्य' कहने का कोई अर्थ न रहता, न ही कामवासना पर कोई अंकुश रहता। पशुओं की तरह उच्छृंखल और अनियमबद्ध काम-सेवन होता रहता। किन्तु स्वदारसन्तोषव्रत के **'कामभोगतीव्राभिलाष'** नामक अतिचार को देखते हुए यह स्पष्ट है कि इस व्रत में स्वच्छन्दता, निरंकुशता या उच्छृंखलता को कोई स्थान नहीं है।

नीतिकारों ने भी स्वपत्नी के साथ कामाचार की कुछ मर्यादाएँ निश्चित की हैं। उनका मुख्य निर्देश है कि पति-पत्नी दोनों को सन्तानेच्छावश ही, वह भी धर्मज सन्तानसीमा निश्चित करके ही कामाचारवश होने का विचार करना चाहिए। राष्ट्र

में भुखमरी हो, प्रान्त किसी विपत्ति का शिकार हो, देश में जनसंख्यावृद्धि के अनुपात में सन्तान के भरण-पोषण की विकट समस्या हो, ऐसे समय में स्वदारसन्तोषव्रती दम्पती को भी विवेकपूर्वक अपनी ब्रह्मचर्य मर्यादा निश्चित कर लेनी चाहिए। आज अधिकांश व्यक्ति इस विवेक को तिलांजलि देते हुए देखे जाते हैं।

इसके अतिरिक्त निम्नोक्त मर्यादाओं का पालन स्वदारसन्तोषव्रती दम्पती के लिए करना अनिवार्य है—

१. परस्पर विधिवत् विवाह न हो जाए, तब तक परस्पर प्रेम (प्रणय), पत्र-व्यवहार, एकान्त में मिलन, अकेले सहभ्रमण, आलिंगन आदि अब्रह्मचर्यपोषक प्रवृत्ति नहीं करनी चाहिए, ताकि शील की मर्यादा सुरक्षित रहे।

२. स्वदारसन्तोषी को विधिवत् विवाहिता पत्नी के अतिरिक्त, अन्य स्त्री, फिर वह चाहे कुमारिका हो, विधवा हो, वेश्या हो, सिनेतारिका हो, परित्यक्ता हो, समाजसेविका हो, के साथ एकान्त में वार्तालाप, कामुक वृत्ति से स्पर्श, अतिसंसर्ग, हँसी-मजाक, छेड़-छाड़, कुचेष्टा, कुदृष्टि से अवलोकन आदि से दूर रहना चाहिए।

३. इसी प्रकार अप्राकृतिक मैथुन या जननेन्द्रिय के अतिरिक्त अन्य अंगों से कामक्रीड़ा करना स्वदारसन्तोषी के लिए वर्जित है।

४. स्वपत्नी के साथ भी स्वच्छन्दता से अतिमैथुन करना, या पत्नी की इच्छा के विरुद्ध बलात् गमन करना व्रतभंग माना जाता है।

५. पति-पत्नी परस्पर मिलें, तब कामोत्तेजक बातें करना या गन्दी चाह, गन्दी हँसी मजाक करना अथवा गन्दी, अश्लील भद्दी गालियाँ बकना, अधिक संसर्ग, या अत्यधिक प्रेमालाप उचित नहीं है।

६. पर्वतिथियों, पर्युषण पर्व में या जैनेतरों के लिए अन्य पर्वतिथियों में, विशेष धर्माराधन के दिवसों (यथा—नवपद-आराधना के लिए आयम्बिल की ओलियों) में ब्रह्मचर्याणुव्रतधारी दम्पत्ति को ब्रह्मचर्य-पालन करना चाहिए।

७ पति-पत्नी को यथासम्भव अपना शयन कक्ष अलग-अलग रखना चाहिए, यदि किसी कारणवश ऐसा न हो सके तो एक ही शय्या पर शयन तो त्याज्य समझना चाहिए, क्योंकि वह अत्यन्त कामोत्तेजक है।

८. पति-पत्नी दोनों के दाम्पत्य जीवन में दरार पड़े, परस्पर अविश्वास या सन्देह उत्पन्न हो, इस प्रकार का कोई कारण उपस्थित न किया जाए, न ही परस्पर एक दूसरे से दुराव-छिपाव रखा जाए, और न मिथ्या दोषारोपण एक-दूसरे पर किया जाए। यह एकपत्नीव्रत या एकपतिव्रत की निष्ठा के लिए अत्यन्त जरूरी है। एक-दूसरे को शक भरी नजर से देखना भी जीवन में विष घोलना है।

९. अपनी पत्नी का देहान्त हो जाने पर पुरुष को दूसरा विवाह न करके पूर्ण ब्रह्मचर्य पालन करने का आदर्श उपस्थित करना चाहिए।

१०. जब बड़ा पुत्र घर सँभालने लायक हो जाए, अथवा पुत्र-पुत्री के विवाहादि कार्यों से निवृत्त हो जाएँ तो पति-पत्नी दोनों को पूर्ण ब्रह्मचर्यव्रत स्वीकार करके अपना जीवन समाज या राष्ट्र की सेवा में लगाना चाहिए।

११. घर में बहन, पुत्री या पुत्रवधू विधवा हो जाय तो उस समय घर के प्रौढ़ स्त्री-पुरुषों को पूर्ण ब्रह्मचर्यव्रत लेकर उनके समक्ष सुन्दर वातावरण प्रस्तुत करना चाहिए।

१२. ब्रह्मचर्याणुव्रत का चरम लक्ष्य यह है कि विवाह सूत्र में बद्ध हो जाने पर भी यदि पति-पत्नी दोनों के उच्च विचार हों, विश्ववात्सल्य की भावना को साकार करना चाहते हों तो दोनों को पूर्ण ब्रह्मचर्यव्रत स्वीकार करके ध्येयानुकूल किसी सार्वजनिक सेवा कार्य में संलग्न हो जाना चाहिए।

इन ब्रह्मचर्य मर्यादाओं का पालन करने वाला सद्गृहस्थ स्वदारसन्तोषव्रत का दृढ़तापूर्वक पालन करता हुआ, पूर्ण ब्रह्मचर्यव्रत तक पहुँच जाता है।

सन्तानोत्पत्ति, सन्ततिनिरोध और मर्यादित ब्रह्मचर्य

गृहस्थाश्रम में मर्यादित ब्रह्मचर्य पालन करने वाले व्यक्ति के सामने कुछ विकट प्रश्न ऐसे आते हैं, जिनका यथार्थ निर्णय या समाधान करने में सभी लोग समर्थ नहीं होते। सर्वप्रथम, अणुव्रतबद्ध गृहस्थ के समक्ष प्रश्न यह है कि आज की तेजी से बढ़ती हुई जनसंख्या को देखते हुए सन्तानोत्पत्ति के सम्बन्ध में रोकथाम का विचार करे या नहीं? महात्मा गान्धी जैसे राष्ट्र-नेताओं का तो अभिमत है कि "तब तक किसी को सन्तानोत्पत्ति करने का अधिकार नहीं है, जब तक दरिद्रता, भुखमरी अकाल और बड़े-बड़े दुःसाध्य रोगों (हैजा, प्लेग, मलेरिया आदि) से निपटने की योग्यता और क्षमता न हो।"[1] इसलिए सन्ततिनिरोध की आवश्यकता के सम्बन्ध में दो मत नहीं हो सकते। परन्तु उसका युगानुयुग से (भारत में) केवल एक ही उपाय चला आया है और वह उपाय है, आत्मसंयम या ब्रह्मचर्य।

पाश्चात्य देशों की तरह भारत में भी सन्ततिनिरोधक कृत्रिम साधनों का उपयोग प्रचलित है। परन्तु महात्मा गान्धी तथा अन्य हितैषी चिकित्सा वैज्ञानिकों का मत है कि "कृत्रिम साधनों का समर्थन करना मानो पाप पथ की ओर जाने के लिए लोगों को उत्तेजना देना है। इससे स्त्री-पुरुष उच्छृंखल हो जाते हैं। जिस ढंग से सन्ततिनियह के लिए इन कृत्रिम साधनों को महत्व दिया जा रहा है, उससे संयम का मार्ग अवरुद्ध होगा। कृत्रिम उपायों से नपुंसकता और मानसिक निर्बलता बढ़ेगी। यह दवा बीमारी से भी बदतर साबित होगी।"

इसलिए स्वदारसन्तोषव्रती सद्गृहस्थ दम्पत्ति के लिए तो स्वेच्छा से ब्रह्मचर्य पालन करना ही सन्ततिनिरोध का सर्वोत्तम उपाय है, यही सबसे सुन्दर साधन है।

---

१ "नीतिनाशने मार्गे" अथवा 'आत्म-संयम' (महात्मा गान्धी) पृ० ३६।

इसका प्रयोग न करके कृत्रिम साधनों के प्रयोग से सन्तति-नियन्त्रण करना अपने जीवन को भोग की आग में होमना है, अपनी वासना से खुलकर खेलना है। ऐसा करने से स्वदारसन्तोषव्रत का पूर्ण ब्रह्मचर्य की ओर गति करने के लक्ष्य से मनुष्य भ्रष्ट हो जाता है।

आज बेरोक सन्ततिवृद्धि होने के दो कारण समाजशास्त्री बतलाते हैं—बाल विवाह और वर्तमान में गलत रहन-सहन। वस्तुतः विवाहित और अविवाहित दोनों प्रकार के लोगों में ब्रह्मचर्य की भावना जगाना ही सन्ततिनिरोध का एकमात्र ऊँचा और सीधा रास्ता है।

इसके अतिरिक्त ब्रह्मचर्याणुव्रती श्रावक को अपनी सन्तति को ब्रह्मचर्यलक्षी सुसंस्कार देने एवं घर का वातावरण भी वैसा ही रखने की जरूरत है।

चतुर्थ स्तर—नैतिक दृष्टि और ब्रह्मचर्य

ब्रह्मचर्य साधना के चतुर्थ स्तर में वे स्त्री-पुरुष आते हैं जो सम्यग्दर्शनपूर्वक प्रतिज्ञाबद्ध या व्रतबद्ध होकर ब्रह्मचर्य का पालन नहीं करते, किन्तु नैतिक दृष्टि से, लोकलज्जा से, समाजभय से, कुल परम्परा के कारण, अथवा किसी विशिष्ट मंत्रादि की साधना, अथवा देव-देवी की आराधना या धर्माराधना या विद्याध्ययन आदि के उद्देश्य से मर्यादित या पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं।

व्रतबद्ध श्रावक की तरह इनके मर्यादित ब्रह्मचर्य के साथ अन्य अणुव्रत भी (अहिंसा, सत्य, अस्तेय, परिग्रह परिमाण) नहीं होते, सप्त कुव्यवसनों का त्याग अवश्य होता है। जुआ, चोरी, मांसाहार, मद्यपान, वेश्यागमन, परस्त्रीगमन और शिकार, इन सात कुव्यवसनों के अतिरिक्त किसी निर्दोष प्राणी की हत्या, अंगभंग, कत्ल या लूटपाट, डकैती या अपहरण, आगजनी आदि महापापों से भी दूर रहते हैं। ब्रह्मचर्याणुव्रती श्रावक स्वपत्नी के साथ भी जितनी मर्यादा से रहता है, उतनी मर्यादा से ये नहीं रहते। इनके परस्त्रीगमन का त्याग केवल कायिक रूप से होता है। किन्तु सरकार द्वारा दण्डित हों, जनता में बदनाम एवं अप्रतिष्ठित हों, इस प्रकार का भी अब्रह्मचर्य-सम्बन्धी अपराध ये नहीं करते।

आज का विद्यार्थी वर्ग भी इसी स्तर के स्थूल ब्रह्मचर्य-पालकों की कोटि में आ जाता है। प्राचीनकाल में २५ वर्ष तक विद्यार्थी ब्रह्मचारी बनकर गुरुकुल में गुरुजनों के सान्निध्य में रहता था। तब विद्यार्थी निष्ठापूर्वक ब्रह्मचर्य की मर्यादाओं का पूर्णतया पालन करता था। एक बूंद वीर्यपात करना भी उस समय नैतिक अपराध समझा जाता था, किन्तु अब वैसे गुरुकुल या ब्रह्मचर्याश्रम भारत में बहुत ही अल्प रह गये। आज का विद्यार्थी वर्ग यौवन के द्वार पर आने से पूर्व ही कुसंग से, कुतूहलवृत्तिवश, दुष्ट नौकरों या मित्रों आदि के बहकावे में आकर या अन्य अप्राकृतिक उपायों से ब्रह्मचर्य भंग कर बैठता है। चारों ओर का पारिवारिक,

सामाजिक या विद्यालयीय वातावरण भी दूषित है। इसलिए निश्चितरूप से नहीं जा सकता कि आज के सभी विद्यार्थीगण या यौवनवय के आगमन से पूर्व तक के किशोर-किशोरीगण इस चतुर्थ स्तर में हैं। हाँ, कुछ विद्यार्थीगण या किशोर-किशोरीगण अवश्य हैं, जिनके लिए यह कहा जा सकता है कि वे अमुक अवधि तक ब्रह्मचर्य का, पूर्ण ब्रह्मचर्य का नैतिक दृष्टि से पालन करते हैं। वर्तमान युग के कॉलेजियन छात्र-छात्रागण अधिकांश रूप से अब्रह्मचर्य दोष से दूषित हो जाते हैं। उनके अभिभावक, संरक्षक या शिक्षक वर्ग भी इन छात्र-छात्राओं के चरित्र निर्माण की ओर कोई ध्यान नहीं देते। आर्थिक संकट, व्यर्थ प्रदर्शन तथा अपव्यय के इस युग में परिवार का गृहस्वामी प्रायः अर्थोपार्जन में व्यस्त रहता है, गृहस्वामिनी को पता ही नहीं रहता या वह बालकों के प्रति अत्यधिक लाड़-प्यार के मोह में ध्यान ही नहीं दे पाती कि उसके बालक-बालिकागण कहाँ जाते हैं, क्या करते हैं? अधिकांश माता-पिता तो अश्लील सिनेमा-नाटकों में अपने बालक-बालिकावर्ग को साथ मे ले जाते हैं। अथवा बच्चों के सामने भी वे कई बार कुचेष्टाएँ करते रहते हैं। उनका बालकों के कोमल मानस पर बहुत ही बुरा असर पड़ता है। किसान-मजदूरवर्ग या ग्रामीण अनपढ़ लोगों में तो अज्ञानता और भी अधिक है। वे तो अपने बालकों के चरित्र निर्माण के प्रति कोई ध्यान नहीं देते। जहाँ अधिकांश माता-पिता शराबी-मांसाहारी हों, स्वय ही अब्रह्मचर्य दोष से दूषित हों, वहाँ बालकों के पवित्र जीवन का तो भगवान ही रक्षक है, और फिर ग्रामीणवर्ग में तो अधिकांश लोग बचपन में ही अबोध अवस्था में अपने बालकों की शादी कर देते हैं, वहाँ उनसे पवित्रता की आशा कैसे रखी जा सकती है?

इसलिए चतुर्थ स्तर के ब्रह्मचर्य की साधना कितने लोग करते हैं? या किन व्यक्तियों की परिगणना इस कोटि के ब्रह्मचर्य में की जा सकती है? यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। कई उच्च कुलीन वर्ग के लोग जो देशविरति ब्रह्मचर्यव्रत से आबद्ध नहीं होते, किन्तु परम्परागत संस्कारवश मर्यादाओं का पालन करते हैं, या कई विधवा बहनें भी पूर्ण ब्रह्मचर्यव्रतबद्ध न होकर भी लोकलज्जावश या परम्परागत संस्कारवश ब्रह्मचर्य पालन करती है, उन्हें इस कोटि की ब्रह्मचर्य-साधना में परिगणित किया जा सकता है। □

११

ब्रह्मचर्य-सुरक्षा के मूलमंत्र : नववाड़

सुरक्षा : प्रधान कर्त्तव्य

ब्रह्मचर्य-साधक का जीवन एक उद्यान है, उसमें ब्रह्मचर्य एक कल्पवृक्ष के समान है जिसका सम्यक्त्वरूपी दृढ़ मूल है। नियमोपनियम तथा ब्रह्मचर्य की भावनाएँ, एवं नवविध गुप्तियाँ आदि उस वृक्ष के स्कन्ध व शाखा-उपशाखाएँ हैं। ब्रह्मचर्य-पालन के विविध स्तर अथवा आसन, प्राणायाम, आदि उसके पत्र हैं। दैविक सुख उसके पुष्प हैं और मोक्षसुख उसके फल। साधु-साध्वी जीवन-उद्यान में उत्पन्न इस ब्रह्मचर्य-कल्पतरु के प्रमुख माली या रक्षक हैं। इसके सहायक रक्षक हैं—श्रावक-श्राविकागण। जीवन के माली का प्रमुख कर्त्तव्य है कि वह उद्यान और उसमें उत्पन्न बहुमूल्य ब्रह्मचर्य-कल्पवृक्ष की प्राणप्रण से सुरक्षा करे। उसकी हर प्रकार से, किसी भी मूल्य पर रक्षा करे।

जो अपने उद्यान की सदैव प्रतिक्षण जागरूक और सावधान रहकर सुरक्षा करता है, निगरानी रखता है, उसी का उद्यान और कल्पवृक्ष सुरक्षित रहता है। वह सतत यह देखता रहता है कहीं इस ब्रह्मचर्य-कल्पतरु को कोई असंयमरूपी कीड़ा तो नहीं लग गया? कोई कामवासना रूपी आग स्मरण, कीर्त्तन आदि किसी भी रूप में आकर तो ब्रह्मचर्यवृक्ष को जलाने या भस्म करने में तो नहीं लगा हुआ है? कोई कामोत्तेजक विचारों का बवण्डर तो ब्रह्मचर्य को धराशायी या नष्ट-भ्रष्ट तो नहीं कर रहा है? पाँचों इन्द्रियों के दुर्विषयरूपी पशु उसकी शाखाओं को तोड़ने पर उतारू तो नहीं हो रहे हैं।

वीतराग जिनेश्वर प्रभु ने ब्रह्मचर्य-साधकों को ब्रह्मचर्य की सुरक्षा का कड़ा निर्देश दिया है और सुरक्षा के कुछ मूलमंत्र भी दिये हैं। अगर साधक उन्हें हृदयंगम करके ठीक सावधान एवं जाग्रत होकर चलें तो आसानी से ब्रह्मचर्य-साधना में सिद्धि प्राप्त कर सकते हैं।

सुरक्षा के दो मार्ग

जैनशास्त्रों में ब्रह्मचर्य की सुरक्षा पूर्णरूप से करने के लिए प्रमुख दो मार्ग बताये गये हैं—ज्ञानमार्ग और क्रियामार्ग। ज्ञान मार्ग का वर्णन पिछले खण्डों

में तथा इस खण्ड के पिछले प्रकरणों में किया गया है। यहाँ उसके क्रियात्मक मार्ग का वर्णन किया जाएगा। ज्ञानमार्ग कामवासना के संस्कारों को अन्तःकरण से निर्मूल करने और ब्रह्मचर्य को पूर्ण रूप से सिद्ध करने के लिए विविध तात्विक विचार एवं चिन्तन प्रस्तुत करता है। ज्ञानमार्ग ब्रह्मचर्य-साधक के काम-संस्कारों को निर्मूल करने का विधेयात्मक पक्ष उपस्थित करता है। वह ब्रह्मचर्य साधना को सरल और स्वाभाविक बनाने का मार्ग है। परन्तु क्रियामार्ग को अपनाये बिना अकेला ज्ञानमार्ग पंगु है। वह विरोधी काम-संस्कारों को उत्तेजित करने वाले संस्कारों, वातावरणों एवं निमित्तों से रोककर उसके स्थूल विकार-विष को ब्रह्मचर्य-साधक में प्रविष्ट नहीं होने देता। वह प्रायः ब्रह्मचर्य सुरक्षा का निषेधात्मक पक्ष प्रस्तुत करता है। जैन परिभाषा में कहें तो क्रियामार्ग द्वारा ब्रह्मचर्य औपशमिक भाव से सिद्ध होता है, जबकि ज्ञानमार्ग द्वारा वह क्षायिक भाव से सिद्ध होता है। वस्तुतः ज्ञानमार्ग की महत्वपूर्ण भूमिका तैयार करना क्रियामार्ग का कार्य है। यद्यपि क्रियामार्ग वस्तुतः अपूर्ण है, फिर भी ब्रह्मचर्य-सुरक्षा के लिए बहुत उपयोगी एवं अनिवार्य माना गया है। प्रत्येक ब्रह्मचर्य-साधक को साधना के प्राथमिक काल में इस मार्ग को अपनाना आवश्यक बताया गया है। क्रियामार्ग में बाह्य नियमों का समावेश होता है, जो प्रायः निषेधात्मक हैं। उन नियमों का नाम गुप्ति है। इन्हें आगमों में ब्रह्मचर्य-गुप्ति कहा गया है। गुप्ति का अर्थ है—सुरक्षा। इसे आधुनिक बोलचाल की भाषा में 'बाड़' भी कहा गया है। स्थानांग, अनगारधर्मामृत एवं उत्तराध्ययन आदि शास्त्रों में इन नौ गुप्तियों का वर्णन है। उत्तराध्ययन सूत्र में इन्हीं का दशविध ब्रह्मचर्य-समाधि-स्थान के रूप में विस्तृत वर्णन है।

ब्रह्मचर्य-सुरक्षा के लिए 'बाड़' आवश्यक

गाँव की सीमा पर किसी किसान का खेत बिना बाड़ का हो, अथवा किसी का बगीचा बिना बाड़ लगाया हुआ हो, तो उसमें आसानी से पशु घुसकर खेत या पौधों को नुकसान पहुँचा सकते हैं, चोर घुसकर फसल या फलों की चोरी कर सकता है। इसीलिए किसान अपने खेत की रक्षा के लिए और बागबान अपने बगीचे की रक्षा के लिए उसके चारों ओर काँटों की बाड़ लगा देता है, इसी प्रकार ब्रह्मचर्य-साधना के क्षेत्र में भी ब्रह्मचर्यरूपी बाल-पौधे की सुरक्षा के लिए बाड़[1] की नितान्त आवश्यकता है।

अन्यथा, इन्द्रियविषयरूपी पशु घुसकर ब्रह्मचर्यरूपी पौधे को नष्ट-भ्रष्ट कर सकते हैं। कामरूपी चोर चुपके से घुसकर ब्रह्मचर्यरूपी धन को चुरा सकता है। इसीलिए भगवान महावीर ने स्थानांग, उत्तराध्ययन आदि आगमों में समाधि गुप्ति

---

१. ब्रह्मचर्यस्य गुप्तयो रक्षाप्रकाराः, मैथुनविरतिपरिरक्षणोपायाः।

—स्था० समवा० टीका

अथवा बाड़ों का वर्णन करते हुए साधु-साध्वियों को उनका सावधानीपूर्वक पालन करने को कहा गया है कि इन ब्रह्मचर्य-गुप्तियों या समाधिस्थानों को सुनकर हृदयंगम करके साधु-साध्वियों को संयमबहुल, संवरबहुल, समाधिबहुल, गुप्त, गुप्तेन्द्रिय, गुप्त-ब्रह्मचारी और सदा अप्रमत्त होकर रहना चाहिए।[1]

जो साधक इन नौ गुप्तियों या दस ब्रह्मचर्यसमाधिस्थानों का यथाविधि पालन नहीं करता "उसको ब्रह्मचर्य के विषय में शंका, कांक्षा और विचिकित्सा उत्पन्न हो जाती है, अथवा उसका ब्रह्मचर्य आंशिक रूप से या सर्वांशतः भंग हो सकता है। उसे कामोन्माद हो सकता है, अथवा कामभोगों के अतिसेवन से ब्रह्मचर्य-भ्रष्ट होकर दीर्घकालिक रोगातंक से ग्रस्त हो सकता है, केवलिप्ररूपित धर्म से भ्रष्ट हो सकता है।"[2] इसलिए प्रत्येक साधु-साध्वी को या ब्रह्मचर्य-साधक को ब्रह्मचर्य-सुरक्षा के लिए बताये गये इन मूलमंत्रों का अक्षरशः पालन करना आवश्यक है। इसके अतिरिक्त प्रश्नव्याकरण, आचारांग आदि आगमों में ब्रह्मचर्य महाव्रत की सुरक्षा के लिए पांच भावनाओं का विशद निरूपण किया गया है।

ब्रह्मचर्य सुरक्षा के लिए निर्दिष्ट समाधिस्थान

उत्तरकालीन आचार्यों ने भी अपने-अपने ग्रन्थों में ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए इन उपायों का विविध प्रकार से उल्लेख किया है। बौद्ध-परम्परा में भी ब्रह्मचर्य की सुरक्षा के लिए सात प्रकार के उपाय बतलाये हैं। आगमों में निर्दिष्ट गुप्तियों तथा आचार्यों द्वारा निर्दिष्ट ब्रह्मचर्य-सुरक्षा के उपायों में कहीं-कहीं क्रमभेद अवश्य है, परन्तु उद्देश्य सबका एक ही है—ब्रह्मचर्य की सर्वांगीण सर्वतोमुखी सुरक्षा[3]।

उत्तराध्ययन सूत्र में गुप्तियाँ नौ कही गई हैं, उनके साथ एक नियम और जोड़ कर इन्हें ही दस ब्रह्मचर्य समाधिस्थान कहा गया है। इनमें से पहले नौ नियम ब्रह्मचर्य सुरक्षा के लिए बाड़ की तरह हैं और दसवाँ नियम उनके चारों ओर परकोटे की तरह है। वे दस ब्रह्मचर्य समाधिस्थान इस प्रकार हैं—

(१) विविक्त शयनासन का सेवन, स्त्री-पशु-नपुंसक आदि से संसक्त शयनासन का त्याग।

---

१ "जे भिक्खू सोच्चा निसम्म संजमबहुले संवरबहुले समाहिबहुले गुत्ते गुत्तिदिए गुत्त बंभयारी सया अप्पमत्ते विहरेज्जा।" —उत्तरा. अ. १६ प्रारम्भ

२ "·····बंभयारिस्स बंभचेरे संका वा कंखा वा वितिगिच्छा वा समुप्पज्जेज्जा, भेयं वा लभेज्जा, उम्मायं वा पाउणिज्जा, दीहकालियं वा रोगायंकं हविज्जा, केवलिपण्णत्ताओ धम्माओ वा भंसिज्जा। —उत्तरा. अ. १६

३ ब्रह्मचर्य-सुरक्षा के प्रसंग में यहाँ या अन्यत्र कहीं भी पुरुष ब्रह्मचारी के लिए स्त्री-संसर्ग का निषेध किया है, वहाँ स्त्री ब्रह्मचारिणी के लिए पुरुषसंसर्ग का निषेध समझना चाहिए। —संपादक

(२) स्त्रीकथा का परिहार।
(३) स्त्री के साथ एकासन का परिहार।
(४) स्त्रियों की मनोरम इन्द्रियों—अंगोपांगों के निरीक्षण का परिहार।
(५) स्त्रियों के नाना प्रकार के मोहक शब्दों को सुनने का परिहार।
(६) पूर्वक्रीड़ा-स्मरण का त्याग।
(७) रसस्निग्ध (प्रणीत) आहार का परिहार।
(८) अतिमात्रा में भोजन-पान का परिहार।
(९) शरीर शृंगार और विभूषा का परिहार।
(१०) शब्द-रूप-रस-गन्ध और स्पर्शरूपी विषयों के सेवन का परिहार।

अब हम इसी क्रम के अनुसार प्रत्येक गुप्ति या समाधिस्थान का विश्लेषण कर रहे हैं, जिससे प्रत्येक कोटि का ब्रह्मचर्यसाधक व साधिका इनका पालन करके अपने ब्रह्मचर्य को विशुद्ध एवं सुरक्षित रख सके।

(१) स्थान-संयम : विविक्त शयनासन-सेवन

ब्रह्मचारी-साधकवर्ग को अपने जीवन की सुरक्षा के लिए, संयम-पालन के लिए तथा शरीर को स्वस्थ एवं सक्षम रखने के लिए शान्त, एकान्त, पवित्र, कोलाहल-रहित आवास स्थान की नितान्त आवश्यकता रहती है, ताकि वह शर्दी, गर्मी, धूप एवं वर्षा से भी बच सके और अपनी संयम साधना भी भलीभाँति कर सके। इसी लिए प्रथम गुप्ति का नाम 'विविक्त शयनासन' दिया है।

विविक्त के तीन अर्थ यहाँ अभिप्रेत हैं—(१) एकान्त, (२) जनसम्पर्करहित और (३) पवित्र।

ब्रह्मचारी साधकों के लिए देवी, मानुषी या तिर्यंच स्त्री-संसर्ग या ऐसे प्राणी (पशु या नपुंसक) जो कि स्वच्छन्द रूप से कामक्रीड़ा करते हों, उनके संसर्ग से युक्त निवासस्थान इसलिए वर्जित किया गया है कि ऐसे स्थान में रहने से ब्रह्मचारी साधक का मन विचलित हो सकता है। इसलिए यहाँ विविक्त की व्याख्या की गई है—स्त्री-पशु-नपुंसक से असंसक्त[1] स्थान। अर्थात्—जहाँ स्त्रियाँ रहती हों, सोती-बैठती हों, पुनः-पुनः उनका आगमन होता हो, जहाँ महिलाएँ शृंगार करती, नहाती-धोती दिखाई देती हों, जहाँ वेश्याएँ या कामुक स्त्रियाँ रहती हों अथवा गृहस्थ अपनी पारिवारिक स्त्रियों के साथ जिस मकान में रहता हो, जहाँ पशु-पक्षियों को बाधा जाता हो, रखा जाता हो या रहते हों, अथवा जहाँ नपुंसकों का निवास स्थान हो, ऐसे स्थान में—ऐसे मकान में ब्रह्मचर्य-साधक को नहीं रहना चाहिए। स्त्रीजनों से

---

१ णो इत्थी-पसु-पंडग-संसत्ताइं सयणासणाइं सेवित्ता। —उत्तरा. अ. १६

अनाकीर्ण—घिरा हुआ न हो, ऐसे मकान या शयनासन को भी विविक्त कहा गया है।[1]

शयन का अर्थ है—शयनीय कक्ष, आवास स्थान, अथवा पट्टा, या संस्तारक (बिछौना) आदि शयनीय उपकरण, और आसन का अर्थ है—चौकी (बाजोट या पादपीठ), बैठने का आसन आदि। इस सन्दर्भ में विविक्त का अर्थ होता है—जिस पट्टे, चौकी, बिछौने, आसन आदि से स्त्री का संस्पर्श हो, वह वर्ज्य है।[2]

प्रश्नव्याकरण सूत्र में उक्त प्रथम भावना के गम्भीर अर्थ के अनुसार—जहाँ मोह और रति (काम-राग) को बढ़ाने वाली स्त्रियों का बार-बार आवागमन हो और जहाँ नाना प्रकार की मोहजनक स्त्रीकथाएँ होती हों—ऐसे सब स्थान ब्रह्मचारी के लिए वर्जनीय हैं। जिन स्थानों में मन विभ्रम को प्राप्त होता हो, सम्पूर्ण रूप से या आंशिक रूप से ब्रह्मचर्य भंग होने की आशंका हो और अपध्यान (आर्त्तध्यान-रौद्र-ध्यान) उत्पन्न होता हो, ऐसे (अपवित्र एवं दूषित) स्थानों में रहना, बैठना, सोना या आना-जाना पापभीरु ब्रह्मचारी साधक-साधिका के लिए वर्जित है।[3] जहाँ स्त्रियों के रागरंग, नृत्य होते हों, सुरीले कामोत्तेजक गायन होते हों, वेश्या आदि कामुक स्त्रियों की महफिल हो, ऐसे स्थान अपवित्र और दूषित होते हैं। ऐसे स्थानों में रहने से ब्रह्मचर्य-साधक की साधना में भी विक्षेप पड़ेगा और उसका ब्रह्मचर्य भी दूषित हो जाएगा।

कामविजेता स्थूलभद्र मुनि के गुरुभाई सिंहगुफावासी मुनि ने ईर्ष्यावश गुरुजी से आग्रह करके कोशावेश्या की चित्रशाला में चातुर्मास करने की आज्ञा प्राप्त कर ली। कोशावेश्या से आज्ञा प्राप्त कर वह उसकी चित्रशाला में ठहर गया। अपने को पूर्ण जितेन्द्रिय और कामविजयी समझने वाला मुनि कोशा के स्वाभाविक सौन्दर्य को देखकर प्रथम रात्रि में ही कामविह्वल हो गया और कोशा से विषयभोग की प्रार्थना करने लगा। विषयभोगों से विरक्त एवं स्वयं ब्रह्मचर्य पर दृढ़ कोशा श्राविका ने उस मुनि को नेपाल से रत्नकम्बल ला देने के बहाने से विविध ब्रह्मचर्य-पोषक उपदेशों से प्रतिबोध देकर पुनः ब्रह्मचर्य में स्थिर किया।[4] इसीलिए ऐसे अविविक्त स्थान में निवास का निषेध किया गया है।

---

१ जं विवित्तमणाइण्णं रहियं थीजणेण य।
बंभचेरस्स रक्खट्ठा आलयं तु निसेवए॥ —उत्तरा. अ. १६-१

२ शय्यते येषु तानि शयनानि च फलक-संस्तारकादीनि, आस्यते येषु तान्यासनानि पादपीठ-पुञ्छनादीनि। शयनासनानि उपलक्षणत्वात् स्थानानि।
—उत्तरा. अ. १६ बृहद्वृत्ति

३ जत्थ इत्थियाओ अभिक्खणं मोहदोसरइराग वड्ढणीओ कहंति य कहाओ बहु-विहाओ, तं वि हु बज्जणिज्जा। जत्थ मणोविब्भमो वा, भंगो वा भंसणा वा अट्टं सद्दं च हुज्जझाणं, तं तं वज्जेज्ज वज्जभीरू।—प्रश्नव्याकरण २-४ प्रथम भावना

४ उत्तराध्ययन सूत्र अ. २, गा. १७ की नेमिचन्द्रीय टीका के आधार पर संक्षिप्त।

आचारांगसूत्र में ब्रह्मचर्यमहाव्रत की पंचम भावना में स्त्री-पशु-नपुंसक से संसक्त स्थान के सेवन का दुष्परिणाम बताते हुए कहा गया है—"केवली भगवान् ने कहा है—निर्ग्रन्थ के द्वारा स्त्री-पशु-नपुंसक से संसक्त शयनासनादि के सेवन से (मानसिक) शान्ति छिन्न-भिन्न हो जाती है, शान्ति विशेषरूप से भंग होती है, और वह निर्ग्रन्थ केवलि-प्ररूपित धर्म से भ्रष्ट हो जाता है।"[1]

उत्तराध्ययन सूत्र में इसे एक उपमा द्वारा समझाया गया है—"जैसे बिल्ली के निवास के मूल (समीप) में चूहों का रहना शुभ नहीं—खतरे से खाली नहीं, उसी प्रकार जिस मकान में स्त्रियों का निवास हो, उस स्थान में ब्रह्मचारी साधक का निवास क्षम्य नहीं, अथवा क्षेमकुशलयुक्त नहीं।"[2] दशवैकालिक सूत्र में इसका गम्भीर कारण प्रस्तुत करते हुए कहा गया है—"जैसे मुर्गी के बच्चे को बिल्ली से सदैव भय रहता है, वैसे ही ब्रह्मचारी को सदैव स्त्री-शरीर से भय रहता है।"[3] यही कारण है कि शास्त्र में ब्रह्मचारी के लिए स्त्री-संस्पर्श, स्त्रीसंसर्ग, स्त्री के साथ एकान्त में वार्तालाप, आलाप-संलाप, हास्य, क्रीड़ा, मोहक शब्दों से सम्बोधन, स्त्री का काम-वासना की दृष्टि से स्मरण आदि सर्वथा वर्जित बताया गया है।

विविक्त की व्याख्या के सन्दर्भ में उत्तराध्ययन सूत्र में अकेले साधु को अकेली स्त्री से संलाप करने तथा निकट खड़े होने का भी निषेध करते हुए कहा है—"काम-गृहों अथवा घर की कुटी में, घरों की सन्धियों में, और राजमार्ग में अकेला साधु अकेली स्त्री के साथ न खड़ा हो और न उसके साथ संलाप करे।"[4]

युवती के संसर्ग का तो कहना ही क्या, दशवैकालिक सूत्र में सौ वर्ष की बुढ़िया का संसर्ग भी वर्जनीय बताया गया है— 'जिसके हाथ-पैर एवं कान-नाक कटे हुए हैं, ऐसी सौ वर्ष की वृद्धा नारी की संगति, एकान्त में मिलन, वार्तालाप आदि से ब्रह्मचारी को दूर रहना चाहिए।'[5] किसी युवती या सुन्दरी (फिर भले ही वह बहन या पुत्री ही क्यों न हो) के साथ साधु को एकान्त में बैठे देखकर ब्रह्म-

---

१ केवली बूया—णिग्गंथेणं इत्थीपसुपंडगसंसत्ताइं सयणासणाइं सेवमाणे संतिभेया, संतिविभंगा केवलिपण्णत्ताओ धम्माओ भंसेज्जा। —आचा. श्रु. २, अ. १५

२ जहा विरालावसहस्स मूले, न मूसगाणं वसही पसत्था।
एमेव इत्थीनिलयस्स मज्झे, न बंभयारिस्स खमो निवासो॥ —उत्तरा. ३२-१३

३ जहा कुक्कुडपोयस्स, निच्चं कुलओ भयं।
एवं खु बंभयारिस्स, इत्थीविग्गहओ भयं॥ —दशवै. ८-५४

४ समरेसु आगारेसु संधिसु य महापहे।
एगोएगत्थिए सद्धिं नेव चिट्ठे न संलवे॥ —उत्तरा. १-२६

५ हत्थपायपडिच्छिन्नं कण्णनासविकप्पियं।
अवि वाससयं नारीं बंभयारी विवज्जए॥ —दशवै. ८-५६

चारी के प्रति लोगों को शंका उत्पन्न होती है, वे भ्रमवश भी उसके विषय में निन्दा या टीका-टिप्पणी करने लगते हैं।

सूत्रकृतांगसूत्र में तो स्पष्ट कहा गया है कि "किसी स्त्री के साथ एकान्त में बैठे हुए साधु को देखकर उस स्त्री के ज्ञातिजनों और सुहृदों के चित्त में (उक्त साधु के प्रति) अप्रिय (अप्रीति) उत्पन्न होता है। वे समझते हैं कि जैसे दूसरे पुरुष काम में आसक्त रहते हैं, इसी प्रकार यह साधु भी काम-भोगों में आसक्त है। इसलिए वे फिर क्रुद्ध होकर कहने लगते हैं—तू इस (स्त्री) का भरण-पोषण भी कर, क्योंकि तू ही (अब) इसका (प्रेमी) पुरुष है।"[1]

स्त्री के स्थान में निवास या संसर्ग से खतरा बताते हुए सूत्रकृतांग में कहा गया है—"जिस प्रकार अग्नि के निकट लाख का घड़ा गल जाता है, उसी प्रकार विद्वान् पुरुष भी स्त्री के निकट बैठने, उठने, रहने और वार्तालाप करने आदि के सम्पर्क से पतित और विषण्ण हो जाता है।"[2]

अविनीत 'कूलबालुक' वेणी नदी के तट पर तापस आश्रम में रहता था। वह अपने आपको शुद्ध संयमी और पक्का ब्रह्मचारी समझता था। उसकी तपस्या से चमत्कृत होकर लोग उसकी सेवा-पूजा करने लगे। एक बार कोणिक नृप के आदेश से मागधिका गणिका भक्ता के वेष में उसे भ्रष्ट करने के लिए वहाँ आई। गोचरी के बहाने उसे अपने डेरे पर ले गई और औषधि मिश्रित आहार उस दे दिया, जिसे खाने से उसे वस्त्र में ही दस्तें लगने लगीं। वह मूर्च्छित एवं निढाल होकर पड़ गया। मागधिका उसके पास जाकर उसकी परिचर्या करने लगी। उसके अंगोपांगों को मल-मल कर धोने लगी। कूलबालुक होश में आया तो मागधिका ने उसे पकड़कर उठाया। स्त्रीस्पर्श के कारण पहले तो वह चौंका, किन्तु मागधिका की वचन-चातुरी, हाव-भाव एवं मधुर वचनों से वह उस पर मोहित हो गया। मागधिका के निकट सम्पर्क के कारण भ्रष्ट हो गया।[3]

इसीलिए मनुस्मृति अध्याय २ में कहा गया है—

अविद्वांसमलं लोके विद्वांसमपि वा पुनः।
प्रमदा ह्युत्पथं नेतुं कामक्रोधवशानुगम् ॥ १ ॥
मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा, न विविक्तासनो भवेत्।
बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति ॥ २ ॥

---

१. "अदु नाइणं च सुहीणं वा, अप्पियं दट्ठु एगया होई।
गिद्धा सत्ता कामेहिं, रक्खणपोसणे, मणुस्सोऽसि ॥ —सूत्रकृतांग १/४/१/१४

२. अउकुम्भे जहा उवज्जोई, संवासे विऊ विसीएज्जा ॥ —सूत्रकृतांग १/४/१/२६

३. उत्तराध्ययनसूत्र अ. १, गा. ३ की नेमिचन्द्रीय टीका के आधार पर संक्षिप्त।

अर्थात्—मैं विद्वान् या जितेन्द्रिय हूँ, ऐसा समझकर स्त्रियों के निकट नहीं बैठना चाहिए; क्योंकि विद्वान् हो या मूर्ख देहधर्म से काम-क्रोध के वशीभूत शरीर को स्त्रियाँ कुमार्ग पर ले जाने में समर्थ हैं।

इसलिए माता हो, बहन हो या पुत्री हो, इनके साथ भी ब्रह्मचारी एकान्त स्थान में न बैठे। क्योंकि इन्द्रियों का अत्यन्त प्रबल समूह विद्वान् को भी पथ विचलित कर अपनी ओर बलात् खींच ले जाता है।

इसीलिए उत्तराध्ययन सूत्र में निर्ग्रन्थ मुनि के लिए विविक्तवास को श्रेष्ठ बताते हुए कहा है—"यद्यपि मन, वचन और काया से गुप्त जिस परम संयमी को विभूषित देवांगनाएँ भी काम से विक्षुब्ध नहीं कर सकतीं, तथापि उस मुनि के लिए भी एकान्तवास ही हितकर जानकर स्त्री आदि से रहित शान्त, एकान्त, पवित्र स्थान में निवास करना ही श्रेष्ठ है।"[1]

इस प्रकार ब्रह्मचर्य सुरक्षा के लिए अत्यन्त हितकर इस बाड़ को हम 'स्थान-संयम' कह सकते हैं।

(२) कथासंयम : स्त्रीकथा-परिहार

जिस प्रकार स्त्री आदि से संसक्त आवास ब्रह्मचर्य के लिए खतरनाक है, उसी प्रकार स्त्री-कथा[2] भी ब्रह्मचर्य के लिए खतरनाक है। उत्तराध्ययन सूत्र में इसकी व्याख्या इस प्रकार की गई है—ब्रह्मचर्यरत भिक्षु मन में आल्हाद (चंचलता) उत्पन्न करने वाली एवं कामराग बढ़ाने वाली स्त्री-विषयक-कथाएँ न करे। स्त्रीकथा की दो व्याख्याएँ शास्त्र में मिलती हैं—(१) स्त्रियों के अंगोपांग, रूप, हाव-भाव, विलास, वस्त्राभूषण, चाल-ढाल आदि की कथा करना, (२) केवल स्त्रियों के बीच बैठकर कथा करना। साधु के पास शास्त्रीय ज्ञान और अनुभव ज्ञान होता है, वही उसके दर्शन और चारित्र के ह्रास को रोकने तथा इनकी वृद्धि में सहायक बनता है। किन्तु साधु के द्वारा उस ज्ञान का प्रयोग जब दूसरों के कल्याण का कारण न होकर अपने ही चारित्र के विनाश का कारण बनने लगे, तब उसे आत्मचिन्तन और आत्म-निरीक्षण करना चाहिए। यद्यपि साधु का उपदेश सबके लिए है, किन्तु वह काम और मोह से प्रेरित होकर अपना उपदेश एकान्त में—केवल स्त्रियों के बीच बैठकर न करे, अथवा त्याग-वैराग्य के उपदेश के बदले कामवर्द्धक विचित्र बातें न सुनाए, या अमुक नारी चन्द्रमुखी है, मृगनयनी है, उसकी वेणी सर्पिणी की तरह काली है, उसकी नासिका दीपशिखा के सदृश है, उसके अधर प्रवाल के रंग के समान हैं, उसका स्वर

---

१. कामं तु देवीहि विभूसियाहिं, न चाइया खोभइउं तिगुत्ता।
तहा वि एगंतहियं ति नच्चा, विवित्तवासो मुणिणं पसत्थो॥—उत्तरा. ३२/१६

२. नो इत्थीणं कहं कहित्ता हवइ से निग्गंथे। —उत्तरा० १६/२

कोयल का सा मधुर है, उसके हाथ-पैर कमल-दल या कदली स्तम्भ के समान सुन्दर हैं, उसकी चाल हंसिनी की तरह है, उसका कटि प्रदेश सिंह की तरह पतला व लचकीला है, उसकी कुक्षि अति सुन्दर है, इस प्रकार स्त्रियों के अंगोपांग, वर्ण एवं सौन्दर्य का प्रशंसात्मक वर्णन ब्रह्मचारी साधक न करे।

इस द्वितीय बाड़ की विशद व्याख्या प्रश्नव्याकरण सूत्र में वर्णित ब्रह्मचर्य महाव्रत की दूसरी भावना में इस प्रकार मिलती है—"ब्रह्मचारी स्त्रीजन के बीच में उनके हाव (मुख विकार), भाव (चित्तविकारज), विभ्रम (नेत्रजन्य चेष्टा) और विब्बोक (दोनों भौंहों से होने वाली अभिमानजन्य अनादरपूर्ण चेष्टा) तथा विलास (स्त्रियों के गमनादि के तथा हाथ, भौंह व नेत्र की स्नेह युक्त क्रिया) से युक्त कथाएँ न कहे। अथवा हास्यरस एवं शृंगाररस-प्रधान मोह उत्पन्न करने वाली लौकिक कामुक-कथाएँ भी न करे। तथा मोहोत्पादक नवविवाहित वर-वधू को बुलाने की या विवाह की कथा भी नहीं करनी चाहिए। अथवा स्त्रियों की सुन्दरता और कुरूपता से सम्बन्धित या भाग्यशालिनी होगी या अभागिनी या सुहागिन होगी या विधवा? इससे सम्बन्धित बातें भी नहीं कहनी चाहिए। इसके अतिरिक्त महिलाओं के आलिंगन आदि ६४ गुणों, अथवा नृत्य, गीत, औचित्य आदि ६४ महिलागुणों या वात्सायन कामसूत्र आदि में प्रसिद्ध आसन आदि ६४ भेदों का वर्णन भी नहीं करना चाहिए। ब्रह्मचारी को स्त्रियों से सम्बन्धित वर्ण, देश, जाति, कुल, रूप, नाम, नैपथ्य (पोशाक) और परिवार की कथा भी नहीं करनी चाहिए। तथा शृंगार-रस के कारण मोह उत्पन्न करने वाली (कामोत्तेजक) कथाएँ भी नहीं करनी चाहिए। ये और इसी प्रकार की अन्य जो तप, संयम और ब्रह्मचर्य का आंशिक रूप से या पूर्ण रूप से विघातक हों, वे कथाएँ ब्रह्मचर्य का अनुसरण करने वाले ब्रह्मचारी साधक को न कहनी चाहिए, न सुननी चाहिए और न ही मन में इनका चिंतन करना चाहिए।"[1]

---

१ (क) णारीजणस्स मज्झे ण कहियव्वा कहा विचित्ता, विब्बोय-विलास संपउत्ता, हास-सिंगार लोइय कहव्व, मोहजणणी कहाओ सिंगारकलुणाओ·····

—प्रश्नव्याकरण २/४

(ख) स्त्रियों की वर्णादि से सम्बन्धित कथाएँ, यथा—**वर्णकथा**—कर्णाटिका बहुत सुन्दरी होती है। **देशकथा**—लाटी कोमलवचना व रतिनिपुणा होती है। **जातिकथा**—ब्राह्मणियाँ विधवा होने पर मृतवत् है। **कुलकथा**—पति की मृत्यु के बाद प्रेमरहित चालुक्य-पुत्रियाँ भी आग में कूद पड़ती हैं। **रूपकथा**—वह चन्द्रमुखी है। **नामकथा**—सुन्दरी नाम के अनुसार वास्तव में सुन्दरी है। **नैपथ्य कथा**—उत्तर भारत की नारियों को धिक्कार है जो अपने अंग सौष्ठव को बहुत-से वस्त्रों से ढक लेती हैं। **परिजनकथा**—उस की दासियाँ भी सुन्दर और वचन निपुण होती हैं। ऐसी कथाएँ साधु के लिए वर्जित हैं। —संपादक

केवल स्त्रियों के बीच में या स्त्रियों से सम्बन्धित उपर्युक्त प्रकार की रूपादि प्रशंसक कथाएँ करने से सुनने से या चिन्तन करने से ब्रह्मचर्य साधक के मन के परिणाम शीघ्र ही उसी प्रकार विचलित हो जाते हैं, जिस प्रकार नींबू (फल) का वर्णन सुनने या चिन्तन करने से मुँह में पानी छूटने लगता है। नारी के रूप की प्रशंसा करने या सुनने से विषय विकार की वृद्धि होती है, स्त्रियों के रूपादि को कहने या श्रवण करने से ज्ञान-ध्यान से मन उचट जाता है, मन में अधीरता पैदा होती है, अपने या दूसरे के भ्रष्ट होने की आशंका होती है।

मल्लिकुमारी के रूप की प्रशंसा सुनकर छह राजाओं के परिणाम विचलित हो गये। उन्होंने मन ही मन मल्लिकुमारी को किसी भी तरह पाने की ठान ली और मिथिला नगरी पर एक साथ चढ़ आए। बात तनातनी में परिवर्तित हो गई। यह तो अच्छा हुआ कि मल्लिकुमारी ने सब कामान्ध राजाओं को युक्तिपूर्वक प्रतिबोध देकर सांसारिक विषय-भोगों से विरक्त कर दिया।[1]

स्त्री कथा सुनने-कहने से अनेक साधक ब्रह्मचर्य से भ्रष्ट हो चुके हैं। अनेकों कामुक व्यक्तियों ने उन स्त्रियों को पाने के लिए भयंकर युद्ध और नर-संहार किया। इतिहास इस बात का साक्षी है।

आचारांग सूत्र में इस बाड़ के पालन करने के लिए ब्रह्मचर्य व्रत की पहली भावना के सन्दर्भ में इस प्रकार की स्त्री विकथा बार-बार कहने से शान्ति भंग एवं धर्म-भ्रष्ट होने का खतरा बताया है।[2]

अतः ब्रह्मचर्य-साधक मोह एवं कामराग बढ़ाने वाली जितनी भी बातें हैं उन्हें न तो उच्चारण करे, न ही कहे-सुने, और न मन में चिन्तन करे। इसीलिए इस गुप्ति को हम कथा-संयम कह सकते हैं।

(३) संस्पर्श-संयम : निषद्यानुपवेशन

यह तीसरी बाड़ या गुप्ति है। इसका अर्थ है—ब्रह्मचर्य-साधक को नारी के साथ एक आसन (पट्टे, चटाई, चौकी, बिछौने, आसन या किसी भी बैठने के उपकरण) पर न बैठना चाहिए। एक आसन पर बैठने से नारी का संस्पर्श या शरीर-संसर्ग होने से विषय रस की जागृति होती है। विषय-रस की जागृति से ब्रह्मचर्य व्रत सर्वथा भंग हो जाता है।

कई व्यक्ति द्वेषवश या आशंकावश ऐसे व्यक्ति पर मिथ्या कलंक लगा देते हैं तथा उसके विषय में नई-नई बातें गढ़कर मिथ्या-प्रचार करते हैं।

---

१ ज्ञाताधर्मकथांग अ. ८ के आधार पर।

२. आचारांग २:१५ चौथे व्रत की प्रथम भावना।

स्त्रीवेद और पुरुषवेद के पुद्गलों का परस्पर ऐसा कोई आकर्षण है कि उन पुद्गलों के स्पर्श से परस्पर विकार उत्पन्न होने की सम्भावना रहती है। नारी-वेद के पुद्गलों के स्पर्श से पुरुष में काम-राग उत्पन्न हो जाता है और पुरुषवेद के पुद्गलों के स्पर्श से नारी में। इसी प्रकार संसर्ग से परस्पर वेद-विकार उत्पन्न हो जाने की सम्भावना है। अतः इन पुद्गलों के स्पर्श से बचना ब्रह्मचारी साधक के लिए उपयोगी और आवश्यक माना गया है। अन्यथा, स्त्री-स्पर्श से कामराग उत्पन्न हो जाने पर ब्रह्मचारी भोग में अनुरक्त हो जाता है। इससे व्रत भंग होने की सम्भावना है। अतः ब्रह्मचारी को वेदस्वभाव को ध्यान में रखकर न तो नारी का स्पर्श करना चाहिए, और न ही उसके साथ एक आसन पर बैठना चाहिए, बल्कि जिस स्थान या आसन पर स्त्री बैठी हो, उस स्थान पर ब्रह्मचारी को तुरन्त नहीं बैठना चाहिए। अगर बैठना ही पड़े तो अन्तर्मुहूर्त के पश्चात बैठे।

उत्तराध्ययन-सूत्र के टीकाकार आचार्य नेमिचन्द्र के अनुसार यह साम्प्रदायिक परम्परा है। इसका कारण वेद-स्वभाव या प्रकृति है।[1]

आज के विज्ञान ने यह सिद्ध कर दिया है कि कोई व्यक्ति किसी स्थान पर बैठा है, लेटा है तो वह स्थान छोड़ने के कुछ देर तक उस स्थान पर उसके शरीर से निसृत गंध आदि के पुद्गल उस वातावरण में व्याप्त रहते हैं। इसी आधार पर अपराध-विज्ञानी अपराधी के शरीर की गंध आदि से उसकी खोज कर लेते हैं तथा कुत्ते उस स्थान को सूंघकर गंध के पीछे-पीछे जाकर अपराधी का पता लगा लेते हैं।

कई लोग अपने आप को महान् तपस्वी, कठोर क्रियाकाण्डी एवं उच्चकोटि के साधक मानकर सोचते हैं कि क्या हो गया, किसी स्त्री ने हमें छू लिया तो, या हमारे पास में सटकर बैठ गई तो? किन्तु जैसे कठोर से कठोर लोहे को भी अग्नि से स्पर्श करा देने पर वह उसे गला देती है, उसी तरह सूत्रकृतांग के अनुसार कोई चाहे कितना ही बड़ा तपस्वी क्यों न हो, यदि स्त्री स्पर्श करता है, या स्त्री उसके पास सटकर बैठती है और वह उस समय मन से रस लेता है तो उसका मनोबल क्षीण हुए बिना नहीं रहता।[2]

दशवैकालिक सूत्र में इसका सख्त निषेध करते हुए कहा है—आत्मगवेषक ब्रह्मचारी साधक के लिए स्त्री-संसर्ग (स्त्रीसंस्पर्श) तालपुट विष[3] के समान घातक है। माता, बहन या पुत्री के प्रति भी यही नियम समझना चाहिए। ब्रह्मचारी उन्हें भी अपने साथ एक आसन पर न बैठाए, न ही स्पर्श करे।

---

१ नो स्त्रीभिः सार्द्धं सन्निषद्या-पीठाद्यासनं तद्गतः सन् विहर्त्ता-अवस्थाता भवति, कोऽर्थः? ताभिः सहैकासने नोपविशेत् उत्थितास्वपि तासु मुहूर्त्त तत्र नोपवेष्टव्य-मिति सम्प्रदायः। —उत्तरा. नेमि० टीका पृ. २२०

२ ....सुतवस्सिए वि भिक्खू, नो विहरे सह णमित्थीसु।—सूत्रकृतांग १ : ४।१।१२

३ "....इत्थिसंसग्गो....नरसत्तगवेसिस्स विसं तालउडं जहा।" —दशवै० ८।५७

ब्रह्मचारी का ब्रह्मचर्य के साथ जो दृढ़ मनोयोग रहता है वह नारी के साथ एक आसन पर बैठने से या स्त्री-संसर्ग से उसी तरह शिथिल हो जाता या टूट जाता है, जिस तरह काचर और कोहले को काट कर आटे के साथ गूंथने से आटा लसरहित हो जाता है। नारी के स्पर्श से, संसर्ग से अथवा उसके साथ एकासन पर बैठने से ब्रह्मचारी साधक का पतन किस क्रम से हो सकता है, इसका मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विश्लेषण करें तो—एक आसन पर बैठने से संसर्ग होता है, संसर्ग से स्पर्श और स्पर्श से कामवासना में आसक्ति पैदा होती, आसक्ति से भोगेच्छा होती है, तदुपरांत संयोग की सम्भावना प्रबल हो जाती है। इस प्रकार ब्रह्मचर्य का सम्पूर्ण नाश होने की सम्भावना है।[1]

चित्त और सम्भूति मुनि को मासखमण के पारणे के दिन भिक्षार्थ नगर में भ्रमण करते देख नमूची ने द्वेषवश अपमानित कर नगर से बाहर निकाल दिया। इस पर दोनों मुनियों ने अनशन कर लिया। तप के प्रभाव से सम्भूति मुनि को तेजोलेश्या की लब्धि उत्पन्न हो गई। क्रोधावेश में लब्धि के प्रभाव से सारा नगर धूम्राच्छादित हो गया। जनता और सनत्कुमार चक्रवर्ती भयभीत हुए। चक्रवर्ती अपनी रानी श्रीदेवी के साथ मुनि के पास आए, पुनः पुनः क्षमायाचना की, श्रीदेवी ने मस्तक झुका कर मुनिवर के चरणस्पर्श किये। श्रीदेवी के कोमल एवं मनोहर केशों के शीतल स्पर्श से सम्भूति मुनि का चित्त विचलित हो गया। श्रीदेवी के रूप-लावण्य पर मुग्ध हो उसने तपश्चर्या के फलस्वरूप अगले भव में चक्रवर्ती बनने का नियाणा किया। फलतः वह आगामी भव में चक्रवर्ती बनकर काम-भोगों में अतीव आसक्त हुआ। इस भयंकर पतन के कारण मरकर वह नरक में गया। यह है स्त्री-संस्पर्श का दुष्परिणाम, जिसने महातपस्वी का भयंकर पतन कर दिया।[2]

इसीलिए ब्रह्मचर्य के नैष्ठिक और तपे-तपाए साधक भी स्त्री-संस्पर्श एवं संसर्ग से सदैव बचते आए हैं, कदाचित् भूल से कोई स्त्री भक्तिवश स्पर्श भी कर लेती है तो वे उसका प्रायश्चित्त ग्रहण कर शुद्धि कर लेते हैं। जैन परम्परा में तो यह नियम साधकों के लिए है ही पर वैदिक परम्परा में भी ऐसा ही विधान है।

हरिद्वार में एक दिन स्वामी दयानन्द सरस्वती गंगा नदी के तट पर आँखें मूँदकर ध्यान कर रहे थे, तभी एक महिला ने नदी में स्नान करके भीगे केशों सहित वहाँ आकर भक्तिवश उनके चरणों में अपना सिर नवा दिया। स्वामी दयानन्द इस अप्रत्याशित स्त्री-स्पर्श से एकाएक चौंके और 'अरे मैया, अरे मैया! यह क्या कर रही हो?' कहते हुए एकदम वहाँ से उठे और एक एकान्त स्थान में जाकर वहाँ परमात्म-स्तुति करते हुए तीन दिन तक उपवासरत रहे।

---

१. तुलना कीजिए—गीता के अ. ११/६२-६३ श्लोक से—'ध्यायतो विषयान्पुंसः····
२. उत्तराध्ययन अ. १३ की आचार्य नेमिचन्द्रीय टीका के आधार पर

ब्रह्मचारी साधक को स्त्रीसंस्पर्श, संसर्ग के प्रत्येक प्रसंग से बचना चाहिए।

द्वितीय व्याख्या—तृतीय बाड़ की एक और व्याख्या आगमों के परिशीलन से उपलब्ध होती है। वह है—स्त्रियों के साथ संस्तव (अत्यधिक परिचय या स्तुति) न करना; तथा उनके साथ बार-बार आलाप-संलाप न करना।

उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया है—"ब्रह्मचर्य में रत भिक्षु स्त्रियों के साथ संवास, अत्यधिक परिचय, एवं बार-बार घुट-घुटकर वार्तालाप का सदैव परिवर्जन करे।"[1] इसकी व्याख्या के सन्दर्भ में आचारांग सूत्र में कहा गया है—"ब्रह्मचर्य-साधक स्त्रियों के साथ अपना परिचय-प्रसार (वृद्धि) न करे, उनसे ममता न करे, (मोहभाव से) उनका आगत-स्वागत न करे, उनसे बात करने में वचन-गुप्त रहे। वह अपने मन को संवृत (वश) करके सदा पापाचार (असंयमाचरण) से दूर रहे।"[2] इतना ही नहीं, ब्रह्मचारी अनगार को अपने भूतपूर्व कुटुम्ब की महिलाओं से भी अधिक परिचय करने का निषेध एवं उसके दुष्परिणाम की चर्चा करते हुए सूत्रकृतांग में कहा गया है—चाहे पुत्री हो, पुत्रवधू हो, धायमाता हो, दासी हो, बड़ी उम्र की महिला हो, अथवा कुमारी हो, अनगार उनके साथ संस्तव—अधिक मेलजोल या सम्पर्क न करे।"[3] जो स्त्रियों के साथ अत्यधिक परिचय या मेलजोल करता है, वह समाधि-योगों से भ्रष्ट हो जाता है।"[4]

स्त्रियों के भाव-सम्पर्क-संस्पर्श एवं द्रव्य-सम्पर्क-संस्पर्श का निषेध करते हुए सूत्रकृतांग में कहा गया है—"ब्रह्मचारी साधक स्त्रियों के प्रति नेत्र न साधे (टकटकी न लगाए), उनके साथ कुकर्म का साहस न करे, उनके साथ विहार भी न करे। इस प्रकार स्त्री-संग से बचने से आत्मा सुरक्षित होती है।"[5] अर्थात्—साधक की आत्मा अब्रह्मचर्य से बच जाती है और निर्दोष रहती है।

निष्कर्ष यह है कि ब्रह्मचर्य-साधक को स्त्रीसंस्पर्श-सम्पर्क से ही नहीं, कामो-

---

१. समं च संथवं थीहिं, संकहं च अभिक्खणं।
बंभचेररओ भिक्खु णिच्चसो परिवज्जए॥ —उत्तरा० अ. १६, गा. ३

२. "णो संपसारए, णो ममाए, णो कयकिरिए, वइगुत्ते, अज्झप्पसंवुडे, परिवज्जए सया पावं।" —आचारांग १ : ५/४

३. अपि धूयराहिं सुण्हाहिं, धाईहिं अदुव दासीहिं।
महईहिं वा कुमारीहिं, संथवं से न कुज्जा अणगारे॥—सूत्रकृ० १ : ४/१/१३

४. "कुव्वंति संथवं ताहिं, पब्भट्ठा समाहिजोगेहिं।" —सूत्रकृ० १ : ४/१/१६

५. नो तासु चक्खु संधेज्जा, नो वि य साहसं समभिजाणे।
नो साहियं पि विहरेज्जा एवमप्पा सुरक्खिओ होइ॥ —सूत्रकृ. १ : ४/१/५

तेजक सभी सम्पर्कों—परिचयों से बचना चाहिए। इसी का समर्थन दशवैकालिक सूत्र में मिलता है—"ब्रह्मचारी गृहस्थों – सांसारिक स्त्रीपुरुषों से अति-सम्पर्क— परिचय न करे, वह साधुओं से ही परिचय करे।"[1] इन दोनों व्याख्याओं के सन्दर्भ में भगवती अराधना में 'अब्रह्म' के १० प्रकारों में से तीन प्रकार इस प्रकार दिये हैं—(१) संसक्त द्रव्य सेवा, (२) सत्कार और (३) सम्मान।[2] अर्थात्—ये दस प्रकार के अब्रह्मचर्य में से हैं—स्त्री का स्पर्श या स्त्री से संसक्त (संस्पृष्ट) स्थान, आसन आदि का सेवन करना, स्त्रियों के देह पर मोह रखकर उनका वस्त्रादि से सत्कार करना, रागवश स्त्रियों की स्तुति या प्रशंसा करते हुए सम्मान करना। ब्रह्मचर्य इन से दूषित होता है। अतः ब्रह्मचर्य की सुरक्षा के लिए मुनि को इनका त्याग करना चाहिए।

अनगार-धर्मामृत में ये ही तीन, ब्रह्मचर्य-नियमों के रूप में बताये गये हैं।[3]

(४) दृष्टिसंयम : स्त्री-अंगोपांग-अदर्शन

यह चौथी बाड़ या गुप्ति है। इसका स्वरूप बताते हुए उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है—"ब्रह्मचारी निर्ग्रन्थ स्त्रियों की मनोहर एवं मनोरम इन्द्रियों का अवलोकन न करे, न ही उनका ध्यानपूर्वक निरीक्षण करे।"[4] इसी का समर्थन आचारांगसूत्र में उल्लिखित चतुर्थ महाव्रत की द्वितीय भावना के रूप में मिलता है।[5] स्त्रियों की इन्द्रियाँ मनोहर और चित्ताकर्षक होती हैं, उनके निरीक्षणमात्र से महान् साधकों के मन में भी विकार उत्पन्न होता है। नारी की मनोरम इन्द्रियों का (ध्यान से) निरीक्षण करने से विषयरस के प्रति अनुराग बढ़ता है। साधक का मन सहसा विचलित हो जाता है। रथनेमि जैसा महान् साधक भी राजीमती के अंगोपांगों एवं इन्द्रियों को देखकर तत्काल ब्रह्मचर्य से विचलित हो गया। मन से ही नहीं, वचन से भी वह कामविह्वल हो गया। किन्तु बाद में महासती राजीमती के द्वारा प्रतिबोध पाकर पुनः संयम में स्थिर हो गया।[6]

---

१. गिहिसंथवं न कुज्जा, कुज्जा साहूहिं संथवं। —दशवै० ८/५३

२. ·····(४) संसत्तदव्वसेवा,····· (६) सक्कारो, (७) संकारो·····अब्बंभं दसविहं एदं।" —भगवती आराधना मू. ८८०/८८१

३. (४) स्त्रीशयनादिकं च मा भज,·····(६) स्त्रीं मा सत्कुरु, (७) मा च संस्कुरु।

४. "तम्हा खलु नो निग्गंथे इत्थीणं इंदियाइं मणोहराइं मणोरमाइं आलोएज्जा निज्झाएज्जा। —उत्तरा० अ. १६/४

५. आचारांग, २ : १५ चतुर्थव्रत की द्वितीय भावना।

६. दशवैकालिक अ. २ हारी० वृत्ति।

इसी बाड़ की विस्तृत व्याख्या के रूप में उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया है—"तपस्वी श्रमण स्त्रियों के रूप, लावण्य, विलास, हास्य, मंजुलभाषण, अंग-विन्यास, अथवा कटाक्ष को चित्त में स्थान न दे, न ही देखने का अध्यवसाय करे। ब्रह्मचर्यव्रत में रत पुरुषों के लिए यह नियम सदैव हितकर है और आर्यध्यान (उत्तम समाधि) के योग्य है कि वह नारीजन के रूप आदि का निरीक्षण न करे, न उसकी मन से इच्छा करे, न उसका चिन्तन करे और न उसका कीर्तन (प्रशंसा) करे।"[1]

इसका कारण बताते हुए दशवैकालिक सूत्र में कहा है—"ब्रह्मचारी साधक स्त्रियों के अंग, प्रत्यंग, संस्थान (आकृति—डील-डौल), उनके सुन्दर आलाप, तथा नेत्रविन्यास आदि पर ध्यान (टकटकी) लगाकर न देखे, क्योंकि ये कामराग को बढ़ाने वाले हैं।"[2]

वस्तुतः स्त्रियों का रूप दीपक के समान है। जिस प्रकार पतंगा दीपक के प्रकाश पर मुग्ध होकर उस पर गिरकर अपने कोमल शरीर को जला डालता है, उसी प्रकार नारी के रूप पर मुग्ध होकर कामोन्मत्त होने वाला पुरुष नारी रूप के आग्नेय प्रकाश में अपने आपको गिराकर संयमी जीवन को दग्ध (नष्ट) कर डालता है।

मणिरथ राजा ने जब तक मदनरेखा का रूप नहीं देखा था, तब तक वह उसे अनुजवधू होने के नाते पुत्री-तुल्य मानता था, अपने अनुज युगबाहु के प्रति भी असीम प्यार बरसाता था; किन्तु जब से उसने मदनरेखा का रूप देखा, वह कामबाण से विद्ध हो गया। मनदरेखा को पाने के लिए उसने अनेक प्रपंच रचे, अन्त में युगबाहु की हत्या करके उसे पाने का असफल प्रयास किया; किन्तु मदनरेखा हाथ न आई, कामान्ध मणिरथ स्वयं मरण-शरण हो गया, और नरक का मेहमान बना।

अर्हन्नक संसार से विरक्त होकर संयमी बना, किन्तु नारी के रूप को देखकर लुभायमान हो गया और अपने चारित्र को खो दिया।[3]

इसीलिए दशवैकालिक सूत्र में यहाँ तक कहा गया है कि आत्महितैषी साधु साक्षात् स्त्री की ओर ताक कर देखना तो दूर रहा, "दीवार (भित्ति, पोस्टर, कागज या काष्ठ) पर अंकित सुअलंकृत नारी की ओर गृद्धदृष्टि से ताककर न देखे। कदाचित्

---

१ न रूव-लावण्ण-विलास-हासं न जंपियं इंदियपेहियं वा।
इत्थीण चित्तंसि निवेसइत्ता, दट्ठुं ववस्से समणे तवस्सी॥
—उत्तरा ३२/१४-१५

२ अंगपच्चंगसंठाणं चारुल्लवियपेहियं।
इत्थीणं तं न निज्झाए, कामरागविवड्ढणं॥
—दशवै० ८।५८

३ उत्तराध्ययनसूत्र अ. ६ की नेमिचन्द्रीय टीका के आधार पर संक्षिप्त।

किसी स्त्री पर या स्त्री के चित्र पर दृष्टि पड़ जाए तो तुरन्त उसी तरह हटा ले, जिस तरह सूर्य को देखते ही तुरन्त उसके सामने से दृष्टि हटा ली जाती है।"[1]

जिस प्रकार आँख की कच्ची कारी (ऑपरेशन) वाला मनुष्य सूरज की ओर देखने से अन्धा हो जाता है, उसकी दृष्टि नष्ट हो जाती है, उसी प्रकार नारी के रूप, लावण्य, अंगोपांग, शरीर-सौष्ठव, शृंगार आदि को ताक कर देखने से ब्रह्मचारी कामान्ध हो जाता है, उसकी ब्रह्मचर्य-दृष्टि नष्ट हो जाती है।

आचारांगसूत्र में कहा गया है—जो निर्ग्रन्थ स्त्रियों की मनोहर इन्द्रियों आदि का अवलोकन—मानसिक निदिध्यासन करता है, उसकी मानसिक शान्ति नष्ट हो जाती है, मन में विचित्र दुष्कल्पनाएँ उठने लगती हैं, और अन्त में वह वीतराग-प्रज्ञप्तधर्म से भ्रष्ट हो जाता है।[2] इसीलिए प्रश्नव्याकरणसूत्र में ब्रह्मचर्यव्रत की तृतीय भावना के रूप में इस बाड़ में साधक को अधिकाधिक सुदृढ़ करने की दृष्टि से इस बाड़ का स्पष्टीकरण किया है—"स्त्रियों का हास्य, विकारयुक्त वचन, चेष्टाएँ, नजर कटाक्ष, गति (चाल-ढाल), विलास, क्रीड़ा, विब्बोक, नृत्य, गीत, वाद्य, शरीर की बनावट, रंग-रूप, हाथ, पैर, नेत्र, लावण्य, रूप, आकार, यौवन, पयोधर, अधर, वस्त्र, अलंकार, साजसज्जा, शरीरप्रसाधन, गुह्य अंग, तथा इसी प्रकार की अन्य काम-विकारवर्द्धक पापजनक वस्तुएँ, जो तप, संयम एवं ब्रह्मचर्य को आंशिक रूप से या पूर्ण रूप से विघातक हों उन्हें ब्रह्मचर्य का आचरण करने वाले साधक को नयन, मन और वचन से त्याग देनी चाहिए, इनकी इच्छा भी न करनी चाहिए।"[3]

ब्रह्मचारी का नेत्र या मन कदाचित् स्त्री के रूप आदि के विषय में प्रवृत्त हो जाए तो उसे तुरन्त यह विचार करना चाहिए 'स्त्री के जिस रूप, अंग, उपांग, शरीर या यौवन को देखकर तू मुग्ध हो रहा है, वह शरीर आदि तो मल-मूत्र का भण्डार दुर्गन्धपूर्ण है; अनित्य, अशाश्वत और क्षणिक है। यह रोगादि होने पर सड़ने-गलने और विध्वंस होने वाला है। इस घृणित क्षणिक रूप आदि पर मोहित होकर तुम्हें अपने ब्रह्मचर्य-धन को नष्ट एवं दूषित नहीं करना चाहिए। जिन स्त्रीभोगों में तू सुख मानता है, जिस नारी के रूप को नजर भर देखकर तू अपना ब्रह्मचर्य लुटाता है, वह सुख के बदले दुःख के महासमुद्ररूप नरक में डालने वाला है।'

एक निर्धन श्रेष्ठिपुत्र ने कुए के पास सोते हुए एक स्वप्न देखा कि मेरी शादी एक सुन्दर रूपवती महिला के साथ हो गई है। एक बढ़िया पलंग पर सुन्दर शय्या पर वह सोया है, बगल में ही उसकी नवोढ़ा पत्नी सो गई है। शय्या पर

---

१ चित्तभित्तिं न निज्झाए नारिं वा सुअलंकियं।
भक्खरं पिव दट्ठूणं दिट्ठिं पडिसमाहरे॥ —दशवै० ८/५५

२ आचारांग २ : १५ चतुर्थव्रत की द्वितीय भावना।

३ प्रश्नव्याकरण २-४।

जगह संकड़ी होने से वह उसे खिसकाने लगती है। इसी प्रयत्न में वह निकटवर्ती कुंए में गिर पड़ा। उसका स्वप्न भंग हो गया। उसने उस पर गहराई से सोचा—जब स्वप्न की (काल्पनिक) स्त्री कुंए में डाल सकती है, तब साक्षात् स्त्री का तो कहना ही क्या, वह तो पाताल (नरक) में ही डाल देगी। स्त्री से विरक्त होकर उसने पूर्ण ब्रह्मचर्यव्रत पालन की प्रतिज्ञा ले ली।

इसी प्रकार प्रत्येक ब्रह्मचर्य-साधक को सोचकर स्त्रीरूपादि से विरत होना चाहिए। अनगार धर्मामृत में ब्रह्मचर्य के दस नियमों में यह प्रथम नियम बताया गया है।[1]

(५) श्रुति-संयम : कुड्यान्तरशब्द श्रवणादिवर्जन

यह पाँचवीं बाड़ या गुप्ति है। इसका स्वरूप इस प्रकार है—दीवार, टाटी या पर्दे की ओट में स्त्रियों के शब्द, गीत, हास्य, विलास रूप आदि न सुने, न देखे। यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि जब नाटक, सिनेमा आदि में स्त्रियाँ नृत्य करती हैं, उस वक्त उनके पायल और जेवरों की झंकार अविवेकी ब्रह्मचर्य-साधक के कानों में पड़ते हैं, तो वह काम-रोग से घायल हो जाता है, ब्रह्मचर्यव्रत से विचलित हो जाता है। उसका ध्यान विषय-भोगों में लग जाता है; तब पर्दा या टाटी की ओट में जहाँ स्त्रीपुरुष रहते हों, वहाँ उनके निकटवर्ती स्थान में ब्रह्मचारी-साधक रहता हो, उसके कान में उनके कूजित आदि शब्द पड़ते हों, वहाँ ब्रह्मचर्य को वह कैसे सुरक्षित रख सकेगा? इसीलिए उत्तराध्ययन सूत्र में इस गुप्ति के द्वारा सख्त निषेध किया गया है—"निर्ग्रन्थ मुनि टाटी, पर्दे या भींत आदि की ओट में रहकर स्त्रियों की मधुर ध्वनि, रुदन, गीत, हास्य, विलास, क्रन्दन और विलाप (जनित विषयप्रेम) के शब्दों को न सुने।"[2]

इस बाड़ में साधु के लिए दो बातों का निषेध परिलक्षित होता है—(१) टाटी, पर्दे आदि की ओट में, जहाँ स्त्री-पुरुष दाम्पत्य क्रीड़ा करते हों वहाँ न रहे, (२) स्त्रियों की मधुर ध्वनि, गीत, रुदन आदि के शब्द न सुने। तात्पर्य यह है कि जहाँ पर्दे, टाटी, दीवार आदि की ओट में पति-पत्नी रात में रहते हों, वहाँ कभी स्त्री अपने प्रियतम से कामोत्तेजक कोयल-से मधुर शब्दों में संलाप करती है, कभी क्रीड़ा करती है, कभी रोती है, कभी मधुर शब्दों में गाती है, कभी काम के वशीभूत होकर अट्टहास करती है, कभी मदमत्त शब्द बोलती है, कभी विलाप करती है, उस समय उपर्युक्त कामोद्दीपक शब्द ब्रह्मचारी साधु के कानों में पड़ते हैं, जिन्हें सुनकर उसका मन ब्रह्मचर्य से उसी तरह विचलित हो जाता है, जैसे मेघगर्जना सुनकर मोर और पपीहे कामोन्मत्त होकर बोलने लगते हैं।

इस बाड़ के परिपालन न करने के दुष्परिणामों की चर्चा करते हुए उत्तराध्ययन में कहा है—(जो निर्ग्रन्थ इस गुप्ति का पालन नहीं करता) 'उस ब्रह्मचारी के

---

१ 'वरांगे दृश्यं मा वा'। —अनगारधर्मामृत ब्रह्मचर्य का पाँचवाँ नियम

२ उत्तरा. १६।

मन में ब्रह्मचर्य के प्रति शंका उत्पन्न हो जाती है, वह अब्रह्मचर्य की आकांक्षा करने लगता है, उसके मन में विचिकित्सा पैदा हो जाती है कि पता नहीं, इस ब्रह्मचर्य-पालन का सुफल मिलेगा या नहीं ? ब्रह्मचर्य-भंग हो जाता है। दीर्घकालिक रोगातंक होते हैं और अन्त में, वह केवलिप्ररूपित धर्म से भ्रष्ट हो जाता है।"[1]

अतः ब्रह्मचारी को ऐसी जगह नहीं रहना चाहिए, जहाँ कामोद्दीपक शब्द पर्दे, टाटी या भीत की आड़ से कानों में पड़ने की सम्भावना हो।

(६) स्मृति-संयम : पूर्वभुक्तभोग-स्मरण-वर्जन

यह छठी बाड़ या गुप्ति है। उत्तराध्ययनसूत्र में इसका स्वरूप बताते हुए कहा है—"ब्रह्मचर्यरत भिक्षु अपने पूर्व (गृहस्थ) जीवन में स्त्री के साथ भोगे हुए भोगों का, हास्य, क्रीड़ा, सहवास, दर्प, सहसा वित्रासन आदि के प्रसंगों का कभी अनुचिन्तन— स्मरण न करे।"[2]

तात्पर्य यह है कि स्त्री के साथ पूर्व-जीवन में भोगे हुए शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श, इन पाँचों में से एक का भी स्मरण करने से ब्रह्मचर्य-व्रत दूषित हो जाता है। अर्थात्—पूर्व-जीवन में स्त्रियों से सुने हुए हाव-भाव आदि से पूर्ण शब्दों का जरा भी स्मरण अब न करे, न ही गौरादि वर्ण से युक्त रूपवती सुन्दरी के साथ भोगे हुए भोगों का स्मरण करे, स्त्री के साथ पूर्वजीवन में सेवित चोवा, चन्दन, इत्र, तेल-फुलेल आदि अनेक सुगन्धित द्रव्यों की गन्ध एवं विविध मधुर रसों का भी स्मरण न करे। इसी प्रकार हाथ-पैर से सुकुमार, कोमलांगी, सुखद स्पर्श वाली स्त्री से पूर्व में की गई क्रीड़ा का भी चिन्तन या स्मरण नहीं करना चाहिए। स्त्री के साथ खेली गई सार-पासा, शतरंज, चौपड़, जुआ आदि अनेक क्रीड़ाओं का भी स्मरण ब्रह्मचारी को नहीं करना चाहिए। पूर्व में भोगे हुए मनोरम कामभोगों का स्मरण करके जो ब्रह्मचारी साधु मन में हर्षित होता है, दिलचस्पी लेता है, वह बाड़सहित ब्रह्मचर्यव्रत को खण्डित कर देता है।

पूर्वभुक्त भोगों के स्मरण करने के दुष्परिणाम बताते हुए आचारांगसूत्र में चतुर्थव्रत की तृतीय भावना के सन्दर्भ में कहा गया है—पूर्वरत, पूर्वक्रीड़ित भोगों का स्मरण करने से मानसिक शान्ति छिन्न-भिन्न हो जाती है, शान्ति में भंग पड़ जाता है, और वह निर्ग्रन्थ केवलिप्ररूपित धर्म से भ्रष्ट हो जाता है।[3]

एक बुढ़िया के यहाँ से विषयुक्त छाछ पीकर परदेशी अतिथि विदा हो गया था, किन्तु उसका बाल भी बाँका न हुआ; किन्तु दूसरी बार जब वह उस बुढ़िया के

---

१ उत्तरा. १६-५।

२ हासं कीडं रइं दप्पं सहसा वित्तासियाणि य।
बंभचेररओ थीणं नाणुचिंते कयाइ वि॥ —उत्तरा. अ. १६ गा. ६

३ आचारांग सूत्र २ : ४, ३

यहाँ आया था, उसे जीवित देख बुढ़िया ने विषमिश्रित छाछ पी जाने का स्मरण दिलाया, तब जैसे उसके स्मरणमात्र से उस परदेशी अतिथि के सारे शरीर में विष व्याप्त हो गया और वह तुरन्त मर गया, वैसे ही पूर्वभुक्त कामभोगों का स्मरण करने मात्र से शरीर में कामविष व्याप्त हो जाता है और उस ब्रह्मचारी की ब्रह्मचर्य-साधना, समाधि, शान्ति नष्ट हो जाती है।

जिनरक्षित ने रयणादेवी के साथ पूर्व-भुक्त काम-भोगों का स्मरण करके उससे प्रीति की, जिसके फलस्वरूप यक्ष ने उसे अपनी पीठ पर से फैंक दिया और रयणादेवी ने तलवार से उसके टुकड़े-टुकड़े कर डाले।[1]

प्रश्नव्याकरणसूत्र में इसी बाड़ की विस्तृत व्याख्या के सन्दर्भ में चतुर्थ भावना में कहा गया है—पहले (गृहस्थ-अवस्था में) भोगे हुए कामभोगों का, पहले की हुई क्रीड़ाओं का, पहले के श्वसुर आदि सम्बन्धियों का, अन्यान्य सम्बन्धियों का तथा परिचित स्त्री-पुरुषों का स्मरण नहीं करना चाहिए। आवाह (वधू का आगमन), विवाह और शिशु के चूड़ाकर्म आदि संस्कारों के अवसर पर, विशिष्ट तिथियों में, यज्ञ (नागपूजा आदि) तथा उत्सव (इन्द्रोत्सव आदि) के प्रसंग पर, शृंगार से सुसज्जित सुन्दर वेष वाली स्त्रियों के साथ, हाव-भाव, ललित विक्षेप, विलास से सुशोभित अनुकूल प्रेमिकाओं के साथ पहले जो शयन या सान्निध्य किया हो, उसका स्मरण नहीं करना चाहिए।[2] ऋतु के अनुकूल सुन्दर पुष्प, सुरभित चन्दन, सुगन्धित द्रव्य, सुगन्धित धूप, सुखद स्पर्श वाले वस्त्र, आभूषण आदि से सुशोभित स्त्रियों के साथ भोगे हुए भोगों का स्मरण नहीं करना चाहिए। रमणीय वाद्य, गीत, नट, नर्तक (नाटक), जल्ल (रस्सी पर खेल करने वाले), नट, मल्ल, मुष्टिक (मुक्केबाज), विदूषक, कथाकार, तैराक, रास करने वाले भाण्ड, शुभाशुभ बताने वाले आख्यायक, लंख (बड़े बाँस पर चढ़कर खेल दिखाने वाले), मंख (चित्र दिखाकर भीख माँगने वाले), तुम्बा बजाने वाले, ताल देने वाले एवं प्रेक्षक, इन सबकी क्रियाओं को, भाँति-भाँति के मधुर स्वर से गाने वाले गायकों के गीतों को तथा अन्य ऐसे ही कामोत्तेजक व्यापारों को ब्रह्मचर्य की आराधना करने वाला पुरुष त्याग दे। वह न कभी इनका कथन करे, और न ही इनका स्मरण करे।[3]

निष्कर्ष यह है कि स्त्रियों से सम्बन्धित कामोद्दीपक पूर्वभुक्त पंचेन्द्रिय कामभोगों का स्मरण ब्रह्मचारी साधक को नहीं करना चाहिए। अनगार धर्मामृत में इसे ब्रह्मचर्य का आठवाँ नियम बताया गया है।[4]

---

१ ज्ञातासूत्र अ० ६ के आधार पर संक्षिप्त।
२ प्रश्नव्याकरण २ : ४ चौथी भावना।
३ प्रश्नव्याकरण २ : ४ चौथी भावना।
४ "रतवृत्तं मा स्मर।" —अनगार धर्मामृत आठवाँ नियम

(७) रस-संयम : प्रणीत आहार-त्याग

यह सातवीं बाड़ या गुप्ति है। इसका स्वरूप उत्तराध्ययन सूत्र में इस प्रकार बताया गया है—"प्रणीत आहार कामोत्तेजक होता है। इसलिए ब्रह्मचर्यरत भिक्षु ऐसे भोजन-पान से सर्वदा दूर रहे।"[1]

प्रणीत आहार का अर्थ है, ऐसा सरस स्निग्ध आहार, जिससे घृत बिन्दु झर रहे हों, जो घृतादि से परिपूर्ण हो। घृतादि से परिपूर्ण आहार स्निग्ध—भारी होता है। स्निग्ध आहार धातु को दीप्त करता है। धातु के दीप्त होने से मनोविकार बढ़ता है, मनोविकार बढ़ने से अंग-कुचेष्टा होती है, या वीर्यपात होता है और इससे मनुष्य प्रायः भोग में प्रवृत्त हो जाता है। इस तरह प्रतिदिन सरस, स्वादिष्ट एवं स्निग्ध आहार करने वाला साधक अपने बहुमूल्य ब्रह्मचर्यव्रत को नष्ट कर डालता है। इसीलिए दशवैकालिक सूत्र में प्रणीत सरस भोजन को तालपुट विष के समान ब्रह्मचर्य का घातक बताया है।[2]

खट्टा, मीठा, कड़वा, कसैला और तिक्त (तीखा)—ये पांच रस हैं। जिह्वा इन रसों की ग्राहक है। जिसकी जीभ संयमित नहीं होती, वह खट्टे, नमकीन, मीठे और चटपटे आदि स्वादिष्ट रसों से युक्त भोजन की लालसा करता रहता है तथा प्राप्त होने पर जो स्वादिष्ट रसों से युक्त आहार का प्रतिदिन या अतिमात्रा में सेवन करता है, उसके मन में कामोद्रेक होकर ब्रह्मचर्य का नाश हो जाता है। इसीलिए उत्तराध्ययन सूत्र में अतिमात्रा में रसयुक्त भोजन करने वाले को चेतावनी दी गई है कि "दूध, दही, घी, मीठा आदि स्निग्ध पदार्थों और खट्टे, मीठे, चरपरे आदि रसों से युक्त स्वादिष्ट पदार्थों का ब्रह्मचारी साधक बहुधा या अतिमात्रा में सेवन न करे। ऐसे रसयुक्त पदार्थों के आहार-पान से वीर्य उत्तेजित होता है—क्योंकि वे दीप्तिकर होते हैं। जिस तरह स्वादु फल वाले वृक्ष की ओर पक्षी दल के दल उड़ते चले आते हैं, उसी तरह वीर्य से दीप्त पुरुष को काम सताने लगता है।[3]

प्रश्नव्याकरण सूत्र में इसी बाड़ की व्याख्या के सन्दर्भ में ब्रह्मचर्यव्रत की पंचम भावना के रूप में कहा गया है—"संयमी सुसाधु प्रणीत और स्निग्ध आहार का सेवन न करे। ब्रह्मचारी साधक दूध, दही, घी, नवनीत, तेल, गुड़, खांड, शक्कर, मधु, मद्य, मांस, खाजा आदि विकृतियों (विगइयों) से रहित आहार करे। वह दर्पकारी आहार

---

१ पणीयं भत्तपाणं तु खिप्पं मय-विवड्ढणं।
बंभचेररओ भिक्खू, निच्चसो परिवज्जए॥ —उत्तरा० १६/७

२ नरस्सत्तगवेसिस्स.....विसं तालउडे जहा। —दशवैकालिक ८/५७

३ रसा पगामं न निसेवियव्वा, पायं रसा दित्तिकरा नराणं।
दित्तं च कामा समभिद्दवंति, दुमं जहा साउफलं व पक्खी॥
—उत्तरा० ३२ : १०

न करे। ....संयमी को वैसा ही आहार करना चाहिए, जिससे संयम यात्रा का निर्वाह हो, मोह और काम का उदय न हो और वह ब्रह्मचर्य धर्म से न गिरे। सन्निपात रोग में दूध और मिश्री का आहार करने से त्रिदोष कुपित हो जाने पर सन्निपात और तीव्र हो जाता है, उसी तरह से सरस आहार से विकार की विशेष वृद्धि होती है।

उत्तराध्ययन सूत्र में बताया गया है कि "जो साधु दूध, दही आदि विगइयों (विकृतिजनक पदार्थों) का बार-बार आहार करता है और तपश्चरण में अरुचि रखता है या उससे विरत होता है, उसे 'पापी श्रमण' कहा जाता है।"[1]

आचारांगसूत्र में ब्रह्मचर्यव्रत की चतुर्थ भावना के रूप में कहा गया है कि "जो भिक्षु प्रणीत एवं रसयुक्त भोजन (बार-बार) करता है, उसकी मानसिक शान्ति छिन्न-भिन्न और नष्ट हो जाती है, वह धर्मभ्रष्ट हो जाता है।"[2] धर्मभ्रष्ट व्यक्ति दुर्लभ मनुष्यभव व्यर्थ खो देता है।

कुण्डरीक रसलोलुप होने से कामासक्त होकर पुनः राजगद्दी भोगने लगा। पौष्टिक एवं कामोत्तेजक सरस आहार करने से उसके शरीर में उसी रात्रि को तीव्र वेदना उत्पन्न हो गई। उसकी मानसिक शान्ति नष्ट हो गई। वह धर्मभ्रष्ट हुआ और रस-लोलुपतावश अकाल में ही आर्त्त-रौद्रध्यानवश मरकर सातवीं नरक में पहुँचा। मनुष्य जन्म को व्यर्थ खो दिया।[3]

सरस स्निग्ध आहार किस में किस प्रकार की विकृति उत्पन्न करता है? इसका विश्लेषण करने से जरा स्पष्टतया समझ में आ सकेगा—"बालक ऐसे सरस, स्निग्ध आहार को खाएगा तो पचा नहीं सकेगा, फलतः उसे अजीर्ण, मन्दाग्नि, अतिसार आदि रोग हो जाएँगे। एक तरुण या वृद्ध, जो शरीर से स्वस्थ नहीं होता, तब किया हुआ सरस आहार हजम न होने से अजीर्ण आदि रोगों को उत्पन्न करता है और अकाल में ही उसको मृत्यु का खतरा हो जाता है। एक जराजीर्ण वृद्ध किन्तु शरीर से स्वस्थ व्यक्ति सरस स्वादिष्ट आहार खाएगा तो उसे या तो हजम ठीक तरह से नहीं होगा या फिर कामोद्रेक होगा। दोनों ही विकृतियाँ खराब और हानिकारक हैं। एक स्वस्थ तरुण सरस स्निग्ध आहार करता है तो उसे शीघ्र ही हजम हो सकता है। आहार का परिणमन शरीर में भली-भाँति होने से इन्द्रियों का बल बढ़ता है, शरीर में कामोद्रेक होता है, अंगों में कुचेष्टा उत्पन्न होती है और उसके

---

१ दुद्धदही विगईओ आहारेइ अभिक्खणं।
अरए य तवोकम्मे, पावसमणेत्ति वुच्चई॥ —उत्तरा० १७/१५

२ .....पणीयरस भोई य त्ति संतिभेदा संतिविभंगा संतिकेवलिपण्णत्ताओ धम्माओ भंसेज्जा। —आचारांग २ : ४ चौथी भावना

३ ज्ञातासूत्र अ. १९ के आधार पर संक्षिप्त।

कारण वीर्य नष्ट होने से वह ब्रह्मचर्य से भ्रष्ट हो जाता है। क्षतवीर्य को अनेक रोग घेर लेते हैं और अकाल में उसके मरण-शरण होने की सम्भावना रहती है।" अतः बिना किसी पुष्ट आलम्बन के जो प्रतिदिन सरस स्निग्ध आहार करता है, वह ऐसे अनिष्टों का शिकार होता है, अपने ब्रह्मचर्य धर्म को नष्ट करता है और अनन्त संसारी बनता है—अर्थात्—अनन्त काल तक जन्म-मरण करता है।

ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती के पूर्व परिचित भूदेव नामक ब्राह्मण ने उससे चक्रवर्ती का भोजन कराने का आग्रह किया। उसके अनुरोध पर चक्रवर्ती ने समस्त ब्राह्मण परिवार को मादक एवं पौष्टिक वस्तु मिश्रित खीर का भोजन कराया। उस भोजन से ब्राह्मण को कामोन्माद चढ़ा और उसने रात्रि में अपनी स्त्री, पुत्री, बहन एवं माता के साथ अनाचार-सेवन किया। जब उन्माद उतरा तो उसे बहुत पश्चात्ताप हुआ। अतः ब्रह्मचर्य-साधक को कामोत्तेजक षट्रस-भोजन नहीं करना चाहिए।[1]

आचार-विचार में निष्ठावान्, विद्वान् एवं वक्ता आचार्य मंगू मथुरा में मुनि-मण्डल सहित अध्ययन-अध्यापन के लिए विराज रहे थे। वहाँ के धर्मनिष्ठ श्रावक भक्तिवश उन्हें प्रतिदिन सरस आहार और विविध पकवान दिया करते थे। आचार्य मंगू रसलोलुप होकर मथुरा में ही स्थिर भाव से रहने लगे। नित्य सरस स्निग्ध आहार करने से उनकी रसगृद्धि बढ़ी, वे रस गौरव से युक्त हो गये। रसगृद्धि के कारण वे मूलगुण में दोष लगाने लगे। चिरकाल तक सदोष आहार सेवन करके तथा उसकी आलोचना व प्रायश्चित्त किये बिना ही मरकर वे उसी नगर के यक्षालय में यक्ष बने। ज्ञान से पूर्वभव जानकर उन्हें अपनी दुर्गति के लिए बहुत पश्चात्ताप हुआ, भूतपूर्व शिष्यों को वह जीभ दिखाकर रसगृद्धि के दुष्परिणाम बताया करते और सावधान करके अदृश्य हो जाते।[2]

यह है—प्रतिदिन सरस स्निग्ध आहार से रसगृद्धि के दुष्परिणामस्वरूप दुर्गति-प्राप्ति का ज्वलन्त उदाहरण।

इसीलिए अनगार धर्मामृत में ब्रह्मचर्य के तीसरे नियम के रूप में कहा गया है—ब्रह्मचारी कामोद्दीपक आहार न करे।

(८) अति भोजन संयम : अतिमात्रा में भोजन त्याग

यह ब्रह्मचर्य की आठवीं बाड़ या गुप्ति है। इसका स्वरूप उत्तराध्ययन सूत्र में इस प्रकार बताया गया है—निर्ग्रन्थ अतिमात्रा में आहार न करे।[3]

साधु यदि प्रमाण से अधिक ठूँस-ठूँसकर आहार करता है, तो उससे ब्रह्मचर्यव्रत को तो क्षति पहुँचती ही है, साथ ही उसके तन और मन की

---

१. निशीथ सूत्र अ. २ के आधार पर।
२. उपदेशमाला के आधार पर संक्षिप्त।
३. "नो निग्गंथे अइमायाए पाणभोयणं आहारेज्जा।" —उत्तरा. १६ : ८

अत्यधिक क्षति भी होती है। अधिक आहार करने से पेट उसी बुरी तरह फटने लगता है, जिस प्रकार सेर भर की हंडिया में सवा सेर अन्न भर देने से वह फूट जाती है। अधिक आहार करने से मनुष्य दुःखी होता है। उसके रूप, बल, कांति, ओज और गात्र क्षीण हो जाते हैं। उसे प्रमाद, निद्रा, आलस्य और दीर्घसूत्रता घेर लेते हैं। अतिमात्रा में भोजन करने से आहार ठीक तरह से हजम नहीं होता, परिणामस्वरूप देह में अत्यन्त पीड़ा हो जाती है, पेट में मरोड़े चलने लगते हैं। पेट में अत्यन्त शूल उठने लगता है। आँव और खून की दस्तें लगने लगती हैं। अपच का रोग बढ़ जाता है, तब आहार जरा भी नहीं पचता। कोई भी औषध नहीं लगती। रोगग्रस्त होने से आँतें आहार को ग्रहण नहीं कर पातीं। फलतः खाया हुआ आहार या तो वैसा का वैसा ही बाहर निकल जाता है अथवा खराब डकार और गुचलकियाँ आने लगती हैं। जिससे आहार का भाग वमन द्वारा बाहर आ जाता है। आगे चलकर इससे अतिसार का प्रकोप हो जाता है।

अत्यधिक मात्रा में किया हुआ आहार पेट में नहीं पचने से सड़ता है, उससे गैस बनती है और पित्त का प्रकोप हो जाता है। जठराग्नि कुपित हो जाती है। वह गैस सिर में चढ़ जाती है, जिससे चक्कर आने लगते हैं। मस्तक में तनाव बना रहता है। रक्त-चाप, हृदय-रोग, शरीर में दाह, पेट में जलन, आहार में अरुचि, देहक्षीणता, धातुदौर्बल्य, निर्बलता, हाथ-पैर में सूजन, श्वास, दमा, कास (खाँसी), जलोदर, प्लीहा वृद्धि, पित्तज्वर, खुजली, आँख और कान में वेदना, अजीर्ण, पेट में अफारा, मुख में दुर्गन्ध, बेचैनी, मुँह से थूक एवं जल छूटना, माँस एवं रक्त का प्रतिदिन ह्रास इत्यादि अनेक रोग अत्यधिक मात्रा में आहार करने से होते हैं। ऐसी अवस्था में अन्न सर्वथा छूट जाता है। कभी-कभी अधिक आहार करने से तत्काल ज्वर चढ़ जाता है, पेशाब बन्द हो जाता है। शारीरिक वेदना बढ़ जाती है। पेट फटने लगता है। नाड़ियों की गति मन्द पड़ जाती है और श्वास लेने में भी कठिनाई होती है। कई बार तो ऐसे लोग तत्काल मर जाते हैं।

शारीरिक पीड़ा के साथ-साथ पेटू को मानसिक पीड़ा और बौद्धिक-चिन्तन-स्मरण शक्ति की क्षति भी कम नहीं होती है। मानसिक सन्तुलन ठीक न रहने से वह किसी तात्त्विक बात को न तो झट-पट ग्रहण कर पाता है, और न ही कुछ याद रख पाता है। धर्म-ध्यान से तो ऐसा व्यक्ति कोसों दूर हो जाता है। वह प्रायः आर्त्तध्यान में ही अपना अधिकांश समय बिताता है। उसका स्वभाव भी चिड़चिड़ा हो जाता है। यदि कोई उसे कहता है कि 'तू अधिक आहार करता है', तो वह चिढ़ जाता है, कपटपूर्वक झूठ बोलता है। वह दूसरों का नाम लेकर प्रायः अपने दोष का बचाव किया करता है। यहाँ तक कि उसे कई साधु मिलकर भी समझाएँ कि 'तू अधिक आहार मत किया कर' तो वह उनकी हितकर बात को ठुकरा कर प्रतिवाद करने लगता है—"कौन कहता है, मैं अधिक आहार करता हूँ। मैं अपनी भूख के अनुसार ही खाता हूँ।"

आहार में गृद्ध व्यक्ति इतना अधिक खा लेता है कि उसके पेट में पानी तक के लिए स्थान नहीं रहता। जब उसे अत्यन्त प्यास लगती है, तब थोड़ा-सा पानी पीने से ही उसका पेट फटने लगता है, प्यास नहीं बुझती। उसे जरा भी चैन नहीं मिलता। ऐसे संकट उपस्थित होने पर भी पेटू अति-आहार करने का अवगुण नहीं छोड़ता। जब अनेक रोग उसके शरीर को घर दबाते हैं तो वह नाना प्रकार की दवाइयाँ, चूर्ण-चटनी आदि लेता रहता है। वह दवाइयों का गुलाम बनकर अपनी जिन्दगी बर्बाद कर लेता है। वह उपवास आदि तप नहीं कर सकता। सुबह से लेकर शाम को सूर्यास्त होने तक कुछ न कुछ चरता ही रहता है। रोगाक्रान्त तन और मन के रहते वह अपने आचार में शिथिल हो जाता है, मायाचार के कारण तथा विषय-वासना में गृद्धि के कारण ब्रह्मचर्य से भ्रष्ट होने से वह जिनोक्त धर्म से भ्रष्ट होकर नाना गतियों में परिभ्रमण करता है, अनन्तकाल तक तीव्र दुःख पाता है।

उत्तराध्ययन सूत्र में अति भोजन के दुष्परिणाम को उपमा देकर समझाया गया है—"जैसे प्रचुर इन्धनयुक्त वन में उत्पन्न हुई वायु रहित अग्नि किसी भी तरह शान्त नहीं होती, उसी प्रकार अतिमात्रा में विविध रसयुक्त पदार्थों को भोगने वाले प्रकामभोजी ब्रह्मचर्य-साधक की इन्द्रिय (विषय) रूपी अग्नि शान्त नहीं होती, बल्कि वह अधिकाधिक भड़कती है।[1]

एक अतिभोजी युवक का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करने पर पता चलता है कि पूर्ण यौवनावस्था में देह नीरोग और सशक्त हो तो पाचन शक्ति प्रबल होती है। ठूँस-ठूँसकर किया हुआ आहार शीघ्र पच जाता है; किन्तु उस अतिआहार के कारण उसे विषयों के प्रति अनुराग उत्पन्न होता है, काम-भोग अच्छे लगते हैं, स्त्री-सेवन करने के संकल्प-विकल्प दिमाग में मँडराने लगते हैं, आखिर ब्रह्मचर्य-पालन में शिथिल होकर वह येन-केन-प्रकारेण शंका-कांक्षा-विचिकित्सावश कामोन्मादवश गुप्त रूप से ब्रह्मचर्य खण्डित करने लगता है। कामोद्रेक के कारण वह हस्तमैथुन आदि अप्राकृतिक व्यभिचारों का भी शिकार हो जाता है। अर्थात्—कोई साधु वेश में ही अनाचार-सेवन करता रहता है अथवा कोई साधुवेश छोड़कर पुनः गृहस्थ हो जाता है। अतिभोजन का यह दूरगामी दुष्परिणाम है। कुण्डरीक का उदाहरण इस विषय में प्रसिद्ध है ही।

इसीलिए उत्तराध्ययनसूत्र में आगे चलकर कहा गया है—"ब्रह्मचारी-साधक गोचरी में धर्मानुसार प्राप्त आहार, जीवन यात्रा के निर्वाह के लिए ही नियत समय

---

१. जहा दवग्गी पउरिंधणे वणे, समारुओ नोवसमं उवेइ।
एविंदियग्गी वि पगाम भोइणो, न बंभयारिस्स हियाय कस्सई॥
—उत्तरा. ३२/११

में और परिमित मात्रा में ग्रहण करे। वह कदापि अतिमात्रा में आहार-सेवन न करे।"[1]

निष्कर्ष यह है कि ब्रह्मचारी को अति भोजन से पूर्वोक्त शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक एवं आध्यात्मिक दोषों को जानकर अति भोजन न करके समय पर परिमित मात्रा में ही आहार करना चाहिए। न तो उसे सारे दिनभर खाना है, और न ही भोजन के समय अतिमात्रा में खाना है, बल्कि ऊनोदरी तप करना चाहिए। प्रश्न-व्याकरण सूत्र में पाँचवीं ब्रह्मचर्यव्रत भावना के रूप में इसी बाड़ के सन्दर्भ में कहा गया है—ब्रह्मचारी एक दिन में बहुत बार या बहुत आहार न करे। न ही प्रतिदिन आहार करे। वह अधिक दाल, शाक न खाए, न अतिमात्रा में भोजन करे। जितना संयम यात्रा के आवश्यक हो, उसी मात्रा में आहार करे। ब्रह्मचारी को आहार उतनी ही मात्रा में करना चाहिए, जितने से विभ्रम (या उन्माद) न हो, धर्म से भ्रंश न हो।"[2] यही इस बाड़ का आशय है।

(९) विभूषा-संयम : विभूषाविवर्जन—

यह ब्रह्मचर्यरक्षा के लिए नौवीं बाड़ या गुप्ति है। इसका स्वरूप उत्तराध्ययन सूत्र में इस प्रकार बताया गया है—"ब्रह्मचर्यरत भिक्षु विभूषा तथा शरीर के परिमण्डन (साजसज्जा या बनाव-शृंगार) को छोड़ दे। वह शृंगार—शोभा के लिए कोई वस्तु धारण न करे।[3]

निष्कर्ष यह है कि ब्रह्मचर्य-साधक को विभूषा की दृष्टि से कोई भी वस्तु नहीं अपनानी चाहिए। विभूषा कब आती है साधक-जीवन में? जब कि वह देहाध्यास से युक्त होता है। जब किसी साधक में देहाध्यास होता है तो साधारण-सा वस्त्र ओढ़ने में भी विभूषा का भाव जग जाता है और देहाध्यास न हो तो मूल्यवान वस्त्र ओढ़ लेने पर भी विभूषा के भाव नहीं जागते। देह में रहना देहाध्यास है। साधक देह में रहता है; तब देह के प्रति ममत्व बढ़ जाता है और विभूषा का भाव प्रबल हो जाता है; जब आत्मा में रहता है, तब देहाध्यास क्षीण होता चला जाता है। ऐसी स्थिति में विभूषा का भाव स्वतः छूटता जाता है।

देहधारी मानव दो धाराओं में जी रहे हैं—एक है बाहर की धारा; दूसरी है भीतर की। बाहर की धारा में कौतुक है; मायाजाल है, आकर्षण का भाव है, जबकि भीतर की धारा में ज्योति है। "जो मूढ़बुद्धि हैं, वे बाहर की धारा में तुष्ट

---

१. धम्मलद्धं मियं काले जत्तत्थंपणिहाणवं।
नाइमत्तं तु भुंजेज्जा बंभचेररओ सया॥ —उत्तरा० १६/८

२. प्रश्नव्याकरण २ : ४ पंचम भावना।

३. विभूसं परिवज्जेज्जा सरीर-परिमंडनं।
बंभचेररओ भिक्खु सिंगारत्थं न धारए॥ —उत्तरा० १६/९

होते हैं, उनके अन्तर् में उनकी ज्योति ढकी रहती है, और जो प्रबुद्ध हैं, वे बाहर के कौतुक से हटकर अन्तर् की ज्योति में सन्तुष्ट होते हैं।"[1] ब्रह्मचर्य-साधक को बाहर के कौतुक एवं आकर्षण के प्रति युक्त नहीं होना चाहिए।

आचार्य पूज्यपाद ने देहाध्यास से मुक्त होने की सुन्दर विधि बताई है—"साधक के पास शरीर, मन, वाणी और आत्मा ये चार साधन हैं। इनमें से आत्मा का सर्वाधिक निकटवर्ती है—मन। इसलिए साधक आत्मा के साथ मन को जोड़ दे, तथा वाणी और शरीर से उसका सम्बन्ध तोड़ दे। अर्थात् —आत्मा को मन से युक्त करे, वाणी और देह से वियुक्त करे। देह और वाणी द्वारा आयोजित व्यवहार मन से भी न करे। देह और वाणी की प्रवृत्ति जितनी कम होगी, उतना ही मन शान्त और भ्रान्तिरहित होगा, और उतना ही देहाध्यास से रहित होगा।[2]

यद्यपि शरीर के रहते साधु बाहरी द्रव्यों से सर्वथा मुक्त या वियुक्त नहीं हो सकता, तथापि अगर वह बाहरी द्रव्यों से युक्त नहीं होता है तो देहाध्यास के उस पार शुद्ध आवश्यकता शेष रहती है, जो विभूषा मुक्त होती है, क्योंकि वस्त्र-पात्र आदि धर्मोपकरणों के प्रति उसका अध्यास (ममत्व) नहीं होता। और यदि आवश्यकता देहाध्यास के इस पार होगी तो वह विभूषा से मुक्त नहीं होगी। अर्थात् —देहाध्यास (बाहरी वस्तुओं के प्रति आकर्षण, ममत्व) जितना तीव्र होगा, उतनी ही विभूषा वृत्ति होगी। जब देहाध्यास नहीं होगा तो बाहरी वस्तुओं को सजाने-संवारने या शरीरादि परिमण्डन करने की वृत्ति क्यों जागेगी ?

दशवैकालिक सूत्र में उपर्युक्त तथ्य का समर्थन किया गया है—"नग्न या मुण्ड, दीर्घ रोम और नखवाले, किन्तु मैथुन से उपशान्त (सम्पूर्णतः विरत) अनगार को विभूषा से क्या मतलब ?"[3]

विवेक और व्युत्सर्ग, इन दोनों का बार-बार अभ्यास ही देहाध्यास से छूटने का उपाय है। जो बाह्य पदार्थ हैं, वे मेरे नहीं हैं, मैं भी उनका नहीं हूँ, यह शरीर, वाणी, इन्द्रियाँ भी मेरी नहीं है, इस प्रकार तमाम बाह्य पदार्थों से अपनी आत्मा को पृथक् करना, उनसे सम्बन्ध विच्छेद करना विवेक है। विवेक का अभ्यास सुदृढ़ हो जाने पर व्युत्सर्ग (देह के प्रति ममत्व और खिचाव का त्याग, उत्सर्ग) सहज ही

---

१. बहिस्तुष्यति मूढात्मा, पिहितं ज्योतिरन्तरे।
तुष्यत्यन्तः प्रबुद्धात्मा, बहिर्व्यावृत्तकौतुकः॥

२. योजयेत् मनसाऽऽत्मानं वाक्कायाभ्यां वियोजयेत्।
मनसा व्यवहारं तु, त्यजेद वाक्काययोजितम्॥

३. नगिणस्स वावि मुण्डस्स दीहरोमनहंसिणो।
मेहुणाए उवसंतस्स विभूसाए किं कारियं॥ —दशवैकालिक ६/६४

निष्पन्न हो जाता है। विभूषा से स्वयं (वाणी और शरीर) को वियुक्त रखने के लिए जिस देह के प्रति ममत्व है, उसके व्युत्सर्ग का दीर्घकाल तक निरन्तर स्थिर अभ्यास करना आवश्यक है। देहाध्यास छूटे बिना विभूषा के भाव न जगें, यह आकाश-कुसुमवत् है।

आध्यात्मिक भाषा में कहें तो विभूषा वृत्ति कुशीलता का द्योतक है। इसका रहस्य यह है कि जो साधक स्त्री जाति से विरत है, कामभोगों या विषय-वासनाओं को त्याग चुका है, वह जब शरीर को गोरा एवं सुकोमल बनाने के लिए तेल-मर्दन, पीठी, उबटन आदि का उपयोग करता है, मल-मल कर नहाता है, शृंगार की दृष्टि से दांतों को रंगता है, मस्सी लगाता है, दांतों को चमकीला बनाता है, बहुमूल्य एवं उजले, भड़कीले वस्त्र पहनता-ओढ़ता है, उन पर कसीदा करवाता है। केसर, चन्दन आदि का लेपन करता है, तिलक-छापे लगाता है, केशों को सजाता-संवारता है, घुंघराले बनाता है, तेल-फुलेल-इत्र आदि से शरीर के अंगों को सुगन्धित करता है, हाथ में घड़ी लगाकर, कंकण, कुण्डल, अंगूठी, हार, माला और मोती आदि आभूषण पहन कर हाथ में छड़ी लेकर बन-ठन कर चलता है, तब स्पष्ट है कि उसकी वृत्ति विजातीय (स्त्री) को आकर्षित करने की है। उसकी इस विभूषा-वृत्ति में कामुकता छिपी हुई है।

उत्तराध्ययन सूत्र में इसी बाड़ के सन्दर्भ में विभूषात्याग करने का कारण बताते हुए कहा है—"विभूषावृत्ति वाला ब्रह्मचारी साधक अवश्य ही विभूषित शरीर के कारण कामिनी जन के लिए अभिलषणीय हो जाता है।"[1] अर्थात्—कामिनियों का चित्त ब्रह्मचारी के सुसज्जित शरीर को देखकर अत्यन्त आकर्षित और मोहित हो जाता है, वे उसे चाहने लगती हैं और किसी न किसी उपाय से उसे अपनी ओर आकर्षित कर ब्रह्मचर्य से विचलित कर देती हैं। ब्रह्मचर्य से भ्रष्ट करके उसे अपना गुलाम बना लेती हैं। जैसे किसी दरिद्र के पास रत्न हो, और राजा की नजर उस पर पड़ जाए तो वह उससे वह रत्न जबरन छीन लेता है, इसी प्रकार जो अपने तन को सजाता-संवारता है, छैल-छबीला बनता है, उस पर स्त्रियों की नजर पड़ते ही वे मोहित और आकर्षित होकर उससे ब्रह्मचर्य रूपी रत्न छीन लेती हैं। ब्रह्मचर्य-साधक कामिनियों के लिए काम्य न बने और वे उसका ब्रह्मचर्य रत्न लूट न लें, इस के लिए आवश्यक है कि वह शरीर शृंगार या शरीर-प्रसाधन न करे। जो ब्रह्मचारी शृंगार-विभूषा को ताल पुट विष-समान[2] जान कर उससे बचता है, वही ब्रह्मचर्य की भलीभांति सुरक्षा कर सकता है।

---

१. "विभूसावत्तिए विभूसियसरीरे इत्थिजणस्स अभिलसणिज्जे हवइ।"
—उत्तरा० १६/६

२. "विभूषा..... विसं तालउडं जहा।" —दशवै० ८/५७

शरीर विभूषा की सामग्री का उल्लेख करते हुए दशवैकालिक सूत्र में उसके प्रयोग का सख्त शब्दों में निषेध किया है—"ब्रह्मचारी निर्ग्रन्थ गात्र-उद्वर्तन के लिए स्नान, कल्क (चन्दनादि लेपन द्रव्य), लोध्र, पद्मराग या कुंकुम आदि का प्रयोग कदापि नहीं करता।"[1] विभूषावृत्ति वाला भिक्षु उस कारण से चिकने (गाढ़) कर्मों का बन्ध करता है, जिससे वह दुस्तर संसार सागर में गिरता है। प्रबुद्ध पुरुष विभूषा सम्बन्धी वृत्ति को ऐसी ही दुष्परिणाम वाली मानते हैं। यह सावद्य-बहुल (पाप-प्रचुर) कर्म है, इसलिए यह निर्ग्रन्थों—आत्मत्राता मुनियों द्वारा सेव्य नहीं है।[2] विभूषा-शृंगार ब्रह्मचर्यव्रत को देर-सबेर से नष्ट करने वाला है। इससे दूर ही रहना चाहिए। अनगारधर्मामृत में इसे ब्रह्मचर्य का सातवाँ नियम बताया गया है।[3]

(१०) विषय-संयम —पंचविधमनोज्ञविषय-रागवर्जन—

यह ब्रह्मचर्य की नौ बाड़ों का कोट है। इसे उत्तराध्ययनसूत्र में दसवीं गुप्ति अर्थात्—दसवाँ ब्रह्मचर्य समाधि-स्थान कहा गया है। यह कोट ब्रह्मचर्य की सुरक्षा के लिए है, एवं बाड़ों को बाहर से घेरे हुए है। कोट के टूटने से बाड़ों को खतरा है और बाड़ों के खण्डित होने से ब्रह्मचर्यव्रत को। तात्पर्य यह है कि बाह्य कोट में दरार होने पर जैसे अंदर की बाड़ों के भग होने में देर नहीं लगती और बाड़ों के भंग होने से खेत के नाश होने में देर नहीं लगती। वैसे ही ब्रह्मचर्य के दसवें समाधिस्थान के भंग होने से अन्य समाधिस्थानों के भंग होने में देर नहीं लगती, और उनके भंग होते ही ब्रह्मचर्य रूपी खेत भी शीघ्र ही विनष्ट हो जाता है। इससे स्पष्ट है कि दसवाँ समाधिस्थान बाड़रूपी अन्य समाधिस्थानों से बहुत अधिक महत्त्व-पूर्ण है। इसे अखण्डित रखना अतीव आवश्यक है, क्योंकि इसकी सुरक्षा से ही अन्य समाधिस्थान सुरक्षित रह सकते हैं, और उनके सुरक्षित रहने से मूल ब्रह्मचर्य-व्रत सुरक्षित रह सकता है।

जिस प्रकार नगर का प्राकार सुरक्षित रहने से नागरिकों को शत्रु का भय नहीं रहता, वे निश्चिन्त रहते हैं, उसी प्रकार इस दसवें समाधिस्थानरूप प्राकार के सुरक्षित रहने से ब्रह्मचर्य साधक के पंचेन्द्रियविषयों तथा कामादि शत्रुओं के आक्रमण का भय नहीं रहता, और ब्रह्मचर्यव्रत को किसी प्रकार की आंच नहीं आती।

---

१. सिणाणं अदुवा कक्कं, लोद्धं पउमगाणि अ।
गायस्सुवट्टणट्ठाए, नायरंति कयाइ वि॥ —दशवै० ६/६४

२. विभूसावत्तियं भिक्खू कम्मं बंधइ चिक्कणं।
संसार सायरे घोरे जेणं पडइ दुरुत्तरं॥
विभूसावत्तियं चेअं बुद्धा मन्नंति तारिसं।
सावज्जबहुलं चेअं, नेयं ताईहिं सेविअं॥ —दशवै० ६/६६-६७

३. "मा च संस्कुरु॥" —अनगारधर्मामृत, नियम ७

इस दसवें समाधिस्थान (कोट) का स्वरूप उत्तराध्ययन सूत्र में इस प्रकार बताया गया है—"ब्रह्मचर्य-साधक शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श; इन्द्रियों के इन पाँच प्रकार के विषयों (कामगुणों) का सदा के लिए परित्याग कर दे।"[1]

दशवैकालिक सूत्र में इसका स्पष्टीकरण करते हुए कहा है—"ब्रह्मचारी शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श—इन्हें पुद्गलों के परिणाम और अनित्य जानकर मनोज्ञ (शब्दादि) विषयों में रागभाव न करे। वह अपनी आत्मा को (विषय-कषाय-शमन से) शीतल करके तृष्णारहित हो कर जीवनयापन करे।"[2]

आचारांग सूत्र में रूप आदि पांचों विषयों के प्रति समभाव रखने का निर्देश एवं विधि बताते हुए कहा है कि कान में पड़े हुए शब्दों का न सुनना, चक्षुगोचर हुए रूपों का न देखना, नाक में आई हुई गन्ध को न सूंघना, जिह्वा के सम्पर्क में आए हुए रसों का स्वाद न लेना और शरीर के स्पर्श में आए हुए स्पर्शों का अनुभव न करना सम्भव नहीं, किन्तु भिक्षु कान में पड़े हुए प्रिय शब्दों के प्रति राग और अप्रिय शब्दों के प्रति द्वेष, प्रिय रूपों के प्रति राग और अप्रिय रूपों के प्रति द्वेष, प्रिय गन्ध के प्रति राग और अप्रिय गन्ध के प्रति द्वेष, प्रिय रस के प्रति राग और अप्रिय रस के प्रति द्वेष, तथा प्रिय स्पर्शों के प्रति राग और अप्रिय स्पर्शों के प्रति द्वेष, करना छोड़ दे।

उत्तराध्ययन सूत्र में बहुत ही विस्तार से इसकी विधि बताते हुए कहा है, जिसका सारांश यह है कि जो साधक मनोज्ञ-अमनोज्ञ शब्दादि विषयों के प्रति राग-द्वेष नहीं करता, इन दोनों में सम रहता है, वही वीतराग है। पाँचों इन्द्रियों के द्वारा ग्राह्य पांच विषयों के अतिरिक्त वहाँ बताया गया है कि मन भाव-ग्राह्य है, अर्थात्—भाव मन का विषय है। प्रियभाव राग-हेतु और अप्रिय भाव द्वेष-हेतु है। जो इन दोनों पर समभाव रखता है, वह वीतराग है।[3]

इसी अध्ययन में रागी और वीतरागी पुरुषों के जीवन पर विषयों के परिणाम को स्पष्ट करते हुए कहा है—"इन्द्रिय और मन के (पूर्वोक्त) विषय रागी मनुष्य को ही दुःख के हेतु होते हैं, ये विषय वीतराग को कदापि किंचित् भी दुःख नहीं पहुँचा सकते।"

---

१. सद्दे रूवे य गंधे य रसे फासे तहेव य।
पंचविहे कामगुणे, निच्चसो परिवज्जए॥ —उत्तरा० १६/१०

२. विसयेसु मणुन्नेसु पेमं नाभिनिवेसए।
अणिच्चं तेसिं विन्नाय, परिणामं पोग्गलाण य॥
पोग्गलाणं परिणामं, तेसिं नच्चा जहा तहा।
विणीयतण्हो विहरे, सीईभूएण अप्पणा॥ —दशवै० ८/५६-६०

३ उत्तराध्ययनसूत्र ३२।२२, ३५, ४८, ६१, ७४, ८७।

विषयों से विरक्त पुरुष शोकरहित होता है, वह संसार में रहता हुआ भी दुःखसमूह की परम्परा से जलकमलवत् निर्लिप्त रहता है। वह सर्वथा कृतकृत्य हो जाता है। ज्ञानावरणीयादि चार घातिकर्मों से रहित वह वीतराग सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, निर्मोह, निरन्तराय हो जाता है। फिर आस्रवों से रहित, ध्यान और समाधि से युक्त वह विशुद्ध आत्मा आयु समाप्त होने पर मोक्ष को प्राप्त हो जाती है, जहाँ सर्व दुःख, रोग, शोक आदि से वह सर्वथा विमुक्त, कृतार्थ एवं प्रशस्त आत्मसुख में लीन हो जाती है। इसके विपरीत विषयों के प्रति राग-द्वेष करता रहने वाला यहाँ और परलोक में सर्वत्र दुःखी होता है, जन्म-मरण की परम्परा बढ़ाता है, और कामभोगों के वश अनन्त संसार में परिभ्रमण करता है।[1]

अतः ब्रह्मचर्य एक महामूल्यवान् रत्न है, जिसकी रक्षा के लिए विशेष प्रयत्न और सावधानी की आवश्यकता है। इसीलिए पंचेन्द्रिय विषयों के प्रति समभाव-रूपी इस कोट को ब्रह्मचर्य समाधि (स्थिरता) का दसवां स्थान बतलाया है। अनगारधर्मामृत में इसे ब्रह्मचर्य का प्रथम नियम बताते हुए कहा गया है, कि "कामिनियों के रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द के रस का पान करने की लालसा ब्रह्मचारी में नहीं होनी चाहिए।"

समवायांग में इन नौ गुप्तियों (बाड़ों) के उल्लेख में कुछ क्रम-भेद है और कुछ अन्यरूप है। जैसे कि वहाँ तीसरी गुप्ति है—स्त्रियों के समुदाय के साथ निकट सम्पर्क न रखना। पाँचवीं और छठी गुप्ति क्रमशः हैं—प्रणीतरस भोजन-त्याग, और अति भोजनत्याग, सातवीं और आठवीं गुप्ति क्रमशः है—पूर्वभोगस्मरण-त्याग और शब्दरूपानुपातिता-त्याग। नौवीं गुप्ति है—सांसारिक उपभोगों की आसक्ति का त्याग। इनके अर्थ स्पष्ट हैं।[2]

दिगम्बर परम्परा के अनगारधर्मामृत, भगवती आराधना आदि में ब्रह्मचर्य के जो दस नियम बताये हैं, वे भी ब्रह्मचर्य की सुरक्षा के लिए आवश्यक हैं। उनमें से दूसरा (वस्तिमोक्ष—वीर्यपात या जननेन्द्रिय विकार न हो), छठा (स्त्री का सत्कार न करे), नौवाँ (भविष्य की कामक्रीड़ा की जरा भी इच्छा न करे) और दसवाँ (इष्ट रूप आदि विषयों में मन को न जोड़े) ये नियम नये हैं। शेष का वर्णन श्वेताम्बर आगमों से मिलता-जुलता है।[3]

ब्रह्मचर्य व्रत : कब सुरक्षित और कब नहीं ?

इन पूर्वोक्त बाड़ों, गुप्तियों या नियमों के अतिरिक्त ब्रह्मचर्यव्रत की सुरक्षा

---

१ उत्तराध्ययन ३२।४७, १००, १०८, १०९, ११०।

२ समवायांग, नौवां समवाय।

३ वस्तिमोक्षं मा कृथा, 'स्त्रीं मा सत्कुरु', 'भविष्ये (वत्स्येद्) मा इच्छ', और 'इष्टविषयान् मा युजस्व।" —अनगारधर्मामृत (पं. आशाधर जी) ४।६१

का विधेयात्मक रूप मूलाचार में बताया गया है कि "जो ब्रह्मचर्यसाधक वृद्धा, बाला एवं युवती स्त्री को देखकर अथवा उनके चित्र को देखकर उन्हें क्रमशः माता, पुत्री और भगिनी-समान समझ कर, स्त्रीसम्बन्धी कथा आदि का अनुराग छोड़ता है, उसका ब्रह्मचर्य सुरक्षित एवं त्रिलोकपूज्य होता है।" माता, पुत्री और भगिनीभाव ब्रह्मचर्य रक्षा का सर्वोत्कृष्ट साधन है। धर्म से किंचित् भी प्रेम करने वाले के हृदय में माँ, बहन और पुत्री के लिए कोई विकार भावना नहीं होती। "जो साधक चित्र आदि के रूप में अचेतन स्त्री, तथा देवी, मानुषी और तिर्यञ्ची सचेतनस्त्री, यों चार प्रकार की स्त्रियों का मन, वचन, काया से सेवन नहीं करता तथा प्रयतमन (सचेष्ट मन) से ध्यान आदि में रत रहता है, उसका ब्रह्मचर्य भी विशुद्ध एवं सुरक्षित है।"[1]

कुछ अनुभवपूर्ण मूलमन्त्र

इसके अतिरिक्त दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, सूत्रकृतांग और आचारांग आदि आगमों में यत्र-तत्र ब्रह्मचर्यसुरक्षा के कुछ मूलमन्त्र बताये हैं। ये बड़े अनुभूत प्रयोग जैसे हैं यथा— सौकुमार्य त्याग, शीत-तापसहन,[1] विषयों की नश्वरता का चिंतन,[2] धैर्य रखना, मानसिक चंचलता होने पर निराश न होकर प्रयत्नशील रहना,[3] भेदचिन्तन,[4] रागद्वेष-विलय का संकल्प,[5] गुरु और स्थविर से मार्गदर्शन लेना,[6] कुशलसाथी का सम्पर्क,[7] अज्ञानी और आसक्त का संगत्याग,[8] स्वाध्याय, ध्यान, तप-जप में लीन रहना,[9] सूत्रार्थ चिन्तन,[10] भविष्य के विपरिणाम का दर्शन,[11] भोग में रोग का दर्शन,[12] रूखा भोजन,[13] ग्रामानुग्राम विहार,[14] (आसनादि द्वारा) कायक्लेश,[15] अनशन-मनोरथ,[16] आमिष एवं मादक पदार्थों से मुक्त, निर्दोष, शुद्ध सात्त्विक आहार-सेवन,[17] विकारपूर्ण सामग्री का अदर्शन, अप्रार्थन, अचिन्तन और अकीर्त्तन,[18] इन्द्रियों के बहिर्मुखी व्यापार का त्याग,[19] अप्रमत्त (सदा जागरूक) रहना, इत्यादि।[20]

ब्रह्मचर्य-साधक को पल-पल में भारण्डपक्षीवत् सावधान रहना चाहिए। वायु जैसे अग्निज्वाला को पार कर जाता है, वैसे ही जागरूक ब्रह्मचर्य-साधक कामभोग के मुख्य स्थानों (स्त्रियों) के प्रति आसक्ति को पार कर जाता है।[21]

---

१ मादु-सुदा-भगिणी वि य दट्ठूणित्थित्तियं च पडिरूवं।
इत्थि कहादिणियत्तो तिलोयपुज्जं हवे बंभं॥
अचित्त देव-माणुस-तिरिक्ख जगदं च मेहुणं च दुधा।
तिविहेण तं न सेवदि णिच्चं पि मुणिहि पयदमणो॥—मूलाचार ८।२९२, २९३
१. दशवै० २।४, २. वही ८।५९, ३. उत्तरा. ३२।३, ४. दशवै. २।३, ५. वही, २।४-५, उत्तरा. ३२।४१, ६-७. वही, ३२।४, ८. सूत्रकृतांग, ९. दशवै.— सज्झाय सुज्झाणरयस्स ताइणो., १०. वही, अ. १, ११. सूत्रकृ. १।३।४।१४, १२. वही, १।२।३।२, १३ बृहद्वृत्ति. १ अ. १३. उत्तरा. १६, १४-१५-१६. उत्तरा. १६,१७. वही, ३२।१५, १८. वही, ३२।१५, १९. वही, ३२।१२, २०. उत्तरा. १६वाँ अध्ययन, २१. सूत्रकृ. १।१५।८।

बौद्धधर्म में ब्रह्मचर्य-सुरक्षा के मुख्य उपदेश—तथागत बुद्ध ने ब्रह्मचर्य (शील) की सुरक्षा के लिए ब्रह्मचर्य-साधकों को कुछ उपदेश दिये हैं। मुख्य उपदेश ये हैं—

(१) काम पुरुष का अति बलवान् शत्रु है। दृढ़तारूपी तीक्ष्ण बाण से इस महारिपु को मारना चाहिए।

(२) स्त्रियों का स्वरूप निरन्तर निन्द्य समझकर उनसे बचो। पर्वत जैसे निश्चल मन को भी स्त्रियों द्वारा विचलित करने के अनेक दृष्टान्त हैं।

(३) सौन्दर्यमुग्ध मनुष्य का हृदय अन्धा बन जाता है, उसका चित्त भ्रान्त हो जाता है; अतः किसी स्त्री के समक्ष नहीं देखना।

(४) कदाचित् तुम्हारी दृष्टि किसी स्त्री पर पड़ जाए तो उसे देखी-अदेखी कर देना, उसके साथ सम्भाषण तो करना ही नहीं चाहिए।

(५) कदाचित् किसी स्त्री के साथ तुम्हें बात करनी पड़े तो पवित्र अन्तःकरण से बोलना, क्योंकि कामासक्त मलिन विचारों के सेवन की अपेक्षा व्याघ्र के मुख में जा पड़ना या क्रूर कसाई की तीखी छुरी से कट मरना अधिक श्रेयस्कर है। स्त्री पर सराग दृष्टिपात करने की अपेक्षा धगधगाते लाल तप्त लोहे के सरिये आँखों में भोंककर उन्हें जला डालना अधिक अच्छा है।

(६) स्त्री वृद्ध हो तो उसे माता, युवती हो तो बहन और बाला हो पुत्री के समान समझना।

(७) यदि कोई भिक्षु स्त्री के साथ एक स्थान में शयन करता है तो प्रायश्चित्त का भागी होता है। इतना ही नहीं, सयाने (समझदार) पुरुषों की अनुपस्थिति में भिक्षु को किसी स्त्री को धर्मोपदेश देने का भी निषेध है।

इसके अतिरिक्त यह भी कहा गया है कि "यदि कोई भिक्षु बड़े भिक्षु की सम्मति लिए बिना भिक्षुणियों को उपदेश देता है अथवा कोई भिक्षुणी बीमार हो, उस कारण के सिवाय, बिना उचित कारण के कोई भिक्षु भिक्षुणियों के स्थान में जाकर उन्हें उपदेश देता है, तो वह भी प्रायश्चित्त का भागी होता है।

ब्रह्मचारी भिक्षुओं के लिए इसी प्रकार के कठोर नियम जैनागमों में भी विहित हैं।

बौद्ध त्रिपिटकों में जैन आगमों की तरह ब्रह्मचारी भिक्षुओं के लिए आहार के लिए भी कुछ नियम विहित हैं, जो इन नियमों का उल्लंघन करता है, वह मन-वचन-काया से शुद्ध अखण्ड ब्रह्मचर्य का पालन नहीं कर सकता।

मैथुन बोधों से बचने के उपाय

ब्रह्मचर्य का एक अर्थ है—सर्वमैथुनविरमण। बौद्ध-साहित्य में 'विसुद्धि मग्गो' (विशुद्धि मार्ग) में तथागत बुद्ध ने चित्त संक्लेशों को दूर करने का एकमात्र उपाय

बताया है—मैथुन से सर्वथा विरत होना। मैथुन के दोषों से बचने के लिए भगवान् बुद्ध ने एक ब्राह्मण को सात प्रकार के उपाय बतलाये थे। वे इस प्रकार हैं—

(१) ब्राह्मण! यदि कोई श्रमण या ब्राह्मण पक्का ब्रह्मचारी होने का दावा करता हुआ किसी स्त्री के साथ मैथुन सेवन तो नहीं करता, किन्तु स्त्री से उबटन लगवाता है, शरीर मलवाता है, स्नान करवाता है, शरीर दबवाता है। वह उसका मजा लेता है, उसे पसन्द करता है, और उसे देखकर प्रसन्न होता है। हे ब्राह्मण! यह ब्रह्मचर्य का खण्ड (भंग) भी है, छेद भी है और शबल (चितकबरा होना) भी है। वह व्यक्ति मैथुन-संयोग से संयुक्त है। अतः वह जन्म, जरा और मृत्यु से छुटकारा नहीं पा सकता।

(२) ब्राह्मण! यदि कोई श्रमण या ब्राह्मण पक्का ब्रह्मचारी होने का दावा करता हुआ स्त्री के साथ मैथुन-सेवन नहीं करता, न ही उससे उबटन आदि लगवाता है, किन्तु वह स्त्री के साथ ठहाका मारकर हंसता है, उसके साथ मजाक करता है, मजाक करते हुए विचरता है, और वह उसका मजा लेता है। यह ब्रह्मचर्य का खण्ड भी है, छेद भी है और शबल होना भी है। वह अपने जन्म-मरण से मुक्त नहीं हो सकता।

(३) ब्राह्मण! यदि कोई श्रमण या ब्राह्मण पक्का ब्रह्मचारी होने का दावा करता हुआ स्त्री के साथ मैथुन-सेवन नहीं करता, न स्त्री से उबटन लगवाता है, न ही ठहाका मारकर हंसता है, न मजाक करता है, न मजाक करते हुए विचरता है, किन्तु अपनी आँख से स्त्री की आँख मिलाकर देखता है, अवलोकन करता है और उसका मजा लेता है। यह ब्रह्मचर्य का खण्ड भी है, छेद भी है और शबल होना भी है।

(४) ब्राह्मण! अगर कोई श्रमण या ब्राह्मण नैष्ठिक ब्रह्मचारी होने का दावा करता हुआ, न तो स्त्री के साथ मैथुन-सेवन करता है, न स्त्री से उबटन लगवाता है, न ठहाका मारकर उसके साथ हँसता है, और न अपनी आँख से स्त्री की आँख को मिलाकर देखता है, किन्तु दीवार की आड़ से, चारदीवारी की ओट में हँसती हुई, बोलती हुई, गाती हुई या रोती हुई स्त्री का शब्द सुनता है और उसका मजा लेता है। यह ब्रह्मचय का खण्ड भी है, छेद भी है और शबल होना भी है।

(५) ब्राह्मण! यदि कोई श्रमण या ब्राह्मण परिपक्व ब्रह्मचारी होने का दावा करता हुआ, न स्त्री के साथ हँसी-मजाक करता है, न अपनी आँख को मिला कर देखता है और न स्त्री का शब्द सुनता है, किन्तु उसने पहले स्त्री के साथ जो हँसी-मजाक किया था, उसे याद करता है, और उसका मजा लेता है तो यह ब्रह्मचर्य का खण्ड भी है, छेद भी है और शबल होना भी है।

(६) ब्राह्मण ! यदि कोई श्रमण या ब्राह्मण, पक्का ब्रह्मचारी होने का दावा करता हुआ, न स्त्री साथ मैथुन-सेवन करता है, न उबटन लगवाता है, न स्त्री के साथ हँसता है, न अपनी आँख से उसकी आँख को मिलाकर देखता है, न स्त्री का शब्द सुनता है और न पहले कभी स्त्री के साथ किये हुए हँसी-मजाक का स्मरण ही करता है; किन्तु पाँच कामगुणों में समर्पित, तल्लीन और उनमें आनन्द लेते हुए गृहपति या गृहपति के पुत्र को देखता है, और उसका मजा लेता है। हे ब्राह्मण ! यह ब्रह्मचर्य का खण्ड भी है, छेद भी है और शबल होना भी है।

(७) ब्राह्मण ! यदि कोई श्रमण या ब्राह्मण, पक्का ब्रह्मचारी होने का दावा करता हुआ, न स्त्री के साथ ठहाका मारकर हँसता है, न अपनी आँख से स्त्री की आँख को मिलाकर देखता है, न स्त्री का शब्द सुनता है और न पहले कभी स्त्री के साथ किये हुए हंसी-मजाक का स्मरण करता है; और न पंचविध कामगुणों में समर्पित एवं तल्लीन हुए गृहपति अथवा उसके पुत्र को ही देखता है किन्तु वह किसी देवनिकाय की वाञ्छा करते हुए ब्रह्मचर्य का पालन करता है और मन में संकल्प (नियाणा) करता है कि 'इस शील, व्रत, तप अथवा ब्रह्मचर्य के फलस्वरूप देव बनूँगा।' वह इस प्रकार का संकल्प ही नहीं करता, अपितु इस संकल्प का मजा भी लेता है, तो हे ब्राह्मण ! यह ब्रह्मचर्य का खण्ड भी, छेद भी है और शबल होना भी है। इस प्रकार का साधक अपने जन्म, जरा और मरण के संक्लेशों से कभी छुटकारा नहीं पा सकता, कभी विमुक्त नहीं हो सकता।

इन सात मैथुन दोषों से बचने एवं शील (ब्रह्मचर्य) की सुरक्षा के उपायों के सन्दर्भ में जो सात सूत्र भगवान् बुद्ध ने प्रस्तुत किये हैं, वे प्रकारान्तर से भगवान् महावीर द्वारा प्रतिपादित नौ गुप्तियों, बाड़ों या दस समाधिस्थानों का ही अनुसरण है। वस्तुतः बुद्ध द्वारा प्रतिपादित ब्रह्मचर्य-रक्षा की यह सप्तसूत्री ब्रह्मचर्य (शील) साधना के मार्ग में आने वाले विघ्नों, बाधाओं और अवरोधों का सूक्ष्म विश्लेषण है। इस मनोवैज्ञानिक संवाद द्वारा प्रत्येक ब्रह्मचर्य-साधक को ब्रह्मचर्य-रक्षा के लिए साधना के मार्ग में आने वाले इन अवरोधों से बचना चाहिए। तभी ब्रह्मचर्य पूर्णतया सुरक्षित रह सकता है। इन अवरोधों से बचे बिना ब्रह्मचर्य-सुरक्षा निराबाध और निष्कंटक नहीं हो सकती।

देशविरति ब्रह्मचर्यव्रत की सुरक्षा के उपाय

जो नियम, उपाय, गुप्तियाँ (बाड़ें), ब्रह्मचर्य समाधिस्थान या भावनाएँ सर्वविरति ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए बताई गई हैं, देशविरति (गृहस्थ जीवन में) ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए, उन्हीं नियम, उपाय, गुप्तियों आदि को आदर्श मानकर यथासम्भव उनका अनुसरण एवं आचरण करना उचित है। हाँ, यह तो देखना ही होगा कि देशविरति ब्रह्मचर्यव्रत स्वीकार करने वाले लोग सद्-गृहस्थ होते हैं। इसलिए

सद्गृहस्थ की भूमिका में रहते हुए शायद वे उन सभी नियमों, बाड़ों आदि का पूर्णरूप से सर्वांशतः पालन न कर सकें, किन्तु आंशिक रूप से तो अवश्य ही पालन कर सकते हैं। उदाहरणार्थ— सर्वविरति ब्रह्मचारी के लिए प्रथम ब्रह्मचर्य-गुप्ति (बाड़) है—स्त्री-पशु-नपुंसक से संसक्त मकान में न रहना; इस गुप्ति का पूर्णतया पालन देशविरति ब्रह्मचारी नहीं कर सकता, किन्तु इस नियम का तो वह यथासम्भव पालन कर ही सकता है कि—स्त्री-पुरुष पृथक-पृथक् शयन कक्ष में रहें, एक ही शय्या पर शयन न करें। इसी प्रकार देशविरति ब्रह्मचारी स्त्रीमात्र को कामुकता की दृष्टि से न देखने, उनसे हँसी-मजाक आदि न करने की गुप्ति का पालन स्वपत्नी के लिए नहीं कर सकता, किन्तु परस्त्री के लिए तो इस नियम (या गुप्ति) का पालन कर ही सकता है।

सारांश यह है कि जो बाड़ें या नियम सर्वविरति ब्रह्मचारी ब्रह्मचारिणी के लिए बताये हैं, देशविरति ब्रह्मचारी को उनका सर्वथा नहीं तो, आंशिक रूप से ही पालन करना चाहिए।

इसके अतिरिक्त देशविरति ब्रह्मचर्यव्रतधारी श्रावक-श्राविका के लिए यह भी आवश्यक है कि वे केवल स्पर्शेन्द्रियजन्य वासना पर ही नहीं, प्रत्युत अन्य इन्द्रियों पर भी नियंत्रण रखें। उन्हें ऐसे तामसी-राजसी भोजन और पेय पदार्थों से बचना चाहिए, जो वासना की आग भड़काने वाले हैं, साथ ही उन्हें अतिभोजन तथा दुष्पाच्य गरिष्ठ भोजन से भी बचना चाहिए। उनका आहार नियमित एवं नियत समय पर होना चाहिए, ऐसा नहीं कि पशु-पक्षी की तरह जब चाहा, तब खा लिया। इससे स्वास्थ्य भी सुरक्षित रहेगा, विकार भी कम जाग्रत होंगे। खाना स्वाद के लिए नहीं, बल्कि शरीर को स्वस्थ-सशक्त रखकर स्वीकृत ब्रह्मचर्यव्रत की साधना के लिए है।

देशविरति ब्रह्मचारी नर-नारियों को देखने, सुनने और बोलने पर भी संयम रखना आवश्यक है। उन्हें ऐसे शृंगारिक एवं अश्लील गीत नहीं गाने चाहिए, न सुनने चाहिए, न ही ऐसे कार्यक्रमों में शामिल होना चाहिए, जो विषय-वासना को उत्तेजित करने वाले हों। उन्हें विषय-वासनोत्तेजक कार्यों को प्रोत्साहन या प्रेरणा नहीं देनी चाहिए। उन्हें न तो अश्लील शृंगारिक सिनेचित्र, सिनेमा या नाटक देखने चाहिए, न ही ऐसे भद्दे एवं गंदे उपन्यासों एवं कहानियों को पढ़ने में समय बर्बाद करना चाहिए। ये सब युवक-युवतियों के हृदय में वासना की आग भड़काने वाले हैं; समग्र वायुमण्डल को विषाक्त बनाने वाले हैं। ब्रह्मचर्याणुव्रती श्रावक-श्राविका का दाम्पत्य जीवन भी अमर्यादित नहीं, मर्यादित एवं नियंत्रित होना चाहिए, उन्हें यह विवेक रखना चाहिए कि उनका जीवन अब्रह्मचर्य की ओर बढ़ने के लिए नहीं, किन्तु पूर्ण ब्रह्मचर्य की ओर गति करने के लिए है। अतः भोग-वासना भड़काने वाली कोई भी प्रवृत्ति उन्हें नहीं करनी चाहिए तभी उनके ब्रह्मचर्याणुव्रत की सुरक्षा हो सकेगी। □

१२

वीर्य-रक्षा के ठोस उपाय

वीर्यरक्षा ब्रह्मचर्य-साधना का प्राण है। इसीलिए ब्रह्मचर्य का एक लक्षण 'वीर्यधारण' भी किया गया है। पिछले स्वरूप विवेचन प्रकरण में वीर्योत्पत्ति के क्रम, स्थान, महत्त्व, उपयोग, संचय-विचय-परिणाम, वीर्यनाश से होने वाली भयंकर हानियाँ आदि के सम्बन्ध में विस्तृत रूप से कहा जा चुका है।

इस प्रकरण में हम साधनात्मक दृष्टि से वीर्यरक्षा के कुछ अनूठे नुस्खों का उल्लेख करना चाहेंगे।

वीर्य रोकने का अनूठा उपाय

पहले कहा गया था कि शरीर में अन्तःस्राव बचपन से ही शुरू हो जाता है, यही अन्तःस्राव शरीर का भोजन है। स्वयं शरीर में खपता रहता है, शरीर को हृष्ट-पुष्ट बनाता है। इसी को ओज कहते हैं। इसी की चमक ब्रह्मचारियों के चेहरे पर दीखा करती है। जब युवावस्था में कामभाव आता है तो उत्पादक ग्रन्थियाँ बहिःस्राव उत्पन्न करने लगती हैं। बहिःस्राव अन्तःस्राव की उत्पत्ति को रोक देता है। बहिःस्राव से वीर्यकोश में वीर्य संचित होने लगता है। बहिःस्राव वीर्यकोश में जाकर यदि वहाँ से शरीर में खपता रहे तो उससे शरीर में बल, ओज, तेज और स्फूर्ति की वृद्धि होती है। उसके अनेक चमत्कारी परिणाम होते हैं। अगर बहिःस्राव शरीर में नहीं खपता तो इसका निष्कासन तीन प्रकार से होता है—

(१) या तो वीर्यकोश भर जाने पर पुरुष अपनी इच्छा से सन्तानैषणा, स्त्री-प्रसंग, हस्तमैथुन आदि कारणों से वीर्यनाश कर डालता है।

(२) अथवा वीर्य स्वयं निकल जाता है। वीर्यकोश की स्थिति ऐसी है कि इसके एक तरफ गुदा है और दूसरी तरफ मूत्राशय है। दोनों के भर जाने पर शुक्राशय पर इतना जोर पड़ सकता है कि उत्तेजना होकर वीर्य स्खलित हो जाए।

(३) अथवा जब शुक्राशय भरा हो, तब सोते समय नींद में कोई गन्दा स्वप्न आने से वीर्यपात हो जाता है। कभी-कभी शुक्राशय भरा न भी हो तो भी उपन्यास,

सिनेमा, नाटक आदि के पढ़ने-देखने से संचित किये हुए बुरे-बुरे विचार रात्रि में सोते-सोते इतनी कामुकता उत्पन्न कर देते हैं कि वीर्यपात हो जाता है। इन दोनों स्थितियों को स्वप्नदोष कहते हैं। आगे हम इन तीनों प्रकार से वीर्यस्खलन होने को रोकने के उपायों पर विचार करेंगे।

ब्रह्मचर्य-साधक को अपने तन, मन, बुद्धि एवं आत्मा के साथ निकट सम्बन्ध रखने वाले, तथा अपनी जीवन यात्रा को सुखद और सफल बनाने वाले एवं जीवन के सभी क्षेत्रों में विजय दिलाने वाले ब्रह्मचर्य का प्राणप्रण से पालन करना चाहिए। उसे अपने दिमाग में यह बात ठसा लेनी चाहिए कि मुझे किसी भी मूल्य पर वीर्य-रक्षा करनी अनिवार्य है, वीर्यस्खलन किसी भी प्रकार से नहीं होने देना है। वीर्यनाश किसी भी प्रकार से हो, वह अनुचित है, अत्यन्त अनुचित।

इसके पश्चात् उसे यह पक्का निर्धारण कर लेना चाहिए कि जिस प्रकार उत्पादक ग्रन्थियों का अन्तःस्राव (ओज) असंदिग्ध रूप से शरीर में खप जाता है, इसी प्रकार बहिःस्राव (बीजणुक) भी अभ्यास से खप सकता है। आखिर बहिःस्राव तो अन्तःस्राव का ही कामभाव से बाहर निकल आना है। फिर यदि अन्तःस्राव शरीर में खप सकता है तो बहिःस्राव क्यों नहीं खप सकता? इसमें सन्देह नहीं कि बहिःस्राव स्वयं नहीं खपेगा, शुक्राशय के भर जाने पर वह निकलने की कोशिश करेगा, किन्तु प्राचीनकाल में योगी लोग ऐसे अभ्यास जानते थे, जिनके द्वारा बहिः-स्राव शरीर के रक्त में पुनः संचरित होकर तन-मन में नवीन शक्ति भर देता था। ऐसे नैष्ठिक ब्रह्मचारी महान् आत्माओं को 'ऊर्ध्वरेता' या 'आदित्य ब्रह्मचारी' कहा जाता था। वे अनन्तशक्ति के स्रोत वीतराग परमात्मा की खोज एवं ध्यान में अपना समग्र जीवन बिता देते थे। यह बात निश्चित है कि बहिःस्राव को अन्तःस्राव में बदल देने से अदम्यशक्ति का स्रोत फूट पड़ता है।

आसन, प्राणायाम, गुप्ति (बाड़), नियम आदि के अभ्यास द्वारा वीर्य का ऊर्ध्वीकरण करने की प्रक्रिया का निरूपण हम पूर्व प्रकरणों में कर आये हैं। इसी प्रकार वीर्य द्वारा संचित शक्ति को विश्व-कल्याण के प्रयोग में, समाज सेवा, राष्ट्रसेवा, परमात्म-चिन्तन, आत्म-शुद्धि आदि अपने बृहद् ध्येय में लगा देने से भी बहिःस्राव अन्तःस्राव में परिवर्तित हो सकता है, इसका विवेचन भी हम पूर्व पृष्ठों में कर चुके हैं।

निष्कर्ष यह है कि वीर्यस्खलन को रोकने का सर्वश्रेष्ठ उपाय है—पुनः पुनः अभ्यास से बहिःस्राव को शरीर में खपाना, बहिःस्राव को अन्तःस्राव में बदलना।

वीर्यस्खलन रोकने के अन्य ठोस उपाय

अब हम वीर्य स्खलन हो जाने वाले प्रत्येक प्रकार के निवारण के ठोस उपायों

पर विचार करेंगे। जो लोग यह सोचते हैं कि पौष्टिक या धातुपुष्टि की दवाइयाँ या रसायन खाने से वीर्यस्खलन रुक जाएगा, वे लोग फूटी आँख में सुरमा डालने की-सी भ्रान्ति के शिकार हैं। जब तक वीर्य स्खलन को रोकने का ठोस आन्तरिक उपाय नहीं किया जाएगा, तब तक बाह्य उपचारों से कुछ भी लाभ होना कठिन है। अतः हम क्रमशः वीर्यस्खलन रोकने के ठोस उपायों पर विचार करेंगे।

स्वप्नदोष-निवारणोपाय

स्वप्नदोष के स्वरूप तथा उसके भौतिक और मानसिक कारणों आदि की चर्चा पहले की जा चुकी है। यहाँ तो सिर्फ उसके निवारणों के उपाय बतलाने हैं। ये उपाय दो प्रकार के हैं—(१) मानसिक उपाय और (२) भौतिक उपाय।

स्वप्नदोष के मानसिक कारण मुख्यतया दो हैं—कामुकता के स्वप्न और चिन्ता उत्पन्न करने वाले स्वप्न। जब प्रगाढ़ निद्रा नहीं आती है, तब दिन में किसी भी कारण से कामुकता के किये हुए विचार ही रात को स्वप्न में आते हैं। उनसे स्वप्नदोष होकर वीर्यस्खलन हो जाता है। इन स्वप्नों का आधार प्रायः जाग्रतावस्था के कुविचार होते हैं। अतः स्वप्नदोष को रोकने के कुछ **मानसिक उपाय** ये हैं—

(१) **दृढ़ संकल्प**—जो साधक कामुकता के स्वप्नों से बचना चाहते हैं वे दिन के समय अपनी विचारशृंखला पर ध्यान देते रहें, बुरे विचारों को मन में न आने दें, जागृतावस्था में काम-भाव के विचारों को बिलकुल स्थान न दें, काम-भाव उत्पन्न होने के विविध कारणों से बचे रहें तो रात को वे कामुकता के विचारों से बचे रहेंगे। परन्तु कामुकता के विचारों से केवल बचा रहना ही पर्याप्त नहीं है, विचारों का सशक्त होना उससे भी अधिक आवश्यक है। क्योंकि कभी-कभी कुछ दिनों या वर्षों पूर्व के कामुकता के विचारों का स्मरण हो जाता है, उन पर फिर व्यक्ति कल्पना के पंख लगाकर उसकी घातक शक्ति को बढ़ा लेता है। इसके अतिरिक्त कई लोग, कामुकता के स्वप्नों से भयभीत रहते हैं, घबरा उठते हैं, अथवा यह सोचकर निराश या हताश हो जाते हैं कि इन स्वप्नों से छुटकारा पाना अत्यन्त दुष्कर है; वे जितना इन दुःस्वप्नों से बचने की कोशिश करते हैं, उतने ही उनके शिकार होते जाते हैं। इस प्रकार की भीति या निराशा पूर्वोक्त विचारशक्ति को सशक्त बनाने के बदले अशक्त बना देती है। अतः स्वप्नदोष से घबराकर, अथवा उनके निवारण का उपाय असम्भव समझकर पूर्वोक्त विचार शक्ति को कभी शिथिल, आशंकायुक्त या दुर्बल नहीं होने देना चाहिए, न ही घबराना चाहिए। यह दृढ़ विश्वास रखना चाहिए कि स्वप्नदोष से मुक्त हुआ जा सकता है और मुझे इससे मुक्त होना ही है। इस प्रकार की दृढ़ श्रद्धा और संकल्पवृत्ति जीवित—जागृत रखना स्वप्नदोष से मुक्त होने का सर्वोत्तम उपाय है।

अतः सर्वप्रथम तो जागृत अवस्था में ही अधिक सावधान रहने की जरूरत है।

जो लोग जागते समय गन्दे उपन्यास पढ़कर, गंदे सिनेमा-नाटक देखकर, पतित साथियों के साथ मिल-जुलकर या खाली रहकर मन को गंदगी के गड्ढों में नहीं गिरने देते, वे सोते समय भी बचे रहते हैं। डॉ० कोवन का यह परामर्श है कि "प्रत्येक व्यक्ति जिसने अपनी इच्छा शक्ति का सर्वथा संहार नहीं कर दिया, वह कम से कम जागृत अवस्था में अपने विचारों को अच्छी तरह वश में कर सकता है, उन्हें पवित्र रख सकता है।..... जिस प्रकार जागते हुए अपने विचारों को पवित्र रख सकता है, उसी प्रकार सोते हुए भी रख सकना कठिन नहीं है। जागती हालत में जिन्हें 'विचार' कहते हैं, सोती हालत में उन्हीं को तो 'स्वप्न' कहते हैं। यदि जागृतावस्था या दिन का समय गंदे, अश्लील या अपवित्र विचारों में बीता है, कामोद्दीपन हो चुका है तो रात्रि को स्वप्नदोष हो जाना स्वाभाविक है। इसलिए जागते हुए जिसने कुवासनाओं को दबाने के लिए इच्छाशक्ति का उपयोग किया है, वह सोते हुए भी पैशाचिक भावों के आगमन के समय एकदम सावधान होकर उन्हें प्रविष्ट होने से इन्कार कर देगा।"

एक उच्च स्थिति का इटैलियन जो स्वप्नदोष से बहुत परेशान हो चुका था, लिखता है—"जब और कोई चारा नहीं रहा तो अन्त में उसने दृढ़ संकल्प कर लिया कि आगे से जब भी कोई अपवित्र विचार उसके मन में प्रविष्ट होने लगेगा, वह तुरंत जाग जायगा।" इस आदत का उसने दिन को खूब अभ्यास किया। जब कभी कोई अश्लील विचार उसके मन में आने लगता, वह एकदम चौंक उठता। सोने से पूर्व वह यही विचार कई बार दोहरा कर सोता। सारी संकल्पशक्ति इसी विचार में लगा देता। इसका बहुत अच्छा परिणाम निकला। यह भावना उसके हृदय में इतना घर कर गई कि 'बुरा विचार एक बड़ा भारी खतरा है'। सोते समय भी यह भावना उसकी चेतना का अंग बनी रहती और मन के इधर-उधर भटकते ही वह उठ बैठता। इस अभ्यास से उसे बहुत लाभ पहुँचा और अन्त में वह स्वप्नदोष से सर्वथा बच गया।

(२) **अन्तर्मन को सूचना** (Suggestion)—बिछौने पर लेटने से पूर्व दृढ़ भावना करके अन्तर्मन को इस प्रकार की सूचना (सजेशन) करना—"मैं चाहता हूँ कि रात्रि की नींद के समय वीर्यरक्षा में क्षति पहुँचाए ऐसा कोई भी विचार, प्रक्रिया या गति; मन बुद्धि, प्राण या शरीर में प्रकट न हो। यदि शरीर में कामावेश पैदा हो तो तुम्हें (मन, बुद्धि एवं अन्तःकरण को) उसको जरा भी प्रश्रय नहीं देना है, नहीं देना है।" ऐसी सूचना, संकल्प या चिन्तन अन्तर्मन में करना चाहिए। साथ ही सोते समय परमात्मा से भी प्रार्थना करनी चाहिए कि "प्रभो! मेरी वीर्यरक्षा पूर्णतया हो।" फिर निश्चिन्त होकर प्रभु नामस्मरण करते हुए सोना चाहिए। सोते समय मन में चिन्ता या घबराहट के विचार लेकर नहीं सोना कि "मुझे रात में स्वप्नदोष

हो जायगा तो ?" दिन में या जाग्रत अवस्था में किसी भी व्यभिचारी स्त्री या पुरुष के विषय में चर्चा नहीं करना और न ही सुनना चाहिए। अवकाश के समय ब्रह्मचारी पुरुषों का जीवन चरित्र पढ़ना और मनन करना चाहिए, या कोई आध्यात्मिक तत्वज्ञान की पुस्तक पढ़नी चाहिए।

(३) **मनः शुद्धि**—स्वाध्याय, ध्यान, चिन्तन, सत्संग, प्रार्थना, सत्संकल्प आदि किसी भी उपाय से मन को शुद्ध-पवित्र रखना चाहिए; क्योंकि अन्तर्मन की गहराई में छिपे हुए कामरसों के प्रभाव से मुक्त होकर मन को पवित्र बनाये बिना स्वप्नदोष से पूर्णतया मुक्त होना दुःशक्य है। अतः स्वप्नदोष से मुक्ति के लिए मनःशुद्धि अत्यन्त आवश्यक है।

(४) **इष्टदेव का जाप**—स्वप्नदोष से मुक्त होने के लिए अथवा काम-विकारों को जीतने के लिए एक विशिष्ट उपाय अपने मनोनीत इष्टदेव या इष्टमंत्र का जाप भी है। यथा—अर्हन्त, राम, शिव, हरि, ॐ, नवकार महामंत्र, गायत्रीमंत्र, सोहम्, सहजात्म-स्वरूप आदि में से किसी भी अभीष्ट मंत्र का जाप मनोयोग-पूर्वक करने में मन-वचन को संलग्न रखना। इससे काम-विकार को या अशुभ विचार को मन में प्रवेश करने का अवकाश ही नहीं मिलेगा।

(५) अपने तथा विजातीय व्यक्ति के शरीर की अनित्यता तथा अशुचि का चिन्तन-अनुप्रेक्षण करना, ताकि सौन्दर्य के अन्ध आकर्षण से व्यक्ति विरत हो और सौन्दर्य के मोहक आकर्षण से उसमें कामभाव जागृत न हो।

भौतिक उपाय—(१) स्वप्नदोष के भौतिक (बाह्य) कारणों की चर्चा हम पहले कर आये हैं। निर्बल शरीर, हस्तमैथुन या अतिमैथुन, दबाई हुई अतृप्त कामेच्छा के कारण शरीर में वीर्य-धारण शक्ति या स्तम्भन शक्ति न रहने से स्वप्नदोष होकर वीर्य स्खलित हो जाता है। इसके निवारण के लिए निर्बल शरीर वाले को स्तम्भन शक्ति के लिए उचित व्यायाम एवं प्राणायाम करना चाहिए। जिन्हें विवाहितावस्था में अत्यधिक विषयभोग की लत पड़ गई है, वे पत्नी के वियोग में स्वप्नदोष के शिकार हो जाते हों, अथवा अतृप्त कामेच्छा के कारण स्वप्नदोष हो जाता हो या हस्तमैथुन की लत के कारण अनजाने स्वप्नदोष हो जाता हो, उन्हें स्वप्नदोष से बचने के लिए यह आवश्यक है कि वे दृढ़ संकल्पपूर्वक सर्वनाशकारी बुरी आदतों से बचें; विजातीय या सजातीय व्यक्ति को वासना की दृष्टि से देखने, स्पर्श करने से कामुकता के चिन्तन आदि करने से बचें तथा ऐसी आदतें, जो तृप्त नहीं की जा सकतीं, या अच्छी तरह से तृप्त नहीं की जा सकतीं, उत्पन्न ही न होने देना चाहिए, यही बुद्धिमत्ता है। ये आदतें भी दृढ़ संकल्पपूर्वक छोड़ देने से ही छूटेंगी।

(२) कभी-कभी मूत्राशय में गन्दे पदार्थ एकत्र होने से उसमें गंदगी, खुजली और जलन पैदा हो जाती है, यह जलन जब मूत्रप्रणाली में से होती हुई शुक्र-कोश तक पहुंच जाती है तो स्वप्नदोष हो जाता है। इस से बचने का उपाय यह है कि मिर्च-मसाले वाले तथा तामसी भोजनों से दूर रहे, सात्विक भोजन करे, रक्त विकार न होने दे। शरीर की गर्मी को अंकुश में रखने तथा त्वचा रोगों से बचने के लिए इन अंगों की स्वच्छता भी जरूरी है।

(३) सोने से पहले ज्यादा खा-पी लेने के कारण रात में मूत्राशय एवं मलाशय के भर जाने से शुक्रकोश पर दबाव पड़ता है और इस कारण स्वप्नदोष होकर वीर्यपात हो जाता है, तथा कभी-कभी शौच के समय अधिक खांसने या जोर लगाने से भी शुक्र निकल पड़ता है। इस कारण भी कभी-कभी स्वप्नदोष हो जाता है। इस प्रकार के स्वप्नदोष वाले को या तो सायंकाल का भोजन त्याग देना चाहिए या अल्पाहार (ऊनोदरी) करना चाहिए। सोने से पूर्व पानी या दूध आदि न लें। साथ ही सोने से पहले लघुशंका की हाजत से निवृत्त होकर ही सोना चाहिए। बीमारी बढ़ गई हो तो पेट साफ कर लेना अच्छा है। सीधे लेटकर (चित) या उलटे लेट कर सोने से या छाती पर हाथ रखकर सोने से भी कई बार ऐसे उपद्रव खड़े हो जाते हैं, इसके लिए बांयी करवट सोने की आदत डालनी चाहिए। पीठ के पीछे, या नाभि के नीचे कपड़ा बांध लेना चाहिए, जिससे सीधे या औंधे लेटने से बचा जा सकता है, और इस प्रकार स्वप्नदोष होने के कारण को रोका जा सकता है।

(४) अतिभोजन से नहीं पचा हुआ भोजन पेट में सड़ता है, और समग्र पाचन प्रणाली में गड़बड़ मचा देता है। पाचन-प्रणाली और जनन-प्रणाली में पारस्परिक गहरा सम्बन्ध है। पाचन-प्रणाली में सड़ान पैदा होने से जलन उत्पन्न होती है तब वैसी ही जलन जनन-प्रणाली में होती है, उससे उत्तेजना होते ही मानसिक अवस्था बिगड़कर सोते-सोते स्वप्नदोष हो जाता है। इसका सर्वोत्तम उपाय है—भोजन पर संयम। दिन में सिर्फ दो बार ही नियत समय पर परिमित सात्विक भोजन करने का अभ्यास करना। यह सूत्र हमेशा अपने हृदय में अंकित कर लेना चाहिए कि "मैं खाने के लिए नहीं जीता, बल्कि जीने के लिए खाता हूं।" साथ ही उसे पचने में भारी, गरिष्ठ एवं स्निग्ध खाद्य पदार्थ जैसे कि अत्यन्त खट्टे, अति चटपटे, मिर्च-मसाले वाले पदार्थ, मिठाइयां या तली हुई चीजें, अत्यन्त गर्म या ठंडे बासी, सड़े या वातवर्द्धक पदार्थ नहीं खाने चाहिए। खाने से पहले जिह्वा से पूछने के बदले पेट से पूछना चाहिए। सायंकाल या रात्रि के भोजन से दूर रहा जाए तो सबसे अच्छा, अथवा ऐसा न हो सके तो रात्रिभोजन में उपर्युक्त बातों का ध्यान रखा जाए। तथा दूसरा उपाय है —जिसका वीर्य शुक्राशय या मूत्राशय पर जोर पड़ने से स्वयं निकल जाता हो, उसे अपना पेट साफ रखना चाहिए। शौच के समय जोर नहीं लगाना चाहिए। तभी ऐसे स्वप्नदोष से बचा जा सकता है।

(५) **पवित्र वातावरण**— इसके लिए कुसंग का त्याग और सत्संग का आराधन करना तथा विजातीय व्यक्ति के साथ पूर्ण एकान्त में अथवा अन्धकार में साथ न रहना चाहिए। उपन्यास या अश्लील साहित्य पढ़ने और सिनेमा, नाटक आदि देखने का त्याग कर देना चाहिए। विद्यार्थी काल में विद्यार्थी को उत्तम सत्संग एवं पवित्र वातावरण के लिए किसी नैसर्गिक पवित्र वातावरण वाले गुरुकुल या ब्रह्मचर्याश्रम में रखा जाय तो अच्छा रहेगा। इस प्रकार का पवित्र वातावरण मिलेगा तो कुत्सित विचारों से सहज ही छुट्टी मिल जायेगी और फिर स्वप्नदोष का कोई कारण नहीं रहेगा।

(६) स्वप्नदोष से मुक्त होने के इच्छुक व्यक्ति को निकम्मा, निठल्ला नहीं बैठकर कुछ न कुछ उपयोगी हितकर श्रम करना चाहिए। आसन-प्राणायाम से भी वीर्यरक्षा में सहायता मिलती है।

(७) **बड़ों का कर्त्तव्य**—अपने बालक को भविष्य में स्वप्नदोष जैसे विकारों से बचाने के लिए तथा उसकी वीर्यरक्षा करने के लिए जब तक शिशु गर्भ में हो, अथवा स्तन पान करता हो, तब तक माता-पिता आदि बुजुर्गों को, खास तौर से माता-पिता को ब्रह्मचर्य पालन करना चाहिए। तथा उन्हें बालक के सामने ऐसी कोई कुचेष्टा नहीं करनी चाहिए, जिससे बालक में काम-कुसंस्कार पड़ें। तभी बालक को वीर्यवान् बनाया जा सकता है, तथा भविष्य में होने वाले स्वप्नदोष आदि विकारों से बचाया जा सकता है।

(८) स्वप्नदोष निवारण में उपवास, व्यायाम, शारीरिक—मानसिक श्रम के बाद गाढ़निद्रा, वनस्पतिजन्य औषधप्रयोग, नियमित शयन-उत्थान आदि भी अतीव सहायक हैं।

अप्राकृतिक विकृत मैथुनों से बचने के उपाय

पूर्वोक्त सभी अप्राकृतिक कुटेवों की प्रक्रिया में होने वाले मोहजन्य भयंकर आकर्षण या सुखानुभव की कल्पित वृत्ति को सच्ची समझ से टालना चाहिए, तथा इस आदत की भयंकरता को समझ कर इससे मुक्त होने के लिए यथार्थ सुदृढ़ इच्छा हो। इसके अतिरिक्त कुचेष्टाओं के भौतिक एवं मानसिक कारणों को समझकर, उन्हें दृढ़ संकल्पबल से हटा देना ही इनकी यथार्थ चिकित्सा है। दृढ़ इच्छा-शक्तिपूर्वक इन आदतों से पूर्णतया छुटकारा पाने के लिए कई नियम बताये गये हैं। यहाँ चार मुख्य नियम दिये जाते हैं—

प्रथम नियम—किसी भी आदत को नये सिरे से बनाने अथवा पड़ी हुई आदत को छोड़ने का मनोवैज्ञानिक उपाय यह है कि उसका प्रारम्भ बड़े जोरों से—पूरी इच्छा शक्ति लगाकर—करो। सर्वप्रथम संकल्प करने में मन का पूर्ण बल लगा दो, कोई भी कोर-कसर न रखो। फिर उस संकल्प को निभाने में जितने भी उपायों

का अवलम्बन लिया जा सकता है, लो। गुरुजनों के समक्ष प्रतिज्ञा लो, और अपनी आत्मा को लक्ष्य करके निर्देश करो—"मैं इस बुरी आदत को छोड़ रहा हूँ, बिलकुल छोड़ रहा हूँ। यह देखो, यह आदत छूट रही है, बहुत-सी छूट गई है। हाँ, बिलकुल छूट गई। अब यह न आएगी, आ ही न सकेगी।"

शान्त एकान्त नीरव स्थान में, रात्रि में सोने से पूर्व और प्रातःकाल सोकर उठते ही इन वाक्यों को मन की पूर्ण संकल्प शक्ति के साथ बार-बार दोहराओ। ये साधारण शब्द नहीं, जादू भरे मंत्र हैं। मंत्र का-सा इनका असर होगा। मंत्र का उद्देश्य भी तो आत्मा में शक्ति भरना है। रात्रि में दोहराये गये ये वाक्य रातभर आत्मा में शक्ति भरते रहेंगे, और प्रातःकाल दोहराए गये ये वाक्य शक्ति का वेग द्विगुणित करके कुचेष्टा की कल्पना को समाप्त कर देंगे। पहले प्रलोभन से बचना असम्भव था, अब प्रलोभन में गिरना असम्भव हो जायगा।

द्वितीय नियम—जब तक नई आदत तुम्हारे जीवन में पूरी तरह से अपना स्थान न जमा ले, तब तक एक क्षण के लिए भी उसमें अपवाद न होने दो। प्रारम्भ में जरा-सी भी ढील या रियायत करना अपने को तबाह कर लेना है। युद्ध में छोटी-सी पराजय, अन्य पराजयों की ओर ले जाती है। इसी प्रकार यहाँ भी पराजय के पक्ष का जरा भी समर्थन हुआ, तो जय पक्ष को आघात पहुँचेगा। 'एक बार और', यह एक ऐसा कुठार है जो इच्छाशक्ति के वृक्ष को जड़ से काट डालता है। एक बार सोच-समझकर 'न' कह दिया, उसे फिर 'हाँ' में परिवर्तन करना असम्भव होना चाहिए। अर्थात्—एक बार जो संकल्प कर लिया, उसे जब तक आदत न बना लो, तब तक उस पर डटे रहो, उसमें जरा-सी भी ढील या अपवाद न आने दो, यह नियम निश्चित कर लो।

तृतीय नियम—जिस संकल्प को करो, उसे क्रियान्वित करने का जो भी अवसर मिले, उसी को पकड़ लो। यदि मौका एक बार हाथ से निकल गया तो सदा के लिए ही निकला समझो। जो समय चला जाता है, वह लौटकर नहीं आता। इसी प्रकार जो मौके एक बार हाथ से निकल जाते हैं, वे दूर जाकर आदमी को तरसाते और पश्चात्ताप कराते रहते हैं कि 'यदि वह मौका एक बार फिर मुझे मिल जाता' परन्तु वह मौका फिर कभी नहीं आता।

चतुर्थ नियम—नये संकल्प के अनुसार जो आदत डालना चाहें, उससे सम्बन्धित कुछ न कुछ प्रवृत्ति, आवश्यकता न होने पर भी करते रहें। अर्थात्—प्रति-दिन के छोटे-छोटे कार्यों में भी अपने में धीरता, वीरता, एकाग्रता आदि गुणों को उपार्जित करें। जब अपने संकल्प पर डटे रहने की परीक्षा का अवसर आयेगा, तब तुम घबराओगे नहीं, अपने संकल्प पर डटे रहोगे। जैसे—कोई आदमी अपने घर का बीमा करा लेता है, उसे तात्कालिक कुछ भी फायदा नहीं होता, किन्तु किसी आकस्मिक दुर्घटना होने पर वह बीमा उसे आर्थिक विनाश से बचा लेता है। इसी प्रकार जो

व्यक्ति प्रतिदिन धीरता, वीरता, ध्यान, त्याग, तप, संकल्प का कोई न कोई कार्य बिना जरूरत के भी करता रहता है, वह मानो अपनी मानसिक एवं आत्मिक शक्तियों का बीमा कराता है। जब भी कोई आकस्मिक आपत्ति आती है, तो प्रतिदिन संकल्पानुसार अभ्यास करने वाला व्यक्ति चट्टान की तरह अचल खड़ा रहेगा।

संकल्प शक्ति की सक्रियता निष्क्रियता-परीक्षण—इस प्रकार चार नियमों से संकल्प शक्ति को बढ़ाने के साथ-साथ मन की परख करते रहना भी जरूरी है। कहीं कुत्सित संकल्प तुम्हारे सत्संकल्प की जड़ तो नहीं काट रहे हैं? कहीं अकेले बैठे मन के घोड़े संकल्प से विपरीत मार्ग पर तो नहीं दौड़ाये जा रहे हैं? यदि ऐसा कुछ हो रहा है तो एकान्त में बैठना छोड़ दो अन्यथा कुत्सित संकल्प तुम्हारा सर्वनाश करके छोड़ेंगे। कहीं तुम्हारे हृदय में उन अश्लील उपन्यासों को पढ़ने की ललक तो नहीं उठती? यदि ऐसा है, तो तुम्हारा मन फिर अपवित्र होकर कुत्सित संकल्पों से घिर जायेगा और तब कुचेष्टा अपना पैर जमाने फिर आ धमकेगी। अतः मन को खाली मत रहने दो, उसमें पवित्र विचार और पवित्र संकल्प भर दो। फिर तो कुचेष्टा को प्रवेश करने का अवकाश ही नहीं मिलेगा।

ठालीपन, कुत्सित संकल्प तथा चिन्ता, ये तीनों मानसिक रोग हैं। मन का खाली होना ठालीपन है; किन्तु गन्दे विचारों से मन का भरा होना, कुत्सित संकल्प है और मन के खाली होते ही संकल्प-विकल्पों द्वारा अपना डेरा डालकर दुविधा की अवस्था पैदा कर देना, चिन्ता है। इन तीनों विकारों से कुचेष्टाओं का शिकार हो जाना साधारण बात है। इन तीनों के उपद्रवों से बचने के लिए संकल्प शक्ति का संचय एवं संवर्द्धन करना सर्वोत्तम उपाय है।

अन्य सहायक उपाय

अप्राकृतिक कामाचार से बचने के लिए स्वप्नदोष-निवारण के आहार-विहार आदि के जो उपाय बताये हैं, उन्हें अपनाना जीवन में बहुत लाभदायी होगा। इसके अतिरिक्त निम्नोक्त उपायों का आश्रय लेना भी उचित है—

(१) इस कुटेव में सहायक साथियों, स्मृतियों, स्थलों, संकेतों, अवसरों और कार्यक्रमों को बिलकुल छोड़ देना चाहिए। साथियों आदि के द्वारा इन कुचेष्टाओं के समर्थन में चाहें जितने तर्क, प्रलोभन या आकर्षण प्रस्तुत किये जाएँ, अपने चित्त से वे उखाड़ फेंकने चाहिए।

(२) सादा पवित्र निसर्ग-निर्भर प्रवृत्तिमय जीवन व्यतीत किया जाए।

(३) ऐसे कार्य की ओर भूलकर भी ध्यान नहीं जाना चाहिए; जिसे खुले में करते हुए हृदय में पाप, लज्जा एवं भय की आशंका हो। पाप का लक्षण ही है—'प्रच्छन्नं पापम्'।

ये और ऐसे सभी वीर्य-रक्षा के ठोस उपाय हैं जिन्हें अपनाने से अवश्य ही वीर्यरक्षा हो सकेगी और ब्रह्मचर्य-साधना सिद्धि के द्वार तक शीघ्र पहुँच सकेगी।

□□

१३

नारी जाति और ब्रह्मचर्य

ब्रह्मचर्य के क्षेत्र में नारी का अधिकार कहाँ, कितना ?

वैदिक, इस्लाम और ईसाई आदि कई धर्म-परम्पराओं में यह माना जाता है कि ब्रह्मचर्य के क्षेत्र में जितनी पुरुषों को स्वतन्त्रता है, उसे स्वैच्छिक रूप से ब्रह्मचर्य का पालन करने का अधिकार है, उतनी स्वतन्त्रता या उतना स्वैच्छिक रूप से अधिकार नारी जाति को नहीं है।

वैदिक परम्परा में नारी जाति को गौरवपूर्ण स्थान दिया गया है, और नारी को पुरुष की समकक्ष, मन्त्री, सखी, भार्या, गृहस्वामिनी, सहधर्मिणी आदि अवश्य माना गया है, परन्तु वैदिक धर्मग्रन्थों में अंकित वर्णन नारी को प्रायः अर्धांगिनी के रूप में ही उपस्थित करते हैं। नारी का स्वतन्त्र व्यक्तित्व, अथवा ब्रह्मचर्य जैसी आध्यात्मिक साधना के क्षेत्र में नारी की स्वतन्त्रता वहाँ परिलक्षित नहीं होती। उसकी बहुत ही थोड़ी-सी अभिव्यक्ति वहाँ दिखाई देती है। नारी को सहधर्मिणी कहने के पीछे यही भावना है कि पुरुष कोई भी धार्मिक अनुष्ठान या क्रियाकलाप नारी को अपने साथ बिठाये पूरा नहीं कर सकता। अतः वैदिक परम्परा में नारी पुरुष की परछाईं की तरह या दासी के समान अनुचरा-अनुगामिनी मानी गई। इसके पीछे तात्पर्य यह है कि नारी पुरुष के साथ रहकर धर्म या अध्यात्म का आचरण-अनुष्ठान कर सकती है, किन्तु पुरुष से अलग रहकर स्वतन्त्र रूप से धर्माचरण या ब्रह्मचर्य जैसे आध्यात्मिक विकास की साधना नहीं कर सकती। इसीलिए वैदिक परम्परा में नारी को संन्यास लेने का अधिकार नहीं दिया गया, जिसमें कि पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन किया जाता है। अपवाद की बात दूसरी है। आपवादिक रूप में वहाँ गार्गी, सरस्वती, वेदवती आदि के विरल उदाहरण मिलते हैं। परन्तु जैन धर्म में प्रारम्भ से ही नारी का स्वतन्त्र व्यक्तित्व स्वीकृत है। उसके व्यक्तित्व के विकास के लिए समग्र आध्यात्मिक साधना का मार्ग खुला है। नारी की धर्मभावना को जैनधर्म में उतना ही आदर दिया जाता है, जितना पुरुष की धर्मभावना को। वैवाहिक जीवन में नारी पुरुष को सहचारिणी धर्मसहाया रहती है, उसकी सेवा-शुश्रूषा करती है और

गृहस्थी का भार योग्यतापूर्वक वहन करती है, किन्तु धर्म-पालन में, त्याग-तप में, आध्यात्मिक साधना द्वारा आत्मिक उत्कर्ष में, आत्म-चिन्तन एवं आत्मशुद्धि के मार्ग में वह स्वतन्त्र है।

वैदिक परम्परा में नारी के स्वाश्रयी, एवं स्वातंत्र्य जीवन की कल्पना कुछेक अपवादों को छोड़कर नहीं है।[1] जबकि जैनधर्म में नारी के स्वाश्रयी और स्वतंत्र जीवन की कल्पना प्रचुर प्रमाण में मिलती है। पुरुष के साथ सहधर्मिणी बनकर रहना उसके जीवन का कोई चूडान्त नहीं है, वह चाहे तो आजीवन ब्रह्मचारिणी रहकर समाज सेवामय जीवन व्यतीत कर सकती है, चाहे तो श्रमणी, साध्वी या भिक्षुणी बन सकती है।

तात्पर्य यह है कि ब्रह्मचर्य के क्षेत्र में जैनधर्म ने नारी को उतनी ही स्वतंत्रता दी है, जितनी पुरुष को। यहाँ पंच महाव्रतों के पालन का अधिकार दोनों को समान रूप से दिया गया है। उपासकदशांग में वर्णन है कि जहाँ दस श्रमणोपासकों द्वारा अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य, अस्तेय और परिग्रहपरिमाण रूप अणुव्रत स्वीकार किये गये हैं, वहाँ उनकी पत्नियों ने स्वतंत्र रूप से भगवान महावीर के पास जाकर स्वेच्छा से ये ही पांच अणुव्रत ग्रहण किये हैं।

अन्तकृद्दशांग सूत्र में वर्णन है कि जिस प्रकार कई पुरुषों ने ब्रह्मचर्य आदि पंच महाव्रत अंगीकार करके मुनि जीवन अपनाया, वैसे ही कई राजरानियों एवं महिलाओं ने स्वतंत्र रूप से ब्रह्मचर्य आदि महाव्रत स्वीकार कर साध्वी जीवन अपनाया।

राष्ट्रीय संत विनोबा ने सभी धर्म-परम्पराओं की दृष्टि से ब्रह्मचर्य के क्षेत्र में नारी के अधिकार की समीक्षा करते हुए कहा है—"वैदिक धर्म में पुरुष को तो ब्रह्मचर्य का अधिकार रहा, लेकिन स्त्री को इसका अधिकार नहीं रहा। स्त्री को गृहस्थाश्रमी बनना ही चाहिए, ऐसा माना गया। अगर वह गृहस्थाश्रमी नहीं बनती है तो अधर्म होता है।....इस तरह बीच के जमाने में यह एक बहुत बड़ा दोष पैदा हुआ। उसमें अब संशोधन करना जरूरी है। ऐसा कहने से (स्त्रियों की) आध्यात्मिक अपात्रता पैदा होती है,....जो गलत है, और दुःख की बात है।....जैनों में स्त्री और पुरुष दोनों को समान (ब्रह्मचर्य साधना का समान अधिकारी) माना है। ईसाइयों में जो कैथोलिक हैं, वे स्त्री पुरुषों को समान (ब्रह्मचर्याधिकारी) मानते हैं, लेकिन प्रोटेस्टेंट....मानते हैं कि ब्रह्मचर्य अशक्य वस्तु है और गृहस्थाश्रम ही आदर्श है।

---

१. वैदिक परम्परा का प्रसिद्ध श्लोक—

पिता रक्षति कौमारे, भर्ता रक्षति यौवने।
पुत्रस्तु स्थाविरे भावे, न स्त्री स्वातंत्र्यमर्हति॥

लेकिन कैथोलिक में भाई और बहनें, दोनों ब्रह्मचारी होते हैं।....इस्लाम ने यह विचार रखा है कि गृहस्थ धर्म ही पूर्ण आदर्श है बाकी के आदर्श—जैसे कि ब्रह्मचारी का आदर्श गौण है।"[1] .....ईसामसीह ब्रह्मचारी थे। परन्तु उनका जीवन पूर्ण जीवन नहीं माना गया। मुहम्मद पैगम्बर का आदर्श पूर्ण (माना गया) है, (क्योंकि) वे गृहस्थ थे।.....जिन्होंने शुरू से आखिर तक (पूर्ण) ब्रह्मचारी का जीवन बिताया, उनका आदर्श पूर्ण नहीं,....पूर्ण आदर्श तो (स्त्रियों और पुरुषों के लिए) गृहस्थ ही है।"[2]

किन्तु जैन धर्म और जैनशास्त्र इस कथन से सहमत नहीं, बल्कि इसका विरोधी है। जैनशास्त्रों में ब्रह्मचर्य का उपदेश जैसा पुरुषों के लिए है, वैसा ही स्त्रियों के लिए है। जैनशास्त्रों का यह उपदेश आदर्शरहित नहीं, आदर्शयुक्त है। आचार्य जिनसेन के अनुसार भगवान ऋषभदेव की पुत्री ब्राह्मी और सुन्दरी ने कर्मभूमि के प्रारम्भिक युग में पूर्ण ब्रह्मचारिणी रहकर स्त्रियों के लिए ब्रह्मचर्य पालन करने का आदर्श प्रस्तुत किया था। उन्नीसवें तीर्थंकर मल्लि भगवती स्त्री ही थे। स्त्री होते हुए उन्होंने अखण्ड ब्रह्मचर्य का पालन किया था और तीर्थंकर पद भी प्राप्त किया था। इसी प्रकार राजीमती, चन्दनबाला आदि महासतियों ने स्वेच्छा से अखण्ड ब्रह्मचर्य का पालन किया था। अतः स्त्रियाँ ब्रह्मचर्य-पालन की अधिकारिणी नहीं, उन्हें पूर्ण ब्रह्मचर्य नहीं पालना चाहिए, आदि बातें जैन-शास्त्रविरुद्ध है। जैनशास्त्र आयु, देश, काल आदि किसी भी प्रकार का प्रतिबन्ध लगाये बिना स्त्री-पुरुष दोनों को ब्रह्मचर्य साधना का समान अधिकार देते हैं। वे कहते हैं—स्त्री हो या पुरुष, जो ब्रह्मचर्य का पालन करेगा, उसे ही उसका लाभ मिलेगा। बल्कि जैन शास्त्रों में तो ऐसे कई उदाहरण मिलते हैं कि ब्रह्मचर्य पर संकट आने पर स्त्रियों ने दृढ़तापूर्वक बहादुरी के साथ ब्रह्मचर्य की सुरक्षा की है, स्वयं ब्रह्मचर्य का सुचारु रूप से पालन किया है; इतना ही नहीं, सती राजीमती और कोशा श्राविका आदि ने साधक रथनेमि एवं स्थूलभद्र मुनि के गुरुभाई को पतित होने से बचाकर ब्रह्मचर्य में स्थिर किया है।

तात्पर्य यह है कि पूर्ण ब्रह्मचर्य केवल पुरुषों के लिये ही नहीं है, स्त्रियों के लिए भी वह उतना ही आवश्यक है।

बौद्धपरम्परा में तथागत बुद्ध का एक जीवन प्रसंग है, जिसमें बताया गया है कि तथागत बुद्ध ने भिक्षु आनन्द के द्वारा बहुत ही अनुनय-विनय करने पर महाप्रजापति गौतमी को बड़े ही संकोच के साथ प्रवज्या दी। प्रवज्या के बाद बुद्ध ने आनन्द से कहा—यदि

---

१ कार्यकर्ता वर्ग : ब्रह्मचर्य (विनोबा) पृ० ३५-४० का सारांश।
२ कार्यकर्ता वर्ग : ब्रह्मचर्य (विनोबा) पृ० ४०

तथागत-प्रवेदित धर्म-विनय में स्त्रियाँ प्रवज्या न पातीं तो यह ब्रह्मचर्य थिरस्थायी होता—सद्धर्म सहस्र वर्ष चलता। अब ब्रह्मचर्य चिरस्थायी नहीं होगा, सद्धर्म पांच सौ वर्ष ही ठहरेगा।....जिस धर्म-विनय में स्त्रियाँ प्रवज्या पाती हैं, वहाँ ब्रह्मचर्य चिर-स्थायी नहीं होता।"[1]

इस घटना से स्पष्ट है कि तथागत बुद्ध नारी के पूर्ण ब्रह्मचर्य पालन की क्षमता के विषय में अन्त तक शंकाशील रहे। किन्तु जैन धर्म के समग्र साहित्य में कहीं भी नारी के द्वारा पूर्ण ब्रह्मचर्य-पालन की क्षमता में कहीं भी शंका प्रकट नहीं की गई है। बल्कि यहाँ तक कहा गया है कि स्त्री में आजीवन ब्रह्मचर्य-पालन की आत्मिक शक्ति और सामर्थ्य है। समय आने पर पुरुषों की अपेक्षा साध्वी स्त्रियाँ एवं सतियाँ ब्रह्मचर्यव्रत में अधिक दृढ़ रही हैं।

कई लोग कहते हैं, नारी अबला है, उसका शरीर दुर्बल होता है, उसका मानस भी कोमल और नाजुक होता है, इस कारण वह ब्रह्मचर्य की भली-भाँति सुरक्षा नहीं कर सकती। किन्तु धर्मों के इतिहास को उठाकर देखें तो पता चलेगा कि सीता आदि स्त्रियाँ शरीर से भले ही दुर्बल हों, पर मन और आत्मा से कदापि दुर्बल नहीं थीं, उन्होंने अपने ब्रह्मचर्य की रक्षा अपनी आत्मशक्ति के बल पर की थी। उन्होंने अपने प्रति कुदृष्टि एवं कुचेष्टा करने वालों को अपने ब्रह्मचर्य के तेज से हतप्रभ कर दिया। उनकी आँखों में इतना तेज था कि कोई भी दुराचारी उनके समक्ष दृष्टि गड़ाकर देखने का साहस नहीं कर सकता था। परन्तु नारी की उस शक्ति का आधार यही है कि वह शारीरिकता (शरीर को सजाने संवारने, सौन्दर्य प्रदर्शन आदि) से ऊपर उठकर पूर्ण ब्रह्मचर्य द्वारा आध्यात्मिकता की दिशा में उन्नति करे। वह ताकत शारीरिक नहीं, किन्तु आध्यात्मिक होगी, जो बड़े से बड़े जिस्मानी ताकत वालों से मुकाबला कर सकेगी, यानी उन शारीरिक शक्तिवालों से बढ़कर उसकी आत्मशक्ति होगी। शारीरिक शक्ति के सिवाय जो दूसरी शक्ति है वह जितनी पुरुष को ब्रह्मचर्य द्वारा सुलभ है, उतनी ही स्त्री को सुलभ।

सच तो यह है कि जब नारी के जीवन में ब्रह्मचर्य की प्रतिष्ठा होगी तब उसमें विश्वमातृत्व का विकास होगा तब ऐसा मातृत्व उसकी विवशता या पुरुषाश्रयिता या पराश्रितता का कारण नहीं बनेगा। विश्वमातृत्व के कारण आत्मनिर्भरता में कोई क्षति नहीं होगी। यों देखा जाए तो स्त्री ने अपनी दुर्बलता के कारण स्वयं को पराश्रित या पुरुषाश्रित मान लिया है, वस्तुतः हैं सभी परस्पराश्रित। समाज में कोई व्यक्ति स्वावलम्बी नहीं होता। सभी परस्परावलम्बी होते हैं। अतः नारी के जीवन में ब्रह्मचर्य और संन्यास प्रतिष्ठित होंगे, तब उसकी मातृशक्ति व्यापक रूप से विकसित हो जाएगी। कहा भी है—

---

१ विनयपिटक : चुल्लकवग्ग : भिक्षुणीस्कन्ध १/२ पृ. ५०९ से ५२१ का सार।

"किन्नाप्नोति रमारूपा ब्रह्मचर्य-तपस्विनी ?"

जो ब्रह्मचर्य रूप का तप का आचरण करती है, वह लक्ष्मीरूपा नारी क्या नहीं प्राप्त कर सकती ?

विनोबा ने कहा है—"मातृशक्ति का विकास होना चाहिए। मातृशक्ति के विकास का मतलब अधिक सन्तान पैदा करना नहीं है; किन्तु स्त्री के जीवन में ब्रह्मचर्य की प्रतिष्ठा बढ़ने से है। पत्नीत्व की भावना की अपेक्षा मातृत्व की भावना में ब्रह्मचर्य के विकास का अवकाश अधिक रहता है।'

जो नारी अपने शील या ब्रह्मचर्य की सुरक्षा करना चाहती है उसे शरीर-निष्ठ नहीं बनना चाहिए। माता के नाते जिस नारी का शरीर परम पवित्र माना जाता है, उसी स्त्री का शरीर शरीरनिष्ठ बन जाने पर भ्रष्टाचार का साधन बन सकता है। आधुनिक नारी में प्रायः इस प्रकार की बहुत बड़ी कमी है। उसमें संयम और दृढ़ता कम है। प्रसाधन, सौन्दर्यप्रियता एवं प्रदर्शनप्रियता अधिक है। अपने शरीर का वह इस तरह प्रदर्शन करती या सजाती-संवारती है कि वह दूसरों के लिए लोभ या ईर्ष्या का कारण बन जाती है। फिर उसका भ्रष्टाचार का प्रधान साधन बन जाना आश्चर्यजनक नहीं है। शरीर को प्रदर्शन का विषय बनाने से नारी का सत्व क्षीण होता है। वह उतनी ही दुर्बल होती है। उसमें शील की रक्षा करने की वीरता—सतीत्व की रक्षा के लिए प्राण न्यौछावर करने की स्वेच्छाप्रेरित वीरता नहीं आएगी। जो शरीरनिष्ठ बनना छोड़कर ब्रह्मचर्य-साधना द्वारा आत्मनिष्ठ बनेगी, उसी में स्वेच्छाप्रेरित वीरता होगी। वह अपने ब्रह्मचर्य की रक्षा आसानी से कर लेगी।

पूर्ण ब्रह्मचर्य-व्रती स्त्रियों के लिए नियम

जो नारी सर्वविरति ब्रह्मचर्यव्रत की आराधना करना चाहती है, उसे उन्हीं नियमों, बाड़ों आदि का पालन करना चाहिए, जो पुरुष साधकों के लिए निर्दिष्ट हैं। अन्तर इतना ही है, कि जैसे ब्रह्मचारी के लिए स्त्री-संसर्ग या स्त्री-कथा आदि वर्ज्य हैं, वहाँ ब्रह्मचारिणी गृहस्थ सन्नारियों या साध्वियों को पुरुषों का संसर्ग या पुरुष-कथा वर्जनीय समझना चाहिए। जहाँ ब्रह्मचारी को स्त्रियों से बचने का नियम बताया है, वहाँ ब्रह्मचारिणी को पुरुषों के लिए समझना चाहिए। शेष नियम स्त्री-साधिका और पुरुषसाधक दोनों के लिए समान हैं।

स्वपतिसन्तोषव्रती नारी के लिए ब्रह्मचर्य-रक्षासूत्र

ब्रह्मचर्य-अणुव्रती पुरुष के लिए जैसे विवाहिता स्त्री के अतिरिक्त अन्य किसी भी स्त्री का संसर्ग आदि वर्जित बताया गया है, वैसे ही नारियों के लिए विवाहित पुरुष के अतिरिक्त जितने भी पुरुष हैं, उन्हें पिता, भाई या पुत्र के रूप में देखना चाहिए, कामुकता की दृष्टि से अन्य पुरुषों से संसर्ग आदि वर्जित है। अन्य सब नियम पुरुष की तरह समझ लेने चाहिए। □□

१४

ब्रह्मचर्य-साधना : विशुद्धि और जागृति

पूर्वपृष्ठों में ब्रह्मचर्य-साधना को पूर्णतया सफल करने, तथा उसकी भली-भाँति सुरक्षा के विविध उपाय बताये हैं, फिर भी साधक चाहे सर्वविरत हो या देशविरत, चाहे कितना ही प्रतिज्ञाबद्ध हो, जब तक वह छद्मस्थ है, अवीतराग है, अपूर्ण है, तब तक उसके स्वीकृत व्रत में कहीं न कहीं, प्रमादवश या रागादिवश स्खलना हो ही जाती है। यह स्खलना यदि जान-बूझकर की जाती है, तब तो उसका व्रत सर्वथा भंग हो जाता है, उसे तो फिर नये सिरे से व्रत ग्रहण करना पड़ता है। परन्तु जिसने जान-बूझकर व्रत खण्डित नहीं किया है, अज्ञानता, भ्रान्ति या प्रमादवश व्रत में दोष लग गया है, तो उसका परिमार्जन प्रायश्चित्त आदि द्वारा हो सकता है।

ब्रह्मचर्य के अतिचार—किसी भी व्रत की प्रतिज्ञा के चार दूषण होते हैं। ये चारों प्रतिज्ञा के घातक तो हैं ही, फिर भी इनमें लौकिक दृष्टि से तारतम्य माना गया है। प्रतिज्ञा के घातक होते हुए भी व्यवहार तो प्रतिज्ञा के दृश्य घात को ही घात मानता है। इन चारों के नाम तथा स्वरूप इस प्रकार हैं—

१. **अतिक्रम**—ब्रह्मचर्य व्रत की जिस प्रकार से प्रतिज्ञा ली है, उसका अतिक्रम करना, अर्थात्—प्रतिज्ञा भंग का मन में विचार करना। यह मनःशुद्धि की क्षति है।

२. **व्यतिक्रम**—स्वीकृत ब्रह्मचर्य-प्रतिज्ञा का व्यतिक्रम करना, अर्थात्—प्रतिज्ञाभंग के विचार की सहायक सामग्री जुटाने की योजना बनाना।

ये दोनों (अतिक्रम और व्यतिक्रम) दूषण रूप होने पर भी व्यवहार इन दोनों को क्षम्य मानता है। अर्थात्—मनुष्य की अपूर्ण भूमिका तथा उसके परिपार्श्विक वातावरण को देखते हुए ये दोनों दोष प्रतिक्रमण, पश्चात्ताप (आत्मनिन्दा—मिच्छामि दुक्कडं), गर्हा (दोषों के प्रति घृणा, विरक्ति), क्षमापना आदि से शुद्ध किये जा सकते हैं, अथवा व्यवहार में चला लिये जाते हैं।

३. **अतिचार**—जिस प्रवृत्ति के कारण ली हुई ब्रह्मचर्य-प्रतिज्ञा का व्यवहार में आंशिक भंग माना जाए अर्थात्—जिस प्रवृत्ति द्वारा ब्रह्मचर्य-साधक का आचरण

व्यवहार में दूषित माना जाए उसे अतिचार (दोष) कहा जाता है। यह दोष त्याज्य है। जैसे—स्थविरकल्पी साधु के नव कोटि पूर्ण अखण्ड ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए नौ गुप्तियाँ (बाड़), पाँच भावनाएँ आदि बताई गई हैं, उनका यह समझकर अज्ञानवश या भ्रांतिवश भंग कर डालता है कि इनके पालन न करने से प्रत्यक्ष रूप से (कायिक) ब्रह्मचर्य-भग तो हुआ ही नहीं, अथवा अप्राकृतिक करकर्म, स्वप्नदोष आदि से मैथुन-सेवन जैसा कोई अब्रह्मचर्य दोष तो हुआ ही नहीं, किन्तु वह नवकोटिक शुद्ध ब्रह्मचर्य महाव्रत के स्वरूप को भूल जाता है, इसलिए 'अतिचार' नामक तीसरा दोष लग जाता है। इस दोष (अतिचार) की शुद्धि आलोचना, निन्दना, गर्हणा, क्षमापना एवं प्रायश्चित्त द्वारा की जाती है। धर्मसंग्रह में तथा आवश्यक सूत्र में ब्रह्मचर्य महाव्रत के अतिचार की चर्चा की गई है।[1]

४. अनाचार—इसका अभिप्राय है—व्रत का सर्वथा भंग कर देना।

स्वदारसन्तोषव्रत के पाँच अतिचार

ब्रह्मचर्याणुव्रती स्वदारसन्तोषव्रती सद्गृहस्थ के व्रत में पांच अतिचार (दोष) लगने सम्भव हैं। इन पाँच अतिचारों से उसे सावधान रहकर बचना चाहिए। ये पाँच अतिचार इस प्रकार हैं—

१. **इत्वर परिग्रहीता गमन**—यह प्रथम अतिचार है—स्वदारसन्तोषव्रत का। कई लोग भ्रान्तिवश यह सोचकर कि हमने 'स्वदार' का आगार रखा है। अतः अगर किसी स्त्री को कुछ समय के लिए धन देकर या बिना दिये ही, अपनी बना ली जाए, और उसके साथ स्वपत्नी का सा व्यवहार किया जाए तो स्वदारसन्तोषव्रत में कोई दूषण नहीं है। यद्यपि स्वदारसन्तोषव्रत में जिस नारी के साथ देश, समाज और कुल की प्रचलित रीति के अनुसार विधिवत् विवाह हुआ है, उसी का आगार रहता है फिर भी भ्रान्तिवश या प्रमादवश उक्त प्रकार की गुंजाइश निकालकर जो विधिवत् विवाहिता पत्नी नहीं है, उसे भी थोड़े समय के लिए अपनी बनाकर अब्रह्मचर्य-सेवन के लिए तैयार हो जाना अतिचार है। जब तक यह दूषण अतिचार की कोटि में है, तब तक व्रत सर्वथा भंग नहीं होता, किन्तु जब यह दूषण अनाचार की कोटि में—अब्रह्मचर्य को क्रियान्वित करने की भूमिका में—आ जाता है, तब व्रत का सर्वथा भंग हो जाता है।

इस अतिचार का दूसरा अर्थ यह भी है कि अपनी विवाहिता पत्नी, यदि

---

१ (क) ब्रह्मव्रतेऽतिचारस्तु कर-कर्मादिको मतः।
सम्यक् तदीय गुप्तीनां तथा चाऽननुपालनम्॥
—धर्मसंग्रह अधि. ३

(ख) मेहुणस्स अइयारो करकम्माई उ होइ णायव्वो, तग्गुत्तीणं च तहा अणणुपालणमोण सम्मंतु। —आव० नि०

अल्पवयस्का है, तब भी उससे सहवास करना। यह अनाचार तो नहीं है, किन्तु अतिचार अवश्य है, क्योंकि ऐसा कार्य बाल-विवाह के कारण बलात् किया जाता है।

२. **अपरिग्रहीतागमन**—यह दूसरा अतिचार है। बहुत से लोग भ्रान्तिवश 'परदार' का अर्थ यह लगाते हैं कि जो स्त्री दूसरे की है, जिसका पति कोई दूसरा पुरुष है, उस स्त्री के साथ अब्रह्म-सेवन का हमने त्याग लिया है; किन्तु वर्तमान में जो स्त्री किसी दूसरे की है ही नहीं, अथवा जिसका कोई नियत पति नहीं है जैसे वेश्या; या जिसका विवाह नहीं हुआ (कुमारिका) है, या विवाह तो हुआ है, किन्तु अब वह पतिविहीना विधवा या परित्यक्ता है, उसके साथ कामाचार करने से लिये हुए त्याग में कोई दूषण नहीं होता। यद्यपि पर-स्त्री के त्याग में उन सभी स्त्रियों का त्याग हो जाता है, जो अपने साथ विधिवत् विवाहिता नहीं हैं। फिर भी कई लोग इस प्रकार की गुंजाइश निकालने लगते हैं। जो स्वपत्नी नहीं है, उसके साथ भी इस भ्रान्तिवश कामाचार के लिए तैयार हो जाना अतिचार है। अतिचार की सीमा तक—यानी कामाचार की तैयारी तक तो त्याग की प्रतिज्ञा ही दूषित होती है, किन्तु अतिचार की सीमा का अतिक्रमण होते ही—अनाचार होने पर—लिया हुआ व्रत नष्ट हो जाता है।

इस अतिचार का दूसरा अर्थ यह है कि जिस कन्या के साथ वाग्दान (सगाई-सम्बन्ध) तो हो गया है, परन्तु पंच-साक्षी से विधिवत् विवाह नहीं हुआ है, ऐसी कन्या (स्त्री) के साथ कामाचार-सेवन करना अतिचार है, क्योंकि वह भी अपरिग्रहीता है, केवल सगाई-सम्बन्ध हुआ है, वह संयोगवश छूट भी सकता है।

३. **अनंगक्रीड़ा**—यह इस व्रत का तीसरा अतिचार है। काम-सेवन के लिए जो प्राकृतिक अंग हैं, उनके सिवाय शेष सब अंग काम-सेवन के लिए अप्राकृतिक अंग—अनंग हैं। उनसे कामक्रीड़ा करना अनंगक्रीड़ा कहलाती है। इन सब अप्राकृतिक कामाचारों का स्वस्त्री के साथ सेवन करने से भी व्रत में दूषण लगता है। इसलिए ब्रह्मचर्याणुव्रतधारी श्रावक को इस अतिचार से बचना चाहिए।

४. **पर-विवाहकरण**—यह इस ब्रह्मचर्याणुव्रत का चौथा अतिचार है। आनन्द श्रमणोपासक की तरह स्व-विवाहिता पत्नी का नाम लेकर स्वदारसन्तोष व्रत स्वीकार करने वाला श्रावक केवल अपनी उसी स्त्री पर सन्तोष करने की प्रतिज्ञा लेता है, जिसके साथ देश और समाज की प्रचलित रीति से विधिवत् विवाह हो चुका है। ऐसा होने पर भी कई लोग यह गुंजाइश निकालने लगते हैं कि हमने स्वपत्नी-सन्तोष व्रत लिया है। इसलिए यदि किसी अविवाहिता स्त्री से विवाह करके उसे अपनी पत्नी बना लें तो हमारे व्रत में दूषण नहीं लगेगा, किन्तु वास्तव में ऐसा करना प्रतिज्ञाविरुद्ध है, क्योंकि व्रत की प्रतिज्ञा लेते समय स्वपत्नी का नाम खोलकर व्रत ग्रहण किया है। जब तक यह कार्य अतिचार की सीमा तक है, तब तक

तो व्रत में दूषण ही लगता है, किन्तु अनाचार के रूप में होने पर तो व्रत नष्ट हो जाता है। हाँ, यदि कोई अपनी इच्छानुसार पत्नी का नाम खोले बिना ही व्रत लेता है, तो यह दूषण नहीं लगता; किन्तु आनन्द श्रावक की तरह नाम खोलकर स्वदार-सन्तोषव्रत लेने पर पुनः विवाह करने का अधिकार नहीं रहता। यह व्याख्या आचार्य हरिभद्रसूरि द्वारा की हुई है।[1]

इस अतिचार का एक अर्थ यह भी है कि अपने कुटुम्बीजन के सिवाय, दूसरे का विवाह करना—कराना। कई लोग धर्म या पुण्य समझकर अथवा 'मेरीज ब्यूरो' आदि खोलकर दूसरों का विवाह करने-कराने लगते हैं, किन्तु स्वदारसन्तोषव्रत के प्रत्याख्यान के अनुसार ऐसा करना अतिचार (दोष) है।

५. **कामभोगों की तीव्र अभिलाषा**—यह इस व्रत का पंचम अतिचार है। 'स्वदारसन्तोषव्रत' कामभोग की अभिलाषा को तीव्र करने के लिए नहीं, किन्तु मन्द करने के लिए लिया जाता है। इसीलिए इसके नाम में 'सन्तोष' शब्द निहित है। ऐसा होते हुए भी कई लोग भ्रान्तिवश कामभोग की अभिलाषा तीव्र करने की चेष्टा करते हैं, अर्थात्—वे बाजीकरण आदि औषधियों का सेवन करके कमोद्दीपन करने की चेष्टा करते हैं और समझते हैं कि इससे हमारे स्वीकृत व्रत को कोई आँच नहीं आती। परन्तु ऐसा करने से स्वदार-सेवन में सन्तोष न रहकर असन्तोष बढ़ जाता है। इस कारण इसे इस व्रत का अतिचार (दोष) बताया है। व्रतधारी को किसी भी उपाय से काम-भोग को तीव्र करने की अभिलाषा नहीं करनी चाहिए।

प्रस्तुत पाँच अतिचारों को जानकर देशविरत ब्रह्मचर्यव्रतधारी को इनसे बचना अतीव आवश्यक है। तभी ब्रह्मचर्याणुव्रत शुद्ध रह सकता है।

ब्रह्मचर्य-पालन में जागृति

जिनके अन्तर् में ब्रह्मचर्य का तेज पैदा हो गया, वे चाहें अकेले रहें, चाहें समूह में; वे सदैव ब्रह्मचर्य-पालन में जागरूक रहे हैं। किन्तु कई उच्च साधक व्रत—प्रतिज्ञा लेने के बाद इस विषय में असावधान हो जाते हैं। उनका जरा-सा दृष्टिदोष पतन का कारण बन जाता है। इसीलिए प्रश्नव्याकरण सूत्र में पाँच भावनाओं के माध्यम से जागृत रहकर गृहीत ब्रह्मचर्यव्रत को शुद्ध रखने का निर्देश देते हुए कहा है—"इस प्रकार इस चतुर्थ (ब्रह्मचर्य) संवर का द्वार मन-वचन काया से सुरक्षित इन पूर्वोक्त पाँच कारणों (पाँच भावना योगों) के द्वारा सम्यक् रूप से सुरक्षित हो जाता है और भलीभाँति मन-मस्तिष्क एवं संस्कारों में जम जाता है। धृतिमान और बुद्धिमान साधक को यह योग (ब्रह्मचर्य-सुरक्षा के लिए पूर्वोक्त पंच भावनाओं का सविधि प्रयोग) जीवन के अन्त तक नित्य करना चाहिए; जो कि

---

१ धर्मबिन्दु प्रकरण (आचार्य हरिभद्रसूरि)

आस्रवरहित, निर्मल, कर्मप्रवेश के छिद्ररहित, कर्मबन्धन से रहित और संक्लिष्ट परिणामों से रहित है। यह शुद्ध है, समस्त जिनवरों द्वारा अनुज्ञात है, इस प्रकार चौथा संवर द्वार उचित काल में स्पर्श (अंगीकार) किया हुआ, पालन किया गया, अतिचार रहित आचरित, पूर्ण रूप से अन्त तक पालित, दूसरों के लिए कथित या कीर्तित और वीतराग भगवान् की आज्ञापूर्वक निरन्तर पालन किया हुआ होता है।"[1]

□□

उपसंहार

इस प्रकार ब्रह्मचर्य का यह सर्वांग विवेचन, उसकी सूक्ष्म व स्थूल विधि, मर्यादा व साधना के स्वरूप पर चिन्तन तथा समीक्षण आपके समक्ष प्रस्तुत किया गया है। इस चिन्तन-विवेचन का सार थोड़े से शब्दों में पुनः आपके समक्ष दोहरा दूँ तो शायद पूरा विषय आपकी स्मृति में स्वतः उभर आयेगा।

ब्रह्मचर्य सिर्फ साधना का ही विषय नहीं है ज्ञान का भी विषय है। इसलिए सर्व-प्रथम इस विषय पर रुचि जिज्ञासा एवं श्रद्धा होना आवश्यक है। श्रद्धा बीज है, ज्ञान वृष्टि है, साधना खेती है। श्रद्धा जब पैदा होती है तभी उस विषय पर ज्ञान मन में स्थिर होता है और तभी उस पर आचरण करने का संकल्प सुदृढ़ बनता है। इसलिए सर्व प्रथम ब्रह्मचर्य विज्ञान के सिद्धान्त की महिमा, उपयोगिता, आवश्यकता उसके लाभ प्रभाव आदि पर विचार किया गया है। प्राचीन तथा अर्वाचीन अनेक उदाहरणों से इसको स्पष्ट किया गया है कि ब्रह्मचर्य का हमारे भौतिक तथा आध्यात्मिक जीवन पर किस प्रकार के प्रभाव व लाभ होते हैं। क्योंकि किसी भी विषय की श्रद्धा भी तभी सुदृढ़ होती है जब उस विषय के लाभ व प्रभाव से हमारा मन परिचित हो, अतः सर्वप्रथम प्रथम सिद्धान्त खंड में ब्रह्मचर्य के विविध लाभ आदि पर विस्तृत प्रकाश डाला गया है।

ब्रह्मचर्य की श्रद्धा, रुचि स्थिर होने पर सहज ही उसके स्वरूप की जिज्ञासा जागृत होती है। इसका अर्थ, स्वरूप, मर्यादा, विधि तथा उसके विभिन्न अंगों का परि-ज्ञान होने से हमारी साधना में, श्रद्धा में तेजस्विता तथा कुशलता आ जाती है। इसलिए द्वितीय खंड में ब्रह्मचर्य के स्वरूप सम्बन्धी विविध पहलुओं पर धर्मशास्त्र तथा मनोविज्ञान एवं शरीरविज्ञान की दृष्टि से प्रकाश डालने का प्रयास किया गया है।

---

१. प्रश्नव्याकरण सूत्र : चतुर्थ संवर द्वार का उपसंहार, पृ. ७४०

तृतीय खंड में ब्रह्मचर्य साधना का प्रकरण विस्तारपूर्वक लिया गया है। साधना के स्तर, साधना में सहायक यौगिक अभ्यास, आसन, प्राणायाम, जप आदि तथा साधना को निर्दोष रखने वाले साधन—गुप्तियाँ, बाड़ें और साधना में घातक कारणों का निवारण किस प्रकार किया जाय—इन सब पहलुओं पर शास्त्रीय तथा मनीषियों के अनुभवों के आधार पर मैंने अपना चिन्तन रखा है।

पाठक इस विशाल विषय को एक बार ही पढ़कर न छोड़ दें, यह गहन विषय है। ज्ञान व साधना दोनों से साध्य है, अतः इसे बार-बार पढ़ें उन पर चिन्तन करें, अपने स्वयं के मनोवेगों का निरीक्षण-परीक्षण करें, पुस्तक में सुझाये गये उपायों पर ही निर्भर न रहें; किन्तु स्वयं भी अपने अनुभवों से शिक्षा लें क्योंकि अनुभव सबसे बड़ा गुरु होता है, अतः विवेकपूर्वक अपने अनुभवों का भी लाभ उठावें और इस विषय का जीवन में प्रयोग करें।

पुस्तक का नाम ब्रह्मचर्य विज्ञान है, इसे ब्रह्मचर्य साधना भी लिखा जा सकता था, किन्तु मेरा अभिमत यह है कि श्रद्धा को ज्ञान से परिपुष्ट करके यदि साधना की जाये तो वह साधना अधिक सुन्दर, सप्राण व सतेज होगी, इसलिए इसे 'ब्रह्मचर्य विज्ञान' नाम से सम्बोधित किया है। विज्ञान हमेशा प्रायोगिक होता है इस दृष्टि से इसमें साधना तो सन्निहित है ही। बिना साधना के तो ज्ञान-विज्ञान सब शून्य हैं, निष्प्राण हैं, अतः इस विज्ञान को जीवन-साधना बनाकर जीवन-धर्म बनायें तभी इसका चमत्कार आपके जीवन में सार्थक होगा। □

प्रयुक्त ग्रन्थों की सूची

१. **अभिधान राजेन्द्र कोष**, भाग ५
संपादक—श्री विजयराजेन्द्र सूरि
प्रकाशक—श्री सौधर्म बृहत्तपोगच्छीय श्री संघ, रतलाम।

२. **अनगार धर्मामृतम्**
रचयिता—पं० आशाधर जी
प्रकाशक—भारतीय ज्ञानपीठ, काशी।

३. **अथर्ववेद**
सम्पादक—श्रीराम शर्मा आचार्य
प्रकाशक—गायत्री तपोभूमि, मथुरा।

४. **अनीति की राह पर**
लेखक—महात्मा गांधी
प्रकाशक—सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली।

५. **अनुयोगद्वार वृत्ति**
वृत्तिकार—मल्लधारीय हेमचन्द्र सूरि
प्रकाशक—आगमोदय समिति, सूरत।

६. **अष्टांग हृदय**
रचयिता—वाग्भट

७. **अमरकोश**
प्रकाशक—निर्णय सागर प्रेस, बम्बई।

८. **अत्रिस्मृति**
प्रकाशक—निर्णय सागर प्रेस, बम्बई।

९. **अष्टपाहुड**
रचयिता—आचार्य कुन्दकुन्द
प्रकाशक—माणिक्यचन्द्र दि. जैन ग्रन्थमाला, बम्बई।

१०. **आचारांगसूत्र**
प्रधान सम्पादक—युवाचार्य श्री मिश्रीमलजी म० 'मधुकर'
प्रकाशक—आगम-प्रकाशन-समिति, ब्यावर।

११. **आत्मकथा**
लेखक—महात्मा गांधी
प्रकाशक—नवजीवन प्रकाशन मन्दिर, अहमदाबाद।

१२. **अंगुत्तरनिकाय**
प्रकाशक—महाबोधि सोसाइटी, सारनाथ, वाराणसी।

१३. **अमृत के घूंट**
लेखक—डॉ० रामचरण महेन्द्र, एम० ए०, पी-एच० डी०
प्रकाशक—गीता प्रेस, गोरखपुर।

१४. **आत्मसंयम**
लेखक—महात्मा गांधी
प्रकाशक—गाँधी ग्रन्थागार, वाराणसी।

१५. **अभंगव्रत विवेचन**
मूल रचना—संत विनोबा
विवेचन—बालकोबा भावे
प्रकाशक—ग्राम भावना प्रकाशन, पट्टीकल्याणा, जि. करनाल।

१६. आदर्श मानव हृदय (पढ़ो, समझो और करो, भाग ३)
प्रकाशक—गीता प्रेस, गोरखपुर।
१७. आध्यात्मिक काम-विज्ञान
लेखक—वेदमूर्ति तपोनिष्ठ पं० श्रीराम शर्मा आचार्य
प्रकाशक—अखण्ड ज्योति प्रकाशन, मथुरा।
१८. अन्तरंग जीवन का देवासुर संग्राम
लेखक—आचार्य श्रीराम शर्मा
प्रकाशक—युगनिर्माण योजना, गायत्री तपोभूमि, मथुरा।
१९. आवश्यक निर्युक्ति
मलयगिरि वृत्ति
प्रका.—आगमोदय समिति, सूरत।
२०. उत्तराध्ययन सूत्र
टीकाकार—आचार्य नेमिचन्द्र
प्रकाशक—देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार, बम्बई
२१. उत्तराध्ययन सूत्र
सम्पादक—आचार्य आत्माराम जी महाराज
प्रकाशक—जैन शास्त्रमाला कार्यालय, लाहौर, (१९३९)
२२. उपदेशमाला
रचयिता—धर्मदासगणि
प्रकाशक—मास्टर उमेदचन्द रायचन्द, अहमदाबाद।
२३. उपासकदशांग
वृत्तिकार—अभयदेव सूरि
प्रका.—आगमोदय समिति, बम्बई।
२४. अष्टाविंशति उपनिषद् (गुटका मूल)
२५. ऋग्वेद संहिता
सम्पादक—वसंत श्रीपाद सातवलेकर
प्र०—स्वाध्याय मंडल, पारड़ी, सूरत।
२६. इनसे सीखें
संकलन कर्ता—अशोक मुनि
प्रकाशक—श्री जैन दिवाकर दिव्य-ज्योति कार्यालय, ब्यावर।
२७. औपपातिक सूत्रम्
टीका—पूज्यश्री घासीलालजी म.
प्रकाशक—शास्त्रोद्धार समिति, अहमदाबाद।
२८. कठोपनिषद्
निर्णयसागर प्रेस, बम्बई (१९३२)
२९. कुरानशरीफ
(हिन्दी अनुवाद)
३०. कार्यकर्ता वर्ग
प्रवचनकार—सन्त विनोबा
प्रकाशक—अ. भा. सर्व सेवासंघ, काशी।
३१. गीतगुंजार
रचयिता—केवल मुनिजी
३२. ज्ञाताधर्मकथाङ्ग सूत्र
प्रधान सम्पादक—युवाचार्य श्री मिश्रीमल जी म०, 'मधुकर'
प्रकाशक—आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर।
३३. ज्ञानार्णव
रचयिता—आचार्य शुभचन्द्र
प्रकाशक—परमश्रुत प्रभावक मंडल, बम्बई।
३४. चरकसंहिता
जयदेव विद्यालंकार
प्रकाशक—मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी।
३५. चमत्कारों की जननी : संकल्पशक्ति
लेखक—डॉ. रामचरण महेन्द्र
प्रकाशक—युगनिर्माण योजना, गायत्री तपोभूमि, मथुरा।

३६. **छान्दोग्य उपनिषद्**
प्रकाशक—गीता प्रेस, गोरखपुर।

३७. **चाणक्य नीति दर्पण**
निर्णयसागर प्रेस, बम्बई।

३८. **जवाहर किरणावली**, किरण ३, २५, २६
प्रवचनकार—आचार्य श्री जवाहर लाल जी म०
सं०—पं. शोभाचन्द्र जी भारिल्ल
प्रकाशक—जवाहर साहित्य समिति, भीनासर (बीकानेर)।

३९. **जम्बूचरित्र**
ले.—जैनदिवाकर श्रीचौथमलजी म.
प्रकाशक—श्री जैन दिवाकर दिव्य ज्योति कार्यालय, ब्यावर।

४०. **जवाहर किरणावली**, भाग ३२ (गृहस्थधर्म भाग २)
सं०—पं. शोभाचन्द्र जी भारिल्ल
प्रकाशक—सम्यक् ज्ञान मन्दिर, कलकत्ता।

४१. **जैन आचार : सिद्धान्त और स्वरूप**
लेखक—देवेन्द्रमुनि शास्त्री
प्रकाशक—तारक गुरु जैन ग्रंथालय, उदयपुर।

४२. **जैनधर्म का प्राण**
(जैनदृष्टि से ब्रह्मचर्य)
ले०—पं. सुखलालजी संघवी
सं०—दलसुख मालवणिया
प्र०—सस्ता साहित्य मंडल, दिल्ली।

४३. **जैन सिद्धान्त बोल संग्रह**
भाग १ से ७
संकलन—भैरोंदानजी सेठिया
प्र०—सेठिया जैन ग्रन्थमाला, बीकानेर।

४४. **तत्त्वार्थसूत्र** (नया संस्करण)
सं०—पं. सुखलाल जी
प्रकाशक—पार्श्वनाथ विद्याश्रम, वाराणसी।

४५. **तत्त्वार्थ—सर्वार्थसिद्धि**
आचार्य पूज्यपाद
प्र०—भारतीय ज्ञानपीठ, काशी।

४६. **तट दो : प्रवाह एक**
महाप्रज्ञ मुनि नथमल
प्रकाशक—आदर्श साहित्य संघ चुरू, (राज०)

४७. **तो ब्रह्मचर्य सरल छे**
लेखक—प्रो. मलूकचन्द र. शाह
प्रकाशक—रसीला म. शाह, अहमदाबाद।

४८. **दसवेयालियं**
(दशवैकालिक सूत्र)
वाचना प्रमुख—आचार्य तुलसी,
विवेचक—मुनि नथमल
प्रकाशक—जैन विश्वभारती, लाडनूं (राजस्थान)।

४९. **दशाश्रुतस्कन्ध**
अनुवादक—आचार्य श्रीआत्माराम जी म०
प्रकाशक—जैन शास्त्रमाला कार्यालय, लाहौर।

५०. **दीघनिकाय**
अनु०—भिक्षु राहुल सांकृत्यायन
प्रकाशक—महाबोधि सभा, सारनाथ (वाराणसी)।

५१. **दक्षस्मृति**

५२. **धम्मपद**
प्र०—महाबोधि सोसाइटी, सारनाथ (वाराणसी)।

५३. **निशीथसूत्रम्** (सभाष्यचूर्णि) ४ भाग
सं०—उपाध्याय अमरमुनि
प्र०—सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा।

५४. **पातंजल योगदर्शन** (हिंदी अनुवाद)
प्रकाशक—गीताप्रेस, गोरखपुर

५५. **पुरुषार्थसिद्ध्युपाय**
रचयिता—आचार्य अमृतचन्द्र
प्रकाशक—परमश्रुत प्रभावक मंडल, बम्बई।

५६. **पुष्प-पराग**
प्रवचनकार—महासती पुष्पवतीजी
संपादक—देवेन्द्रमुनि शास्त्री
प्रकाशक—तारक गुरु जैन ग्रन्थालय, उदयपुर (राजस्थान)

५७. **प्रश्नव्याकरण सूत्र**
व्याख्या०—पं० श्री हेमचन्द्रजी म.
सम्पादक—प्रवचनभूषण श्री अमर मुनिजी
प्रका०—सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा।

५८. **पंचशील**
लेखक—उपाध्याय अमरमुनि
संपादक—मुनि समदर्शी, प्रभाकर
प्रका.—सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा।

५९. **प्रकाशनां पगलां**
लेखक—करसनदास माणेक
प्रकाशक—सस्तु साहित्यवर्धक कार्यालय, अहमदाबाद।

६०. **प्रेरणाप्रद कथागाथाएँ**
लेखक—आचार्य श्रीराम शर्मा
प्रकाशक—युग निर्माण योजना, गायत्री तपोभूमि, मथुरा।

६१. **परस्त्री-निषेध**
लेखक—वक्ता रामलालजी म.
प्रकाशक—केसरबाई (धर्मपत्नी सेठ श्री कृष्णजी टंडेल), भोपाल।

६२. **प्रेरक पौराणिक कथाएँ**
लेखक—आचार्य श्रीराम शर्मा
प्रकाशक—युगनिर्माण योजना, गायत्री तपोभूमि, मथुरा।

६३. **ब्रह्मचर्य मार्गोपदेशिका** (गुजराती)
लेखक—डॉ. जटाशंकर नांदी
प्रकाशक—नवयुग पुस्तक भण्डार, राजकोट (सौराष्ट्र)।

६४. **ब्रह्मचर्य सन्देश**
लेखक—प्रो. सत्यव्रत सिद्धांतालंकार
प्रकाशक—गोविन्दराम हासानन्द, दिल्ली।

६५. **ब्रह्मचर्य ही जीवन है, वीर्यनाश ही मृत्यु है**
लेखक—स्वामी श्री शिवानन्द जी
प्रकाशक—आधुनिक प्रकाशन गृह, दारागंज, प्रयाग।

६६. **ब्रह्मचर्य हेच जीवन** (मराठी)
(दसवीं आवृत्ति)
लेखक—स्वामी शिवानन्द तीर्थ, आश्रम, वसड़ (अमरावती)
प्रकाशक—लाखाणी बुक डिपो, गिरगाँव, मुम्बई-४।

६७. **ब्रह्मचर्य-साधना**
(हिन्दी अनुवाद)
मू. गुजराती लेखक—मुनिश्री संतबालजी
अनुवाद—माला जैन एम. ए.
प्रकाशक—श्री आत्मानन्द जैन महासभा पंजाब, अम्बाला शहर।

६८. **बाईबिल** (अंग्रेजी)
क्रिश्चियन पब्लिकेशन, कलकत्ता।

६९. **ब्रह्मचर्य नां नवां मूल्यो** (गुजराती)
लेखक—मुनि नेमिचन्द्र
संशोधक—मुनिश्री सन्त बालजी

प्रकाशक—महावीर साहित्य प्रकाशन मन्दिर, अहमदाबाद ।

७०. **ब्रह्मचर्य**
लेखक-प्र०—श्री जयदेव ब्रह्मचारी, सनौली, (जि० मेरठ) ।

७१. **ब्रह्मचर्य-दर्शन**
(नवसंस्करण)
प्रवचनकार—उपाध्याय अमरमुनि
सम्पादक—पं० विजयमुनि शास्त्री
प्रकाशक—सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा ।

७२. **ब्रह्मचर्य**
लेखक—श्रीचन्द रामपुरिया
प्रकाशक—जैन श्वेताम्बर तेरापन्थी महासभा, कलकत्ता ।

७३. **ब्रह्मचर्य, भाग-१-२**
लेखक—महात्मा गांधी
प्रकाशक—सस्ता साहित्य मण्डल, दिल्ली ।

७४. **बृहत्कल्पसूत्र**
सम्पादक—मुनिश्री पुण्यविजय जी
प्रकाशक—आत्मानन्द जैन सभा, भावनगर ।

७५. **बृहदारण्यकोपनिषद्**
प्रकाशक—गीता प्रेस, गोरखपुर ।

७६. **ब्रह्मचर्य विज्ञान** (हिन्दी)
लेखक—आचार्य श्रीराम शर्मा
प्रकाशक—युग निर्माण योजना, गायत्री तपोभूमि, मथुरा ।

७७. **भगवद्गीता** (हिन्दी अनुवाद)
गीता प्रेस, गोरखपुर ।

७८. **भर्तृहरि नीतिशतक**

७९. **भागवत** (हिन्दी अनुवाद)
गीता प्रेस, गोरखपुर ।

८०. **भिक्षु दृष्टान्त**
सम्पादक—श्री जयाचार्य
प्रकाशक—जैन श्वेताम्बर तेरापन्थी महासभा, कलकत्ता ।

८१. **भगवती सूत्र**
प्र० सम्पादक—युवाचार्य श्री मधुकर मुनि
प्रकाशक—आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर ।

८२. **भारतीय संस्कृति का विकास**(प्र ख.)
लेखक—डॉ० मंगलदेव शास्त्री एम. ए., डी. फिल.
प्रकाशक—समाज विज्ञान-परिषद्, बनारस ।

८३. **भगवती आराधना** (आचार्य शिवार्य रचित)
रचयिता—आचार्य अपराजित सूरि—विजयोदया टीका
प्रकाशक—जैन संस्कृति रक्षक संघ शोलापुर (महाराष्ट्र) ।

८४. **महाभारत**
प्रकाशक—गीता प्रेस, गोरखपुर ।

८५. **मंगल प्रभात** (१९५२)
लेखक—महात्मा गांधी
प्रकाशक—सस्ता साहित्य मण्डल, दिल्ली ।

८६. **मनुस्मृति**
अनुवाद—पं० जनार्दन झा
प्रकाशक—हिन्दी पुस्तक एजेन्सी, कलकत्ता ।

८७. **माण्डूक्योपनिषद्**
सम्पादक—मगनभाई प्रभुदास देसाई
प्रकाशक—गुजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद ।

८८. **महावीर वचनामृत** (हिंदी अनुवाद)
संपादक—पं० धीरजलाल टो० शाह (शतावधानी)
अनु.—पं. रुद्रदेव त्रिपाठी, एम. ए.
प्रकाशक—जैन साहित्य प्रकाशन मन्दिर, बम्बई।

८९. **महावीर वाणी**
संपादक—पं० बेचरदास दोशी
प्रकाशक—सस्ता साहित्य मण्डल, दिल्ली।

९०. **भ० महावीर की बोधकथाएँ**
लेखक—उपाध्याय अमरमुनि
प्रका.—सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा।

९१. **मनोविकार और उससे छूटने का उपाय**
लेखक—डॉ० रामचरण महेन्द्र
प्रकाशक—युगनिर्माण योजना, गायत्री तपोभूमि, मथुरा।

९२. **महापुरुषों के अविस्मरणीय संस्मरण**
लेखक—आचार्य श्रीराम शर्मा
प्रकाशक—युग निर्माण योजना, गायत्री तपोभूमि, मथुरा।

९३. **मनुष्य का विराट् रूप**
लेखक—आनन्दकुमार
प्रकाशक—राजपाल एण्ड सन्ज, दिल्ली।

९४. **मुण्डकोपनिषद्**
संपादक—मगनभाई प्रभुदास देसाई
प्रकाशक—गुजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद।

९५. Mahatma Gandhi : The Last Phase Vol. I, II
लेखक—श्री प्यारेलाल जी
प्रकाशक—नवजीवन प्रकाशन मन्दिर, अहमदाबाद।

९६. **योगशास्त्र**
रचयिता—आचार्य हेमचन्द्र
संपादक—मुनि समदर्शी, पं० शोभाचन्द्र भारिल्ल
प्रकाशक—सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा।

९७. **रामनाम**
लेखक—महात्मा गांधी
प्रकाशक—नवजीवन प्रकाशन, अहमदाबाद।

९८. **विसुद्धिमग्गो** (अनुवाद)
अनुवादक—भिक्षु धर्मरक्षित
प्रकाशक—महाबोधि सभा, सारनाथ, (वाराणसी)।

९९. **विनोद और उल्लास की प्रवृत्तियाँ**
लेखक—डॉ० रामचरण महेन्द्र

१००. **बाल्मीकि रामायण** भाग—१-२ (गुजराती अनुवाद)
प्रकाशक—सस्तु साहित्यवर्द्धक कार्यालय, अहमदाबाद।

१०१. **विदुरनीति**
प्रकाशक—श्री मनसुखराय मोर, कलकत्ता।

१०२. **वैराग्य मंजरी**
प्रकाशक—ओसवाल प्रेस, कलकत्ता।

१०३. **विनयपिटक**
अनुवाद—पं० राहुल सांकृत्यायन
प्रकाशक—महाबोधि सभा, सारनाथ (वाराणसी)

१०४. **विनोबा के विचार**, भाग—१-२
लेखक—सन्त विनोबा
प्रकाशक—सस्ता साहित्य मण्डल, दिल्ली।

१०५. **वशिष्ठस्मृति** (स्मृति संदर्भ तृ. भा.)
प्रकाशक—श्री मनसुखराय मोर

१०६. **वक्तृत्वकला के बीज भाग—२**
संपादक—श्री धनमुनि 'प्रथम'
प्रकाशक—मोतीलाल पारख, अहमदाबाद।

१०७. **व्यभिचार**
लेखक—आचार्य चतुरसेन
प्रकाशक—गौतम बुक डिपो, दिल्ली।

१०८. **विचार दर्शन, भाग १**
लेखक—केदारनाथ जी
संपादक—रमणीकलाल म. मोदी
प्रकाशक—नवजीवन प्रकाशन मन्दिर, अहमदाबाद।

१०९. **वल्लभ प्रवचन—भाग १, भाग ३**
प्रवचनकार—आचार्य श्री विजय-वल्लभ सूरिजी।
संपादक—मुनि नेमिचन्द्र
प्रकाशक—श्री आत्मानन्द जैन महासभा, पंजाब, अम्बाला शहर।

११०. **शिवसंहिता**

१११. **सौदरानन्द महाकाव्य**
प्रकाशक—महाबोधि सोसाइटी, सारनाथ, (वाराणसी)।

११२. **सूत्रकृतांगसूत्र**
व्याख्या०—पं० हेमचन्द्रजी म.
संपादक—प्रवचनभूषण श्री अमर मुनिजी, पं० मुनिश्री नेमिचन्द्रजी
प्रकाशक—आत्मज्ञानपीठ, मानसा मन्डी (पंजाब)।

११३. **सिन्दूर प्रकरण**

११४. **शीलपाहुड**
प्रकाशक—माणिकचन्द्र जैन दि. ग्रन्थमाला सूरत।

११५. **स्थानांग सूत्र**
सं०—आचार्य श्री आत्मारामजी म०
प्रकाशक—आत्माराम जैन ज्ञान-पीठ, लुधियाना।

११६. **समवायांग**
संपादक—शास्त्री जेठालाल हरिभाई
प्रकाशक—जैनधर्म प्रसारक सभा, कलकत्ता।

११७. **सुत्तनिपात**
अनुवाद—भिक्षु धर्मरत्न एम. ए.
प्रकाशक—महाबोधिसभा, सारनाथ (वाराणसी)।

११८. **स्त्रीपुरुष-सहजीवन**
लेखक—दादा धर्माधिकारी
प्रकाशक—सर्वसेवासंघ प्रकाशन, राजघाट, वाराणसी।

११९. **स्त्री और पुरुष**
लेखक—टॉल्स्टॉय
अनुवादक—बैजनाथ महोदय
प्र०—सस्ता साहित्य मंडल, दिल्ली।

१२०. **शील की नवबाड़ (आचार्य भिक्खण जी-प्रणीत)**
संपादक—श्रीचन्द रामपुरिया
प्रकाशक—जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, कलकत्ता।

१२१. **स्त्रीपुरुष मर्यादा**
लेखक—कि. घ. मशरूवाला
प्रकाशक—नवजीवन प्रकाशन मन्दिर, अहमदाबाद।

१२२. **संयुत्तनिकाय**
अनुवादक—भिक्षु जगदीश काश्यप, और भिक्षु धर्मरक्षित
प्रकाशक—महाबोधि सभा, सारनाथ (वाराणसी)।

१२३. **श्रावक धर्मदर्शन**
प्रवचनकार—उपाध्याय श्री पुष्कर मुनि जी
संपादक—देवेन्द्रमुनि शास्त्री
प्रकाशक—श्री तारक गुरु जैन ग्रंथालय, उदयपुर (राजस्थान)।

१२४. **साधक साथी, भाग १ (गुजराती)**
लेखक—डॉ० मुकुन्द सोनेजी
प्रकाशक—श्री सत्श्रुत सेवा-साधना केन्द्र, अहमदाबाद।

१२५. **स्वास्थ्य और योगासन**
लेखक—योगाचार्य भगवानदेव
प्रकाशक—सुबोध पॉकेट बुक्स, दिल्ली।

१२६. **स्वाध्याय सुधा**
निर्देशक—अनु० प्र० पं० मुनि श्री कन्हैयालालजी म० 'कमल'
प्रकाशक—आगम अनुयोग प्रकाशन, सांडेराव (पाली)।

१२७. **श्रावक धर्म**
प्रवचन—महासती उज्ज्वलकुंवर जी
संपादक—श्री रत्नकुमार जैन रत्नेश
प्रकाशक—सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा।

१२८. **सद्गृहस्थ की साधना**
लेखक—आचार्य श्रीराम शर्मा
प्रकाशक—युगनिर्माण योजना, गायत्री तपोभूमि, मथुरा (उ. प्र.)।

१२९. **संस्मरण : जो भुलाये न जा सकेंगे**
लेखक—आचार्य श्रीराम शर्मा
प्रकाशक—युग निर्माण योजना, गायत्री तपोभूमि, मथुरा (उ. प्र.)

१३०. **सद्गुणों की सच्ची सम्पत्ति**
लेखक—वही,
प्रकाशक—वही।

१३१. **हम उनके गुण गाएँ** (कविताएँ)
लेखक सं०—बलरामसिंह परिहार
प्रकाशक—युगनिर्माण योजना, गायत्री तपोभूमि, मथुरा।

१३२. **हमारी एक महत्त्वपूर्ण आवश्यकता : संयम**
लेखक—श्रीराम शर्मा आचार्य
प्रकाशक—युगनिर्माण योजना, मथुरा।

□□